हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य

और

उसकी परम्परा

लेखिका

डॉ० स्नेहलता श्रीवास्तव

एम० ए०, पी-एच० डी०,

अध्यक्षा, हिन्दी विभाग

इन्द्रप्रस्थ कालिज

दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली

हिन्दी अनुसन्धान परिषद्,

दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली के निमित्त

भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़

द्वारा प्रकाशित

हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य
और
उसकी परम्परा

लेखिका
डॉ० स्नेहलता श्रीवास्तव
एम० ए०, पी-एच० डी०,
अध्यक्षा, हिन्दी विभाग
इन्द्रप्रस्थ कालिज
दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली

हिन्दी अनुसन्धान परिषद्,
दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली के निमित्त

भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़
द्वारा प्रकाशित

हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य
और
उसकी परम्परा

लेखिका
डॉ० स्नेहलता श्रीवास्तव
एम० ए०, पी-एच० डी०,
अध्यक्षा, हिन्दी विभाग
इन्द्रप्रस्थ कालिज
दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली

हिन्दी अनुसन्धान परिषद्,
दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली के निमित्त

भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़
द्वारा प्रकाशित

हमारी योजना

"हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा" हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थमाला का बारहवाँ ग्रन्थ है। हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, की संस्था है जिसकी स्थापना अक्तूबर सन् १९५२ में हुई थी। परिषद् के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं—हिन्दी वाङ्मय विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थ दो प्रकार के हैं—एक तो वे जिनमें प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का हिन्दी रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है, दूसरे वे जिन पर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गयी है। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—'हिन्दी काव्यालंकारसूत्र', 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित' तथा 'अरस्तू का काव्यशास्त्र'। 'अनुसन्धान का स्वरूप' पुस्तक में अनुसन्धान के स्वरूप पर गण्यमान्य विद्वानों के निबन्ध संकलित हैं जो परिषद् के अनुरोध पर लिखे गये थे। द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—(१) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, (२) हिन्दी नाटक-उद्भव और विकास, (३) सूफीमत और हिन्दी-साहित्य, (४) अपभ्रंश साहित्य, (५) राधावल्लभ सम्प्रदाय: सिद्धान्त और साहित्य, (६) सूर की काव्य-कला। इसी वर्ग के अन्तर्गत सातवाँ ग्रन्थ "हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा" आपके सामने प्रस्तुत है।

हमारी योजना

"हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा" हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थमाला का बारहवाँ ग्रन्थ है। हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, की संस्था है जिसकी स्थापना अक्तूबर सन् १६५२ में हुई थी। परिषद् के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं—हिन्दी वाङ्मय विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थ दो प्रकार के हैं—एक तो वे जिनमें प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का हिन्दी रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है, दूसरे वे जिन पर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गयी है। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—'हिन्दी काव्यालंकारसूत्र', 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित' तथा 'अरस्तू का काव्यशास्त्र'। 'अनुसन्धान का स्वरूप' पुस्तक में अनुसन्धान के स्वरूप पर गण्यमान्य विद्वानों के निबन्ध संकलित हैं जो परिषद् के अनुरोध पर लिखे गये थे। द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—(१) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, (२) हिन्दी नाटक-उद्भव और विकास, (३) सूफीमत और हिन्दी-साहित्य, (४) अपभ्रंश साहित्य, (५) राधावल्लभ सम्प्रदाय: सिद्धान्त और साहित्य, (६) सूर की काव्य-कला। इसी वर्ग के अन्तर्गत सातवाँ ग्रन्थ "हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा" आपके सामने प्रस्तुत है।

परिषद् की प्रकाशन-योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की अनेक प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्थाओं का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा है। उन सभी के प्रति हम परिषद् की ओर से कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं।

नगेन्द्र
अध्यक्ष
हिन्दी अनुसन्धान परिषद्

हिन्दी-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

———

प्राक्कथन

प्रस्तुत प्रबन्ध में नौ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय विषय-प्रवेश है जिसमें भ्रमरगीत की व्याख्या, तत्सम्बन्धी आलोचनात्मक साहित्य का परिचय और प्रबन्ध की आवश्यकता पर विचार किया गया है।

द्वितीय अध्याय में भ्रमरगीत-काव्य के आधार पर गवेषणात्मक अनुशीलन किया गया है। भ्रमरगीत की पृष्ठभूमि, उसके वर्गीकरण तथा मूल रूप आदि पर विचार करते समय मौलिकता का पूरा ध्यान रखा गया है।

तृतीय अध्याय में भ्रमरगीत के क्रमिक विकास एवं उपलब्ध सामग्री की छानबीन की गई है। हिन्दी-साहित्य की प्रकाशित और अप्रकाशित भ्रमरगीत-रचनाओं के अतिरिक्त लोकगीतों में प्राप्त भ्रमर-गीत-सम्बन्धी सामग्री का भी उल्लेख है।

चतुर्थ अध्याय में भ्रमरगीत की धार्मिक एवं दार्शनिक पृष्ठ-भूमि पर विचार किया गया है। इस अध्याय के दो खंड हैं। प्रथम में भारतीय उपासना-पद्धति और ब्रह्म-स्वरूप-सम्बन्धी सामग्री है। द्वितीय खंड में कृष्ण, गोपी, राधा और उद्धव के प्रतीकात्मक स्वरूप का निरूपण है। इस अध्याय में पूर्ववर्ती अनुशीलकों की अनुसंहित सामग्री से विशेष सहायता ली गई है।

पंचम अध्याय में उपालम्भ-विवेचन है। यह पूर्णतः मौलिक है। यद्यपि उपालंभ के ऐतिहासिक सामाजिक आधार पर पहले भी कुछ लिखा जा चुका है परन्तु उपालम्भ का शास्त्रीय विवेचन और मनो-वैज्ञानिक अध्ययन अभी तक किसी ने प्रस्तुत नहीं किया। इस अध्याय के प्रणयन में काव्यशास्त्रीय एवं मनोविज्ञान-सम्बन्धी ग्रन्थों का उपयोग अवश्य हुआ है।

षष्ठ, सप्तम और अष्टम अध्याय में भ्रमरगीत-सम्बन्धी मुद्रित और अमुद्रित समस्त उपलब्ध रचनाओं का आलोचनात्मक अध्ययन

परिषद् की प्रकाशन-योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की अनेक प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्थाओं का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा है। उन सभी के प्रति हम परिषद् की ओर से कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं।

नगेन्द्र
अध्यक्ष
हिन्दी अनुसन्धान परिषद्

हिन्दी-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

प्राक्कथन

प्रस्तुत प्रबन्ध में नौ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय विषय-प्रवेश है जिसमें भ्रमरगीत की व्याख्या, तत्सम्बन्धी आलोचनात्मक साहित्य का परिचय और प्रबन्ध की आवश्यकता पर विचार किया गया है।

द्वितीय अध्याय में भ्रमरगीत-काव्य के आधार पर गवेषणात्मक अनुशीलन किया गया है। भ्रमरगीत की पृष्ठभूमि, उसके वर्गीकरण तथा मूल रूप आदि पर विचार करते समय मौलिकता का पूरा ध्यान रखा गया है।

तृतीय अध्याय में भ्रमरगीत के क्रमिक विकास एवं उपलब्ध सामग्री की छानबीन की गई है। हिन्दी-साहित्य की प्रकाशित और अप्रकाशित भ्रमरगीत-रचनाओं के अतिरिक्त लोकगीतों में प्राप्त भ्रमर-गीत-सम्बन्धी सामग्री का भी उल्लेख है।

चतुर्थ अध्याय में भ्रमरगीत की धार्मिक एवं दार्शनिक पृष्ठ-भूमि पर विचार किया गया है। इस अध्याय के दो खंड हैं। प्रथम में भारतीय उपासना-पद्धति और ब्रह्म-स्वरूप-सम्बन्धी सामग्री है। द्वितीय खंड में कृष्ण, गोपी, राधा और उद्धव के प्रतीकात्मक स्वरूप का निरूपण है। इस अध्याय में पूर्ववर्ती अनुशीलकों की अनुसंहित सामग्री से विशेष सहायता ली गई है।

पंचम अध्याय में उपालम्भ-विवेचन है। यह पूर्णतः मौलिक है। यद्यपि उपालंभ के ऐतिहासिक सामाजिक आधार पर पहले भी कुछ लिखा जा चुका है परन्तु उपालम्भ का शास्त्रीय विवेचन और मनो-वैज्ञानिक अध्ययन अभी तक किसी ने प्रस्तुत नहीं किया। इस अध्याय के प्रणयन में काव्यशास्त्रीय एवं मनोविज्ञान-सम्बन्धी ग्रन्थों का उपयोग अवश्य हुआ है।

षष्ठ, सप्तम और अष्टम अध्याय में भ्रमरगीत-सम्बन्धी मुद्रित और अमुद्रित समस्त उपलब्ध रचनाओं का आलोचनात्मक अध्ययन

किया गया है। नवम अध्याय में भ्रमरगीत परम्परा के विकास-सूत्र और उसके मूल्यांकन का उपस्थान है। अन्तिम चार अध्याय सर्वथा मौलिक हैं। यत्र तत्र मत-पुष्टि के लिए अन्य आलोचकों के कथन भी उद्धृत किए गए हैं।

प्रबन्ध का परिशिष्ट (१) भी पूर्णतः मौलिक है। इसमें लोक-गीतों में प्राप्त भ्रमरगीत सम्बन्धी रचनाओं पर विचार किया गया है।

भ्रमरगीत-परम्परा के सम्यक् अध्ययन के निमित्त कुछ ऐसी सामग्री का उपयोग भी आवश्यक हो गया है जो मौलिक नहीं है। भ्रमरगीत की तत्कालीन परिस्थिति के लिए इतिहास ग्रन्थों से सहायता ली गई है। दार्शनिक विवेचन के लिए श्री बलदेव उपाध्याय के 'भारतीय दर्शन', डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'नाथ-सम्प्रदाय' आदि और वल्लभ सम्प्रदाय के सिद्धान्त, वैष्णव आन्दोलन तथा अष्टछाप कवियों के परिचय के लिए डा० दीनदयाल गुप्त कृत 'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय' मुख्य सहायक ग्रन्थ के रूप में रहे हैं। अतः मैं उन सभी विद्वानों की आभारी हूँ जिनके ग्रन्थों से किसी भी रूप में सहायता प्राप्त हुई है।

इस अवसर पर उन समस्त संस्थाओं के प्रबन्धकों तथा पुस्तकाध्यक्षों को साभार स्मरण कर लेना भी मैं अपना कर्तव्य समझती हूँ जिन्होंने भ्रमरगीत-सम्बन्धी प्रकाशित और अप्रकाशित सामग्री देखने का अवसर देकर इस प्रबन्ध को पूर्ण होने का अवसर प्रदान किया। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, म्युनिसिपल संग्रहालय, प्रयाग, विश्वविद्यालय पुस्तकालय, प्रयाग, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, बिहारीजी का मन्दिर, वृन्दावन, से विशेष सामग्री प्राप्त हुई है। श्री जुआलजी ने समस्त अप्रकाशित खोज रिपोर्टों को देखने का अवसर दिया अतएव उनके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करती हूँ।

इस प्रसंग में अपने स्नेहास्पद दो व्यक्तियों का अनायास ही स्मरण हो आता है—ये दो व्यक्ति हैं कुमारी प्रीति कौल एम० ए० और मेरे अनुज श्री मिथिलेश कान्ति। प्रीति ने मनोवैज्ञानिक विषयों

के प्रतिपादन में और मिथिलेश ने अनेक प्रकार से मेरी सहायता की है।

अलीगढ़ विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डा० हरवंशलाल शर्मा ने कृपा पूर्वक प्रस्तुत प्रबन्ध की भूमिका लिखकर मुझे अत्यन्त उपकृत किया है, इसके लिये मैं उनका सविनय धन्यवाद करती हूँ। और अन्त में मैं डा० नगेन्द्र के प्रति श्रद्धापूर्वक आभार व्यक्त करती हूँ जिनके निरीक्षण में यह प्रबन्ध पूर्ण हुआ है।

—स्नेहलता श्रीवास्तव

———

भूमिका

पुरुष की बेवफाई के प्रति नारी की शिकायत का इतिहास बहुत पुराना है। इस शिकायत के अवसर कुछ तो बाह्य परिस्थितियों के कारण (जिनमें पुरुष का कार्य क्षेत्र भी सम्मिलित है) और कुछ नारी के असमान-विनिमय-जनित असंतोष के कारण आते रहे हैं। यह असंतोष पूर्णतया मनोवैज्ञानिक है क्योंकि सब कुछ मिलाकर नारी ने पुरुष को जितना दिया शायद उतना पाया नहीं। पुरुष की नित्य नवीन रूप-रस की चिर अतृप्त पिपासा के दीर्घ अनुभव से विक्षुब्ध नारी का कोमल हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिये कुलमुला उठा। प्राचीनकाल में ही कवि ने उसके स्पन्दन को देख लिया था। ठोस से ठोस वस्तु भी कवि की पैनी दृष्टि के लिये अगम्य नहीं फिर नारी के नवनीत कोमल हृदय की तो बात ही क्या ? उसने अपनी नवरस-रुचिर सृष्टि में नारी को वह अवकाश और शक्ति प्रदान की कि वह अपनी बात कह सके। यहीं से उपालम्भ-साहित्य का प्रारम्भ हुआ। शृङ्गार के अन्तर्गत दो प्रकार का उपालम्भ दिखाई पड़ता है, प्रणयोपालम्भ और ईर्ष्योपालम्भ। दोनों ही भावों से प्रेरित नारी ने कली-कली पर मंडराने वाले रसलोलुप भ्रमर को रूप के लोभी निठुर पुरुष का प्रतीक मानकर जो अन्योक्तियाँ कहीं वे उपालम्भ साहित्य में एक विशिष्ट स्थान रखती हैं। ईर्ष्यावश निःसृत उपालम्भ-उक्तियाँ भी स्नेही हृदय से निकली होने के कारण कोरी तानाजनी ही नहीं होतीं अपितु नारियल सदृश मधुर-रस-संभृत होने से आस्वाद्य भी होती हैं। कदाचित् सबसे पहले महाकवि कालिदास ने दुष्यन्त की पहली रानी हंसपदिका द्वारा शकुन्तला के प्रेम में डूबे दुष्यन्त को लक्ष्य कर भ्रमरविषयक अन्योक्ति द्वारा उपालम्भ दिलाकर साहित्य में एक नई रूढ़ि का बीज-वपन किया। इसके बाद गाथासप्तशती, विकटनितम्बा की एक उक्ति, आर्या सप्तशती आदि संस्कृत रचनाओं और अपभ्रंश के बहुत से दोहों में से गुजरती हुई यह परम्परा उत्तरोत्तर पुष्ट होती गई।

कृष्ण-भक्ति का विकास और उसमें मधुरभाव की प्रतिष्ठा हो जाने के पश्चात् तो इस धारा को एक नई दिशा ही मिल गई जिसका संकेत भागवत के उद्धव-गोपी-संवाद के प्रसङ्ग में मिलता है। यहाँ आकर भ्रमरोपालम्भ, जो अब तक भौतिक प्रेम के ही क्षेत्र में सीमित रहा था, आध्यात्मिक क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ। धीरे-धीरे इसमें अनेक तत्त्वों का समावेश होता गया और एक ओर तो एक विशिष्ट दार्शनिक पृष्ठभूमि में इसकी जड़ जमी और दूसरी ओर कई दार्शनिक धाराओं से इसका संघर्ष भी हुआ। अनेक शताब्दियों की दीर्घ अवधि में बदलती हुई परिस्थितियों और विकसित होती हुई भक्ति साधना के साथ कवित्व का मणिकाञ्चन योग हो जाने के कारण इस परम्परा का विकास अविराम गति से होता रहा। सैकड़ों कवियों की प्रतिभा ने इसे सँवार-सँवार कर नया-नया रूप दिया और यह साहित्य 'भ्रमरगीत' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस परम्परा के विकास का श्रेय हिन्दी के ही भाग्य में बदा था। वस्तुतः कवित्व और भक्ति का जैसा सुन्दर समन्वय पूर्वमध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में हुआ वैसा शायद ही किसी युग और साहित्य में हुआ हो।

विद्यापति हिन्दी के पहले कवि थे जिन्होंने भागवत के गोपी-उद्धव-संवाद से भ्रमरोपालम्भ की अवतारणा उसी प्रसङ्ग में की। परिमाण की दृष्टि से उनकी यह रचना नगण्य सी ही है। परम्परा का विकसित रूप उसमें नहीं मिलता, किन्तु इससे उनके मूल सूत्रोद्घाटन का महत्व तनिक भी कम नहीं होता। यदि संख्या-शास्त्र की शब्दावली के प्रयोग की छूट हो तो हम कह सकते हैं कि भ्रमरगीत का पुष्टपरम्परा उसी मूल प्रकृति की विकृति है।

सूरदास की रचना में इस परम्परा का जैसा साङ्गोपाङ्ग प्रौढ़ स्वरूप दीख पड़ता है उसे देखते हुये यह कहना कठिन है कि निर्गुण-सगुण विवाद आदि सभी तत्वों को, जो भ्रमरगीत साहित्य के प्राण हैं, उन्होंने ही समाविष्ट किया था। निर्गुण-सगुण की खींच-तान का झमेला बहुत पुराना है। दक्षिण के 'आलवार' वैष्णव भक्तों के गीतों में मधुर भाव की प्रतिष्ठा अनेकत्र हुई है। 'अन्दाल' नाम की भक्तिन स्वयं को ईश्वर की पत्नी मानकर भजन गाती थी। शठकोपाचार्य की सहस्रगीति में भी भगवान् के प्रति उपालम्भ का भाव यत्र तत्र प्रकट हुआ है। सिद्धों की गुह्य उपासना, योगियों के हठयोग,

तथा ज्ञानियों की ज्ञान साधना जिसमें निराकार की ही उपासना और प्राप्ति का विधान था तथा साकार के लिए कोई स्थान नहीं था, सगुण भक्ति-साधना के साथ बहुत पहले संघर्ष में आ चुकी थी। निर्गुण और सगुण के उपासक सम्प्रदाय अपनी अपनी साधना पद्धति की उत्कृष्टता एवं तदितर पद्धतियों की हेयता के प्रतिपादन में कोई कसर बाकी नहीं छोड़ते थे। सूर और तुलसी के समय तक भी यह संघर्ष चला ही आ रहा था। संभव है सूर से पहले ही भक्तजनों में खण्डन-मण्डन की यह परिपाटी लीलागान के अन्तर्गत उद्धव-गोपी-संवाद में भी समाविष्ट हो गई हो और मौखिक रूप में प्रचलित रही हो। कुछ भी सही, इतना तो निर्विवाद है कि सूरदास का भ्रमरगीत आज भी एतद्विषयक सभी रचनाओं में उत्कृष्ट माना जाता है। उनसे पहले उसका ऐसा परिष्कृत रूप साहित्य में कहीं नहीं दीख पड़ा। सूर ही उत्तरवर्ती भ्रमरगीत लेखकों के आदर्श रहे। इस दृष्टि से वे ही इस साहित्यिक रूढ़ि के प्रवर्त्तक सिद्ध होते हैं। उनके बाद की लगभग पाँच शताब्दियों में सैकड़ों कवियों ने भ्रमरगीत लिखे हैं। आधुनिक युग तक भी यह परम्परा टूटी नहीं। युगविशेष की परिस्थितियों के प्रभाव तथा कवि की वैयक्तिक रुचि एवं प्रतिभा के कारण अनेक विशेषतायें इसमें अपने आप समाती चली गई हैं। इस प्रकार इस परम्परा के अन्तर्गत जिस विशाल साहित्य की सृष्टि हुई उसका सर्वांगीण अध्ययन एक ऐसी प्रवृत्ति का उद्‌घाटन करने के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा जो हिन्दी साहित्य के विभिन्न युगों में समयानुसार चोला बदलती चली आई है और आज भी पुरानी नहीं पड़ी है।

भ्रमरगीत-परम्परा के ऐतिहासिक विकास, सामाजिक महत्त्व, दार्शनिक दृष्टिकोण और साहित्यिक मूल्याङ्कन की दृष्टि से समुचित अध्ययन और विश्लेषण के प्रयत्न अभी तक अपेक्षित रूप में नहीं हुए थे कुछ छोटी मोटी रचनायें अवश्य सामने आईं जिनमें आंशिक रूप से इन विषयों पर कुछ प्रकाश डाला गया था। साहित्यिक दृष्टि से तो फिर भी इस पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है किन्तु दार्शनिक तथा सामाजिक पक्षों पर बहुत कम लिखा गया और ऐतिहासिक विवेचन का तो एक दम अभाव ही था जिसकी पूर्ति प्रस्तुत ग्रन्थ से बहुत कुछ अंशों में हो गई है। लेखिका का नारी हृदय भ्रमरगीत के

भावात्मक स्थलों के सौंदर्य का ही उद्घाटन कर सका हो ऐसा नहीं है अपितु विकास परम्परा के क्रमिक सोपानों का वैज्ञानिक विवेचन भी सरल शैली में प्रस्तुत कर सका है। इन विशेषताओं के कारण यह बेधड़क कहा जा सकता है कि यह अध्ययन इस विषय के अब तक प्रकाशित अध्ययनों में अधिक व्यापक, अधिक पूर्ण और अधिक सुगम है। लेखिका ने उपलब्ध सामग्री का कुशलतापूर्वक उपयोग किया है और बहुत सी अप्रकाशित मूल रचनाओं का परिचय प्रस्तुत किया है। विश्वास है कि हिन्दी जगत् में इस कृति को उचित सम्मान प्राप्त होगा। राष्ट्र भाषा के साहित्य-मन्दिर में इस नवीन सुमन-समर्पण के लिए लेखिका बधाई की पात्र है।

दिनाङ्क २-३-५८

हरबंशलाल शर्मा

एम० ए०, पी-एच० डी०, डी-लिट०

अध्यक्ष

संस्कृत-हिन्दी विभाग

मु० वि० वि० अलीगढ़

———

संकेत चिह्न

सूर० सूरसागर

श्रीकृ०—श्रीकृष्ण गीतावली

भ०—भँवरगीत

आ० के०—आलम केलि

गो० प्रे० प्र०—गोपी प्रेम प्रकाश

भँ० वृ०—भँवरगीत वृन्दावनदास कृत

उ० श०—उपालंभ शतक

वि० वि०—विरह विलास

र० प०—रसिक पचीसी

वि० वि० र०—विरह विलास रसनायक कृत

गो० स०—गोपी सनेह बारहखड़ी

गो० स्या०—गोपी स्यामसंदेश

ल० ल०—ललित ललाम

म० स०—मतिराम सतसई

प० पं०—पद्माकर पंचामृत

ठा० ठ०—ठाकुर ठसक

भँ० प्रा०—भँवरगीत प्रागनि कृत

ह० बि०—हरिबिलास

भ्र० दू०—भ्रमरदूत

उ० श०—उद्धव शतक

मु० बि०—मुकुन्द बिलास

कृ० सा०—कृष्ण सागर

अ० मा०—अश्रुमाल

ने० नि०—नेह निकुंज

श्रीकृष्ण च०—श्रीकृष्ण चरितमानस
आ० ब्र० का०—आधुनिक ब्रजभाषा काव्य
श्या० सं०—श्याम सन्देश
प्रे० स०—प्रेमघन सर्वस्व
रा० ग्र०—राजराजेश्वरी ग्रन्थावली
ना० न० सं०—नानार्थ नव संग्रहावली
वि०—विनोद
उ० गो० सं०— उद्धव गोपी संवाद

विषय-सूची

पृष्ठ

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

पृष्ठ

परिशिष्ट—२

परिशिष्ट—३

परिशिष्ट—४

सप्तम अध्याय

पृष्ठ

नवम अध्याय

परिशिष्ट—१

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

१—भ्रमरगीत का अभिप्राय।

२—भ्रमरगीत की आधारभूत कथा।

३—हिन्दी भ्रमरगीत काव्य का महत्त्व।

४—विषय से सम्बद्ध आलोचनात्मक साहित्य और उसकी परीक्षा।

५—अपना दृष्टिकोण और योजना।

विषय-प्रवेश

भ्रमरगीत का अभिप्राय

'भ्रमरगीत' उपालंभ-काव्य है और यह काव्य केवल विप्रलम्भ शृंगार से सम्बद्ध है। 'भ्रमरगीत' उस काव्य अथवा गीतिमाला का नाम है जिसमें गोपियों ने भ्रमर के व्याज से उद्धव पर और उद्धव के व्याज से कृष्ण पर व्यंग किए हैं। इस प्रकार व्यंग्य के लक्ष्य की दृष्टि से भ्रमरगीत के मूलतः दो पक्ष हो गये हैं। पहला बुद्धि पक्ष है जो सैद्धान्तिक और व्यंग्य-प्रधान है, इसके प्रतीक हैं उद्धव दूसरा हृदय-पक्ष है जो रागात्मक और उपालम्भ-प्रधान है, इसके प्रतीक हैं कृष्ण। 'भ्रमरगीत' का मूल उद्देश्य है ज्ञान पर प्रेम की, मस्तिष्क पर हृदय की, विजय दिखा कर निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना की अपेक्षा सगुण साकार ब्रह्म की भक्ति भावना की श्रेष्ठता का प्रतिष्ठापन।

भ्रमरगीत की आधार भूत कथा

भ्रमरगीत की कथा का सर्वप्रथम निरूपण श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के ४६ वें और ४७ वें अध्यायों में मिलता है। ४६ वें अध्याय में कृष्ण के संदेश-वाहक उद्धव की ब्रज-यात्रा और उनका नंद-यशोदा से वार्तालाप है। ४७ वें अध्याय में गोपियों और उद्धव का कथोपकथन है। उद्धव कृष्ण का संदेश सुनाते हैं जिसे सुन आनन्दित गोपियाँ महाभाव को प्राप्त होती हैं। कृष्ण के समान रूप रंग और वेष-भूषा से सुसज्जित उद्धव को देखकर गोपियाँ उनको घेर कर कृष्ण के विषय में विविध प्रकार की बातें पूछती हुई उनकी लीलाओं को स्मरण कर आत्मविभोर हो उठीं, वे फूट फूट कर रोने लगीं। इसी समय एक गोपी ने देखा कि एक भौंरा उसके चरणों के पास आकर गुनगुना रहा है, मानो उसे रूठी समझ कर कृष्ण ने मनाने के लिए दूत भेजा हो। इस कल्पना के साथ ही उसकी विरह तथा मान की भावना उद्दीप्त हो उठी। वह उसी भ्रमर के व्याज से

उद्धव को प्रत्यक्ष और कृष्ण को परोक्ष रूप से उपालंभ देने लगीं। भ्रमरगीत की यही आधारभूत कथा है जिसकी निबंधना श्रीमद्भागवत के उपर्युक्त अध्याय के १२ से २१ तक के १० श्लोकों में हुई है।

हिन्दी भ्रमरगीत काव्य का महत्त्व

हिन्दी भ्रमरगीत काव्य पर विचार करते समय अनेक उल्लेखनीय बातों पर स्वतः ही ध्यान चला जाता है। काव्य-परम्परा की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण धारा है जिसमें प्रचुर परिणाम में प्रकाशित और अप्रकाशित सामग्री उपलब्ध है। सूरदास, नंददास आदि प्रमुख कवियों की रचनाएँ प्रकाशित हो गई हैं किन्तु इस विषय की अधिकांश रचनाएँ हस्तलिखित रूप में ही यत्र तत्र पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी रचनाएँ भी हैं जिनका उल्लेख खोज विवरणों (रिपोर्ट) में ही प्राप्त है। भ्रमरगीत सम्बन्धी कुछ स्वतंत्र प्रबन्धात्मक ग्रन्थ हैं और कुछ मुक्तक रूप में लिखे गए हैं। स्फुट छन्दों की अधिकता है। इस प्रकार मध्य काल और आधुनिक काल के अनेक कवियों ने इस विषय पर रचना की है। फलस्वरूप सूर से लेकर अद्यतन कवियों तक इस परम्परा का प्रभाव अक्षुण्ण रहा है। लगभग पाँच सौ वर्षों से प्रवाहित यह धारा आज भी अजस्र है। भक्ति काल में सूर, नंद ने बाल्यकाल में ही उसे सर्वगुण-सम्पन्न बना दिया, रीति युग में आलम आदि ने इसका शृंगार किया। भारतेन्दु युग में सत्यनारायण ने, द्विवेदी युग में 'हरिऔध' आदि, द्विवेदी उत्तर युग में मैथिलीशरण गुप्त जैसे समर्थ कवियों ने अपनी नूतन भाव-सम्पत्ति और कल्पना द्वारा इस परम्परा का विकास किया।

परिमाण की प्रचुरता और काल की व्यापकता के अतिरिक्त कला की दृष्टि से भी ये रचनाएँ हिन्दी साहित्य में निजी महत्व रखती हैं। सूर और नंददास के सम्पूर्ण साहित्य में उनके भ्रमरगीत का स्थान बहुत ऊँचा है। सत्यनारायण 'कविरत्न', जगन्नाथदास 'रत्नाकर', मैथिलीशरण गुप्त आदि के काव्य में उनकी भ्रमरगीत-विषयक रचनाएँ रमणीयार्थ-प्रतिपादन की दृष्टि से अत्यन्त सरस हैं। उधर रीति काव्य में भी भ्रमरगीत सम्बन्धी स्फुट पद अपनी मार्मिकता और विदग्धता में अप्रतिम हैं।

प्रस्तुत विषय से सम्बद्ध आलोचनात्मक सामग्री और उसकी परीक्षा

(क) हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में :

हिन्दी भ्रमरगीत पर उसकी विशदता के अनुरूप आलोचनात्मक कार्य नहीं हुआ, यह आश्चर्य की बात है। हिन्दी साहित्य के इस महनीय अंग पर कुछ ही आलोचकों ने लेखनी चलाई है। उनमें भी सूरदास, नंददास आदि कुछ प्रमुख कवियों पर ही ध्यान दिया गया है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखकों ने केवल प्रकाशित भ्रमरगीत रचनाओं पर ही विहंगम दृष्टि डाली है और वह भी प्रसंग के अनुरोधवश। मिश्रबंधुओं ने अपने इतिहास ग्रन्थ 'मिश्रबन्धु विनोद' में इस विषय में प्रायः कुछ नहीं लिखा। हाँ, 'हिन्दी-नवरत्न' में सूरदास और तुलसीदास की आलोचना करते हुये उनकी भ्रमरगीत-सम्बन्धी रचनाओं का भी उल्लेख किया है। सूरदास के भ्रमरगीत की समीक्षा दो पृष्ठों में की गई है[१] और 'श्रीकृष्णगीतावली' में वर्णित प्रसंगों का केवल नाम गिनाया गया है।[२]

पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में सूरदास कृत भ्रमरगीत की संक्षिप्त आलोचना करते हुए इसे मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण अंश कहा है और भ्रमरगीत को उपालंभ काव्य की संज्ञा दी है।[3] अन्य भ्रमरगीत रचनाओं का नामोल्लेख मात्र शुक्ल जी के इतिहास में मिलता है।[४]

'भ्रमरगीतसार' की प्रसिद्ध भूमिका में भी शुक्ल जी ने सूरदास के काव्य के विभिन्न पक्षों, विशेषकर विरह-वर्णन पर विस्तारपूर्वक अत्यन्त मार्मिक रीति से विचार किया है। परन्तु भ्रमरगीत-परम्परा पर ध्यान नहीं दिया।

डा० रामकुमार वर्मा ने भी 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में सूर के भ्रमरगीत पर केवल कुछ पंक्तियाँ ही लिखी हैं।

१—पृ० १८३-१८४, हिन्दी नवरत्न सं० १९८१।

२ ,, ५३ वही।

३—पृष्ठ १४९ हिन्दी साहित्य का इतिहास सं० २००२

४—,, १५१ वही सं० २००२

नन्ददास के भ्रमरगीत पर कुछ विस्तार से अवश्य लिखा है—'भँवर गीत' के शुद्ध रूप, कथा, दार्शनिक पक्ष, भाव और कला पक्ष पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया है। उक्त विवेचना चार पृष्ठों में की गई है।[१] भ्रमरगीत-विषयक अन्य रचनाओं की सर्वथा उपेक्षा है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने 'हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास' में सूरदास के भ्रमरगीत में व्यक्त विरह-वेदना की मार्मिकता की संक्षिप्त समीक्षा की है।[२] नन्ददास के भँवरगीत पर आपने साम्प्रदायिकता, काव्य तथा कला आदि की दृष्टि से विचार किया है। उनके अनुसार नन्ददास कृत 'भँवरगीत' साम्प्रदायिक है।

आलोचक-प्रवर डा० हाजरीप्रसाद द्विवेदी ने अपने 'सूर साहित्य'[३] और 'हिन्दी साहित्य' में कृष्ण काव्य का तुलनात्मक, ऐतिहासिक एवं गवेषणात्मक अनुशीलन प्रस्तुत किया है। 'हिन्दी साहित्य' के धारावाहिक विषय-विवेचन में भ्रमरगीत के खोजपूर्ण विश्लेषण के लिए अवकाश ही नहीं था। 'सूर साहित्य' में उन्होंने भ्रमरगीत रचना की महत्त्वपूर्ण मूलभूत प्रवृत्ति की ओर संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित संकेत किया है जो इस विषय के अनुसंधाता के लिए बहुमन्य है।

मनीषी समीक्षक ने उद्धव-गोपी प्रसंग की दार्शनिक, सामाजिक और धार्मिक भूमिका का अभिनिवेशपूर्वक तुलनात्मक अनुसंधान किया है। सूरदास की युग-परिस्थितियों पर विचार करते समय उन्होंने नाथपंथी योगियों और उनकी धर्म-साधना की भी विवेचना की है जिनके विरोध में भी गोपियों की मार्मिक उक्तियों की निबंधना की गई है। भ्रमरगीत के उद्धव इन्हीं निर्गुणपंथी योगियों के प्रतिरूप हैं। नाथपंथियों की कृच्छ साधना और कबीर पंथियों की निर्गुण उपासना प्रेम भक्ति के सम्मुख हेय थी। उपर्युक्त दोनों प्रचलित मतवाद जनसाधारण को प्रभावित करने में असमर्थ थे, अतएव उनके विरोध में प्रेम भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन सूरदास जैसे वैष्णव कवि के लिए आवश्यक हो गया। डा० द्विवेदी की उपर्युक्त सुविचारित स्थापना भ्रमरगीत काव्य के अध्ययन में निश्चित दृष्टि प्रदान करती है।

१—पृष्ठ ८००-८०४ द्वितीय संस्करण १९४८

२—,, २२ प्रथम संस्करण

३ सूरसाहित्य—डा० हजारीप्रसाद, संवत १९९३

(ख) सूर सम्बन्धी स्वतंत्र ग्रन्थ

हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखकों के अतिरिक्त सूरदास पर कतिपय अन्य लेखकों की आलोचनात्मक रचनाएँ भी उपलब्ध हैं जिनमें सूर-काव्य के साथ प्रसंगवश भ्रमरगीत की भी आलोचना की गई है। श्री नलिनी मोहन सान्याल ने 'सूरदास' में भ्रमरगीत की समीक्षा करते हुए कहा कि इसमें प्रेम परक साकार उपासना की श्रेष्ठता बहुत ही विशद रूप में तथा मनोवैज्ञानिक ढंग से निर्धारित की गई है।[1]

डा० मुंशीराम शर्मा की सूरदास पर दो रचनाएँ उपलब्ध हैं। प्रथम रचना 'सूर सौरभ' में सूर की जीवनी, रचना एवं विचारधारा की समीक्षा है। विप्रलंभ शृङ्गार के अन्तर्गत भ्रमरगीत का भी निर्देश हुआ है। अन्य रचना 'भारतीय साधना और सूर साहित्य' में लेखक ने भारत में प्रचलित अनेक साधना-पद्धतियों, उनके दार्शनिक विचारों तथा सूर-काव्य में उपलब्ध साधना पर विस्तार से विचार किया है। भक्ति तथा दर्शन प्रसंग में लेखक ने भ्रमरगीत सम्बन्धी पदों को ही उद्धृत किया है परन्तु इस परम्परा पर पृथक् और विस्तृत विवेचन इसमें नहीं मिलता।

श्री रामरत्न भटनागर कृत 'सूरदास एक अध्ययन' और श्री भटनागर तथा श्री वाचस्पति पाठक कृत 'सूर-साहित्य की भूमिका' में इस विषय पर अपेक्षाकृत विशद विवेचन मिलता है। इसमें लीला, गोपी, गोप, राधा, मुरली तथा रास के प्रतीकार्थों की व्याख्या की गई है। भ्रमरगीत के दार्शनिक पक्ष और काव्य-सौन्दर्य पर भी प्रकाश डाला गया है। आपके अनुसार 'काव्य और रस की दृष्टि से सूरसागर का यह अंश व्यंजना, माधुर्य और वियोग शृङ्गार का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।'[2]

श्री प्रभुदयाल मीतल ने 'अष्टछाप परिचय' में सूरदास कृत भ्रमरगीत पर कुछ प्रशंसात्मक पंक्तियाँ ही लिखी हैं किन्तु नन्ददास के भँवरगीत के भाव पक्ष और कला पक्ष की समीक्षा भी की है।[3]

१—पृष्ठ ११ संस्करण १६३८

२—पृष्ठ ११३ सूर साहित्य की भूमिका

३—पृष्ठ २०० सं० २००४

'सूर निर्णय' नामक रचना में भ्रमरगीत प्रसंग पर विशेष उल्लेख कुछ नहीं है।

डा० दीनदयाल गुप्त ने 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय में सूर की जीवनी, रचना और विचारधारा पर प्रमाणिक एवं महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की है। आपने सूरकाव्य की विस्तृत आलोचना नहीं की किन्तु सूर के दार्शनिक विचार का विशद विवेचन अवश्य किया है। सूर के दर्शन सम्बन्धी विचारों को समझने के लिए जो भ्रमरगीत का एक महत्वपूर्ण अंग है, लेखक की उक्त रचना सर्वश्रेष्ठ है।

डा० ब्रजेश्वर वर्मा के खोज प्रबन्ध 'सूरदास में भ्रमरगीत के कथानक, उद्धव-ब्रजागम-कारण, उनका अभिमान खण्डन और भक्ति-महत्व-प्रदर्शन आदि पर भी विचार प्रकट किए गए हैं।

सूरकाव्य के आलोचकों में डा० हरवंशलाल शर्मा का नाम भी उल्लेखनीय है। आपने 'सूर और उनका साहित्य' तथा 'सूर काव्य की आलोचना' नामक दो ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें सूरदास के जीवन, साहित्य, साहित्य की पृष्ठभूमि, भक्ति आन्दोलन, कृष्ण-विकास-सिद्धान्त, भागवत और सूरसागर, सूरदास के कृष्ण, गोपी, दार्शनिक सिद्धान्त, भक्ति पक्ष और काव्य पक्ष पर विस्तृत समीक्षा है। डा० हरवंशलाल शर्मा ने भ्रमरगीत पर अन्य आलोचकों की अपेक्षा अधिक ध्यान दिया है।

हिन्दी के वयोवृद्ध आलोचक श्री गुलाबराय जी ने 'हिन्दी काव्य विमर्श में 'रसिक भक्त महात्मा सूरदास' और 'नन्ददास जी का भँवरगीत' नामक लेखों में उक्त कवियों के भ्रमरगीत पर विचार प्रकट किए हैं।

सूर के भ्रमरगीत पर उपलब्ध आलोचनात्मक सामग्री के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि प्रायः समस्त लेखकों ने भ्रमरगीत के कथानक, उद्देश्य-निर्गुण ब्रह्म पर सगुण की विजय, पर विचार करते हुए भाव तथा कला पक्ष की दृष्टि से आलोचना की है। कुछ आलोचकों ने भागवत तथा नन्ददास के भँवरगीत की तुलना भी की है।

(ग) नंददास के भँवरगीत की आलोचना

सूरदास के उपरान्त सर्वाधिक कार्य नंददास के काव्य पर हुआ है। नंददास कृत 'रासपंचाध्यायी' और 'भँवरगीत' का कई विद्वानों

ने सम्पादन किया है। इन सम्पादित रचनाओं की भूमिका रूप में इन पर संक्षिप्त समीक्षा भी की गई है। श्री विश्वम्भरनाथ मेहरोत्रा, डा० रमाशंकर शुक्ल रसाल तथा डा० सुधीन्द्र ने केवल 'भँवरगीत' का सम्पादन किया है। डा० उदयनारायण तिवारी ने 'रासपंचाध्यायी' और 'भंवरगीत' का सम्पादन किया है। इसकी भूमिका में रास-पंचाध्यायी पर विस्तृत रूप से विचार करने के कारण आप भँवर-गीत पर विशेष ध्यान नहीं दे सके। अन्य भूमिका लेखकों ने प्रायः भंवरगीत के मूल रूप, कथानक, भागवत तथा सूरसागर से तुलनात्मक आलोचना भी प्रस्तुत की है। भंवरगीत के भाव तथा कला पक्ष का वर्णन इनमें मिलता है।

अष्टछाप कवियों पर प्राप्त समस्त सामग्री की अनुसंधान-पूर्वक प्रामाणिक छान-बीन सर्वप्रथम (और अभी तक अन्तिम भी) डा० दीनदयाल गुप्त ने की है। आपने 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' में अष्टछाप कवियों की जीवनी, रचना और विचारधारा पर ठोस गवेषणात्मक कार्य किया है। वस्तुतः अष्टछाप कवियों के अध्ययन के लिए लेखक की उपर्युक्त कृति ही सर्वश्रेष्ठ रचना है। इसमें ही सर्वप्रथम वल्लभ सम्प्रदाय, वैष्णव आन्दोलन, भक्ति आदि के अतिरिक्त उन कवियों पर भी विस्तृत प्रामाणिक एवं आलोचनात्मक सामग्री उपलब्ध है जिन पर लेखकों ने अभी तक विशेष ध्यान नहीं दिया है। नंददास और परमानन्ददास के काव्य की विशद तुलनात्मक आलोचना भी 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' का प्रतिपाद्य है।

नंददास के काव्य की विस्तृत एवं गम्भीर आलोचना करते समय गुप्त जी ने भँवरगीत की भी आलोचना की है। इसमें भंवर-गीत के कथानक, उद्देश्य, दार्शनिक पक्ष, भागवत और सूरसागर से तुलनात्मक अध्ययन एवं उसकी विशेषताओं पर विचार किया गया है। वस्तुतः नन्ददास के भंवरगीत पर इतने विस्तार से अभी तक विचार ही नहीं हुआ था।

(घ) अन्य कवियों के 'भ्रमरगीत' से संबद्ध आलोचनात्मक सामग्री

नंददास के अतिरिक्त परमानंददास के काव्य का समुचित परिचय भी 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' के अध्ययन से ही

सम्भव है। डा० गुप्त ने परमानन्ददास की समस्त रचनाओं के साथ उनके भ्रमरगीत विषयक पदों का भी वर्णन किया है। परमानन्द सागर के अप्रकाशित होने के कारण इस पर उतना कार्य भी नहीं हो सका जितना कि नन्ददास पर हुआ है। आपने परमानन्द के काव्य की आलोचना कर उसके काव्य सौन्दर्य के साथ ही परमानन्द-सागर के अध्ययन की ओर भी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। परमानन्ददास ने जो भ्रमरगीत सम्बन्धी पद लिखे हैं वे किस कोटि के हैं ? उनमें रस परिपाक किस प्रकार हुआ है तथा विप्रलंभ शृंगार के अंतर्गत वे किस कोटि में रखे जा सकते हैं आदि प्रश्नों का समाधान 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' में की गई परमानन्द दास की ज्ञानवर्द्धक समीक्षा से ही हो सकता है। गुप्त जी कृत भँवरगीत समीक्षा पर विस्तृत विचार भँवरगीत प्रसंग में किया जायेगा।

प्राप्त सामग्री के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कुल मिलाकर नंददास पर सूरदास की अपेक्षा कम विचार किया गया है। प्रायः भँवरगीत विषयक मोटी बातें ही आलोचना का प्रतिपाद्य रही हैं।

भ्रमरगीत परम्परा के आधुनिक कवियों में से सत्यनारायण कविरत्न के 'भ्रमर दूत' के विषय में अत्यन्त अल्प मात्रा में आलोचनात्मक सामग्री मिलती है जिसमें उनके नवीन दृष्टिकोण, राष्ट्रीय विचारधारा आदि पर ही चलते ढंग में विचार प्रकट किए गए हैं।

जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के 'उद्धव शतक' का विवेचन भी साहित्य में मिलता है। 'उद्धव शतक' की भूमिका में डा० रमाशंकर शुक्ल रसाल ने उद्धवशतक पर ही स्वतन्त्र रूप से अपने विचार प्रकट कर इसे चित्रोपम काव्य कहा है। परन्तु भ्रमरगीत परम्परा पर डा० रसाल ने भी कुछ नहीं लिखा।

(ङ) भ्रमरगीत-परम्परा पर प्राप्त रचनाएँ

उपर्युक्त सामग्री, कवि विशेष के काव्य की आलोचना के अतिरिक्त भ्रमरगीत-परम्परा पर भी कुछ रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं। श्री केशवदेव सिंह ने 'कृष्ण काव्य में भ्रमरगीत'[1] नामक रचना में

१—मुद्रक—जगतनारायण लाल, हिन्दी साहित्य प्रेस, प्रयाग १९४७

सर्वप्रथम इस परम्परा का कुछ विस्तार से परिचय दिया है। भूमिका-लेखक डा० रघुवंश ने भ्रमरगीत परम्परा के विकास और सामाजिक पहलू पर विचार किया है। वे इसे सामंत युगीन नारी-परतंत्रता का कारण मानते हैं। श्री केशवदेव सिंह ने यद्यपि भ्रमरगीत परम्परा के प्रमुख कवियों की भ्रमरगीत रचनाओं के कथा-विकास पर विचार किया है परन्तु उन्होंने सभी कवियों की गोपियों और राधा की तुलनात्मक व्याख्या को ही अपनी आलोचना का मुख्य प्रतिपाद्य बनाया है। भ्रमरगीत परम्परा पर सर्वप्रथम उपलब्ध रचना के रूप में इसका अपना महत्व है।

श्री नारायणदेव 'वीतराग' कृत 'भ्रमरगीत-विवेचना'[1] एक अन्य लघु रचना है। इसे भ्रमरगीत-परम्परा की लघु सूची मात्र कहा जा सकता है। इसमें लेखक ने भ्रमरगीत के कथानक का वर्णन करते हुये इसे विप्रलंभ-शृंगार के अन्तर्गत तन्मयतासक्ति का उत्तम उदाहरण माना है। इसके अतिरिक्त आपने भ्रमरगीत का काल विभाजन कर उस पर युग के प्रभाव को दिखाने की भी चेष्टा की है। भ्रमरगीत-परम्परा के कवि तथा उनके काव्य की गोपियों का अति संक्षिप्त परिचय भी 'भ्रमरगीत-विवेचना' में दिया गया है।

सर्वप्रथम विश्वविद्यालय उपाधि के लिए लिखित प्रबन्ध सुश्री सरला शुक्ल का है—'हिन्दी साहित्य में भ्रमरगीत की परम्परा।'[2] एम० ए० परीक्षा के लिए प्रस्तुत इस प्रबन्ध के सात अध्यायों में भ्रमरगीत-परम्परा, रचना और रचनाकार विषय तत्व, भाव पक्ष, कला पक्ष, वर्णन-सौष्ठव, दार्शनिक और सामाजिक पक्ष पर संक्षेप में बिचार प्रकट किए गए हैं। इस दिशा में सुश्री शुक्ल का यह सफल प्रयत्न प्रशंसनीय है। उन्होंने काव्य के इस उपेक्षित अंग की ओर विशेष ध्यान दिया है किन्तु एम० ए० के लिए प्रस्तुत इस लघु प्रबन्ध में विस्तृत गवेषणात्मक अध्ययन के लिए न तो अवकाश ही था और न आवश्यकता ही। अतएव इसमें भ्रमरगीत सम्बन्धी सम्पूर्ण प्रकाशित एवं अप्रकाशित सामग्री का गवेषणात्मक सूक्ष्म और विशद् एवं गम्भीर अध्ययन नहीं हो सका।

१—प्रकाशक—तुलसी साहित्य सदन, ३ नसिया रोड़, इन्दौर

२—प्रकाशक—हिन्दी साहित्य समाज, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ १९५३।

प्रस्तुत विषय पर डाक्टरेट उपाधि के लिए स्वीकृत डा० श्यामसुन्दर लाल दीक्षित का 'कृष्णकाव्य में भ्रमरगीत' ही एक मात्र गवेषणात्मक प्रबन्ध है। जिस पर उन्हें इसी वर्ष आगरा विश्वविद्यालय के द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है। दीक्षित जी के इस अप्रकाशित प्रबन्ध को देखने का अवसर उनके निरीक्षक विद्वद्वर पं० अयोध्यानाथ के सौजन्य से प्राप्त हो सका है। विद्वान् लेखक ने दस अध्यायों में भ्रमरगीत की पृष्ठभूमि वैष्णव धर्म कृष्ण, राधा, गोपी उद्धव और कुब्जा सम्बन्धी ऐतिहासिक तथ्यों की खोज, भ्रमरगीत की गेयता, उपालम्भ एवं विरह पक्ष पर विचार करते हुये इस परम्परा के प्रमुख कवियों की आलोचना की है। एक प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत यह प्रबन्ध अपना प्रमाण आप ही है। उसके गुण दोषों की चर्चा करना अप्रासंगिक होगा। मुझे केवल यही निवेदन करना है कि विषय साम्य होते हुये भी मेरा प्रबन्ध इससे सर्वथा भिन्न है। कुछ आधारभूत तथ्यों के अतिरिक्त दोनों के प्रतिपादन में किसी प्रकार की समानता नहीं है। हमने इस उद्देश्य से अत्यन्त सावधानी से डा० दीक्षित के प्रबन्ध का अध्ययन किया है कि कहीं मेरे प्रबन्ध में अनजाने ही किसी अंग की पुनरावृत्ति तो नहीं हो गयी। किन्तु मुझे संतोष है कि ऐसा नहीं हुआ है—अपने कथन की पुष्टि में अधिक तर्क न देकर मैं डा० दीक्षित के प्रबन्ध की रूपरेखा ही यहाँ उद्धृत कर देना उचित समझती हूँ।

कृष्णकाव्य में भ्रमरगीत

पहला अध्याय—वैष्णव धर्म, विष्णु और वैष्णव धर्म, सूर्य और विष्णु, विष्णु और इन्द्र, विष्णु और नारायण, वैष्णव धर्म का विकास, भागवत धर्म का अभ्युदय, श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण का अस्तित्व, ऐतिहासिक श्रीकृष्ण, पौराणिक श्रीकृष्ण, महाभारत के श्रीकृष्ण, श्रीमद्भागवत के श्रीकृष्ण, कृष्ण और क्राइस्ट, बेबीलोनिया के आमीर और भारतीय गोपाल, आध्यात्मिक श्रीकृष्ण, नाम का अर्थ कृष्ण का धार्मिक महत्व, ब्रह्मत्व की भावना, श्रीकृष्ण की जन्मतिथि, श्रीकृष्ण का जन्म पत्र, वासुदेव श्रीकृष्ण, ब्रजवासी श्रीकृष्ण, संस्कृत साहित्य में श्रीकृष्ण, हिन्दी में श्रीकृष्ण।

दूसरा अध्याय—श्रीकृष्ण और राधा, राधा की भावना का उदय, सम्प्रदाय के अन्तर्गत राधा, राधा का आध्यात्मिक पक्ष, राधा का

१—सन् १९५५

लौकिक पक्ष, राधा की उपासना के विविध प्रकार, राधा की आवश्यकता क्यों, ब्रह्मवैवर्तपुराण में राधा, राधा स्वकीया हैं अथवा परकीया, संस्कृत साहित्य में राधा, हिन्दी साहित्य में राधा।

तीसरा अध्याय—गोपियाँ, गोपी प्रेम, आध्यात्मिक पक्ष में गोपियाँ, लौकिक पक्ष में गोपियाँ, पुराणों में गोपियाँ, गोपी विहार का औचित्यानौचित्य, रासलीला और गोपियाँ, श्रीकृष्ण और गोपियों के सम्बन्ध में कवियों के विचार, संस्कृत साहित्य में गोपियाँ, हिन्दी काव्य में गोपियाँ।

चौथा अध्याय—गोकुल और मथुरा की ऐतिहासिकता, पुरातत्व के दृष्टिकोण से, ब्रज के प्रमुख दर्शनीय स्थान, नन्दगाँव, ब्रज का विहंगावलोकन, ब्रज का भौगोलिक वर्णन, प्राकृतिक वर्णन, कृषिक्षेत्र, व्यापार तथा वाणिज्य, शासन प्रबन्ध, वृन्दावन और गोकुल।

पच वाँ अध्याय—कुब्जा की कल्पना, उद्धव : काल्पनिक या वास्तविक, उद्धव के ज्ञान संयुक्त तर्क, सूरदास के उद्धव, नन्ददास के उद्धव, रत्नाकर के उद्धव, तुलसी के उद्धव, हरिऔध के उद्धव, अन्य कवि, ज्ञान से भक्ति की प्रधानता, और श्रेष्ठता क्यों।

छठा अध्याय—गीति काव्य की परिभाषा, गीति काव्य में गेयता आवश्यक क्यों, हिन्दी में गीतिकाव्य की परम्परा, कृष्ण काव्य का आरम्भ, कवि श्री जयदेव और उनका गीत गोविन्द, विद्यापति और उनके कृष्ण विषयक गीत, उपालम्भों की परम्परा।

सातवाँ अध्याय। ब्रजभाषा में कृष्णकाव्य का आरम्भ, उपालंभ या विप्रलम्भ शृङ्गार, शृङ्गार की परिभाषा, संयोग शृङ्गार, वियोग शृङ्गार, भ्रमरगीत की परिभाषा, भ्रमरगीत का छन्द, भ्रमरगीत का कथानक और आधार, सूरदास का भ्रमरगीत, पहला भ्रमरगीत, दूसरा भ्रमरगीत, तीसरा भ्रमरगीत, कथानक, आधार, नन्ददास का भ्रमरगीत, कथानक, आधार, भ्रमरगीत के जन्मदाता सूरदास, सूर के नाम, जन्मस्थान, माता पिता, जाति, जन्मतिथि. अन्य घटनाएँ, रचनाएँ, सूर सागर, भ्रमरगीत, भ्रमरगीत का समय, सूरदास की चक्षुहीनता, भ्रमरगीत में बालजीवन और विरह के चित्र, विरह की एकादश अवस्थाएँ और भ्रमरगीत में उनका चित्रण, भ्रमरगीत में रसों का परिपाक, भ्रमरगीत में प्रधान रस कौन है, कवि प्रसिद्धि और भ्रमर, भ्रमर के विभिन्न नाम, भ्रमर का परिचय, उसका स्वभाव, प्रक्रियाएँ।

आठवाँ अध्याय। नन्ददास : एक परिचय : एक जीवनी, जन्म स्थान, जाति, कुल, जन्म तिथि, वैराग्य के बाद का जीवन, मरण तिथि, अन्यान्य विवरण, नन्ददास का भँवरगीत और सब गढ़िया नन्ददास जड़िया, भँवरगीत में दार्शनिकता, सूरदास और नन्ददास, एक तुलना, काव्य में रस परिपाक, विरह की एकादश अवस्थाएँ, छन्द, श्याम की पत्रिका, कथाकार, भाषा, शैली, उद्भावनाएँ, कल्पना, काव्य पक्ष, प्रकृति वर्णन, चरित्र चित्रण, सौन्दर्यानुभूति, बहुज्ञता।

नवाँ अध्याय। भ्रमरगीत की परिपाटी, कुंभनदास, परमानन्ददास, सूरदास, तुलसीदास, रहीम, मतिराम, देव, घनानन्द, आनन्दघन, पद्माकर, सेनापति, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बदरी नारायण चौधरी प्रेमघन, सत्यनारायण कविरत्न, अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, जगन्नाथदास रत्नाकर, द्वारकाप्रसाद मिश्र, रामशंकर शुक्ल रसाल, दीक्षित।

दसवाँ अध्याय। तुलनात्मक अध्ययन, श्रीकृष्ण, राधा, गोपियाँ, नन्द, यशोदा, भ्रमर, उद्धव, कुब्जा भ्रमरगीत की विशेषताएँ।

उपर्युक्त सर्वेक्षण के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि इस दिशा में अभी बहुत कुछ अनुसन्धान कार्य अपेक्षित है:—

(१) भ्रमरगीत के मूलार्थ की सर्वसम्मत व्याख्या अभी तक नहीं हुई है। भ्रमरगीत परम्परा का ऐतिहासिक विवेचन भी नहीं किया गया है और उसके विकास सूत्र का अन्वेषण भी नहीं हुआ।

(२) आलोचकों ने भ्रमरगीत के दार्शनिक आधार का सम्यक् अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया। निर्गुण सगुण का विरोध बता कर ही वे संतुष्ट हो गए हैं। हिन्दी काव्य में निर्गुण और निराकार सगुण और साकार-विषयक भ्रांति की ओर भी हमारे आलोचकों का ध्यान बहुत कम गया है।

(३) भ्रमरगीत की सामाजिक पृष्ठभूमि अर्थात् निर्गुण पंथियों और सगुण पंथियों की तत्कालीन सामाजिक स्थिति का विश्लेषण और भ्रमरगीत काव्य से उसके सम्बन्ध का निरूपण भी अभी शेष है।

(४) भ्रमरगीत का मनोवैज्ञानिक आधार भी अछूता रहा है। साथ ही भ्रमरगीत का शास्त्रीय विवेचन भी अभी तक प्रस्तुत नहीं

किया गया। यत्र तत्र इसे उपालंभ काव्य की संज्ञा मात्र दे दी गई है, किन्तु तत्वानुसंधानपूर्वक कोई सर्वांगीण विवेचना नहीं की गई।

(५) भ्रमरगीत काव्याकाश के सूर्य चन्द्र तथा कतिपय ज्योतिर्मय नक्षत्रों अर्थात् सूर, नन्द, रत्नाकर आदि के अतिरिक्त अनेक लघु नक्षत्र भी हैं जिनकी ज्योति पूर्ण चन्द्र के प्रकाश में लुप्त प्राय हो जाती है किन्तु उनकी सत्ता पर अविश्वास नहीं किया जा सकता। गगन के देदीप्यमान नक्षत्रों के प्रकाश की चकाचौंध में इन लघु नक्षत्रों की ओर किसी ने भी आज तक ध्यान देने की आवश्यकता अनुभव नहीं की। इन समस्त लघु नक्षत्रों को प्रकाश में लाने की आवश्यकता है। मैंने सब मिलाकर प्रमुख तथा गौण भ्रमरगीतकारों की विवेचना प्रस्तुत की है।

(६) अन्त में इसके अतिरिक्त इस बात की भी नितान्त अपेक्षा है कि हिन्दी-साहित्य में भ्रमरगीत काव्य के महत्व का सम्यक् निर्धारण किया जाय।

इस प्रकार इस प्रबन्ध का उद्देश्य है उपरिनिर्दिष्ट अज्ञात, अव्याख्यात अथवा ईषद्व्याख्यात भ्रमरगीत विषयक काव्य कृतियों का अभिनिवेशपूर्वक विवेचन।

द्वितीय अध्याय

भ्रमरगीत काव्य का आधार

१—पृष्ठभूमि।

२—भ्रमर गीत का मूलार्थ।

३—भ्रमर गीत का वर्गीकरण।

४—भ्रमर गीत का मूल रूप।

५—प्रारम्भ।

६—संस्कृत-भागवत।

७—विद्यापति।

भ्रमर गीत काव्य का आधार

पृष्ठभूमि

आदिकाल से ही काव्य मानव-मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति का साधन रहा है। आदि कवि वाल्मीकि क्रौंच पक्षी के प्रति अपनी सहानुभूति को काव्य द्वारा ही इतने सुन्दर रूप में व्यक्त कर सके हैं। काव्य के मनन और विश्लेषण से हम यह देखते हैं कि मानवीय मनोवृत्ति का सूत्र अनवरत रूप से इसमें विद्यमान रहता है। यदि हम काव्य को इन मानवीय मनोवृत्तियों और भावनाओं से पृथक् करके देखना चाहें तो वह केवल निर्जीव शव मात्र रह जायेगा जिसके अन्तराल में स्पंदन नहीं, प्राण नहीं और न कोई तथ्य या सार है।

मानवीय अभिव्यक्ति से सम्बन्धित होने के कारण काव्य और मानव समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्त्री तथा पुरुष समाज के दो प्रमुख अङ्ग, रथ के दो चक्रों के सदृश हैं। विधाता ने उन्हें एक दूसरे का पूरक बनाया है; एक के बिना दूसरे का जीवन अपूर्ण है अतः दोनों की ही अपनी विभिन्न विशेषताएँ हैं। नारी आरम्भ से ही त्याग, दान और सहिष्णुता की प्रतीक रही है और पुरुष वीरता, कठोरता और पौरुष का। समाज के ये दो अंग, समान अधिकारों के अधिकारी सुख और शान्ति से जीवन व्यतीत करते, किन्तु कालान्तर में नारी अपने इस समानता के अधिकार से क्रमशः वंचित होती गई। वैदिक काल में नारी को जो समान अधिकार प्राप्त थे, महाभारत और रामायण काल में आते-आते उनमें से अधिकांश से वह वंचित कर दी गई थी। उसका स्वयंवर का अधिकार नाम मात्र था; पिता के प्रण को पूर्ण करने वाला व्यक्ति ही वर चुना जाता यद्यपि इस प्रथा का नाम अभी भी स्वयंवर ही था जैसा कि द्रौपदी और सीता की स्वयंवर-कथाओं से प्रतीत होता है। सावित्री के समान स्वयं वर चुनने के लिए वे स्वतंत्र न थीं। इतना ही नहीं वे पति की चल-सम्पत्ति सदृश हो गई थीं। इसी कारण धर्मराज युधिष्ठिर ने

भ्रमर गीत काव्य का आधार

पृष्ठभूमि

आदिकाल से ही काव्य मानव-मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति का साधन रहा है। आदि कवि वाल्मीकि क्रौंच पक्षी के प्रति अपनी सहानुभूति को काव्य द्वारा ही इतने सुन्दर रूप में व्यक्त कर सके हैं। काव्य के मनन और विश्लेषण से हम यह देखते हैं कि मानवीय मनोवृत्ति का सूत्र अनवरत रूप से इसमें विद्यमान रहता है। यदि हम काव्य को इन मानवीय मनोवृत्तियों और भावनाओं से पृथक् करके देखना चाहें तो वह केवल निर्जीव शव मात्र रह जायेगा जिसके अन्तराल में स्पंदन नहीं, प्राण नहीं और न कोई तथ्य या सार है।

मानवीय अभिव्यक्ति से सम्बन्धित होने के कारण काव्य और मानव समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्त्री तथा पुरुष समाज के दो प्रमुख अङ्ग, रथ के दो चक्रों के सदृश हैं। विधाता ने उन्हें एक दूसरे का पूरक बनाया है; एक के बिना दूसरे का जीवन अपूर्ण है अतः दोनों की ही अपनी विभिन्न विशेषताएँ हैं। नारी आरम्भ से ही त्याग, दान और सहिष्णुता की प्रतीक रही है और पुरुष वीरता, कठोरता और पौरुष का। समाज के ये दो अंग, समान अधिकारों के अधिकारी सुख और शान्ति से जीवन व्यतीत करते, किन्तु कालान्तर में नारी अपने इस समानता के अधिकार से क्रमशः वंचित होती गई। वैदिक काल में नारी को जो समान अधिकार प्राप्त थे, महाभारत और रामायण काल में आते-आते उनमें से अधिकांश से वह वंचित कर दी गई थी। उसका स्वयंवर का अधिकार नाम मात्र था; पिता के प्रण को पूर्ण करने वाला व्यक्ति ही वर चुना जाता यद्यपि इस प्रथा का नाम अभी भी स्वयंवर ही था जैसा कि द्रौपदी और सीता की स्वयंवर-कथाओं से प्रतीत होता है। सावित्री के समान स्वयं वर चुनने के लिए वे स्वतंत्र न थीं। इतना ही नहीं वे पति की चल-सम्पत्ति सदृश हो गई थीं। इसी कारण धर्मराज युधिष्ठिर ने

द्रौपदी को जुए के दांव पर लगा दिया था। इसी भांति क्रमशः वह उस युग में आती है जबकि उसका पति पर से एकाधिकार भी छिन जाता है। वह सपत्नी की मार्मिक पीड़ा से तड़पती रहती है किन्तु उसके प्रतिकार में वह कुछ कह भी नहीं सकती। नारी के इस प्रकार अधिकार-वंचिता होने के मूल में उसका कोमल, सहिष्णु हृदय तथा पुरुष की प्रवंचना ही थी। पुरुष-प्रणय की आकांक्षी नारी, अपना सर्वस्व समर्पित कर देने पर भी उस पर पूर्णतः स्वाधिकार न पा सकी। कभी वह देखती कि जिसको वह अपना तन, मन अर्पण कर चुकी है, जिसके बिना जीवन वसंत को वह पतझड़ समझती है, वही पुरुष नव-रस के लोभ में नित्य नवीन कलिकाओं के मधुपान में व्यस्त है। अपने सामाजिक जीवन में इस प्रकार निराश होकर वह प्रकृति के स्निग्ध, शांत आंचल में अपना हृदय बहलाने के लिए चली गई। नारी ने अपनी भावनाओं के साथ प्रकृति का विशेष सामंजस्य पाया। उसने देखा कि एक भ्रमर, पुष्प-गंध से आकर्षित, एक कली के साथ अठखेलियां कर रहा है। किन्तु क्षण भर बाद ही वह रसिक दूसरे पुष्प का रसपान करने लगा। परन्तु वह लोलुप वहाँ भी स्थिर न रह सका। नित्य नवीन परिवर्तनों और रसानन्द का रसिक भ्रमर कुछ क्षण पश्चात् ही दूसरी कलिकाओं को अपनी मधुर गुञ्जार से आकर्षित करने लगा। प्रकृति के इस व्यापार को देखकर नारी पीड़ा से कराह उठी। आह ! ये कलिनाएँ भी कितनी भोली हैं, कितनी सरल और अनजान। आज भ्रमर की मंजु गुञ्जार पर मुग्ध हो वे उसे सर्वस्व दान दे रही हैं किन्तु क्या वह अतृप्त भ्रमर उनके प्रणय का मूल्यांकन कर सकेगा ? नित्य नवीन कलिकाओं के रसपान का लोलुप क्या उसके आत्म-समर्पण और सात्त्विक प्रेम को कुछ भी महत्त्व दे सकेगा ? यही तो है पुरुष की स्वार्थमय प्रवृत्ति जो नित्य नवीन रमणियों के साथ क्रीड़ा करना चाहती है। इस प्रणय प्रवंचना के कारण कितनी नारियां जीवन की सुखद स्मृति को चिरकाल तक संजोये मूक वेदना का भार-वहन करती रहती हैं। उन्हीं की भाँति ये कलिकाएँ भी जीवन के उषाकाल में मदमस्त कर देने वाली मंजु गुञ्जार के गायक भ्रमर को क्या पुनः पा सकी हैं ? कितना साम्य है प्रकृति और मानव के इस प्रेम व्यापार में।

नारी की इस मूक वेदना को, इस आत्मपीड़न को, मानव के अन्तराल में प्रवेश करने वाले कवि सुन्दर सरस काव्य के रूप में

व्यक्त करने लगे। नारी की मूक पीड़ा मुखरित हो कर समाज का सर्वश्रेष्ठ काव्य बना। किसी का रुदन दूसरे का संगीत बन गया।

प्रेम व्यापार की इस छलना के कारण ही भ्रमर भारतीय काव्य में पुरुष की रस लोलुप प्रवृत्ति का प्रतीक हुआ। अतः साहित्य में भ्रमर एक विशेष स्थान रखता है और उसी को आधार मानकर भ्रमरगीत परम्परा आरम्भ हुई। काव्य में भ्रमरगीत की मूल भावना का सम्बन्ध उपालम्भ से है। उपालम्भ के मूल में नारी के प्रति पुरुष की एकोन्मुखी निष्ठा का अभाव, विविध उपभोग के प्रति आसक्ति तथा समय सेवी स्वार्थमय मनोवृत्ति है। नारी को प्रेम का जब उपयुक्त प्रतिदान नहीं मिलता तभी वह दुखित हो जाती है। सामाजिक परिस्थिति और स्वाभाविक दुर्बलतावश वह पुरुष से मान करती है, उसे उपालम्भ देती है। शारीरिक बल के अभाव में उसकी प्रतिक्रिया मानसिक अधिक हो गई है। अतः प्राकृतिक उपकरणों द्वारा वह पुरुष को उसकी भ्रमर-मनोवृत्ति की ओर आकृष्ट करना चाहती है।

भ्रमरगीत का मूलार्थ

भ्रमरगीत परम्परा से हमारा तात्पर्य उन गीत-मालाओं से है, जिनमें गोपियों ने भ्रमर के व्याज से उद्धव पर और उद्धव के व्याज से कृष्ण पर व्यंग्य किये हैं, जिनका लक्ष्य अन्त में निराकार ब्रह्म है। सूक्ष्म विवेचन से इस व्यंग्य के दो रूप अथवा पक्ष दृष्टिगत होते हैं। प्रथम सैद्धान्तिक जिसका सम्बन्ध बुद्धि से है जिसके प्रतीक कृष्ण के प्रिय तथा ज्ञानी सखा उद्धव हैं। द्वितीय रूप रसात्मक है जिसका सम्बन्ध हृदय की कोमल कान्त भावनाओं से है। इस रूप के प्रतीक रास रसिक मनमोहन श्रीकृष्ण हैं। उद्धव ज्ञानी हैं, निराकार निर्गुण ब्रह्म के प्रतिपादक और श्रीकृष्ण भक्त वत्सल भगवान हैं जो अपने भक्तों के कल्याण के लिए, पृथ्वी का भार हरण करने के लिए सगुण रूप धारण कर इस वसुधा पर अवतरित होते हैं। इस प्रकार भ्रमरगीत के अन्तर्गत दो मूल भावनाओं का संघर्ष है। प्रथम में प्रेम अथवा हृदय का ज्ञान से संघर्ष और द्वितीय में निराकार की अपेक्षा साकार भावना का प्रतिपादन। अतः गोपियों ने भ्रमर को लक्ष्य कर अप्रत्यक्ष रूप से उद्धव पर जो व्यंग्य दिये हैं उनका लक्ष्य अन्त में जाकर उनका निराकार ब्रह्म ही है।

दूसरा पक्ष रागात्मक है जिसके अन्तर्गत गोपियों की कृष्ण के प्रति उपालम्भ एवं व्यंग्यपूर्ण भावाभिव्यक्ति आती है जिसमें उनके अनन्य प्रेम की मार्मिक अभिव्यंजना है।

भ्रमरगीत का वर्गीकरण

भ्रमरगीत प्रणय-उपालम्भपूर्ण काव्य है। इसमें भ्रमर के व्याज से उपालम्भ दिया जाता है। भ्रमरगीत साहित्य के अन्तर्गत कई कोटि के भ्रमरगीत मिलते हैं। साधारणतः उनको निम्न वर्गों में विभाजित किया जाता है :

प्रथम शुद्ध भ्रमरगीत

इसमें भ्रमर की उपस्थिति अनिवार्य है। इसमें भ्रमर के व्याज से उपालम्भ दिया जाता है। अधिकांश भ्रमरगीत काव्य इसी श्रेणी का है। गोपियाँ भ्रमर के व्याज से अप्रत्यक्ष रूप से उद्धव तथा उनके निराकार ब्रह्म पर व्यंग्य कर कृष्ण को उपालम्भ देती हैं। इस प्रकार के काव्य में व्यंग्य गौण और उपालम्भ प्रधान हो जाता है। भ्रमर के मिस हृदय की मार्मिक पीड़ा की अभिव्यंजना ही काव्य का विषय बन जाती है।

द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत भ्रमरगीत के उन पदों की गणना की जा सकती है जिनमें शृङ्गारिक उपालम्भ तो ज्यों का त्यों बना रहता है किन्तु भ्रमर अदृश्य रहता है। भ्रमर की उपस्थिति अनिवार्य नहीं होती। वह पृष्ठभूमि में ही रहता है और उद्धव को ही अलि, मधुप, मधुकर आदि शब्दों से सम्बोन्धित किया जाता है। गोपी-उद्धव संवाद सम्बन्धी समस्त पद इसी वर्ग के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। गोपी-उद्धव संवाद में तर्क प्रधान हो गया है और भावना गौण। गोपियाँ तर्क तथा व्यंग्य के द्वारा उद्धव के जोग संदेश का खंडन कर, उनके निराकार ब्रह्म को ग्रहण करने में अपनी असमर्थता तथा विवशता प्रकट करती हैं। निराकार साकार ब्रह्म-विवाद के फल-स्वरूप उद्धव-गोपी संवाद में दार्शनिकता को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस वर्ग की रचनाओं में साकार ब्रह्म की उक्ति वैचित्र्य द्वारा श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है।

तृतीय वर्ग में भ्रमरगीत काव्य का वह अंश रखा जा सकता है जिसका सम्बन्ध नन्द, यशोदा तथा गोपों से है। इन रचनाओं में भ्रमरगीत के मूल तत्व उपालम्भ ही को आधार माना गया है किन्तु

इसकी मूल भावना शृङ्गारिक नहीं है। नन्द यशोदा के उपालम्भ का सम्बन्ध दाम्पत्य जीवन से न होकर प्रिय पुत्र को अविस्मरणीय भावना से ही अधिक है। यद्यपि इस प्रकार के उपालम्भ के मूल में नारी प्रणय की भावना नहीं है तथापि प्रेम की सात्विकता और तीव्रता का अभाव भी नहीं माना जा सकता है। प्रिय से बिछुड़ कर नारी का हृदय जितनी वेदना का अनुभव करता है, पुत्र से वियुक्त माता का हृदय भी उसके अभाव में उतना ही विकल तथा विह्वल रहता है। भ्रमरगीत के मूल तत्व उपालम्भ के वर्तमान रहने के कारण ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस प्रकार के समस्त पदों को भ्रमरगीत के अन्तर्गत माना है। यही कारण है कि 'भ्रमरगीत सार' में उन्होंने नन्द यशोदा सम्बन्धी पदों को भी संग्रहीत किया है।

भ्रमरगीत का मूल रूप :—

पुरुष की भ्रमर-वृत्ति के कारण नारी मात्र का भ्रमर के व्याज से पुरुष के प्रति उपालम्भ ही भ्रमरगीत का आदि अथवा मौलिक स्वरूप है, जिसे पारिभाषिक रूप से भ्रमरगीत के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता है। यद्यपि बीज रूप वही है। पुरुष के प्रति नारी की इस उपालम्भ-भावना का आरोप भागवत में जाकर भ्रमरगीत का रूप धारण कर लेता है।

इस प्रकार भ्रमर गीत के समस्त वर्गों में उपालम्भ सर्वत्र दृष्टि-गोचर होता है। जब उपालम्भ का सम्बन्ध राधा; गोपी तथा कृष्ण से स्थापित किया गया तब यह एक विशिष्ट रूप में धर्म का आवरण धारण कर हमारे सम्मुख आता है। कृष्ण का धार्मिक स्वरूप धर्म विशेष से सम्बन्धित है, वे हमारे इष्ट देव है अतः राधा, कृष्ण व गोपियों से सम्बन्धित भ्रमरगीत एक दृढ़ दार्शनिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। साधारण नारी के मनोभावों की मार्मिक अभिव्यंजना के साथ ही दार्शनिक रूप भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इसमें वर्तमान रहता है। उद्धव को सम्बोधित किए गये पदों में यह दार्शनिकता अधिक स्पष्ट हो गई हैं जबकि कृष्ण के प्रति उपालम्भ में यह सूक्ष्म रूप में ही वर्तमान है।

समाज तथा देश की आवश्यकताओं तथा रुचि विभिन्नता के कारण भ्रमरगीत प्रसंग में भी आवश्यक परिवर्तन तथा परिवर्द्धन होता रहा है, जो उस युग की मानसिक तथा बौद्धिक विचार धारा का परिचायक है।

प्रारम्भ

यह पहले ही कहा जा चुका है कि भ्रमरगीत के मूल में उपालम्भ की भावना है। सूरदास के पूर्व साहित्य में इस नाम का इतना श्रेष्ठ काव्य न था किन्तु भ्रमरगीत की मूल भावना उपालम्भ का साहित्य में अभाव भी नहीं माना जा सकता। उपालम्भ की यह भावना साहित्य में चिरकाल से चली आ रही है। संस्कृत, प्राकृत, पाली, अपभ्रंश आदि के साहित्य में उपालम्भ के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। ये उपालम्भ भ्रमर व्याज अथवा भ्रमर अन्योक्ति रूप में भी उपलब्ध हैं। समाज में बहुविवाह प्रथा के साथ ही नारी हृदय में उपालम्भ का जन्म हुआ। कवि शिरोमणि कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में दुष्यन्त को शकुन्तला से विवाह करने के पश्चात पहली रानी का यह उपालम्भ पूर्ण संगीत सुनने को मिलता है :—

अहिणव महु लोलुवो भवं
तह परि चुम्बिअ चूअमंजरिं।
कमल वसइ मेत्तणिव्वुदो
महुअर ! विह्मरिओसिणं कहं ॥१॥

संस्कृत—

अभिनव मधु लोलुपां भवांस्तथा परिचुम्ब्य चूत मंजरीम्।
कमल वसति मात्र निर्वृतां मधुकर ! विस्मृतोऽस्यैनां कथम् ॥

सातवाहन की गाथा सप्त शती में भी उपालम्भ काव्य का अभाव नहीं है[१]।

तइआ क अच्छ महुअर न रमसि अण्णासु पुप्फ जाईसु।
बद्ध भार कुरुई मालइं एंह्नि परिच्छ असि ॥६२॥[२]

भ्रमर के व्याज से दूती नायक को उपालम्भ देती हुई कहती है:—
"उस समय तो किसी भी अन्य पुष्प जाति से तुम्हारा सम्बन्ध न था। अब फल भार से झुकी मालती को तुमने क्यों छोड़ दिया।"

इस प्रकार के और भी अनेक उद्धरण संकलित किए जा सकते हैं पर यहाँ केवल एक भावना विशेष को ही उदाहृत करना ही अभीष्ट है अतएव अधिक विस्तार निरर्थक होगा।

---

१ पृष्ठ ३५३, पंचम अङ्क—पं० श्रीनारायण शास्त्री सन् १६३५
खिलाड़ीलाल एण्ड सन्स

२ प्रथम शतकम् श्लोक सं० ६२।

उपालम्भ-काव्य से तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति का आभास मिलता है। तत्कालीन समाज के पुरुष की प्रेम भावना का स्थूल रूप, रमण तथा शारीरिक सुख-भोग की भावना का आभास इन उपालम्भों में प्राप्त है। सात्विक प्रेम का स्थान रूप मोह ने ग्रहण कर लिया था। पत्नी के प्रति एक निष्ठा के अभाव में परकीया नायिकाओं तथा दूती का महत्त्व और स्वकीया के प्रति उदासीनता बढ़ी जिसके फलस्वरूप उपालम्भ, व्यंग्य तथा विरह व्यंजना को काव्य में प्रमुख स्थान मिला।

भ्रमरगीत की मूल भावना—उपालम्भ को, जो अभी तक भ्रमर अन्योक्ति द्वारा ही काव्य में व्यक्त होती रही है, भागवत पुराण में एक स्थिर तथा दृढ़ आधार प्राप्त हो गया है जिस पर भविष्य में इतना भव्य काव्य प्रासाद निर्मित किया गया।

भागवत :

भागवत के दशम स्कंध पूर्वार्द्ध के छियालिसवें और सैंतालीसवें अध्यायों में इस प्रसंग का वर्णन है: एक बार श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय सखा तथा मंत्री साक्षात् वृहस्पति जी के शिष्य और परम बुद्धिमान उद्धव जी को बुलाकर कहा,[1] "भाई, तुम व्रज में जाओ और मेरे माता-पिता नन्द यशोदा को प्रसन्न करो और गोपियों को जो कि मेरे विरह में व्याकुल हैं, मेरा संदेश सुनाकर इस विरह वेदना से मुक्त करो। मैं सच कहता हूँ, गोपियों का मन नित्य निरंतर मुझ में ही लगा रहता है। उनके प्राण, उनका जीवन, उनका सर्वस्व मैं ही हूँ। मेरे लिए उन्होंने अपने पति, पुत्र आदि सभी सगे सम्बन्धियों को छोड़ दिया है। मैं ही उनका आत्मा तथा प्राण हूँ। मेरा यह व्रत है कि जो लोग मेरे लिए लौकिक पारलौकिक धर्मों को छोड़ देते हैं उनकी देख-रेख मैं स्वयं करता हूँ। मेरे यहाँ चले आने से गोपियाँ मेरा स्मरण कर अत्यन्त मोहित हो रही हैं। बार-बार मूर्छित हो जाती हैं। मेरे विरह की कथा से विह्वल हो बार-बार मेरे लिए उत्कंठित रहती हैं। मेरी प्रेयसी गोपियाँ इस समय बड़े कष्ट में हैं। मैंने उनसे कहा था कि "मैं आऊँगा" यही उनके प्राणों का आधार है। उद्धव मैं ही उनकी आत्मा हूँ, वे निरंतर मुझ में ही तन्मय रहती हैं।"

१—पृ० सं० ७८७—कल्याण भागवतांक संख्या १, अगस्त सन् १९४१

स्वामी[1] तथा सखा के इस संदेश को लेकर उद्धव नन्द गाँव गये। जहाँ उनसे मिलकर नंद बाबा बड़े प्रसन्न हुए और उनका आदर सत्कार किया। वसुदेव आदि का कुशल समाचार पूछने के बाद नन्द उद्धव से पूछते हैं, "अच्छा उद्धव जी! यह तो बताइए कि श्रीकृष्ण कभी हम लोगों की याद करते हैं। अपने माता-पिता, प्रिय गोपी, ग्वाल और गौ तथा व्रज का कभी स्मरण करते हैं। हम सबको देखने के लिए क्या कृष्ण कभी यहाँ आवेंगे?" इसके बाद ही नन्द कृष्ण के गुण गान करने लगते हैं कि किस प्रकार बाल-लीला में ही उन्होंने अनेक चमत्कारपूर्ण काम कर डाले थे। इस प्रकार गुण-कथन से नंद बाबा प्रेम-विह्वल हो गए और मिलन की तीव्र उत्कंठा से उनका गला रुँध गया। वे चुप हो गये। यशोदा रानी भी वहीं बैठकर नंद बाबा की बातें सुन रही थीं, श्रीकृष्ण की एक-एक लीला सुनकर उनकी आँखों से आँसू बहते जाते थे, पुत्र-स्नेह की बाढ़ से उनके स्तनों से दूध की धारा बहती जा रही थी। उद्धव जी ने यह सब देखा, सुना और इसका भी अनुभव किया कि नंद बाबा और यशोदा रानी के हृदय में भगवान् कृष्ण के प्रति कैसा अगाध अनुराग है। वे आनन्द मग्न हो यशोदा रानी और नन्द बाबा से कहने लगेः—"आप बड़े भाग्यशाली हैं जो चराचर के बनाने वाले और उसे ज्ञान देने वाले नारायण के प्रति आपके हृदय में ऐसा वात्सल्य स्नेह है। बलराम और कृष्ण, पुराण-पुरुष हैं, वे सारे संसार के उपादान और निमित्त कारण भी हैं। भगवान श्रीकृष्ण पुरुष हैं तो बलराम प्रधान (प्रकृति)। ये ही दोनों समस्त शरीर में प्रविष्ट होकर उन्हें जीवन दान देते हैं और उनमें उनसे अत्यन्त विलक्षण जो ज्ञान स्वरूप जीव है उसका नियमन करते हैं। जो जीव मृत्यु के समय अपने शुद्ध मन को एक क्षण के लिए भी उनमें लगा देता है वह समस्त कर्म वासनाओं को धो बहाता है। वह शीघ्र ही सूर्य के समान तेजस्वी तथा ब्रह्ममय होकर परम गति को प्राप्त होता है। वे भगवान् ही आपके आत्मा और परम कारण हैं; भक्तों की अभिलाषा पूर्ण करने और पृथ्वी का भार उतारने के लिए मनुष्य का शरीर ग्रहण करके प्रकट हुये हैं। आप परम भाग्यशाली हैं जो आपका उनमें इतना सुदृढ़ वात्सल्य भाव है। श्रीकृष्ण थोड़े ही दिनों में आकर आप दोनों माता-पिता को आनंदित करेंगे।

१—पृ० ७८८

'मैं ब्रज में आऊँगा' यह आपसे जो कहा था उस कथन को वे अवश्य पूरा करेंगे। आप खेद न करें, काष्ठ में व्याप्त अग्नि के सदृश वे सदैव आपके पास हैं, क्योंकि वे समस्त प्राणियों के हृदय में व्याप्त हैं। वे समदृष्टा हैं, अतः उनके लिए कोई बड़ा छोटा ऊँच नीच नहीं है। अपना प्रिय अप्रिय नहीं है। न उनके कोई माता-पिता, पत्नी या पुत्र हैं, न कोई अपना पराया, न देह है, न जन्म। वे संसार में कभी देवता आदि सात्विक योनियों में अवतार लेते हैं। तो कभी मत्स्य आदि तामस योनियों में शरीर धारण करते हैं। किन्तु यह जीव के कर्म-वश जन्म के समान नहीं है क्योंकि इनके कर्म ही नहीं हैं। वे लीला के लिए अवतार लेते हैं। यह लीला सत्पुरुषों की रक्षा तथा परित्राण का कारण बनती है। भगवान् अजन्मा तथा गुणातीत होते हुये भी सत्-रज-तम गुणों को स्वीकार कर जन्म लेते हैं। उनके द्वारा ही जगत् की रचना, पालन तथा संहार करते हैं। जिस प्रकार घुमरी करने वाले बच्चे को पृथ्वी घूमती दिखाई पड़ती है, वैसे ही वास्तव में सब कुछ करने वाला चित्त ही है। परन्तु उस चित्त में जब अहं बुद्धि हो जाने के कारण, भ्रमवश उसे आत्मा अपना 'मैं' समझ लेने के कारण, जीव अपने को ही कर्ता समझने लगता है। श्रीकृष्ण केवल आप दोनों के ही पुत्र नहीं हैं, वे समस्त प्राणियों के पुत्र हैं। पुत्र ही नहीं अपितु माता-पिता और स्वामी भी हैं। वे ही सबके आत्मा हैं। भूत भविष्य वर्तमान जड़-जंगम कोई भी उनसे पृथक् नहीं है। वे ही सब कुछ हैं और वही परमार्थ सत्य हैं।"

इस प्रकार भागवत में कृष्ण उद्धव को माता-पिता तथा गोपियों के पास उन्हें सान्त्वना देने तथा ज्ञान द्वारा उनकी विरह व्याधि दूर करने के लिए भेजते हैं। नन्द बाबा यद्यपि कृष्ण की अलौकिक लीला और पारमार्थिक वृत्ति से बहुत प्रभावित हैं किन्तु अन्त में पुत्र-प्रेम से उनका गला रुँध जाता है। माता यशोदा मूक हो उनके कथन को सुनती और अपने आँसू पोंछती जाती हैं। उनका मातृ-हृदय उनकी लीलाओं को सुनकर चाहे कितने गौरव का अनुभव क्यों न करता रहा हो किन्तु उस समय पुत्र-वियोग का अपार दुःख ही अश्रु बनकर बह रहा था, यह निर्विवाद है। उनके श्रवण सतर्क थे, नेत्र प्रवाहित और जिह्वा मौन। भागवत की यशोदा माता की वेदना मुखरित न हो सकी, उनका मौन अश्रु प्रवाह ही उनकी वेदना

अभिव्यक्ति का मूक साधन था। उद्धव के ज्ञान से निश्चय ही वे हतप्रभ थीं, प्रभावित नहीं।

भुवन[1] भास्कर के उदय के साथ ही गोपियाँ नंद बाबा के द्वार पर रथ खड़ा देख परस्पर पूछने लगीं, "यह किसका रथ है?" किसी गोपी ने कहा, "कंस का प्रयोजन सिद्ध करने वाला अक्रूर ही तो कहीं फिर नहीं आया है। सखी! वही, कमल नयन प्यारे श्याम सुन्दर को यहाँ से मथुरा ले गया था।" किसी दूसरी गोपी ने कहा, "क्या अब वह हमें ले जाकर अपने मरे हुए स्वामी कंस का पिंड-दान करेगा? अब यहाँ उसके आने का क्या प्रयोजन हो सकता है।" वे इसी प्रकार बात कर रही थीं कि नित्यकर्म से निवृत्त होकर उद्धव जी आ पहुँचे।

गोपियों के इस विचार विनिमय में अक्रूर के प्रति तीखे व्यंग्य तथा घृणा की भावना ओत-प्रोत है।

श्रीकृष्ण के समान वेश-भूषा तथा रूप रंग वाले उद्धव को देख कर गोपियों के मन में उनका परिचय प्राप्त करने की उत्कंठा हुई। जब उन्हें मालूम हुआ कि ये तो रमारमण भगवान कृष्ण का संदेश लेकर आये हैं तब उन्होंने विनय से झुक कर सलज्ज हास्य, चितवन और मधुर वाणी आदि से उद्धव जी का अत्यन्त सत्कार किया तथा एकान्त में आसन पर बैठा कर वे उनसे इस प्रकार बोलीं—

"उद्धव[2] जी! हम जानती हैं कि आप हमारे ब्रज-नाथ, नहीं नहीं, अब यदुनाथ के पार्षद हैं। उन्हीं का सन्देसा लेकर यहाँ पधारे हैं। आपके स्वामी ने अपने माता-पिता को सुख देने के लिए आपको यहाँ भेजा है। नहीं तो इस नन्द गाँव में गौओं की रहने की जगह में ऐसी कौनसी वस्तु है जिसका वे वहाँ बैठे-बैठे स्मरण करें। पर इतनी बात तो सच है कि बड़े-बड़े ऋषि मुनि भी अपने सगे-सम्बन्धियों का स्नेह बंधन बड़ी कठिनाई से छोड़ पाते हैं। इसलिए माता पिता की याद तो कृष्ण को भी आती ही होगी। अपने माता-पिता जैसे घनिष्ठ सम्बन्धियों को छोड़ कर जो दूसरों के साथ प्रेम सम्बन्ध किया जाता है वह तो किसी न किसी स्वार्थ के लिए ही होता है।

१ पृ० सं० ७९०

२ पृ० सं० ७९१

जब तक अपना मतलब नहीं निकल जाता, तब तक प्रेम का स्वांग किया जाता है। काम निकला और प्रेम का दिवाला हुआ। भौंरों का पुष्प से और पुरुष का स्त्रियों से ऐसा ही स्वार्थ का प्रेम सम्बन्ध होता है। जहाँ देखो, संसार में स्वार्थ-जन्य प्रेम का ही बोल बाला है। देखो न जब वेश्या समझती है कि अब मेरे यहाँ आने वालों के पास धन नहीं है तो उसे वह धता बता देती है। जब प्रजा देखती है कि यह राजा हमारी रक्षा नहीं कर सकता तब वह उसका साथ छोड़ देती है। अध्ययन समाप्त हो जाने पर कितने शिष्य अपने आचार्यों की सेवा करते हैं। यज्ञ की दक्षिणा मिली कि ऋत्विज लोग चलते बने। जब वृक्ष पर फल नहीं रहते, तब पक्षीगण वहाँ से बिना कुछ सोचे विचारे उड़ जाते हैं। भोजन कर लेने के बाद अतिथि लोग ही गृहस्थ की ओर कब देखते हैं। वन में आग लगी कि पशु भाग खड़े हुए। स्त्री के हृदय में कितनी ही आसक्ति हो व्यभिचारी पुरुष अपना काम बना लेने के बाद उलट कर कभी नहीं देखता। हाँ, उद्धव जी! संसार के प्रेम सम्बन्ध ऐसे ही होते हैं।"

गोपियों के इस कथन में आरम्भ से ही उनकी मनोदशा का चित्रण मिलता है। वे अपने को कृष्ण से कितना दूर समझती हैं। वैभव की एक गहरी खाई ने कृष्ण को उनसे कितना पृथक् कर दिया है, यह उनका हृदय प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा है। इसलिए "व्रजनाथ" कहने के साथ ही वे नहीं-नहीं यदुनाथ कह उठती हैं। इस यदुनाथ शब्द में सम्मान के साथ जितना व्यंग्य है उतनी ही वेदना भी मिश्रित है। आज उनके व्रजनाथ व्रज के न रहे अब वे गोपीनाथ नहीं यदुनाथ हैं। इस प्रकार कृष्ण की निर्ममता उन्हें संसार के स्वार्थी व्यक्तियों के स्वार्थ का ही रूप जान पड़ा। वे सोचने लगीं जब उनमें प्रेम की पवित्रता थी ही नहीं तो वे हमारे हृदय की पीड़ा को क्या समझें। भ्रमर क्या कभी पुनः कली के पास लौटता है। स्वार्थ, आनन्द और उपभोग में लिप्त समय-सेवी जिसकी वृत्ति हो वह स्वार्थ सिद्ध हो जाने पर कब दूसरों का ध्यान करता है। और कृष्ण इसमें अपवाद नहीं बल्कि प्रमाण भी माने जा सकते हैं। विरह व्यथा से विदग्ध गोपियों ने प्रथम बार कृष्ण-प्रेम की भ्रमर के प्रेम से उपमा दी है।

यद्यपि इस सम्पूर्ण कथन में प्रत्यक्ष रूप से कृष्ण का नाम नहीं लिया गया, पर अप्रत्यक्ष रूप से सम्पूर्ण व्यंग्य कृष्ण के मथुरावास को

ही लक्ष्य कर किया गया है। अपने प्रेम का प्रतिदान न पाकर गोपियों ने उद्धव को उपालम्भ दिये क्योंकि वे जानती थीं कि इस प्रकार उद्धव द्वारा उनकी भावाभिव्यक्ति कृष्ण तक अवश्य पहुँच सकेगी। इसी बीच वे दुःखावेग से विह्वल हो उठीं। कृष्ण की समस्त लीलायें उनके नेत्रों के आगे छा गईं। वे स्त्री सुलभ लज्जा को त्याग फूट-फूट कर रोने लगीं। उपालम्भ और व्यंग्य के पश्चात् नारी का स्वत्व अश्रु पर ही तो होता है। एक गोपी को कृष्ण-मिलन की लीलाओं का स्मरण हो रहा था, उसी समय उसने देखा कि एक भ्रमर पास ही गुनगुना रहा है। उसने समझा मानों मुझे रूठी समझ श्रीकृष्ण ने मनाने के लिये दूत भेजा हो और वह गोपी भँवर से इस प्रकार कहने लगी :

"मधुकर[1]! तू कपटी का सखा है, इसलिए तू भी कपटी है। तू हमारे पैरों को मत छू। झूठे प्रणय कहकर हमसे अनुनय विनय मत कर। हम देख रही हैं कि जो वन-माला हमारे स्रोतों के स्पर्श से मसली हुई है उसका पीला कुमकुम तेरी मूछों पर भी लगा हुआ है। तू स्वयं भी तो किसी कुसुम से प्रेम नहीं करता, यहाँ से वहाँ उड़ा करता है। जैसे तेरे स्वामी वैसा ही तू। मधुपति श्रीकृष्ण मथुरा की मानिनी नायिकाओं को मनाया करें उनका वह कुमकुम रूप कृपा प्रसाद जो यदुवंशियों की सभा में उपहास योग्य है, अपने ही पास रखें। उसे तेरे द्वारा भेजने की क्या आवश्यकता है? जैसा तू काला है, वैसे ही वे भी हैं। तू भी पुष्पों का रस लेकर उड़ जाता है, वैसे ही वे भी निकले। देख तो उन्होंने हमें केवल एक बार—हाँ, ऐसा ही लगता है—केवल एक बार अपनी तनिक सी मोहिनी और परम मादक अधर-सुधा पिलायी थी और फिर हम भोली-भाली गोपियों को छोड़कर वे यहाँ से चले गये। पता नहीं, सुकुमारी लक्ष्मी उनके चरण कमलों की सेवा कैसे करती हैं। अवश्य ही वे छैल छबीले श्रीकृष्ण की चिकनी चुपड़ी बातों में आ गयी होंगी। चित चोर ने उनका भी चित चुरा लिया होगा। अरे भ्रमर! हम वन वासिनी हैं। हमारे घर-द्वार भी नहीं है। तू हम लोगों के सामने यदुवंशी शिरोमणि श्रीकृष्ण का बहुत सा गुणगान क्यों कर रहा है? यह सब कला हम लोगों को मनाने के लिए ही तो! परन्तु नहीं, नहीं, वे हमारे लिए कोई नये नहीं हैं। हमारे लिए तो जाने पहिचाने, बिलकुल

१ पृष्ठ ७९१, ७९२, ७९३।

पुराने हैं। तू जा, यहाँ से चला जा और जिनके साथ सदा विजय रहती है, उन श्रीकृष्ण की मधुपुर वासिनी सखियों के सामने जाकर उनका गुण गान कर। वे नई हैं, वे उनकी लीलायें कम जानती हैं और इस समय वे उनकी प्यारी हैं। उनके हृदय की पीड़ा उन्होंने मिटा दी है, वे तेरी प्रार्थना स्वीकार करेंगी, तेरी चापलूसी से प्रसन्न हो कर तुझे मुँह माँगी वस्तु देंगी। भौंरे! वे हमारे लिये छटपटा रहे हैं, ऐसा तू क्यों कहता है? उनकी कपट भरी मनोहर मुस्कान और भौंहों के इशारे से जो वश में न हो जाय, उनके पास दौड़ी न आवें, ऐसी कौन सी स्त्रियाँ हैं। अरे अनजान! स्वर्ग में, पाताल में और पृथ्वी में ऐसी एक भी स्त्री नहीं है, और की तो बात ही क्या, स्वयं लक्ष्मी जी भी उनके चरण रज की सेवा किया करती हैं। फिर हम श्रीकृष्ण के लिए किस गिनती में हैं? परन्तु तू उनके पास जाकर कहना कि "तुम्हारा नाम तो "उत्तम श्लोक" है, अच्छे-अच्छे लोग तुम्हारी कीर्ति का गायन करते हैं, परन्तु इसकी सार्थकता तो इसी में है कि तुम दीनों पर दया करो। नहीं तो श्रीकृष्ण! तुम्हारा 'उत्तम श्लोक' नाम झूँठा पड़ जाता है। अरे मधुकर! देख तू मेरे पैर पर सिर मत टेक। मैं जानती हूँ कि तू अनुनय-विनय करने में, क्षमा याचना करने में बड़ा निपुण है। मालूम होता है कि तू भी श्रीकृष्ण से ही यह सीख कर आया है कि रूठे हुए को मनाने के लिए दूत को—संदेश वाहक को—कितनी चाटुकारिता करनी चाहिए। परन्तु तू समझ ले कि यहाँ तेरी दाल नहीं गलने की। देख, हमने

फुट नोट—मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिंसपत्न्या :
कुच विलुलित माला कुंकुमश्मश्रुभिर्नः ॥
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसाद यदुसदसि
विडम्बयं यस्य दूतस्त्व मीदृक् ॥१२॥
सकृदधर सुधां स्वां मोहिनी पायचित्वा
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान भवादृक् ॥
परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा
ह्यपि बत हृतचेता उत्तम श्लोकजल्पैः ॥१३॥
किमिह बहु षडङ्घ्रे गायसि त्वं
यदूनामधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम् ॥
विजय सख सखीनां गीयतां तत्प्रसङ्गः
क्षपित कुचरुजस्ते कल्पन्तीष्टामिष्टाः ॥१४॥
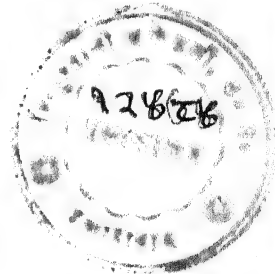
श्रीकृष्ण के लिए ही अपने पति, पुत्र और दूसरे लोगों को छोड़ दिया परन्तु उनमें तनिक भी कृतज्ञता नहीं। वे ऐसे निर्मोही निकले कि हमें छोड़कर चलते बने। अब तू ही बता, ऐसे अकृतज्ञ पर हम क्या विश्वास करें? ऐ रे मधुप! शायद तुझे इस बात का पता न हो, हम तो उनके जन्म-जन्म की बात जानती हैं कि वे कितने निठुर हैं। जब वे राम बने थे तब उन्होंने कपिराज बालि को व्याध के समान छिपकर बड़ी निर्दयता से मारा था। बेचारी शूर्पणखा कामवश उनके पास आयी थी, परन्तु उन्होंने अपनी स्त्री के वश होकर उस बेचारी के नाक कान-काट लिए और इस प्रकार उसे कुरूप कर दिया। जाने दो उस समय की बात, ब्राह्मण के घर वामन के रूप में जन्म लेकर उन्होंने क्या किया? बलि ने तो उनकी पूजा की, उनकी मुँह माँगी वस्तु दी और उन्होंने क्या किया? उनकी पूजा ग्रहण करके भी उसे वरुण पाश से बाँध कर पाताल में डाल दिया। ठीक वैसे ही, जैसे कौआ बलि खाकर भी बलि देने वाले को अपने अन्य साथियों के साथ मिलकर घेर लेता है और परेशान करता है। अच्छा तो हमें कृष्ण से क्या? किसी भी काली वस्तु से कोई प्रयोजन नहीं। हम कालों की मित्रता से बाज आयीं, परन्तु यदि तू यह कहे कि "जब ऐसा है तब तुम लोग उनकी चर्चा क्यों करती हो? तो भ्रमर! हम सच कहती हैं एक बार जिसे उसका चसका लग जाता है, वह उसे छोड़ नहीं सकता, ऐसी दशा में हम

दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तदुरापाः
कपट रुचिरहासभ्रविजृम्भस्य याः स्युः ॥
चरण रज उपासते यस्य भूतिवर्प का अपि च
कृष्ण पक्षे ह्युत्तम श्लोकशब्दः ॥१५॥

विसृज शिरसि पादं वेदम्यहं चाटुकाररर—
नुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात् ॥
स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका
व्यसृजदकृत चेताःकिं नु सन्धेयमस्मिन् ॥१६॥

मृगपुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा
स्त्रियकृत विरुपां स्त्रीजितः कामयानाम् ॥
बलिमपि बलिमत्वाऽवेष्टयद्ध्वाङ्क्षवयद्यस्तदम
सितसत्यैर्दुस्त्यजस्तात्कथार्थे ! ॥१७॥

चाहने पर भी उनकी चर्चा छोड़ नहीं सकतीं। क्या करें? देख न श्रीकृष्ण की लीला रूप अमृत की कुछ थोड़ी सी बूँदें जिसके कानों में पड़ जाती हैं, जो उनके एक कण का भी रसास्वादन कर लेता है, उसके राग द्वेष आदि सारे द्वन्द्व छूट जाते हैं। संसार के सुख दुख उसके सामने से भाग खड़े होते हैं। यहाँ तक कि बहुत से लोग तो अपनी दुःखमय-दुःख से सनी हुई घर गृहस्थी छोड़कर अकिंचन हो जाते हैं, अपने पास कुछ भी संग्रह-परिग्रह नहीं रखते, और पक्षियों की तरह चुन चुन कर भीख माँग कर अपना पेट भरते हैं, दीन दुनिया से जाते रहते हैं फिर भी श्रीकृष्ण की लीला-कथा नहीं छोड़ पाते। वास्तव में उसका चसका ही ऐसा होता है। यही दशा हमारी भी हो रही है। जैसे कृष्ण सार मृग की पत्नी भोली भाली हरिणियाँ व्याध के सुमधुर गान का विश्वास कर लेती हैं और उसके जाल में फँस कर मारी जाती हैं, वैसे ही हम भोली भाली गोपियाँ भी उस छलिया कृष्ण की मीठी मीठी बातों में आकर उन्हें सत्य के समान मान बैठीं और उनके नख स्पर्श से होने वाली काम व्याधि का बार-बार अनुभव करती रहीं। इसीलिए अब इस विषय में तू और कुछ मत कह। तुझे कहना ही हो तो और दूसरी बात कह "इतने में भौंरा उड़कर दूसरी ओर चला जाता है और तुरन्त ही लौट जाता है। उसे लौटा हुआ देख गोपी फिर कुछ आदर से कहने लगती है" हमारे प्रियतम के प्यारे सखा! जान पड़ता है तुम एक बार उधर जाकर फिर लौट आए हो। अवश्य ही हमारे प्रियतम ने मनाने के लिए तुम्हें भेजा होगा। प्रिय भ्रमर तुम सब प्रकार से हमारे माननीय हो। कहो तुम्हारी क्या इच्छा है। हमसे जो चाहो माँग लो। अच्छा! तुम सच बताओ, क्या हमें वहाँ

यदनुचरितलीला कर्ण पीयूष विप्रुट्सकृदद
न विधून द्वन्द्वधर्मा विनष्टाः ।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना
बहव इह विहङ्गाभिक्षु चर्याञ्चरन्ति ॥१८॥

वयमृतीमव जिह्मव्याहृतं श्रद्धाना
कुलि करुतमिवाज्ञा कृष्ण वद वो हरि रामः ॥
दहशुरसकृदेतत् तन्नखस्पर्शतीव्रस्मररुज
उपमन्त्रिन् भरायतामन्य वार्ता ॥१९॥

ले चलना चाहते हो ? अजी उनके पास जाकर लौटना कठिन है। हम तो उनके पास जा चुकी हैं परन्तु हमें वहाँ ले जाकर करोगे क्या ? प्यारे भ्रमर ! तनिक समझदारी से काम लो। उनके साथ उनके वक्षस्थल पर तो उनकी प्यारी पत्नी लक्ष्मी सदा रहती है न ? तब वहाँ हमारा निर्वाह कैसे होगा ? अच्छा, हमारे प्रियतम के प्यारे दूत मधुकर ! हमें यह बतलाओ कि आर्य पुत्र भगवान श्रीकृष्ण गुरुकुल से लौट कर मधुपुरी में अब सुख से तो हैं न ? क्या वे कभी नन्द बाबा, यशोदा रानी, यहाँ के घर, सगे सम्बन्धी और ग्वाल वालों को भी याद करते हैं और क्या हम दासियों की भी कोई बात चलाते हैं ? प्यारे भ्रमर। हमें यह भी बताओ कि कभी वे अपनी अगर के समान दिव्य सुगन्ध से युक्त भुजा हमारे सिरों पर रक्खेंगे ? क्या हमारे जीवन में कभी ऐसा शुभ अवसर भी आयेगा ? ॥१२-२१॥

भावनाओं के प्रबल वेग के पश्चात गोपियाँ किनारे आ लगीं और उद्धव को भी कुछ कहने का अवसर मिला। उद्धव अपने ज्ञान पिटारे को खोलने के पहले ही उनकी भक्ति देखकर कृत कृत्य हो प्रशंसात्मक रूप में बोले कि[1] दुर्लभ प्रेम भक्ति प्राप्त करने के कारण ही वे धन्य हैं। उन्होंने प्रेमा भक्ति का आदर्श स्थापित किया है। कृष्ण वियोग से इन्द्रियातीत परमात्मा के प्रति वह भाव प्राप्त कर लिया है जो सभी वस्तुओं के रूप में उनका दर्शन कराता है। तुम लोगों को परम सुख देने के लिए कृष्ण ने जो संदेश भेजा है उसे सुनो, भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि "मैं सबका उपादान

प्रिय सखे पुनरागाः प्रेयसा प्रेषित किं वरय।
किं मनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग ॥
नयसि कथ मिहास्मान् दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वं।
सतत मुरसि सौम्य श्रीर्वधूः साकमास्ते ।२०॥

अपि बत मधुपुर्यामार्य पुत्रोऽधुनाऽऽस्ते स्मरति।
स पितृ गेहान् सौम्य बन्धूंश्च गोपान् ॥
क्वचिदपि स कथा नः किङ्करीणां गृणीते।
भुजमगुरु सुगन्धं मूर्ध्न्यं धास्यत् कदानु ॥२१॥

श्रीमद्भागवत दशम् स्कंध पूर्वार्द्ध अध्याय ४७

१—भागवत पृ० सं० ७६४

कारण होने से सबका आत्मा हूँ, सब में अनुगत हूँ, इसीलिए मुझसे कभी भी तुम्हारा वियोग नहीं हो सकता। जैसे संसार की सभी वस्तुओं में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पाँचों भूत व्याप्त हैं, इन्हीं से सब वस्तुएँ बनी हैं और यही उन वस्तुओं के रूप में हैं, वैसे ही मैं मन प्राण, पंचभूत इन्द्रिय और उनके विषयों का आश्रय हूँ। वे मुझमें हैं, मैं उनमें हूँ और सच पूछो तो मैं ही उनके रूप में प्रकट हो रहा हूँ। मैं ही अपनी माया के द्वारा भूत, इन्द्रिय और उनके विषयों के रूप में होकर उनका आश्रय बन जाता हूँ। तथा स्वयं निमित्त भी बनकर अपने आपको ही रचता हूँ, पालता हूँ और समेट लेता हूँ। आत्मा माया और माया के कर्मों से पृथक् है। वह विशुद्ध ज्ञानस्वरूप जड़ प्रकृति, अनेक जीव तथा अपने अपने ही अवान्तर भेदों से रहित सर्वथा शुद्ध है। कोई भी गुण उसका स्पर्श नहीं कर पाते। माया की तीन वृत्तियाँ हैं—सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत्। इनके द्वारा वही अखण्ड, अनन्त बोध स्वरूप आत्मा कभी प्राज्ञ, तो कभी तेजस और कभी विश्व रूप से प्रतीत होता है। मनुष्य को चाहिए कि वह समझे कि स्वप्न में दीखने वाले पदार्थों के समान ही जाग्रत् अवस्था में इन्द्रियों के विषय भी प्रतीत हो रहे हैं, वे मिथ्या हैं, इसीलिए उन विषयों का चिंतन करने वाले मन और इन्द्रियों को रोक ले और मानो सोकर उठा हो इस प्रकार जगत् के स्वाभाविक विषयों को त्यागकर मेरा साक्षात्कार करे। जिस प्रकार सभी नदियाँ घूम फिरकर समुद्र में पहुँचती हैं उसी प्रकार मनस्वी पुरुषों का वेदाभ्यास, योग साधन आत्मानात्म विवेक, त्याग, तपस्या इन्द्रिय संयम और सत्य आदि समस्त धर्म मेरी प्राप्ति में ही समाप्त होते हैं। सबका सच्चा फल है मेरा साक्षात्कार क्योंकि वे सब मन को निरुद्ध करके मेरे पास पहुँचते हैं।"

"गोपियो[1]। इसमें संदेह नहीं कि मैं तुम्हारे नयनों का ध्रुव-तारा हूँ। तुम्हारा जीवन सर्वस्व हूँ। किन्तु मैं जो तुमसे इतनी दूर रहता हूँ, उसका कारण है। वह यही कि तुम निरन्तर मेरा ध्यान कर सको, शरीर से दूर रहने पर भी मन से तुम मेरी सन्निधि का अनुभव करो, अपना मन मेरे पास रक्खो। ······ जब तुम मेरे

१—पृ० सं० ७९४

ही स्मरण चिन्तन में मग्न हो जाओगी तब तुम्हारे चित्त की वृत्तियां कहीं नहीं जायेंगी, सारी शान्त हो जायेंगी। तब तुम्हारा पूरा मन मुझमें प्रवेश कर जायगा और तुम लोग नित्य निरन्तर मेरे अनुसरण में मग्न रह कर शीघ्र मुझे सदा के लिए पा लोगी। तब फिर मेरा और तुम्हारा वियोग कभी भी न होगा...... कल्याणियो! जिस समय मैंने वृन्दावन में शारदीय पूर्णिमा की रात्रि में रास क्रीड़ा की थी उस समय जो गोपियाँ स्वजनों के रोक लेने से व्रज में ही रह गई थीं मेरे साथ रास विहार में सम्मिलित न हो सकीं। वे मेरी लीलाओं का स्मरण करने से ही मुझे प्राप्त हो गई थीं। तुम्हें भी मैं मिलूँगा अवश्य निराश होने की कोई बात नहीं है।"

श्रीकृष्ण के इस संदेश को सुनकर गोपियों को बड़ा आनन्द हुआ। वे कृष्ण स्वरूप तथा लीला की याद कर उद्धव जी से बोली,[1] "उद्धव जी! यह बड़े सौभाग्य और आनन्द की बात है कि यदुवंशियों को सताने वाला पापी कंस अपने अनुयायियों के साथ मारा गया। यह भी कम आनन्द की बात नहीं कि श्रीकृष्ण के बन्धु बान्धव और गुरुजनों के सारे मनोरथ पूर्ण हो गये। किन्तु उद्धव जी। जिस प्रकार हम अपनी प्रेम भरी लजीली मुस्कान और उन्मुक्त चितवन से उनकी पूजा करती थीं और वे भी हम से प्यार करते थे, उसी प्रकार मथुरा की स्त्रियों से भी प्रेम करते हैं?" तब तक दूसरी बोल उठी, "अरी सखी तू यह क्या पूछती है? हमारे श्याम सुन्दर तो प्रेम की मोहिनी कला के विशेषज्ञ हैं न? सभी श्रेष्ठ स्त्रियां उनसे प्यार करती हैं, प्यार किए बिना रह ही नहीं सकतीं। फिर भला जब नगर की स्त्रियां उनसे मीठी-मीठी बातें करेंगी और हाव भाव द्वारा उनकी ओर देखेंगी तब वे उन पर क्यों न रीझेंगे?" दूसरी बोली, "जाने दो इन बातों को। उद्धव जी! आप तो बड़े परोपकारी हैं यह बताइये कि जब कभी पुर नारियों की मंडली के बीच में कोई बात चलती है और हमारे प्यारे स्वच्छन्द रूप से, बिना संकोच जब प्रेम की बातें करते हैं, तब क्या कभी हम गंवार ग्वालिनों की भी याद करते हैं?" कुछ गोपियों ने कहा—"उद्धव जी! हमें तो उनकी बहुत याद आती

१—पृ० सं० ७६४

है। क्या कभी श्रीकृष्ण भी उन रात्रियों का स्मरण करते हैं जब कुमुदिनी तथा मोगरे के पुष्प खिले हुए थे, चारों ओर चाँदनी छिटक रही थी और वृन्दावन अत्यन्त रमणीय हो रहा था। उन रात्रियों में ही उन्होंने रास मंडल बनाकर हम लोगों के साथ नृत्य किया था। कितनी सुन्दर थी वह रास लीला। अजी, हम लोगों के नूपुर की ध्वनि बाजों के स्थान पर झंकृत हो उठी थी। हम लोग उनकी लीला का गान कर रही थीं और वे हमारे साथ विहार कर रहे थे।" दूसरी गोपी बोल उठी, "उद्धव जी। हम सब तो उन्हीं के विरह से जल रही हैं। देव राज इन्द्र जैसे जल बरसा कर बन को हरा भरा कर देते हैं, उसी प्रकार क्या कभी श्रीकृष्ण भी अपने कर स्पर्श आदि से हमें जीवन दान देने के लिए यहाँ आवेंगे? तब तक एक गोपी ने कहा—"अरी सखी। तू तो भोली है। अब तो उन्होंने शत्रुओं को मार कर राज्य पा लिया है, जिसे देखो वह उनका सुहृद बना फिरता है। अब तो वे बड़े-बड़े नरपतियों की कुमारियों से विवाह करेंगे, उनके साथ-साथ आनन्द पूर्वक रहेंगे, यहाँ हम गँवारिनों के पास क्यों आवेंगे?" दूसरी गोपी ने कहा, "नहीं सखी। श्रीकृष्ण तो स्वयं लक्ष्मीपति हैं। उनकी सारी वासनाएँ पूर्ण हैं वे कृत कृत्य हैं। हम बन वासिनी ग्वालिनों अथवा दूसरी राजकुमारियों से उनका कोई प्रयोजन नहीं है। हम लोगों के बिना उनका कौनसा काम अटक रहा है? देखो वेश्या होने पर भी पिंगला ने क्या ही ठीक कहा है—संसार में किसी की आशा न रखना ही सबसे बड़ा सुख है। यह बात हम जानती हैं, फिर भी हम भगवान श्रीकृष्ण के लौटने की आशा छोड़ने में असमर्थ हैं। उनके शुभागमन की आशा ही हमारा जीवन है। हमारे प्यारे श्याम सुन्दर ने, जिनकी कीर्ति का गान बड़े-बड़े महात्मा करते रहते हैं, हमसे एकांत में जो मीठी मीठी प्रेम की बातें की हैं उन्हें छोड़ने का, भुलाने का उत्साह भी हम कैसे कर सकती हैं। देखो तो, उनकी इच्छा न होने पर भी स्वयं लक्ष्मी जी उनके चरणों से लिपटी रहती हैं। उद्धव जी! यह वही नदी है जिसमें वे विहार करते थे। यह वही पर्वत है जिसके शिखर पर चढ़ कर वे बाँसुरी बजाते थे। ये वे ही बन हैं जिनमें वे रात्रि के समय लीला करते थे और ये ही गौएं हैं जिनको चराने के लिए वे सुबह शाम हम लोगों को देखते हुए आते जाते थे, और ठीक वैसी ही वंशी की तान

हमारे कानों में गूँजती रहती है जैसी वे अपने अधरों के संयोग से छेड़ा करते थे। बलराम जी के साथ श्रीकृष्ण ने इन सभी का सेवन किया है। यहाँ का एक-एक प्रदेश, एक एक धूल कण उनके परम सुन्दर चरणों से चिह्नित है। इन्हें जब-जब हम देखती हैं, सुनती हैं—दिन भर यों ही करती रहती हैं—तब-तब वे हमारे प्यारे श्याम सुन्दर नंदनंदन को हमारे नेत्रों के आगे लाकर रख देते हैं। उद्धव जी। हम किसी भी प्रकार, मरकर भी उनको भूल नहीं सकतीं। उनकी वह हंस की सी सुन्दर चाल, उन्मुक्त हास्य, विलास पूर्ण चितवन और मधुमयी वाणी ओह। उन सबने हमारा चित्त चुरा लिया है। हमारा मन हमारे वश में नहीं है; अब हम उन्हें भूलें तो किस तरह? हमारे प्यारे श्रीकृष्ण। तुम्हीं हमारे जीवन के स्वामी हो, सर्वस्व हो। तुम लक्ष्मीनाथ हो तो क्या हुआ? हमारे लिए तो व्रजनाथ ही हो न। हम व्रज गोपियों के एकमात्र तुम्हीं सच्चे स्वामी हो। श्यामसुन्दर तुमने बार-बार हमारी व्यथा मिटायी है, हमारे संकट काटे हैं। गोविन्द! तुम गौओं से बहुत प्रेम करते हो। क्या हम गौएँ नहीं हैं? तुम्हारा यह सारा गोकुल—जिसमें ग्वाल बाल पिता माता—गौएँ और हम गोपियाँ, सब कोई हैं—दुख के अपार सागर में डूब रहा है। तुम इसे बचाओ, आओ हमारी रक्षा करो।"

यह अंश श्रीमद्भावत के ४७ वें अध्याय से सम्बन्धित है। ४६ वें अध्याय में उद्धव के व्रजागमन तथा नंद यशोदा के वार्तालाप का वर्णन है। ४७ वें अध्याय में भ्रमर गीत तथा उद्धव गोपी संवाद उपलब्ध है। भ्रमर गीत के विषय में पूर्व ही कहा जा चुका है - इसमें गोपी एक भ्रमर को देखकर भ्रमर अन्योक्ति द्वारा कृष्ण पर व्यंग्य करती तथा उपालम्भ देती है। उद्धव गोपी संवाद में उद्धव गोपियों को कृष्ण का संदेश सुनाते हैं जिसे सुन गोपियां आनन्दित हो उठती हैं। वे प्रिय कृष्ण के सखा उद्धव के सामने अपने हृदय को उन्मुक्त कर देती हैं। वे बराबर श्रीकृष्ण की लीला, उनके गुणगान तथा अपनी असमर्थता को व्यक्त करती हुई कहती हैं कि वे किस प्रकार उनके प्रेम में फँसकर विवश हो गई हैं। इस प्रकार वार्तालाप करते हुए वे प्रेम विभोर हो उठती हैं।

उद्धव भी उनके दुख को दूर करने के लिए कई महीने तक

ब्रज में निवास करते हैं। गोपियों के अन्यय प्रेम को देख कर उद्धव उनका गुणानुवाद करते हुए कहते हैं कि गोपियों का जीवन धन्य है और स्वयं वे वृन्दावन के पशु, पक्षी, द्रुम, लता अथवा तृण बनने की अभिलाषा करते हैं।

उपसंहार के रूप में उद्धव का मथुरागमन होता है उस समय नंद यशोदा, गोप गोपी अनेक उपहार लेकर आती हैं। वे सब भगवान श्रीकृष्ण के चरणों में दृढ़ प्रेम की ही कामना करती हैं। उद्धव भी मथुरा जाकर कृष्ण से व्रज की दशा—गोपियों की प्रेममयी भक्ति उद्रेग का वर्णन कर उपहार सामग्री भेंट देते हैं।

श्रीमद्भागवत दशम स्कंध के सैंतालिसवें अध्याय में वर्णित उद्धव गोपी संवाद तथा भ्रमरगीत का प्रसंग वह आधार शिला है जिस पर आगे चल कर भविष्य में भ्रमरगीत की रचना हुई है। इस अध्याय के १२-२१ श्लोकों का ही भ्रमरगीत से मुख्य सम्बन्ध है। इसी में भ्रमर के आगमन तथा गोपी द्वारा उपालम्भ का वर्णन है। किन्तु भविष्य में रचे गए भ्रमरगीतों में छियालिसवें तथा सैंतालिसवें दोनों ही अध्यायों की कथा वस्तु को रुचि वैचित्रय के अनुसार आंशिक, सम्पूर्ण अथवा परिवर्तित रूप में अपनाया गया है।

भागवत के इस प्रसंग में भ्रमरगीत के सभी तत्व मिलते हैं। मूलार्थ की व्याख्यानुसार इसमें उपालम्भ, जो कि भ्रमर के व्याज से दिया गया है सर्वत्र विद्यमान है। यह शृंगारिक उपालम्भ शारीरिक तथा मानसिक दोनों ही प्रकार का है। भ्रमरगीत अन्योक्ति के उपकरण गोपी, कृष्ण, उद्धव तथा भ्रमर यहाँ बराबर मिलते हैं। इस प्रसंग में एक भ्रमर को लक्ष्य कर अप्रत्यक्ष रूप से एक गोपी कृष्ण को उपालम्भ देती है। भ्रमर काव्य में स्वार्थी तथा चंचल मनोवृत्ति का प्रतीक है। आरम्भ में ही गोपी उसे 'कपटी का सखा' कहती है। 'कपटी का सखा' एक अप्रस्तुत व्यंग्य है जो उद्धव पर आरोपित किया गया है। उद्धव ही उस कपटी कृष्ण के सखा हैं जो वर्ण तथा कार्य व्यापार दोनों में ही भ्रमर सदृश हैं। श्यामसुन्दर कृष्ण के समस्त कार्य व्यापार श्याम भ्रमर के सदृश होने के ही फलस्वरूप उन्हें तन तथा मन दोनों से ही श्याम कहा गया है। कृष्ण की चाटुकारिता तथा कपट के वशीभूत हो सभी अपने मन

खो बैठी हैं। उनके अलौकिक प्रभाव के कारण वे इच्छा रहते हुए भी उनकी चर्चा छोड़ नहीं सकतीं. उनकी ओर से ध्यान हटाने में वे असमर्थ हैं। उस चितचोर कृष्ण, जिसने उनके मन के साथ ही उनकी सुख शान्ति भी चुरा ली है, के पास जाकर लौटना कठिन ही नहीं असम्भ है। अपनी इस परवशता में वे स्वयं विवश हैं। वे कृष्ण के विरह में व्याकुल हैं। उनका सारा हृदय अनंग के पंच वाणों से पीड़ित हो बार-बार कृष्ण-वियोग में विकल हो उठता है और मधुपुर की चतुर नागरिकाओं से कृष्ण के प्रेम सम्बन्ध का अनुमान मात्र ही उनके हृदय को विदीर्ण करने के लिए पर्याप्त है। भ्रमर मुख पर सौतों से स्पर्श से मलिन वनमाला के कुंकुम की कल्पना उनके मनमें और भी अधिक ईर्ष्या, पीड़ा तथा विवशता उत्पन्न कर रही है। इस प्रकार गोपियों के साधारण मानवी रूप का भी दिग्द-र्शन कराया गया है।

भ्रमर को लक्ष्य कर दिये गए इस उपालम्भ में कृष्ण के लिए केवल एक ही संदेश कहा गया है, "तुम्हारा नाम 'उत्तम श्लोक' है। अच्छे-अच्छे लोग तुम्हारी कीर्ति गाते हैं परन्तु इसकी सार्थ-कता इसी में है कि तुम दीनों पर दया करो नहीं तो श्रीकृष्ण। तुम्हारा 'उत्तम श्लोक' नाम झूठा पड़ जाता है।"

भ्रमर अन्योक्ति के रूप में गोपी के इस कथन में गोपियों के प्रेम की स्पष्ट व्यंजना है। बुद्धि अथवा तर्क से दूर वे अपनी दुर्ब-लता और विवशता के कारण ही कृष्ण को उपालम्भ देती हैं। इस उपालम्भ में व्यंग्य गौण है। कृष्ण के पुनर्मिलन की आशा भी उनके हृदय से मिटी नहीं है और वे उस शुभ अवसर के लिए पूछ बैठती हैं कि उनके जीवन में वह शुभ दिन कब आयेगा जब कि अगर के समान दिव्य सुगन्ध से युक्त भुजा श्रीकृष्ण उनके मस्तक पर रखेंगे?

छियालिसवें अध्याय में उद्धव नन्द संवाद तथा कृष्ण संदेश 'मैं ब्रज जाऊँगा' का उल्लेख है। नंद तो उद्धव से वर्तालाप करते हैं किन्तु यशोदा शान्त होकर उनकी बातें सुनती हैं। पुत्र प्रेम के कारण उनके नेत्रों से जल की धारा बह निकलती है और कृष्ण के अलौकिक रूप को सुनकर उनका मातृ-हृदय अवाक् रह जाता है। उद्धव के उस गरिमाशाली उपदेश के सम्मुख वे श्रद्धा तथा आश्चर्य

से झुक जाती हैं। नन्द उद्धव के इस प्रसंग पर ही आगे चलकर अनेक संवादों की कल्पना की गई जिसमें यशोदा का कृष्ण के प्रति उपालम्भ है। यशोदा के उपालम्भ में वत्सलय भाव ही प्रधान है। पुत्र बिरह से दुखी माता के हृदय का सहज, सरल उपालम्भ है।

भागवत के इन अध्यायों में हृदय तथा बुद्धि दोनों ही का उल्लेख है। गोपियाँ तथा नन्द आदि कृष्ण की लीलाओं की स्मृति संजोये उनका ध्यान करते हैं और उद्धव उनके परब्रह्म स्वरूप का उद्घाटन। इस प्रकार वे साकार उपासना के सम्मुख निराकार उपासना का प्रतिपादन करते हैं और भागवत की गोपियाँ उद्धव की इस ज्ञान चर्चा से पूर्ण संतुष्ट हो जाती हैं। भागवतकार के पश्चात् भ्रमरगीत परम्परा के कवियों ने साकार निराकार उपासना के विवाद को उठाया अवश्य है किन्तु उनका दृष्टिकोण भागवतकार से सदैव ही भिन्न रहा है। अतः जहाँ भागवत में निराकार उपासना तथा ज्ञान का प्रतिपादन मिलता है वहाँ अन्य समस्त रचनाओं में साकार उपासना तथा भक्ति का ही प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार ४६–४७ दोनों ही अध्यायों की कथा वस्तु भ्रमरगीत काव्य का विषय बन गई है।

श्रीमद्भागवत के अतिरिक्त श्रीकृष्ण कथा का बर्णन श्रीमद्-भागवत के पूर्व तथा पश्चात् महाभारत, हरिवंश पुराण, विष्णु पुराण, ब्रह्म पुराण आदि में मिलता है परन्तु भ्रमरगीत प्रसंग की ओर केवल भागवतकार ने ही संकेत किया है।

पुराण काल के पश्चात् संस्कृत साहित्याकाश में अनेक शुभ्र नक्षत्र उदित हुए। जो अपनी जगमगाहट से आज भी साहित्य रसिकों को निरन्तर आकर्षित कर रहे हैं। संस्कृत साहित्य में शृंगार तथा विरह की सुन्दर रचनाएँ भी उपलब्ध हैं। किन्तु भागवत के इस मार्मिक स्थल की ओर किसी का भी ध्यान न गया। यद्यपि भागवतकार ने भ्रमरगीत लिखकर एक विशेष मार्ग प्रस्तुत करने—कृष्ण जीवन को एक नवीन भावात्मक दृष्टिकोण से देखने की स्तुत्य कल्पना की है तथापि गोपियों की यह विरह वेदना संस्कृत साहित्यिकों को प्रभावित न कर सकी। रेवरेंड फादर कामिल बुल्के ने 'राम कथा' में मेघदूत के अनुकरण पर कुछ रचनाओं का नामोल्लेख दिया है 'जिनमें भ्रमर दूत भ्रमर सन्देश'[1] नामक दो रचनाओं का भी नाम

---

[1] देखो पृ० २०० प्रथम संस्करण

लिया गया है किन्तु इन रचनाओं का विषय श्रीकृष्ण कथा से सम्बन्धित न होकर राम कथा से सम्बन्धित है। अतः यह सिद्ध है कि संस्कृत में भ्रमर दूत की भावना वर्तमान थी किन्तु उक्त भावना अभी तक श्रीकृष्ण जीवन से विशेष सम्बन्धित न थी।

संस्कृत की उत्तराधिकारिणी पाली भाषा में बौद्ध धर्म ग्रन्थों की प्रचुरता है। प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में से अपभ्रंश में पर्याप्त साहित्य मिलता है। अपभ्रंश का रचना काल लगभग छठी[1] सदी से १५ वीं सदी माना जाता है। अपभ्रंश भाषा के अनेक ग्रन्थों का पता चला है जिनमें से कुछ प्रकाशित तथा अन्य अप्रकाशित हैं। प्रबन्ध काव्यों की तो इसमें भरमार है। अभी तक उपलब्ध रचनाओं में पाँच बड़े प्रबन्ध काव्य हैं। उदाहरण स्वरूप–धनपाल कृत भविसयत्तकहा, पुष्पदंतकृत तिसट्ठिमहापुरिसगुणालङ्कार, नयनन्दिन कृत आराधना, हरिभद्र कृत नेमिनाहचरिउ तथा वरदत्तकृत वैरसामि चरिउ। प्रबन्ध के अतिरिक्त मुक्तक काव्य का भण्डार भी अपूर्व है। मुक्तक काव्य से ही अपभ्रंश साहित्य का प्रारम्भ हुआ। भावधारा के दृष्टिकोण से भक्ति, प्रेम, वीरता, करुणा, विरह, रहस्य तथा अनूठी उक्तियाँ ही प्रमुख भाव धाराए हैं। अपभ्रंश साहित्य में प्रेम विरह आदि के वर्णन के साथ ही कहीं-कहीं उपालम्भ काव्य भी प्राप्त है। परन्तु भागवत के उस मर्मस्पर्शी स्थल का अपभ्रंश काव्य में संकेत तक नहीं है जिस विषय पर आगे चल कर सूर तथा नन्ददास आदि ने अमर काव्य का निर्माण किया है।

अपभ्रंश भाषा के पतन के साथ ही आधुनिक हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं का विकास प्रारम्भ हो जाता है। हिन्दी भाषा के आदि काल में भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित था। कन्नौज, दिल्ली, महोबा आदि के राज्यों के आश्रय में तत्कालीन कवि काव्य रचना करते थे। राजाश्रय में रहने के कारण राजाओं की रुचि का विशेष ध्यान रखना कवि का मुख्य कर्तव्य हो जाता था। एक छत्र राज्य न होने के कारण समय-समय पर ये नृपति कुछ तो परस्पर वैमनस्य तथा कुछ शक्ति प्रदर्शन के निमित्त पड़ोसी राज्यों पर चढ़ाई कर दिया करते थे। इस प्रकार युद्ध उनके जीवन का अंग बन गया। उक्त दो कारणों के अतिरिक्त प्रायः ये युद्ध किसी राजपूत

१. अपभ्रंश दर्पण—जगन्नाथ शर्मा

कन्या को लेकर भी हो जाया करते थे। युद्ध में कन्या पक्ष के लोगों को हरा कर उसे हर लाना और विवाह करना भी वीरता का एक चिह्न समझा जाने लगा था। अतः युद्ध की मूल प्रेरणाओं में शक्ति प्रदर्शन के साथ ही कन्या हरण की भावना भी निहित रहती थी। इसलिए तत्कालीन काव्य में युद्ध तथा विवाह का वर्णन प्रचुर मात्रा में प्राप्त है। यही कारण है कि इस काल के काव्य में वीर और शृंगार रस सापेक्ष बन गए। अतएव इस समय की प्रायः समस्त मुख्य रचनायें वीर तथा शृंगार की भावना से ओत प्रोत हैं।

रासो परम्परा के अन्तर्गत पृथ्वीराज रासो, हमीर रासो, वीसल देव रासो आदि जितने ग्रन्थ उपलब्ध हैं, सभी में तत्कालीन नरेशों के युद्ध तथा विवाह का वर्णन प्रमुख रूप में मिलता है। इन शृंगारिक रचनाओं के समय में भी भ्रमरगीत प्रसंग को काव्य में स्थान प्राप्त नहीं है। प्रबन्ध काव्यों के अतिरिक्त जो मुक्तक रचनाएँ उपलब्ध हैं उनकी भी यही स्थिति है।

अपभ्रंश के पश्चात् आधुनिक भाषाओं के विकास के साथ ही पूर्वी सीमा पर मैथिली भाषा का भी विकास हो रहा था। लगभग संवत् १४४६ में 'मैथिल कोकिल' विद्यापति के कंठ से समस्त मिथला प्रदेश गूँज उठा। मैथिल कोकिल 'की मधुर ध्वनि' ने केवल मिथिला पर ही स्वत्व नहीं स्थापित किया वरन् बंगाल और हिन्दी भाषा भाषी प्रदेश भी उस ओर आकृष्ट हुए। राजा शिवसिंह के आश्रय में रहकर विद्यापति ने भक्ति तथा शृंगार सम्बन्धी प्रचुर रचना की। हिन्दी भाषा भाषियों का इनकी ओर आकृष्ट होने का मुख्य कारण इनकी पदावली की रचना ही है। पदावली में विद्यापति के राधा कृष्ण विषयक पदों की प्रचुरता है। विप्रलम्भ शृंगार वर्णन के अन्तर्गत कुछ ऐसे पद भी हैं जिन्हें भ्रमरगीत परम्परा के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इन पदों को भ्रमरगीत परम्परा सम्बन्धी पद मानने में हिन्दी साहित्य के विद्वानों में मतभेद हो सकता है। यथार्थ में परिस्थिति यह है कि विद्यापति हिन्दी के कवि हैं अथवा नहीं,' पर्याप्त समय से चला आता हुआ यह प्रश्न आज भी विवादास्पद है। अधिकांश साहित्य के इतिहासकारों ने विद्यापति को हिन्दी का कवि माना है। डा० रामकुमार वर्मा अपने 'हिन्दी साहित्य की आलोचनात्मक इतिहास' में लिखते हैं, "बिहारी भाषा के अन्तर्गत

मैथिली बोली ही ऐसी है जिसमें साहित्य रचना हुई है। यद्यपि मैथिली को मागधी अपभ्रंश से निकलने के कारण हिन्दी के अन्तर्गत मानने में आपत्ति हो सकती है पर शब्द भण्डार की व्यापकता और हिन्दी से मैथिली का अधिक साम्य होने के कारण वह हिन्दी की एक शाखा मान ली गई है। इसीलिए विद्यापति की कविता हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत मानी जाती है।"[1]

श्री रामवृक्ष बेनीपुरी तथा बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त ने विद्यापति को मैथिली का प्रथम कवि मानते हुए भी मैथिली को व्रज बोली या हिन्दी की एक शाखा माना है।[2]

इस प्रकार विद्यापति भ्रमरगीत परम्परा के सूत्रपात करने वाले सिद्ध होते हैं। किन्तु आधुनिक काल में विद्वानों का एक वर्ग विद्यापति को हिन्दी का कवि नहीं मानता और न मैथिली को हिन्दी भाषा की एक बोली या शाखा ही स्वीकार करता है। उस वर्ग के विद्वान मैथिली को एक स्वतन्त्र भाषा का रूप देना चाहते हैं जो कि हिन्दी तथा बंगला दोनों से प्रभावित है और विद्यापति जिसके आदि कवि हैं। इस पक्ष में हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों की मैथिली के अन्य कवियों की उपेक्षा भी सहायक सिद्ध हुई है। उन्होंने विद्यापति को हिन्दी का कवि मानते हुए भी मैथिली साहित्य और साहित्यकारों को अपने इतिहास में स्थान नहीं दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यापति की अत्यधिक ख्याति तथा उनकी पदावली की श्रेष्ठता से ही आकर्षित होकर उन्होंने विद्यापति को हिन्दी का कवि मान लिया और उनके परवर्ती साहित्यकारों पर ध्यान नहीं दिया; इस प्रकार विद्यापति को हिन्दी का कवि न मानने वालों में डा० उमेश मिश्र[3], पंडित शिवनन्दन ठाकुर[4] तथा प्रोफेसर जनार्दन मिश्र[5] का नाम

१—पृ० ४९, द्वितीय संस्करण।

२—पृ० ४४ विद्यापति की पदावली चतुर्थ संस्करण १९९९ सं० श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, पुस्तक भण्डार, लहेरिया सराय और पटना।

३—पृ० ११६, ११७, विद्यापति ठाकुर संस्करण सन् १९३७ हिन्दुस्तानी एकेडमी।

४—पृ० ९४ महाकवि विद्यापति, प्रथम संस्करण १९९८, लहेरिया सराय पटना।

५—पृ० २०८ विद्यापति, प्रथम संस्करण संवत १९८९।

उल्लेखनीय है। डा० उमेश मिश्र ने "विद्यापति ठाकुर" रचना में 'विद्यापति की भाषा' शीर्षक के अन्तर्गत इस पर विचार किया है।

इस विवादग्रस्त विषय पर विद्वान् वर्ग अभी तक किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा है। दोनों विचार समानान्तर रूप से चल रहे हैं अतः प्रस्तुत निबन्ध में उन्हें हिन्दी का ही कवि माना गया है।

विद्यापति की हिन्दी साहित्य में सर्वाधिक मान्य रचना पदावली है। पदावली शृंगार रस से ओत प्रोत रचना है। इसमें विद्यापति ने मनुष्य की शृंगारिक वृत्तियों को सरस काव्यमय रूप प्रदान किया है। पदावली के पद शृंगारिकता के साथ ही संगीत की मधुरिमा से भी पूर्ण हैं। पदावली में काव्य तथा संगीत का मणिकांचन संयोग हुआ है। इसके अत्यधिक प्रचार का बहुत कुछ श्रेय इसकी कोमल कान्त पदावली के साथ ही इसकी संगीतात्मकता को भी है। पदावली मुक्तक रचना है। छोटे-छोटे पदों में शृंगार की सूक्ष्मतम भावना का वर्णन है। संयोग शृंगार वर्णन के साथ ही विप्रलम्भ शृंगार का भी विद्यापति ने सुन्दर सरस और श्रेष्ठ वर्णन किया है। विप्रलम्भ शृङ्गार में प्रिय का वियोग, उसकी निर्ममता, पर-नारी-प्रेम तथा उपालम्भ आदि विप्रलम्भ शृंगार के सभी तत्व मिलते हैं। इन्हीं विप्रलम्भ शृंगार विषयक पदों में कुछ ऐसे पद भी उपलब्ध हैं जो भ्रमरगीत परम्परा के दृष्टिकोण से विचारणीय हैं। ये पद निम्नलिखित हैं।

कत[1] दिन माधव रहब मथुर पुर कूचब विहि बाम।
दिवस लिखो लिखि नखा खो आयनु विछुरत गोगुल नाम ॥

हरि हरि काह कहब सम्वाद।
सुमरि सुमरि नेह खिन मेला मोर देह, जिवनक अब कौन साथ ॥
पूरब पियारि नारि हम अछून अब दरसन हु संदेह।
भ्रमर भ्रमरी भ्रमि सबहु कुसुम रमि, नहि तजे कमलनि नेह ॥
आस निगड़ करि, जिउ कत राखब अबहि जै करत परान।
विद्यापति कह आस हीन नह अउब सो कर कान ॥३८॥

१—पृ० १३४ पद ३८ मैथिल कोकिल विद्यापति —बाबू ब्रजनन्दन सहाय विक्रमाब्द १९९५

ऊधव ![1] कब हम सो ब्रज जाइब ।
कब प्रिय छबलि सरमि स्यामलि तेइ सखन स दूध दुहाइब ॥
कब श्रीदामा सुबल प्रिय मित मिलि कानन धेनु चराइब ।
कब जमुना तिर नीप तरु तर मोहन बेनु बजाइब ।
कब वृषभानु किशोरि गोरि सों कुंजहि रास रचाइब ॥
कब ललितादि सखी सुन्दरि कहं सादर अंक लगाइब ।
विद्यापति कह अइसन सुभ दिन राइक मान मनाइब ॥६८॥

प्रेम[2] अंकुर जात आत मेल न मेल जुवल पलाशा ।
प्रतिपद चाँद उदय जैसे भामिनी सुख लव मैं गैल निराशा ॥२॥
सखि हे अब मोहे निठुर मधाई अवधि रहल बिसराइ ।
के जाने चांद चकोरिणी वंचब माधव मधुप सुजान ॥
अनुभवि कानु पिरीति अनुमामिये विघटित विहि निरभान ।
पाप पराण आन नहि जानत काइ न काह न करि भूनर ।
विद्यापति कह निकरुण माधव गोविन्ददास रस पूर ॥८॥

इन पदों में कृष्ण के प्रति उपालम्भ, उनको मधुप तुल्य मानना तथा कृष्ण का उद्धव से अपने ब्रज स्मृति विषयक उद्गारों की व्यंजना है। इन पदों के अतिरिक्त कुछ पद ऐसे भी हैं जिनमें कुब्जा के प्रेम तथा गोपियों के स्नेह त्याग का भी उल्लेख किया गया है।

मोहन[3] मधुपुर बास (हे सखि) हमहुँ जा एब तनि पास ।
रख लन्हि कुबजाक नेह (हे सखि) तेजलन्हि हमरो सनेह ॥

विद्यापति की पदावली में इन स्फुट संकेतों के अतिरिक्त गोपी उद्धव सम्बन्धी क्रमानुसार कथागत वर्णन नहीं मिलता है। प्रथम तो मुक्तक रचना होने के कारण कथानक का पूर्ण विकास कठिन नहीं तो असम्भव तो अवश्य ही है। फिर विद्यापति राजाश्रय में रहने वाले एक उच्च कोटि के शृंगारिक कवि थे जिन्होंने संयोग शृंगार को ही विशेष रूप से अपने काव्य का विषय बनाया था जिसका सम्बन्ध राधा कृष्ण से न होकर साधारण नायक नायिका से ही था यद्यपि राधा कृष्णशब्दों का प्रयोग मिलता है। संयोग

१—पृ० १६३ पद ६८ वही
२—पृ० ३३५ पद ६७०—विद्यापति—नगेन्द्रनाथ गुप्त, इंडियन प्रेस १६१० ·
३—पृ०१४० पद १० विद्यापति—जनार्दन मित्र सं० १६८६

शृंगार के अनुकूल वातावरण तथा परिस्थिति होने के कारण विप्रलम्भ शृंगार की रचनाएँ अपेक्षाकृत न्यून हैं। विद्यापति राधा कृष्ण के भक्त न थे अतः उनके काव्य में उनका महत्वपूर्ण स्थान भी नहीं है किन्तु विद्यापति के सामने कृष्ण चरित का वृहत् ग्रन्थ भागवत था ही अतः इस विषय पर भी कुछ पद लिखने का लोभ सम्भवतः वे संवरण न कर सके होंगे। अथवा प्रतिभा सम्पन कवि की लेखनी सभी विषयों को अपनाने की चेष्टा करती जान पड़ती है। किन्तु यह स्पष्ट है कि भागवतकार के सदृश कृष्ण-चरित्र वर्णन विद्यापति का उद्देश्य न था अतः भागवत के भ्रमरगीत सम्बन्धी अंश से विशेष आधारभूत कथा न लेकर इन्होंने स्वतन्त्र रूप से पद रचना की है। विद्यापति ने मथुरा वासी कृष्ण के प्रति विरह वर्णन प्रस्तुत किया है। इस विरह का सम्बन्ध रास लीला के मध्य अदृश्य होने वाले कृष्ण के प्रति न होकर मथुरा जाकर कुब्जा प्रणयी कृष्ण के प्रति है।

विद्यापति ने कृष्ण के हृदय के कोमल पक्ष का भी उद्घाटन किया है। जननी जन्मभूमि से दूर मथुरा के भव्य नगर में भी कृष्ण को ब्रज के गाँव, ग्वाल, गौ तथा गोपियों की याद सताती है और वे अपने प्रिय सखा उद्धव से कहते हैं कि वे कब ब्रज जाकर अपनी प्रिय गौओं को सखाओं के साथ दुहेंगे, कब वे अपने ग्वाल मित्रों के साथ बन में बंशी बजावेंगे, कब ललितादि सखियों को हृदय से लगावेंगे और कब वृषभानु किशोरी के साथ कुंजों में रास रचावेंगे।

उद्धव सम्बन्धी एक ही पद प्राप्त है। हो सकता है कि विद्यापति ने इस विषय पर और भी पद रचे हों जो इस समय अप्राप्य हैं। विरह व्यंजनापूर्ण कुछ ऐसे पद विद्यापति पदावली में अवश्य मिलते हैं जिनकी तुलना में सूरदास के पद रखे जा सकते हैं। किन्तु जब तक इस विषय पर अधिक पद न मिल जायें इन्हें प्रत्यक्ष रूप से भ्रमरगीत परम्परा के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता है।

भ्रमरगीत के अन्य पक्ष-ज्ञान चर्चा, निराकार साकार विवाद, प्रसंग को विद्यापति ने पूर्णतः छोड़ दिया है। निर्गुण सगुण का नीरस तथा शुष्क विवाद सरस विद्यापति को अपनी और आकृष्ट

करने में पूर्णतः असफल रहा है। किन्तु काव्य में कृष्ण के साथ कुब्जा प्रणय की भावना तथा कृष्ण के मधुप स्वरूप के साथ ही उनके अलौकिक रूप को छोड़कर अधिक मानव रूप की स्थापना विद्यापति की अपनी मौलिकता है। वे ब्रह्म न होकर साधारण मानव हैं जिनके हृदय में जननी जन्मभूमि तथा प्रिय सहचर और सम्बन्धियों से मिलने की व्याकुलता है। वे हमारे ही सदृश इसी लोक के मानव बन बिरह तथा पीड़ा का अनुभव करते दिखाई पड़ते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है विद्यापति में भ्रमरगीत का संकेत मिलता है। भ्रमरगीत विषयक जो पद प्राप्त हैं उनमें भ्रमर-गीत के उपकरण तो मिलते हैं किन्तु वह इतना कम है कि केवल उसी के आधार पर जब तक कि उनके और पद न मिल जाएँ उन्हें इस परम्परा का पहला कवि मान लेना अतिशयोक्तिपूर्ण ही होगा, विद्यापति की भ्रमरगीत सम्बन्धी रचना केवल नाम मात्र ही नहीं है बल्कि उसका रूप भी अविकसित ही है। अतएव जहाँ तक हिन्दी का सम्बन्ध है विद्यापति को भ्रमरगीत परम्परा का सूत्रपात करने वाले प्रथम कवि के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता। भ्रमर-गीत काव्य को एक सुदृढ़ परम्परा का रूप देने का श्रेय कवि सूरदास को ही दिया जा सकता है।

तृतीय अध्याय

हिंदी काव्य में भ्रमरगीत-परम्परा का क्रमिक विकास एवं उपलब्ध सामग्री
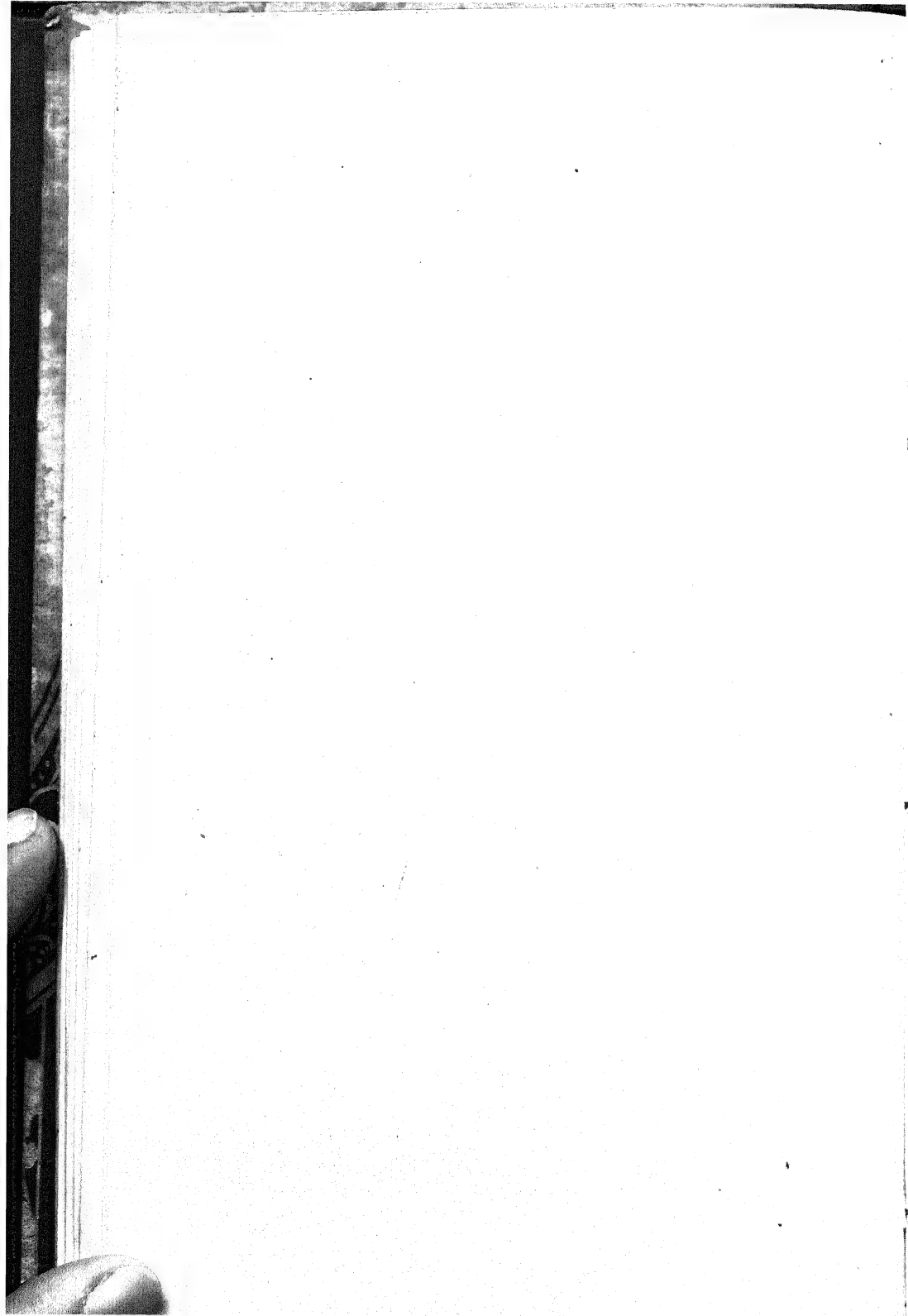
सूरदास

भ्रमरगीत प्रसंग को सर्वप्रथम विकसित एवं विस्तृत रूप से साहित्य में लाने का श्रेय सूरदास को है। सूरदास का जन्म सम्वत् १५३५ को दिल्ली के निकटवर्ती सीही नामक ग्राम के एक दरिद्र परिवार में हुआ था। ये सारस्वत ब्राह्मण थे और बचपन से ही विरक्त हो गए थे। हरिराय जी के 'भाव प्रकाश' तथा डा० दीनदयाल गुप्त जी के अनुसार इनकी जाति सारस्वत ब्राह्मण ही है। बल्लभाचार्य के शिष्यत्व ग्रहण करने के पूर्व ही सूरदास काव्य रचना करते और विनय के पद रचा करते थे। कृष्ण लीला सम्बन्धी पद पुष्टि मार्ग में दीक्षित होने के पश्चात् ही रचे गये हैं। सूरदास की रचनाओं के विषय में विद्वानों में मतभेद है। डा० ब्रजेश्वर वर्मा केवल सूरसागर को ही अष्टछापी सूरदास की प्रामाणिक रचना मानते हैं किन्तु अधिकांश विद्वानों का झुकाव साहित्य लहरी, सूर सारावली तथा सूर सागर तीनों को ही प्रामाणिक मानने की ओर रहा है। डा० दीनदयाल गुप्त तीनों ही रचनाओं को प्रामाणिक मानते हैं। इनका रचना काल लगभग संवत् १५५५ से अन्तिम समय तक माना गया है। राजनैतिक दृष्टि से ये अकबर के समकालीन हैं। सूरदास की मृत्यु के सम्बन्ध में भी मतभेद है किन्तु इतना निश्चित है कि स्वामी विट्ठलनाथ जी की मृत्यु के पूर्व ही सूरदास का स्वर्गवास हो गया था। स्वामी विट्ठलनाथ की मृत्यु तिथि संवत् १६४२ मानी गई है।

भ्रमरगीत प्रसंग सूर सारावली तथा सूरसागर में उपलब्ध है। बेंक्टेश्वर प्रेस से प्रकाशित सूरसागर तथा नवल किशोर प्रेस से प्रकाशित सूरसागर राग कल्पद्रुम के प्रारम्भ में सूर सारावली जुड़ी हुई है। बेंक्टेश्वर प्रेस के संस्करण में छंद संख्या दी गई है किन्तु सूरसागर राग कल्पद्रुम में छन्द संख्या अंकित नहीं है। यह रचना ६१ पृष्ठों में है। भ्रमरगीत प्रसंग का वर्णन २८ से ३० पृष्ठ पर ४५ छन्दों में किया गया है। यह एक संक्षिप्त रचना है जिसमें प्रधानतः श्रीमद्भागवत तथा गौण रूप से सूरसागर की कथा का सारांश सरसी तथा सार छन्दों में दिया गया है। परन्तु इसमें श्रीमद्भागवत अथवा सूरसागर के अनुसार द्वादश स्कन्धों का विभाजन क्रम नहीं है। सूर सारावली में कृष्ण जीवन के उस सरस

प्रसंग को भी स्थान मिला है जिसका सम्बन्ध कृष्ण तथा गोपियों की विरहानुभूति तथा उद्धव के ज्ञान-गर्व-खण्डन से है। सूर सारावली का कथानक यद्यपि श्रीमद्भागवत पर आधारित है तथापि उद्धव को ब्रज भेजने का कारण भिन्न है। श्रीमद्भागवत में कृष्ण भक्तवत्सलता वश गोपियों पर अनुग्रह करने के लिए उद्धव को ब्रज भेजते हैं। सारावली में ब्रजवासियों के प्रेम-दर्शन तथा उनके दर्शन से अभय पद प्राप्त करने के निमित्त ही उद्धव का ब्रजागम होता है। कृष्ण कहते हैः—

"मोकूँ लाड़ लड़ायो उन जो कह लगि करों बड़ाई।
सुनि ऊधौ तुम समुझत नाहिन अब देखोगे जाई॥
बेग जाव ब्रज मों आज्ञा ते ब्रज वासिन सुख देहो।
चरण रेणु शिर धरि गोपिन की तुमहुँ अभय पद लेहो॥"[1]

गुरू गृह से लौटने पर कृष्ण को ब्रजवासियों की सुध आती है और वे उद्धव को एकान्त में बुलाकर ब्रज भेजते हैं। उद्धव के द्वारा गोपियों को मानसिक ध्यान करने का संदेश मौखिक तथा पत्र रूप में भेजा गया है। नन्द यशोदा तथा गायों और गोपों के लिए भी संदेश भेजना कृष्ण भूले नहीं हैं। उद्धव को अपने ही वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कर अपने ही रथ पर ब्रज भेजते हैं। नन्द यशोदा द्वारा उचित सत्कार, भोजन शयन आदि के पश्चात् भ्रमरगीत प्रसंग का संक्षिप्त वर्णन है। तदनन्तर उद्धव गोपियों की भक्ति की सराहना कर उनसे चरण रेणु माँगते हैं। मथुरा लौटकर उद्धव गोपियों की प्रीति की प्रशंसा करते हैं तथा कृष्ण अपने ब्रजवास का स्मरण करते हैं। इस प्रकार इस छोटी सी रचना में भी सूरदास कृष्ण जीवन के उस मधुर प्रसंग को लाना भूले नहीं जिसका सम्बन्ध गोपियों की कोमलतम भावनाओं से है। यद्यपि काव्य की दृष्टि से यह साधारण रचना है।

सूरसागर सूरदास की सर्वश्रेष्ठ रचना है। अभी तक इसके कई संस्करण हो चुके हैं। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित संवत् २००७ का संस्करण सर्वाधिक प्रामाणिक तथा मान्य समझा जाता है। सूरसागर के लगभग पाँच सहस्त्र पद उपलब्ध हैं जिनका विभाजन श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कंधों के आधार पर हुआ है।

१—सूरसागर सारावली—सूरसागर राग कल्पद्रुम नवल किशोर प्रेस, पृ० २८।

श्रीमद्भागवत के अनुसार द्वादश स्कंध होने पर भी सूरसागर श्रीमद्-भागवत का पद्यमय अनुवाद मात्र नहीं है। श्रीमद्भागवत और सूरसागर के प्रत्येक स्कंध को देखने से दोनों की पद संख्या में महान अन्तर दिखाई पड़ता है। सूरसागर के प्रथम तथा नवम् स्कंधों की पद संख्या क्रमशः दो सौ उन्नीस और एक सौ बहत्तर है जबकि दशम स्कंध को छोड़कर अन्य स्कंधों की सम्मिलित पद संख्या लगभग सवा सौ है। श्रीमद्भागवत के स्कंधों के अध्यायों में इतनी भिन्नता नहीं है यद्यपि दशम स्कंध की अध्याय संख्या अपेक्षाकृत अधिक है। इस प्रकार सूरसागर के इस वृहत् कलेवर का प्रमुख अंग दशम स्कंध ही है। यही सूरसागर की आत्मा है। दशम स्कंध में लगभग साढ़े चार सहस्र पद हैं जो अपनी अभिव्यंजना में अद्वितीय हैं। दशम स्कंध पूर्वार्द्ध का सम्बन्ध जिसमें लगभग ४,१६० पद हैं; कृष्ण के बाल तथा किशोर रूप से है। दशम स्कंध उत्तरार्द्ध द्वारिकावासी महाराज श्रीकृष्ण से सम्बन्धित है। संभवतः यही कारण है कि गोपाल कृष्ण के सखा सूरदास का हृदय गोकुल की कुंजों, यमुना के पुलिन तथा मुरली के मधुर नाद के सम्मुख द्वारिकाधीश के महान ऐश्वर्य वर्णन में नहीं रमा। ऐश्वर्य तथा वैभव की खाई मित्रता के पावन प्रदेश में बाधक बन जाती है। फलस्वरूप जहाँ दशम स्कंध पूर्वार्द्ध में चार सहस्र से भी अधिक पद हैं वहाँ उत्तरार्द्ध में केवल डेढ़ सौ के ही लगभग पद मिलते हैं।

सूरदास ने कृष्ण-जीवन के केवल दो अंशों—बाल तथा किशोर—को ही अपने काव्य का विषय बनाया है। सूरदास के बाल वर्णन के कारण ही साहित्य में एक नवीन रस-वात्सल्य का प्रादुर्भाव हुआ। सूरदास का बाल वर्णन अनुपम है—सर्वश्रेष्ठ है। बालमनोवृत्ति की सूक्ष्मताओं को व्यंजित करने में सूरदास अद्वितीय हैं। उसी प्रकार शृंगार के क्षेत्रों में भी वे अतुलनीय हैं। शृंगार के दोनों रूपों संयोग तथा विप्रलम्भ का सुन्दर चित्रण दशम स्कंध में मिलता है। कृष्ण जन्म से आनन्दित, उनकी मनोरम सुखद क्रीड़ाओं से उल्लसित व्रजवासियों का हर्ष अधिक समय तक स्थायी न रह सका। हर्ष के बाद विषाद, सुख के पश्चात् दुख और मिलन के अन्तर वियोग का क्रूर चक्र उनकी अमिट भाग्य लिपि बनकर उपस्थित हुआ। अक्रूर के अवांछनीय व्रजागमन से ही विरह की काली घटायें उमड़ घुमड़ कर व्रज पर घिर आईं जिससे फिर कभी व्रजाकाश का व्रजेन्दु अपनी

शीतल स्निग्ध ज्योत्स्ना से व्रजवासियों के विरह तप्त हृदय को शीतल न कर सका। अक्रूर आगमन के साथ ही व्रज में विरह व्यथा व्याप्त हो गई। भविष्य की अदृश्य अमंगलमय कल्पना ने उनके हृदय में संदेह और चिंता का बीज बो दिया। जब तक नन्द मथुरा से लौटकर नहीं आते, माता यशोदा, प्रेम मग्ना राधा तथा गोपियों को एक आशा थी यद्यपि वे क्रूर तथा कुटिल कंस की प्रवंचनाओं के प्रति भयभीत थीं किन्तु इसका तो उन्हें स्वप्न में भी ध्यान न था कि कंस वध कर कृष्ण मथुरा के राजा हो जायेंगे तब व्रज के कुंज, यमुना का पुनीत पुलिन, शरद चन्द्रिका की रास क्रीड़ा, नन्द-यशोदा की ममता, तथा गोपियों का स्नेह कुछ भी उन्हें पुनः लौटने के लिए आकृष्ट न कर सकेगा। परन्तु जब कंस वध के पश्चात् व्रजवासी अकेले ही नन्द व गोपों को आते देखते हैं तो उनका धैर्य छूट जाता है। वे इस अनहोनी घटना से व्यथित हो उठते हैं। मां पुत्र के वियोग से विकल हो रो उठती हैं। अभी तक आशा का क्षीण तंतु उन्हें जीवित रखे था, किन्तु अब कौन सी आशा से उनके प्राण रुके हुये हैं इस रहस्य को समझने में सर्वथा असमर्थ थे केवल रोकर ही अपनी दुख गाथा कहती हैं। गोपियाँ भी पुनः मिलन की मधुर आशा को अप्रत्याशित रूप से छिन्न-भिन्न होते देख व्याकुल हो गईं। कहाँ शरद पूर्णिमा का सुखद रास, मुरली की सुमधुर स्वर लहरी और कहाँ अनन्त कालीन वियोग। नन्द को गोप सहित अकेले आते देख अवधि रूपी आशा का तार भी टूट गया। सूरसागर में यशोदा तथा गोपियों का यह विरह वर्णन नन्द व्रजागमन के ३१२८ वें पद से आरम्भ होता है। सूरदास ने लगभग ३०० पदों में यशोदा तथा गोपियों के विरह का मर्मस्पर्शी वर्णन किया है जिसकी समता हिन्दी साहित्य का कोई भी काव्य नहीं कर सकता। व्रज विरह वर्णन के पश्चात् ही भ्रमरगीत की वह कथा जो श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध के ४६ वें तथा ४७ वें अध्यायों में वर्णित है लगभग साढ़े सात सौ पदों में कही गई है। भागवतकार सूरदास के सदृश्य भावुक न थे। अतः उन्होंने भ्रमर-गीत प्रसंग का संकेत मात्र कर दिया है। भ्रमरगीत प्रसंग को इतना व्यापक तथा विशद स्वरूप देने का श्रेय सूरदास को ही मिला।

सूरसागर के मुक्तक काव्य होने के कारण इसमें कथा का कोई क्रम नहीं मिलता। यद्यपि एक ही प्रसंग पर अनेक पद मिलते हैं

तथापि प्रत्येक पद अपने में पूर्ण तथा स्वतन्त्र है। यशोदा-नन्द-विलाप, व्रज-दशा, गोपी-विरह, संदेश आदि से सम्बन्धित पद बराबर मिल गये हैं। विषय के विचार से विरह सम्बन्धी समस्त पद निम्नलिखित शीर्षक तथा उपशीर्षक के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं—

१—उद्धव के व्रजागमन के पूर्व के पद जिनके अन्तर्गत निम्न विषय सम्बन्धी पद उपलब्ध हैं।

(क) यशोदा विरह तथा संदेश।
(ख) गोपी विरह
(ग) व्रज दशा
(घ) गोप गऊओं से सम्बन्धित पद।

२—उद्धव व्रजागमन सम्बन्धी पद। इसमें उद्धव के व्रजागमन से मथुरा प्रत्यागमन तक के पद सम्मिलित हैं—

क—उद्धव के व्रज भेजने का कारण तथा कृष्ण संकेत।
ख—उद्धव व्रज यात्रा
ग—उद्धव यशोदा वार्तालाप
घ—उद्धव गोपी संवाद
ङ—भ्रमरगीत
च—उद्धव मथुरा गमन
छ—उद्धव कृष्ण संवाद

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूर के विरह वर्णन के समस्त पदों को भ्रमरगीत के अन्तर्गत मान कर भ्रमरगीत सार के सम्पादन में उनमें से कुछ का संग्रह किया है। सूरदास ने तीन भ्रमरगीत लिखे हैं। एक तो विस्तृत पदमय भ्रमरगीत है जो कि विप्रलम्भ शृंगार की सर्वश्रेष्ठ रचना है। इसमें श्रीमद्भागवत-वर्णित प्रत्येक प्रसंग पर पद मिलते हैं तथा अपनी रुचि के अनुसार सूरदास ने मौलिक परिवर्तन भी कर दिया है। उद्धव के व्रज भेजने का कारण सूरदास ने भागवतकार की अपेक्षा अन्य ही दिया है जो उनकी मौलिक सूझ है। गोपियों की सगुण भक्ति की महत्ता तथा उद्धव का पूर्ण भक्त बन कर लौटने का वर्णन भी भागवत से भिन्न ही है। सूरसागर में निर्गुण सगुण विचारधारा को भी विशेष स्थान प्राप्त है जब कि भागवत में गोपियाँ निर्गुण निराकार ब्रह्म के प्रतिकूल किसी भी

प्रकार का तर्क नहीं करतीं। कुब्जा को लेकर हास्य तथा व्यंग्य की भी सृष्टि की गई है। श्रीमद्भागवत में कुब्जा का इस रूप में कहीं भी वर्णन नहीं मिलता है। इस प्रथम भ्रमरगीत में अत्यधिक विस्तार तथा व्यापकता है। कीर्तन के निमित्त रचे जाने के कारण एक ही विचार का कई पदों में उल्लेख मिलता है। यद्यपि इससे सूर की प्रतिभा पर कोई आघात नहीं पहुँचता।

इस विस्तृत भ्रमरगीत के अतिरिक्त सूरदास ने दो संक्षिप्त भ्रमरगीतों की भी रचना की है।[1] प्रथम भ्रमरगीत की कथा दो बड़े पदों में दी गई है। भ्रमरगीत का प्रारम्भ उद्धव के व्रज प्रवेश से होता है। कथा का यह अंश श्रीमद्भागवत के अनुसार ही है। प्रथम पद में उद्धव व्रजागमन, गोपी आशा निराशा तथा कुब्जा पर व्यंग्य और कृष्ण पुनर्मिलन की आशा का वर्णन है। द्वितीय पद में उद्धव ज्ञान चर्चा तथा उद्धव गोपी संवाद, उद्धव के भक्त बनने का वर्णन है। अन्तिम पंक्तियों में भ्रमरगीत सुनने सुनाने का महत्व कहा गया है।

इस संक्षिप्त भ्रमरगीत में उद्धव के पूर्व व्रज दशा तथा उद्धव मथुरा गमन प्रसंग को पूर्णतः छोड़ दिया गया है। निर्गुण ब्रह्म चर्चा का इसमें मुख्य स्थान है। उद्धव अन्त में गोपियों को अपना गुरु मान लेते हैं। इसमें प्रबन्धात्मकता भी मिलती है।

द्वितीय[2] भ्रमरगीत सत्तर पंक्तियों के एक बड़े पद रूप में प्राप्त है। यह भ्रमरगीत प्रबन्धात्मक है और इसमें एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है। कथानक की दृष्टि से प्रथम संक्षिप्त भ्रमरगीत से इसमें कुछ अन्तर है। इसका आरम्भ उद्धव उपदेश से हुआ है। गोपियों के आचार व्यवहार में भी भिन्नता है। वे अधिक व्यवहार कुशल हैं। उद्धव के संकोच (प्रेम भक्ति देखकर) का, पाती संदेश तथा ज्ञान चर्चा का इसमें भी उल्लेख है। कुछ दिन व्रज में रह कर प्रेम मग्न उद्धव के कृष्ण के पास जाने का वर्णन है जहाँ कृष्ण अपने प्रेमपूर्ण व्यवहार से उनको शान्त करते हैं।

---

१ सूरसागर—पद ४०९३, ४७११, ४०६४, ४७१२
ना० प्रा० स० संस्करण सं० २००७

२ पद ४०६५, ४७१३

प्रथम तथा द्वितीय भ्रमरगीतों में समानता की अपेक्षा विभिन्नता अधिक है। द्वितीय भ्रमरगीत की कथा प्रारम्भ में अधिक संक्षिप्त है और अन्त में विस्तृत होती गई है। उद्धव के मथुरागमन तक का वर्णन किया गया है।

प्रथम भ्रमरगीत में विस्तार आरम्भ से ही मिलता है। इसमें व्यंग्य तथा उपालम्भ का संक्षिप्त वर्णन है किन्तु द्वितीय में क्षणिक उपहास तथा अन्तिम पंक्ति में सरस व्यंग्य की एक झलक मात्र मिलती है। भ्रमर आगमन का दोनों में ही उल्लेख नहीं है। 'अलि' तथा 'मधुप' शब्दों का प्रयोग अवश्य मिलता है।

द्वितीय भ्रमरगीत की गोपियों के व्यवहार पर भागवत का कुछ प्रभाव दिखाई पड़ता है। वस्तुतः दोनों ही भ्रमरगीतों में सूर की अपनी प्रतिभा तथा कल्पना का विशेष स्थान है। इन भ्रमरगीतों के द्वारा सूरदास ने परवर्ती भ्रमरगीत काव्य को अत्यधिक प्रभावित किया है।

परमानन्ददास

अष्ट छाप के कवियों में सूरदास के पश्चात् परमानन्ददास का रचना बाहुल्य एवं काव्य सौष्ठव की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है। परमानन्ददास ने कृष्ण-भक्ति के बहुत से पद बनाए। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के अनुसार सूरदास और परमानन्द दास दो ही 'सागर' हैं। किन्तु साहित्य जगत में परमानन्द दास सागर के अप्रकाशित होने के कारण काव्य रसिक एवं जन समाज इनके काव्यास्वादन से सर्वथा वंचित ही रहे हैं। डा० दीनदयाल गुप्त ने अष्ट छाप परिचय में परमानन्द दास के जीवन एवं काव्य पर विशेष प्रकाश डाला है। कांकरौली में परमानन्द सागर की प्रति है। वहाँ से शीघ्र ही यह रचना प्रकाशित होने वाली है।

परमानन्द दास का जन्म संवत् १५५० में कन्नौज जिला फ़र्रुखाबाद के एक कान्यकुब्ज परिवार में हुआ था। परमानन्द दास के माता पिता निर्धन थे किन्तु परमानन्द को धन का तनिक भी मोह न था। वे बचपन से ही विरक्त प्रवृत्ति के थे। उनका समय प्रायः भजन कीर्तन में व्यतीत होता था। पुष्टि मार्ग में दीक्षित होने के पूर्व ये स्वामी कहलाते थे और शिष्य भी बनाते थे। संवत् १५७६ में

२६ वर्ष की अवस्था में ये पुष्टि मार्ग में दीक्षित हुए। तब वल्लभाचार्य ने इन्हें गोवर्द्धन नाथ जी के समक्ष कीर्तन का कार्य सौंपा जिसे वे जीवन पर्यन्त करते रहे। संवत १६४० के लगभग इनका गोलोकवास हो गया।

परमानन्द दास के पदों में भ्रमरगीत सम्बन्धी अनेक पद हैं। डाक्टर दीनदयाल गुप्त एवं सुश्री सरला शुक्ल ने अपनी रचनाओं में इन्हें उद्धृत किया है

तुलसीदास

गोस्वामी तुलसीदास हिन्दी साहित्य में राम-भक्त कवि के रूप में ही प्रसिद्ध हैं और वे थे भी राम भक्त किन्तु श्रीकृष्ण की पावन लीला का वर्णन कर उन्होंने अपनी धार्मिक समन्वय की भावना को एक ठोस स्वरूप प्रदान किया। गोस्वामी तुलसीदास की श्रीकृष्ण गीतावली में कृष्ण चरित्र का वर्णन है। श्रीकृष्ण गीतावली का सम्पादन पंडित वामदेव शर्मा ने किया है। संवत् २००४ में (सन् १९४७) में रामनारायण लाल के यहाँ से इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ है। इस रचना में व्रज भाषा के ६१ पद हैं। ये पद समय-समय पर लिखे ज्ञात होते हैं। रचना प्रकाशित हो चुकी है। रचना में पद-क्रम के अनुसार कथा का एक सूक्ष्म सूत्र दिखाई पड़ता है। कृष्ण-जीवन की विभिन्न लीलाओं के साथ ही भ्रमरगीत प्रसंग पर भी कुछ पद रचे गये हैं। २४ वें पद से ही गोपी विरह वर्णन प्रारम्भ हो जाता है। उद्धव का वर्णन ३३ वें पद से प्राप्त होता है। यह प्रसंग संक्षिप्त रूप से अपनाया गया है। उद्धव का दर्शन गोपियों से वार्तालाप करते हुए होता है। उद्धव आगमन कारण, आगमन, उद्धव मथुरा गमन आदि प्रसंग छोड़ दिये गए हैं। गोपियाँ ही आदि से अन्त तक बोलती हैं। उद्धव के संदेश की असफलता का संकेत मात्र पद ५९ में मिलता है जिसके उपरान्त यह प्रसंग समाप्त हो जाता है। विषय से सम्बन्धित लगभग २६ पद हैं जो विभिन्न राग रागनियों में विभक्त हैं।

नन्ददास

सूरदास के पश्चात् नन्द का स्थान महत्वपूर्ण है। नन्ददास के जीवन-चरित्र के विषय में बड़ा मतभेद है। नन्ददास के निवास स्थान के विषय में भक्तमाल में रामपुर गाँव का वर्णन है तो दो सौ

वैष्णवन की वार्ता में उन्हें पूर्व देश का निवासी कहा गया है। डा० दीनदयाल गुप्त का बिचार है कि वे गोकुल मथुरा के पूर्व रामपुर ग्राम के रहने वाले थे। इनकी जाति का प्रश्न भी विवादास्पद है। भक्तमाल के अनुसार ये सुकुल हैं किन्तु 'दो सौ वैष्णवन की वार्ता' में इन्हें सनाढ्य और 'मूल गोसाईं चरित' में कान्यकुब्ज माना गया है। अनुश्रति के अनुसार ये तुलसीदास के भाई माने जाते हैं।

नन्ददास की निश्चित जन्म तिथि भी प्राप्त नहीं है। जन्म के विषय में विद्वानों ने अनुमान से काम लिया है। डा० दीनदयाल गुप्त इनका जन्म संवत् १५६० वि० मानते हैं। उनके विचार से नन्ददास के 'शरणागति' का समय संवत् १६१७ है। नन्ददास की रसिकता तथा लौकिक प्रेम का उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलता है। यह सांसारिक प्रेम ही उन्हें कृष्ण-भक्ति की ओर उन्मुख कराने का मूल कारण था। इस मत की पुष्टि में डा० दीनदयाल जी भी एक स्थान पर लिखते हैं, 'कवि नन्ददास के जीवन के अनुभवों में यह एक ऐसी घटना थी जिसने उनकी कवित्व शक्ति को परिपक्व किया। उनके वर्णन को सूक्ष्म और उनकी अन्तर्दृष्टि को तीक्ष्ण बानया। कवि ने इस रूपवती क्षत्राणी के दर्शन और चिन्तन में सौन्दर्य देखा, प्रेम की भावना को आंका था, वासना को तोला था, विरहातुरता समझी थी, सम्मिलन की सुखद कल्पना की थी और अन्त में उसने संसार में लिप्त मनुष्य के हृदय की विकलता को समझा था।[1] इन्होंने बल्लभाचार्य के पुत्र श्री विट्ठलनाथ से दीक्षा ली थी। नन्ददास संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। उन्हें भाषा से विशेष अनुराग था। वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने के उपरान्त उनकी एक निश्चित दिनचर्या बन गई थी। उनका समस्त जीवन गोकुल तथा गोवर्धन पर स्थित कृष्ण मूर्तियों के दर्शन, सेवा तथा भजन कीर्तन में ही व्यतीत होता था। इसी समय उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। संवत १६३६ में इनका स्वर्गवास हो गया।

नन्ददास की रचनाओं में 'भंवरगीत' नाम की एक सुन्दर रचना मिलती है। भंवरगीत इस परम्परा की एक सुदृढ़ कड़ी है। इसका प्रारम्भ सूरदास के द्वितीय संक्षिप्त भ्रमरगीत के अनुसार हुआ है किन्तु इसका विकास नन्ददास ने अपना प्रतिमानुसार ही किया

१—पृ० २५८ अष्ट छाप और बल्लभ सम्प्रदाय संवत् २००४

है। इस भंवरगीत का अनेक विद्वानों ने सम्पादन किया है। भंवर गीत तथा रास पंचाध्यायी का संकलन साथ-साथ भी प्राप्त है।

नन्ददास कृत भंवरगीत प्रामाणिक रचना मानी जाती है। भंवर गीत नाम की एक अन्य रचना जनमुकुन्द छाप की नागरी प्रचारिणी सभा में प्राप्त हुई है। यह सम्पूर्ण रचना वही है जो नन्ददास कृत मानी जाती है। इसका उल्लेख ब्रजरत्नदास ने नन्ददास ग्रन्थावली काशी नागरी प्रचारिणी के पाठान्तर में किया है। उमाशंकर शुक्ल ने भी स्व सम्पादित नन्ददास ग्रन्थावली में जनमुकुन्द छाप की कई प्रतियों का प्रयोग किया है किन्तु रचना को नन्ददास कृत ही माना है। डा० दीनदयाल गुप्त ने अपनी रचना 'अष्ट छाप और बल्लभ सम्प्रदाय' में इस संदेह का निराकरण किया है किन्तु संवत २००४-२००६ की अप्रकाशित खोज रिपोर्ट में यह शंका पुनः विशेष रूप से उठाई गई है। इस अप्रकाशित खोज रिपोर्ट में श्री जुगाल जी का एक लेख है जिसके अनुसार नन्ददास के नाम से प्रसिद्ध 'भंवर गीत' नामक रचना उनकी न होकर जनमुकुन्द नामक व्यक्ति की है। जब तक विद्वान आलोचक इस विषय पर विशेष निर्णय नहीं देते तब तक भंवरगीत का विवेचन नन्ददास की ही रचना मान कर किया जायेगा। भविष्य में चाहे यह सिद्ध हो जाय कि भंवरगीत नन्ददास के स्थान पर जनमुकुन्द नामक व्यक्ति की ही रचना है परन्तु इस निर्णय से 'भंवरगीत' के काव्य-सौष्ठव पर कोई आघात नहीं पहुँच सकेगा।

भंवरगीत में भागवत का ही प्रसंग वर्णित है इसमें भावना तथा विचार दोनों की ही प्रधानता है। प्रसंग को परम्परागत बनाए रखने के निमित भ्रमर प्रवेश का भी उल्लेख किया गया है। अन्त में पुष्टि मार्गीय होने के कारण तथा पूर्ववर्ती परम्परा के अनुसार नन्ददास ने भी ज्ञान के सम्मुख भक्ति तथा निराकार की अपेक्षा साकार उपासना को ही श्रेष्ठ बताया है।

रहीम

इनका पूरा नाम अब्दुरहीम खानखाना है। ये प्रसिद्ध अकबर बादशाह के अभिभावक बैरमखां के पुत्र थे, इनका जन्म संवत् १६१० में तथा मृत्यु सं० १६८३ में हुई थी। रहीम ने ७३ वर्ष की दीर्घ आयु पाई थी। अकबर प्रसिद्ध वीरों में इनका स्थान था। वीरता के

साथ इनमें दानशीलता तथा काव्य मर्मज्ञता का भी अपूर्व गुण था। रहीम के लिखे हुए कई ग्रन्थ बताए जाते हैं। रहीम दोहावली या सतसई, बरवै नायिका भेद, शृंगार मदनाष्टक, रासपंचाध्यायी के अतिरिक्त मायाशंकर जी याज्ञिक ने कुछ अन्य रचनाओं की भी खोज की है। याज्ञिक जी ने रहीम की रचनाओं का सम्पादन किया और यह संग्रह 'रहीम रत्नावली' नाम से साहित्य सेवा सदन काशी से संवत् १६८५ में प्रकाशित हुआ। 'रहीम रत्नावली' में भ्रमरगीत सम्बन्धी कुछ बरवै प्राप्त हुये हैं जिनकी संख्या लगभग[1] बीस है। इन इन बरवै में गोपी विरह वर्णन तथा उद्धव के योग संदेश को ग्रहण करने में उनकी विवशता तथा असमर्थता का ही वर्णन है। बरवै अवधी भाषा में लिखे गये हैं।

रसखान

रसखान दिल्ली के एक पठान सरदार थे। एक बार श्री मद्भागवत का फारसी अनुवाद पढ़कर गोपियों के प्रेम से ये अत्यधिक प्रभावित हुए। फलस्वरूप रसखान कृष्ण भक्त बन गए इन्होंने कृष्ण लीला तथा भक्ति विषयक सुन्दर सवैया लिखे हैं। रसखान की 'प्रेम वाटिका' दोहे में है तथा 'सुजान रसखान' की रचना कवित्त सवैया में की गई है। इनका कविता काल संवत् १६४० के उपरान्त माना गया है। प्रेम वाटिका १६७१ संवत् की रचना है।[2]

रसखान की इन कविताओं का 'रसखानि-कवितावली' नाम से रूपनारायण पाण्डेय ने सम्पादन किया है। यह संग्रह नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से सन् १९३६ में प्रकाशित हुआ। इसमें भ्रमरगीत सम्बन्धी तीन सवैया मिलते हैं।[3]

सूक्ति[4] सरोवर एक संग्रह ग्रन्थ है। इसमें अनेक कवियों की

१—पृ० स० ६६ बरवै ३६, ४३, ४४, ४५, ४६ ।
पृ० सं० ६७ ,, ४७, ५४, ५६, ५७, ५८ ।
पृ० सं० ६८ ,, ५६, ६०, ६१ ६८ ।
पृ० सं० ६६, ,, ७२, ७६, ८४, ८८, ८६, ६० ।

२—हिन्दी साहित्य का इतिहास—शुक्ल जी—पृ० १६२ संस्करण २००३ ।

३—पृ०, १७ पर ७३, ७४, ७५ ।

४—पृ०, ४२—गोपीगण सवैया ३२—मिश्रबन्धु कार्यालय दीक्षितपुरा,
,, ४३ ,, ,, ३३ जबलपुर ।
,, ४४ ,, ,, ३९ संवत् १९७९

रचनाओं का संग्रह लाला भगवानदीन ने किया है। इसमें गोपी-गण शीर्षक के अन्तर्गत भ्रमरगीत सम्बन्धी तीन सवैया रसखान द्वारा रचित भी मिलते हैं।

मलूकदास

मलूकदास का जन्म संवत् १६३१ में कड़ा जिला इलाहाबाद में हुआ था। ये जाति के खत्री थे। इनके पिता का नाम सुन्दरदास था। यह कहा जाता है कि इन्होंने १०८ वर्ष की लम्बी आयु पाई थी। संवत् १७३९ में इनका स्वर्गवास हुआ। ये निर्गुण मत के मुख्य सन्तों में से हैं। इनकी दो प्रसिद्ध पुस्तकों का नाम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में दिया है।[1] नागरी प्रचारिणी सभा की १९४७ की अप्रकाशित खोज रिपोर्ट में मलूकदास कृत ऊधौ पचीसी का भी उल्लेख है।[2] ऊधौ पचीसी में २५ कवित्त हैं। रचना काल तथा लिपि काल अज्ञात है। यह रचना महावीर सिंह गलहोत के पास प्राप्त है। विषय के विचार से ऊधौ पचीसी में मथुरा से ज्ञान का संदेश लाने वाले उद्धव को गोपियों ने उलाहने दिए हैं तथा साकार कृष्ण को चाहने वाली गोपियों ने निर्गुण ईश्वर और योग आदि की हँसी उड़ाई है। उदाहरण स्वरूप रचना के आदि, मध्य तथा अन्त के तीन कवित्त दिए गए हैं जो यहाँ दिए जा रहे हैं।

आदि

अब गोपिका उलहनौ ऊधो समय.

सुनि सुनि बातें ऐसी माधो बसाति नाहिं,
जोग जोग नाहीं ताके कैसे उर आई है।
तुम को तो कही है यह कौन की कही है,
बात हम तो सही है जो पै तुम मन ल्याई है।
सुनी हो मलूक यह बात है परवाने वारी,
वय के बबूर कोइ आव फल खाई है।
पर धन पाई के सु अति इतराइ लब्धो,
काहू कलपाइ है सो कैसे कल पाई है ॥१॥

१—पृ०, सं० ७८ संस्करण संवत् २००२।
२—रि० १९४७—१८७।

मध्य

ऊधौं उद्धव बात सुनौ हम पूछत है तुमको गिरिधारियौं।
आप हौ झूठ लै जोरत हौ किधौं स्याम ने आप कही सु कहौ त्यौं।
बीच दिये तिन सौंह दिवावति साँचि कहौ मति आपु लगै ज्यौं,
आपु मलूक मलूक मिलै इन भोग में जोग के नामु लियो धौं ॥ ८॥

अन्त

जो उनकों हित है हमसों यह जानि है बात कहौ कों
जागे मलूक बने तबही मन हाथ रहे अब जाने सही कों।
जोग बहै जो कहावत उद्धव जोग कहैं हटि बाँह गहौ कों,
नाता बात की बात कही जुगई सुगई अब राख रही कों ॥२५॥
इतीमूलक कृत ऊधौ पचीसा संपूर्ण श्री श्री श्री।

सेनापति

सेनापति का वास्तविक नाम हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों को विदित नहीं। 'सेनापति' कवि का उपनाम हो जान पड़ता है। इनके पिता का नाम गंगाधर दीक्षित था। सेनापति का जन्म संवत् १६४६ के आसपास माना जाता है।[1] इनकी लिखी हुई दो रचनाओं का पता चलता है, 'कवित्त रत्नाकर' तथा 'काव्य-कल्पद्रुम'। कवित्त रत्नाकर का सम्पादन उमाशंकर शुक्ल ने किया है जो 'हिन्दी परिषद्' विश्वविद्यालय से संवत् २००६ (सन् १९४९) में प्रकाशित हुई है। 'कवित्त रत्नाकर' जिसका रचना काल संवत् १७०६ है,[2] एक संग्रह ग्रन्थ है, जिसमें पाँच तरंग हैं। प्रत्येक तरंग का सम्बन्ध एक भिन्न विषय से है। पहली तरग में श्लेष, दूसरी में शृंगार, तीसरी में ऋतु, चौथी में रामायण और पाँचवीं तरंग में रामरसायन का क्रमशः वर्णन मिलता है। सेनापति ने उद्धव-गोपी से सम्बन्धित भ्रमरगीत प्रसंग पर भी कुछ कवित्त रचे हैं यद्यपि इनकी संख्या अत्यधिक न्यून है।[3]

हरिराय

हरिराय जी गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के द्वितीय पुत्र गोविंद

१—पृ० १९२ हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल सं० सं० २००२।
२—पृ० ६७८ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास सन् १९४८।
३—कवित्त रत्नाकर।

राय जी के पौत्र और कल्याणराय जी के पुत्र थे। उनका जन्म सं० १६४७ में हुआ था[1]। हरिराय जी संस्कृति गुजराती, तथा ब्रजभाषा के ज्ञाता थे और इन्होंने तीनों ही भाषाओं में रचना की है। श्री गोकुलनाथ जी द्वारा कही हुई वार्ताओं का आपने सबसे प्रथम सम्पादन किया था। हरिराय जी ने अपनी रचनायें हरिराय, हरिधन हरिदास एवं रसिक आदि कई नामों से की हैं[2]। उन्होंने वार्त्ताओं के सम्पादन कार्य के अतिरिक्त 'भाव प्रकाश' नामक गद्य ग्रन्थ की रचना भी की है। हरिराय जी का स्वर्गवास १२५ वर्ष की दीर्घ आयु प्राप्त कर सं० १७७२ में हुआ था।

इलाहाबाद के म्यूजियम में स्नेह लीला नाम की एक अपूर्ण रचना है। रचना का सम्बन्ध कृष्ण के उद्धव को ब्रज भेजने के प्रसंग से है। रचना का प्रारम्भ इस प्रकार है—

॥ श्री लक्ष्मी नारायणां जयति ॥

एक समै ब्रजवास की सुरत भई हरिराय,
निज जन अपनो जानि कें ऊधो लिए बुलाय।

कथा का विकास उद्धव के ब्रज गमन तथा गोपी यशोदा वार्तालाप तक होता है। ३२ छन्द के बाद रचना खंडित है।

नागरी प्रचारिणी सभा के संग्रह में स्नेह लीला नाम की एक रचना मिली है[3]। इसमें कई ग्रन्थ संकलित हैं। जिसमें नन्ददास के भ्रमरगीत तथा हरिराय उपनाम रसिक राय की उद्धव लीला ग्रन्थ भी संकलित है। ग्रन्थ पूर्ण है। इसमें १२८ छन्द हैं। प्रारम्भ इस प्रकार होता है—

श्री कृष्णायनमः ॥ अथ उद्धव लीला लिख्यते ॥
एक समै ब्रज वास की सुरति भई हरिराय।
निज जन अपनौ जानि के उद्धव लिये बुलाय ॥

अन्तिम पदः—

जौ गावै सीखे सुखे मन बच करम सहेत।
श्री रसिक राय बरनन कीयो मन बांछित फल देत ॥ २८

---

१ पृ० ४६ अष्ट छाप परिचय प्रभुदयाल सं० २००४

२ पृ० ४७ अष्ट छाप परिचय

३ १०५४। ७३२ ना० प्र० स०

इति श्री हरिराय जी कृत सनेह लीला ब्रजभक्त उद्धव संवाद संम्पूर्ण ॥

ग्रन्थ के अन्त में नन्ददास कृत पंचाध्यायी है जिसकी पुष्पिका इस प्रकार है—

इति श्री पंचाध्यायी नन्ददास कृत समाप्त मिती आश्विन सुदि ६ चन्द्रे सं० १८४६।

इस प्रकार रचना का प्रतिलिपि काल सम्वत १८४६ निश्चित होता है। स्नेह लीला की अन्य प्रतियाँ भी सभा संग्रह में देखने को मिली हैं। कुछ पूर्ण तथा कुछ अपूर्ण हैं। अधिकांश प्रतियों पर सभा की ओर से 'जनमोहन' कृत होना स्वीकार किया गया है। किन्तु उपर्युक्त प्रति से पाठ मिलान करने पर दोनों एक ही पाठ प्रस्तुत करती हैं। इनमें से प्रति नं० ३०६। २१० की पुष्पिका में लिपिकार का नाम भी दिया गया है—'संवत् १८६४ पौष सुदी ५ गुरे लिखितम वेणी दत्तेनः ग्राम बसी मध्ये लिखिः' अतः स्नेह लीला को हरीराय कृत मानना ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।

स्नेहलीला का कथानक भागवत तथा सूरसागर के आधार पर है। अनेक व्यंग्य तथा उक्तियाँ सूरदास से प्रभावित हैं।

मुकुन्ददास

मुकुन्ददास शाह सलीम (जहाँगीर) के आश्रय में थे। अतः इनका समय संवत १६७५ के लगभग है। इनकी भंवरगीत नामक रचना का पता चला है। रचना महन्त ब्रजलाल, जमींदार, सिरायू जिला इलाहाबाद के पास है। इसमें ७५ श्लोक हैं। रचना काल अज्ञात है। प्रारम्भ निम्न प्रकार है—

प्रारम्भ

लिषर्त भंवर गीता मकुन्ददास कृत ॥
हरि जी बैठे एकान्त मतौ उधव जन सों।
गोपी मम आधीन विसर्जन है तन मन सों।
सब अयहै सदा ऐसन कछू औ लम्ब ॥
ताते वेग जाहु वृज उधौ करिये नहीं विलंब।
जाइ उपदेसिये ॥१॥

मुकुन्द दास की रचना शैली पर नन्ददास का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

घासीराम

घासीराम जाति के ब्राह्मण तथा जिला हरदोई के थे। इनका समय संवत् १६८० है। इनके दो पद साहित्य प्रभाकर पहला भाग[1], जिसका सम्पादन महालचन्द वपेद ने किया है तथा जो ओसवाल प्रेस नं० १६, सोना गोग स्ट्रीट कलकत्ता से प्रकाशित हुई है, से मिलते हैं। घासीराम के इन दो पदों में से प्रथम में तो पाती की चर्चा है—

स्याम लिखे गुन पाती के आखर जोग चिठी यह जो मुनि पै है।
बाचत ही उड़ि जायगो प्राण कपूर लों फेरि न हाथन ह्वै है॥
ऊधो चुपाउ सुनी खबरें बृजभान लली तन क्यों विष द्वै है।
काल बली सम राधे हमारी सो वा कुविजा की खवासिनि ह्वै है॥१॥

द्वितीय सवैया में उद्धव के मुख से वियोगमय शब्द सुनकर गोपियों के दुखित होने का वर्णन है।

मतिराम

मतिराम रीतिकाल के मुख्य कवियों में से हैं। इनका जन्म तिकवांपुर में संवत् १६७४ के लगभग हुआ था। मतिराम ने 'ललित ललाम' नामक अलंकार ग्रन्थ तथा 'रसराज', साहित्यसार' और 'लक्षण शृङ्गार', 'छन्द सार' तथा 'सतसई' की रचना की है। रीति-काल के कवि होने के कारण इन्होंने कोई प्रबन्धात्मक रचना नहीं प्रस्तुत की है। अन्य विषयों के साथ ही अलकारों के उदाहरण स्वरूप उद्धव गोपी प्रसंग को भी इनकी रचना में स्थान प्राप्त है। श्री कृष्ण-विहारी मिश्र ने 'मतिराम ग्रन्थावली' नाम से मतिराम के ग्रन्थों का सम्पादन किया है जिसका प्रथम संस्करण संवत् १६८३ में प्रकाशित हुआ। ललित ललाम में व्याज निन्दा प्रथम विषय, विकस्वर, भाविक अलंकारों के उदाहरण स्वरूप लगभग पाँच छन्द मिलते हैं।[2]

---

१ पद १६२, १६२—साहित्य प्रभाकर द्वितीय संस्करण सं० १६६३ (सन् १६३७)

२ पृ० १२८ पद १८६
पृ० १३४ पद २२२, २३२
पृ० १४६ पद २६३
पृ० १६४ पद ३७५

मतिराम सतसई में भी एक सुन्दर पद मिलता है।[1]

अक्षर अनन्य (१७१०)

अक्षर अनन्य दतिया रियासत के अन्तर्गत सेनुहदा कायस्थ थे। दतिया नरेश पृथ्वीचन्द के ये दीवान थे। किन्तु कुछ काल पश्चात् विरक्त होकर ये पन्ना में रहने लगे। इन्होंने योग और वेदान्त पर कई ग्रन्थ लिखे हैं, राजयोग, विज्ञान योग, ध्यान योग, सिद्धान्त बोध, विवेक दीपिका, ब्रह्म ज्ञान, अनन्य प्रकाश आदि। इन्होंने दुर्गा सप्तशती का भी पद्यों में अनुवाद किया है।[2] अक्षर अनन्य ज्ञानाश्रयी शाखा के निर्गुण सन्त परम्परा के अन्तर्गत आते हैं।

नागरी प्रचारिणी सभा संग्रह में अक्षर अनन्य की 'प्रेम दीपिका' नामक रचना है जिसका सम्बन्ध भ्रमरगीत प्रसंग से है।

प्रेम दीपिका का एक संस्करण हिन्दुस्तानी एकेडमी, उत्तर प्रदेश से प्रकाशित हुआ है जिसका सम्पादन राय बहादुर लाला सीताराम ने किया है। नागरी प्रचारिणी सभा में प्राप्त प्रेम दीपिका तथा एकेडमी से प्रकाशित रचना एक ही व्यक्ति की रचना है।

बरकत उल्लाह प्रेमी

बरकत उल्लाह प्रेमी का जन्म अवध प्रान्त में संवत् १७१७ (सन् १६६० ई०) में हुआ था। इन्होंने औरंगजेब के राजत्व काल में 'प्रेम प्रकाश' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। प्रेम प्रकाश का रचना काल संवत् १७५५ (१६९८ ई०) है जिसका उल्लेख स्वयं कवि ने प्रेम प्रकाश में किया है। हीरजा अहमद प्रेमी के आध्यात्मिक गुरु थे। जिन्होंने इनकी ज्ञान पिपासा को शान्त किया। प्रेमी हिन्दी और फारसी के सिद्धहस्त कवि थे। प्रेम प्रकाश हिन्दी रचना है जो फारसी लिपि में लिखी गई है। प्रेम प्रकाश तीन भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में दोहे हैं जिनकी संख्या २०२ है। द्वितीय भाग में कवित्त हैं जिनमें दस से तीस पंक्ति तक मिलती हैं। ये विभिन्न राग रागनियों के आधार पर रचे गए हैं। इनकी संख्या ११३ है। शेष भाग रेख्ता का है, इसमें सोलह पद हैं।

इस प्रकार इनकी कुल संख्या ३३१ है।

---

१ खोज रिपोर्ट १९०९, १०, ११।

२ पृ० ७८—हिन्दी साहित्य का इतिहास-पं० रामचन्द्र शुक्ल सं० २००२

पं० लक्ष्मीधर शास्त्री ने प्रेम प्रकाश का सम्पादन किया है जो फ्रेंक ब्रादर्ज, चाँदनी चौक, दिल्ली से सन् १६४३ में प्रकाशित हुई है। प्रेम प्रकाश के द्वितीय भाग में भ्रमरगीत सम्बन्धी १५ कवित्त मिलते हैं।[1] समस्त कवित्त स्वतन्त्र हैं जिनमें मूलतः ज्ञान भक्ति की चर्चा है। ये कवित्त अधिकतर गोपी कथन के रूप में ही लिखे हैं। भक्ति मार्गी कवियों के सदृश ही प्रेम प्रकाश में भी ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को ही महत्व दिया गया है।

देव

महाकवि देवदत्त का उपनाम 'देव' था। इनका जन्म सं० १७३० में[2] कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ था जो इटावा के निवासी थे। देव रीतिकाल के प्रमुख कवियों में से हैं। ये अनेक राजाओं के आश्रय में रहे हैं तथा विभिन्न विषयों पर रचना की है। इनके लिखे हुए अनेक ग्रन्थ हैं। कुछ प्रकाशित तथा कुछ अप्रकाशित हैं। कई विद्वानों ने देव के ग्रन्थों का सम्पादन किया है। इन सम्पादित ग्रन्थों में भ्रमरगीत सम्बन्धी पद भी मिलते हैं। देवसुधा नाम से मिश्र बन्धुओं ने एक संस्करण निकाला है जो गंगा ग्रन्थागार ३६ लाटूश रोड, लखनऊ से प्रकाशित हुआ है। इसका तृतीय संस्करण सं० २००५ का है। देव सुधा में उद्धव-सवाद शीर्षक के अन्तर्गत ६ कवित्त मिलते हैं।[3] हरदयालुसिंह ने देवदर्शन नाम से देव की कविताओं का एक संग्रह निकाला है जो इण्डियन प्रेस, प्रयाग से सन् १६४२ में प्रकाशित हुआ। इसमें भी उक्त विषय सम्बन्धी ६ छंद कवित्त सवैयों में प्राप्त हैं।[4] रामदहिन मिश्र ने साहित्य सुषमा नामक एक संग्रह ग्रन्थ का संपादन किया ह जो ग्रन्थमाला कार्यालय बाँकीपुर से सन १६१८ में प्रकाशित हुआ। इसमें 'देव कवितावली' के अंतर्गत 'गोपियों का सौहार्द' उप-शीर्षक में भ्रमर गीत सम्बन्धी कुछ पद हैं। इनमें से कुछ नवीन हैं तथा कुछ वहीं हैं जो देव दर्शन और देवसुधा में भी मिलते हैं।[5]

---

१ पृ० ४३ ५० पद २०४-२०७, २०६-२१३
पृ० ६३-२३१; ८१-२५३; ८८-२६२, ८६-२६३ २६४, ६१-२६६।

२ देवसुधा — मिश्रबन्धु

३ पृ० ५८-६३- कवित्त २५५-२६१

४ पृ० १३३-३, १३४-५, १३६-२२, १४२-३०, १४४-३४, १४५-३६

५ पृ० २१—सवैवा १, २, ३
पृ० ५२—सवैया ४ कविच ५, ६

आलम

आलम जाति के ब्राह्मण थे किन्तु एक रंगरेजिन के प्रेम में फँसकर वे मुसलमान हो गए और उसी के साथ विवाह कर लिया। शेख भी आलम के समान ही सुन्दर कविता करती थी। आलम तथा शेख की कविताओं का 'आलम केलि' नाम से एक संग्रह भी प्रकाशित हुआ है। आलम का कविता काल संवत् १७४० से १७६० माना जा सकता है।[1] रीतिकाल में होकर भी आलम ने भक्तिभावपूर्ण कविता ही लिखी है। 'आलम केलि' का सम्पादन लाला भगवान दीन ने किया है, जिसके प्रकाशक उमाशंकर मेहता रामघाट, काशी हैं। 'आलम केलि' का सम्पादन संवत् १७५३ की हस्तलिखित प्रति के आधार पर किया गया है। (संवत् १६७६) आलम केलि में 'भँवर-गीत' शीर्षक के अन्तर्गत २३ कवित्त मिलते हैं।[2] इसमें २०१ से २१६ कवित्त भँवरगीत सम्बन्धी हैं। २२० से २२४ तक के ४ कवित्तों में उद्धव के ब्रज से लौटने के पश्चात् गोपी दशा का वर्णन है। २२५, २२६ इन दो कवित्तों में यशोदा के विरह तथा संकेतिक संदेश का वर्णन किया गया है। २२७-२३२ तथा २३७ कवित्तों में गोपियों के विरह का वर्णन है।

महाराज नागरीदास

महाराज नागरीदास का असली नाम सावंतसिंह जी है। ये कृष्णगढ़ के राजा थे। इनका जन्म संवत् १७५६ में हुआ था। पिता महाराज राजसिंह की मृत्यु के पश्चात महाराज सावतसिंह कृष्णगढ़ के उत्तराधिकारी हुए किन्तु राज्य प्राप्ति के लिए उन्हें अपने ही भाई से युद्ध करना पड़ा जिसके कारण ये विरक्त होकर वृन्दावन चले गए जहाँ भक्तों ने इनका बहुत आदर किया। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने इनका कविता काल सवन १७८० से १८१६ तक माना है। नागरीदास की लिखी हुई अनेक पुस्तकें हैं। नागर समुच्चय के अन्तर्गत उनके वैराग्य सागर, शृङ्गार सागर तथा पद सागर का संग्रह है। शृङ्गार सागर का रचना काल सं० १८०० है। नागर समुच्चय

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल २००२—पृ० २८६

—पृ० ८४-६८ कवित्त २०१-२३२।

पृ० १००— कवित्त २३७

ज्ञान सागर प्रेस बम्बई से संवत् १६५५ (सन् १८६८) प्रकाशित हुआ है। इसकी एक प्रति ना० प्र० स० के संग्रह में भी है।

शृंगार सागर में ब्रज लीला ग्रन्थ के पश्चात् गोपी प्रेम प्रकाश ग्रन्थ का वर्णन है। भ्रमरगीत प्रसंग का सम्बन्ध गोपी प्रेम प्रकाश से ही है। यह रचना दोहे से प्रारम्भ होती है। इसमें ५१ पद हैं विषय उद्धव गोपी वार्तालाप तथा उद्धव कृष्ण वार्तालाप से सम्बन्धित है। ५२ से ६१ तक के पद में कवि ने भगवान की प्रार्थना कर गोपी प्रेम प्रकाश सम्पूर्ण कर दिया है।

गोपी प्रेम प्रकाश में उद्धव को ब्रज भेजने के विभिन्न प्रयोजनों का कवि ने उल्लेख किया है।

चाचा हित वृन्दावनदास

वृन्दावनदास का जन्म संवत १७६५ में हुआ था। ये पुष्कर क्षेत्र के निवासी गौड़ ब्राह्मण थे। इन्होंने राधावल्लभी गोस्वामी हितरूप से दीक्षा ली थी। दीक्षा के पूर्व ये महाराज नागरीदास के भाई बहादुरसिंह जी के आश्रम में रहा करते थे। किन्तु राजकुल में विग्रह उत्पन्न होने पर ये कृष्णगढ़ छोड़ कर वृन्दावन चले आये। इनके विषय में यह अनुश्रुति प्रसिद्ध है कि इन्होंने भी सूर के सदृश सवा लाख पदों की रचना की है। जिनमें से २०,००० के लगभग पद प्राप्त हुये हैं। इनकी रचनायें अप्रकाशित हैं किन्तु कुछ पद राग रत्नाकर आदि में संग्रहीत हैं। छत्रपुर राज्य के पुस्तकालय एवं मथुरा में इनकी अनेक रचनायें सुरक्षित हैं। वृन्दावन दास ने भ्रमरगीत नाम की भी एक सुन्दर रचना की है।

घनानन्द

घनानन्द का जन्म सम्वत १७४६ के लगभग हुआ था। ये सम्वत १७९६ में नादिरशाही में मारे गये थे। घनानन्द का काव्य जीवन ऐश्वर्य वैभव के मध्य विकसित हुआ था। जीवन में सुजान नाम की वैश्या पर अनुरक्त होकर अन्त में ये कृष्ण भक्त बन गये किंतु सुजान 'शब्द' को ये न छोड़ सके और परवर्ती रचनाओं में कृष्ण के लिए इसका प्रयोग करते हैं।

घनानन्द ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। इनकी रचनाओं का सम्पादन विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने घन आनन्द नाम से किया

है। यह रचना संवत २००६ में श्री मद्‌भागवत प्रेस मुड़िया काशी मे प्रकाशित हुआ। घनानन्द की रचना में भ्रमरगीत सम्बन्धी कुछ पद मिलते हैं।

रसरूप

शिवसिंह के मतानुसार कवि रसरूप का जन्म सं० १७८८ में हुआ। इनकी लिखी हुई 'उपालम्भ शतक' नामक रचना का उल्लेख खो० रि० १६०६, १०, ११ में मिलता है।[1] उपालम्भ शतक की एक प्रतिलिपि स्टेट लायब्रेरी काला कांकर में सुरक्षित है। यह प्रति संवत् १८८६ की है। प्रतिलिपिकार श्री लाल हनुमन्तसिंह जू हैं। उपालम्भ शतक में कुल ४४० श्लोक है। उपालम्भ शतक का सम्बन्ध भ्रमरगीत से है।

बख्शी हंसराज[2]

बख्शी हंसराज श्रीवास्तव कायस्थ थे। इनका जन्म सं० १७६६ में पन्ना में हुआ था। इनके पूर्वज बख्शी हरकिसुन जी पन्ना राज्य के मंत्री थे। हंसराज जी भी पन्ना राज्य के दरबारियों में थे। ये सखी सम्प्रदाय के मानने वाले थे। इनके चार ग्रन्थ पाये जाते हैं। स्नेह सागर, विरह विलास, राय चन्द्रिका और बारह मासा।

विरह विलास का रचना काल संवत् १८२६ है। यह एक प्रबन्ध काव्य है जो दोहे चौपाइयों में लिखा गया है। रचना १५ अध्यायों में विभक्त है। इसकी कथा अक्रूर के ब्रजागमन से प्रारम्भ होती है। ११ से १४ अध्यायों में भ्रमरगीत प्रसंग का उल्लेख है। इन अध्यायों का विभाजन निम्न प्रकार से किया गया है :—

११ वाँ अध्याय ऊधो ब्रज गमन ११७ छन्द
१२ ,, ,, ऊधो कृत योग उपदेश २२३ छन्द
१३ ,, ,, ऊधो का द्वारिका लौटना ८५ छन्द
१४ ,, ,, ऊधो कथित ब्रज दशा वर्णन १५८ छन्द

१४ वें अध्याय में ८४ से १३८ छन्द तक प्रतिखंडित है। १५ वें अध्याय में कथा महात्म्य ६५ छन्दों में कह कर रचना समाप्त की गई है। सम्पूर्ण रचना में १७६५ छन्द हैं जिनमें भ्रमरगीत प्रसंग के

१—नम्बर २६१ खो० रि० १६०६, १०, ११

२—पृ० ३०७ हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल २००२

६१२ हैं। ६४ छन्द अप्राप्य होने के कारण भ्रमरगीत प्रसंग के ५४८ छन्द मिलते हैं। इस रचना में कृष्ण के स्वयं न जाकर उद्धव को भेजने का कारण भिन्न दिया गया है। कृष्ण सोचते हैं कि यदि मैं ब्रज जाऊँगा तो गोपियाँ पुनः मथुरा न आने देंगी और इधर भुवन भार उतारना भी आवश्यक है। गोपियों तथा राधा को भुलाना भी असम्भव है। अगर उनकी चिन्ता में लगता हूँ तो सुर-काय कैसे होगा। यदि कोई ऐसा व्यक्ति हो जो सब कुछ समझता हो तो उसे ब्रज भेजा जाय। इतने में ही उन्हें उद्धव की याद आती है। यहाँ उद्धव को ब्रज भेजने के मूल में कृष्ण की कर्तव्य भावना कार्य करती दिखाई पड़ती है।

ठाकुर

इस नाम के तीन कवि हो गए हैं। असनी वाले प्राचीन ठाकुर का कुछ वृत नहीं मिलता, फुटकर पद मिलते हैं। साहित्य प्रभाकर के भ्रमरगीत सम्बन्धी एक सवैया मिलता है जिसे सम्पादक महालचन्द वयेद ने असनी वाले ठाकुर कृत माना है।

धिक है कान जो दूसरी बात सुनै अब एक रंग रंग रहौ मिलि डोरो।
दूसरौ नाम कुजात बढ़ै रसना जो कहै तो हलाहल बौरौ॥
ठाकुर यों कहती ब्रज वाल सुह्यां वनिता को सुभाव है भोरो।
ऊधो जू बे अखियाँ जरि जाँय जो सांवरो छाँड़ि तके तन गोरो॥१॥

भिखारीदास

ये प्रतापगढ़ के पास ट्योंगा गाँव के रहने वाले श्रीवास्तव कायस्थ थे इनके पिता का नाम कृपालदास था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार इनका कविता काल संवत् १७८५ से संवत् १८०७ तक माना जा सकता है। दास जी की रस सारांश, छन्दोर्णव पिंगल काव्य निर्णय, शृंगार निर्णय, नाम प्रकाश, विष्णु पुराण भाषा, छन्द प्रकाश, शतरंज शतिका और अमर प्रकाश रचनाओं का पता चला है।

काव्य निर्णय लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से संवत् १६८२ में प्रकाशित हुआ है। इसमें भ्रमरगीत सम्बन्धी दो कवित्त मिलते हैं।[२]

१—पृ० १८३ द्वितीय संस्करण—सं० १९९३।
२—पृ० ३८, १४६।

पद्माकर

ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनका जन्म संवत् १८१० में बांदा में हुआ था। अस्सी वर्ष की दीर्घ आयु पाकर संवत् १८९० में पद्माकर परमधाम को प्राप्त हुए। पद्माकर ने हिम्मत बहादुर-विरदावली, जगद्विनोद, पद्माभरण, प्रबोध पचासा, गंगा लहरी तथा राम रसायन ग्रन्थों की रचना की। पद्माकर के ग्रन्थों का 'पद्माकर पंचामृत' के नाम से विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने सम्पादन किया है जो संवत् १९९२ में प्रकाशित हुआ। इस संस्करण में षट् ऋतु वर्णन के अन्तर्गत दो कवित्त[1] तथा असूया और विषाद के उदाहरण स्वरूप अन्य दो कवित्त मिलते हैं। ये चारों कवित्त भ्रमरगीत के प्रसंग के अन्तर्गत आते हैं।

बेनी प्रवीण

ये लखनऊ के बाजपेयी थे और लखनऊ के बादशाह गाजी उद्दीन हैदर के दीवान राजा दयाकृष्ण कायस्थ के पुत्र नवलकृष्ण उपनाम लल्लन जी के आश्रय में रहते थे। इन्होंने संवत् १८७४ में नवरस तरंग की रचना की थी। नवरस तरंग का सम्पादन संवत् १९२५ में पं० कृष्ण बिहारी मिश्र ने किया था। इसमें भ्रमरगीत सम्बन्धी एक पद[2] मिलता है जो साहित्य प्रभाकर प्रथम भाग में भी संग्रहीत है।

सेवादास पांडे

खोज रिपोर्ट १९३९ के अनुसार सेवादास पांडे कृत करुणा-विरह नामक रचना का पता चलता है। इसका निर्माण काल संवत् १८२४ है। इस रचना की एक प्रतिलिपि श्री पं० महावीरप्रसाद मिश्र हाथीपुर-लखीमपुर खीरी के पास वर्तमान है।

करुणा विरह के आदि में वन्दना के पश्चात् कवि ने अपना परिचय दिया है। जिसके अनुसार ये सौत ग्राम अवध के वासी हैं।

१—पृ० १५८ कवित्त ३८०
पृ० १६० ,, ३८५
पृ० १७७ ,, ४८२
पृ० १८० ,, ४९८

२—पृ० ४१ पद सं० १७८

करुणा-विरह का विषय उद्धव-गोपी प्रसंग से पूर्ण है। इसमें उद्धव ब्रजागमन प्रस्ताव, ब्रजागमन, गोपी-विरह वर्णन, ब्रज-दशा वर्णन, उद्धव द्वारा ब्रज आगमन, हरि का कुरुक्षेत्र गमन तथा ब्रज-वासियों को दर्शन देने आदि का उल्लेख है। ग्रन्थ पठन-पाठन फल वर्णन के साथ रचना समाप्त हो जाती है।

प्रेमदास

प्रेमदास ने प्रेमसागर की रचना संवत् १८२७ में की थी। इसकी एक प्रतिलिपि संवत् १६६० की सभा संग्रह में है। प्रेमसागर १० अध्यायों की एक प्रबन्धात्मक रचना है जिसका सम्बन्ध उद्धव ब्रजागमन प्रसंग से लेकर कुरुक्षेत्र में कृष्ण गोपी मिलन तक की कथा से है। प्रेम सागर के कृष्ण स्वयं ही प्रेम विभोर हैं; वे केवल प्रेम का संदेश ही भेजते हैं। रचना में पत्रों तथा मौखिक संदेशों की प्रधानता है। कृष्ण तथा राधा दोनों निज व्यथा से पूर्ण एक-एक लम्बा पत्र भेजते हैं। निर्गुण सगुण ब्रज-चर्चा को इसमें तनिक महत्व नहीं दिया गया। भ्रमर का भी इसमें दो बार प्रवेश होता है। रचना में विरह व्यंजना की ही प्रधानता है। लगभग ३३० छन्दों में कथा का वर्णन किया गया है।

ब्रजवासीदास

ये वृन्दावन के रहने वाले वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इन्होंने संवत् १८२७ में ब्रजविलास नामक एक प्रबन्ध काव्य की रचना की है। ब्रजविलास दोहे चौपाइयों में रचा गया है। ब्रज-बिलास दो भागों में विभक्त है। पूर्वार्द्ध में श्रीकृष्ण जन्म से लेकर दान लीला तक के प्रसंग का वर्णन है। उत्तरार्द्ध में गोपियों की प्रेम-उन्मत्त अवस्था लीला से उद्धव मथुरा गमन लीला तक का वर्णन है। भ्रमरगीत का सम्बन्ध अन्तिम तीन लीलाओं से है। इन लीलाओं का वर्णन ५१ पृष्ठों में किया गया है।[1]

शिवदास जी

शिवदास जी ने संवत् १८८२ में कृष्णायन नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में कृष्ण-चरित्र का वर्णन दोहा, सोरठा और चौपाई छन्दों में किया गया है। रचना काण्डों में विभाजित है। मथुरा कांड में श्रीकृष्ण के गुरु संदीपनि के यहाँ से लौट कर आने के

१—ब्रजविलास-प्रकाशन श्याम प्रेस हाथरस सं० २००७

पश्चात् ही भ्रमरगीत प्रसंग मिलता है। उद्धव केवल सन्देश के निमित ही ब्रज जाते हैं। उद्धव को यशोदा और गोपियाँ एक ही स्थान पर मिल जाती हैं। जहाँ वे अपना उपदेश प्रारम्भ कर देते हैं। गोपियों के साथ उनका वार्तालाप भी होता है। गोपियाँ कृष्ण को उपालम्भ देती हुई उनके रामावतार की भी चर्चा करती हैं। भ्रमर आगमन का उल्लेख नहीं किया गया है। रचना साधारण कोटि की है।

ठाकुर जैतपुरी

इनका पूरा नाम लाला ठाकुरदास था। ये जाति के कायस्थ थे। इनके पिता का नाम गुलाबराय था। संवत १८२३ में ठाकुर का जन्म हुआ था और परलोकवास संवत् १८८० के लगभग हुआ। इनका कविता काल संवत् १८५० से १८८० तक माना जाता है। इनकी रचनाओं का 'ठाकुर ठसक' नाम से लाला भगवान दीन ने एक सुन्दर संग्रह निकाला है। इसमें 'उद्धव बचन कृष्ण प्रति' शीर्षक के अन्तर्गत एक पद दिया गया है।[1] जिसकी गणना भ्रमरगीत के अन्तर्गत की जा सकती है।

रस रासि (रामनारायण)

रसरासि कृत 'रसिक पचीसी' में उद्धव गोपी संवाद वर्णित है। रचना की एक प्रति सभा संग्रह में है। किन्तु उसमें रचना-काल तथा लिपि-काल अज्ञात है। रचयिता जयपुर नरेश सवाई प्रतापसिंह के आश्रय में रहते थे जिनकी आज्ञा से इन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की थी। इनकी प्रस्तुत रचना का उल्लेख राजस्थान की 'हिन्दी की हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज' (प्रथम भाग पृष्ठ १०६) में भी है। मिश्र बन्धु विनोद के अनुसार इनका कविता काल सं० १८२७ लगभग पड़ता है।

ब्रजनिधि

जयपुराधीश्वर महाराज श्री सवाई प्रतापसिंह जी देव का जन्म सं० १८२१ वि० को हुआ था। आप सूर्यवंशी कछवाहा राजपूत थे। राज-कार्य के साथ ही आप कुशल कवि भी थे। आपके दरबार में अनेक विद्वान् रहते थे। आपने कृष्ण भक्ति पर अनेक ग्रन्थ रचे

१—ठाकुर ठसक—पृ० ४३—साहित्य सेवक कार्यालय, काशी।

हैं। साथ ही अनेक ग्रन्थों को लिखने की प्रेरणा भी दी है। आप कविता में अपना नाम 'ब्रजनिधि' ही लिखते थे। 'ब्रजनिधि' की रचनाओं का संग्रह 'ब्रजनिधि ग्रन्थावली' के नाम से पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने किया है। यह बालाबख्श राजपूत चारण पुस्तकालय-५ के अन्तर्गत काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा सं० १६६० में प्रकाशित हुई है। ब्रजनिधि ग्रन्थावली में 'प्रीति पचीसी' नामक भ्रमरगीत सम्बन्धी एक रचना भी संग्रहीत है।

ग्वाल

ग्वाल कवि मथुरा के रहने वाले बंदीजन सेवाराम के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १८५१ के लगभग हुआ था। इनका कविता काल संवत् १८७६ से संवत् १६१८ तक माना जाता है। ये ब्रज भाषा के अच्छे कवि थे। रीति काल का इनके ऊपर अत्यधिक प्रभाव था। इन्होंने चार रीति ग्रन्थ लिखे हैं 'रसिकानन्द, रस रंग, कृष्ण जू को नख-शिख और दूषण दर्पण।' इनकी अन्य रचनाओं का नाम 'यमुना-लहरी' 'भक्त भावन', 'हम्मीर हठ' और 'गोपी पच्चीसी' आदि हैं। 'गोपी पच्चीसी' का उल्लेख खोज रिपोर्ट १६२३, २४, २५ भाग १ नं० १४६ सी के अन्तर्गत आया है। ग्वाल कवि की रचनाओं का संग्रह ग्वाल रत्नावली नाम से आलोक पुस्तक माला भारतवासी प्रेस दारागंज, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ है। जिसका संपादन कवि किंकर ने किया है। इसमें भ्रमरगीत सम्बन्धी अनेक पद मिलते हैं।

ग्वाल रत्नावली की रचना विभिन्न उपशीर्षकों में विभाजित है। जिसमें 'उद्धव गोपी संवाद'[1] में क्रमशः ६७, ६८, ६६ तीन पद मिलते हैं। 'उपालम्भ'[2] के अन्तर्गत भी कई पद मिलते हैं। 'उद्धव' संदेश'[3] के छन्दों की संख्या ६ है। भ्रमरगीत प्रसंग सम्बन्धी पद, कवित्त छन्द में लिखे गए हैं।

रसनायक

गणेश भट्ट के पुत्र हैं। इन्होंने संवत् १७८२ में दोहा कवित्त में विरह विलास की रचना की। ग्रन्थ पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध, दो

१—पृ० ४२—ग्वाल रत्नावली सन् १६४५।

२—पृ० ५६—छन्द सं० १०४, पृ० ८६ छन्द १७८, पृ० ८८-१६ छन्द १८४-१६० पृ० ६५ छन्द १६७-२०३।

३—पृ० ७६—छन्द १५३-१५८।

भागों में विभक्त है। पूर्वार्द्ध में उद्धव के ब्रज-गमन तथा ज्ञान-संदेश का वर्णन है। उत्तरार्द्ध में गोपियाँ उद्धव से संदेश भेजती हैं जिसमें उनकी विरह व्यंजना ही प्रधान है। यशोदा भी देवकी के पास संदेश भेजती है। कथा का वर्णन १६८ छन्दों में है। अन्तिम पाँच छन्दों में विरह विलास की स्तुति की गई है। यद्यपि विरह विलास की रचना दोहा, कवित्त और सवैया में हुई है किन्तु प्रबन्धात्मकता का अभाव नहीं है, इसमें भ्रमर का प्रयोग नहीं हुआ है गोपियाँ मधुप अलि आदि शब्दों द्वारा उद्धव को सम्बोधित करती हैं। रचना सरस तथा सुन्दर एवं सम्पादन और प्रकाशन योग्य है।

सन्तदास

गोपी स्नेह बारह खड़ी—सन्तदास लिखित रचना है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति सभा संग्रह में है। खोज रिपोर्ट १६२६, ४२८ ए के अनुसार 'गोपी स्नेह बारह खड़ी' नाम की रचना मिलती है जो साधारण पाठ भेद के अनन्तर उपर्युक्त रचना ही ठहरती है। रचना का लिपि-काल संवत् १८७३ दिया गया है। प्रतिलिपिकार ब्रजलाल ब्राह्मण हैं। रचना के प्रत्येक छन्द का प्रारम्भ एक एक व्यंजन से होता है। अन्तिम दो छन्दों में से प्रथम में रचना-श्रवण-महत्व तथा अन्तिम में कृष्ण के भूतल-भार हरण की प्रतिज्ञा है। कथा का प्रारम्भ कृष्ण विरह से व्याकुल गोपियों के परस्पर विचार विमर्श से होता है। चौथे छन्द में उद्धव का प्रवेश हो जाता है और कथा ३६ छन्द तक चलती रहती है।

हरिदास 'बैन'

हरिदास 'बैन' द्वारा रचित 'गोपी स्याम संदेश' रचना सभा संग्रह में उपलब्ध है। इसका रचना काल संवत १८७६ है। प्रति आरम्भ में खंडित है। पहला पत्र अप्राप्य है। अतः रचना १४ वें छन्द से प्राप्त होती है। ७६ वें छन्द पर यह रचना समाप्त हो जाती है। इसके बाद पदावली की रचना अपूर्ण है। कथा का वर्णन उद्धव के नन्द गृह पहुँचने से प्राप्त है। कथा का अन्त उद्धव के मथुरा पहुँचने के बाद होता है। अन्त में कवि ने रचना संवत् तथा अपना बंश परिचय निम्न प्रकार से दिया है।

संवत अठारै सौ उनासिया तिथि तृतीया गुरुवार।
कीर्ति कुस्ना जानि के गोस्वामी बैन किया विस्तार ॥७५॥
स्वामी श्री हरिदास बंस में जानिये गुरु गोस्वामी रामप्रसाद
जिन चरनन की रैनु हरिदास बैन सिरलाद ॥७६॥

कुशलसिंह

कुशलसिंह रचित 'गोपी सागर' का उल्लेख खोज रिपोर्ट सन् १९४७-४९ में[1] है। यह रचना सभा संग्रह में है। रचना खंडित है। इसका लिपि-काल १८८१ है। प्रतिलिपि बड़ी भ्रष्ट और अशुद्ध है।

गंगादत्त

'लीला सागर' की रचना गंगादत्त जी ने की है. यह एक प्रबन्ध काव्य है जिसमें कृष्ण-जीवन की समस्त लीलाओं का वर्णन है। संदीपनि गुरु की गुरु-दक्षिणा देने के पश्चात् श्रीकृष्ण के मथुरा लौटने पर भ्रमरगीत प्रसंग प्रारम्भ होता है। श्रीकृष्ण गोपियों को सान्त्वना देने के लिए उद्धव को ब्रज भेजते हैं। उद्धव गोपियों के प्रेम से प्रथम ही प्रभावित हो जाते हैं और फिर उन्हें ज्ञानमय उपदेश देते हैं जिसे गोपियाँ मान कर प्रसन्न हो जाती हैं। वे कृष्ण लीला का स्मरण कर प्रेम विभोर हो उठती हैं। उद्धव का मथुरा गमन होता है किन्तु वे ब्रज-दशा-वर्णन में मौन हैं यह एक वृहत् ग्रन्थ है जो दोहे चौपाई में लिखा गया है। रचना का लिपि-काल सं० १८८६ है।

श्री रत्नसिंह नटनागर

श्रीमान स्वर्गीय महाराज कुमार श्री रत्नसिंह जी 'नटनागर' सीतामऊ के भूतपूर्व युवराज थे। इनका जन्म संवत १८६५ में हुआ था। इन्होंने 'नटनागर बिनोद' नामक कृष्ण-भक्ति की रचना की है। यह रचना सन १९३५ (सं० १९९१) में इण्डियन प्रेस इलाहाबाद से प्रकाशित हुई है जिसका सम्पादन पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने किया है। रचना नौ उपशीर्षकों में विभक्त है। 'उद्धव गोपी संवाद' के अन्तर्गत लगभग ६३ छन्द प्राप्त हैं। उद्धव गोपी संवाद का नाम पहले 'गोपी पचीसी' था जिसकी रचना संवत् १८९७ में हुई। बाद को यह नटनागर विनोद का अंग बना दिया गया।[2]

---

१ पृ० नं० ३८

२ पृ० ५४ नटनागर विनोद

रघुनाथदास

रघुनाथदास रामसनेही ने विश्राम सागर ग्रन्थ की रचना की है। रचना के विषय सम्बन्ध में लिखा है—जिसमें षट् शास्त्र अठारहों पुराण का मत और श्री त्रिभुवन पति कृष्ण चन्द्रावतार के चरित्र जन्म से निज लोकागमन पर्यन्त और श्री सच्चिदानन्द परब्रह्म रामावतार की कथा बहुत से ग्रन्थों के मत से उत्तम उत्तम छन्दों में वर्णित है। ग्रन्थ का रचना-काल संवत् १६११ है। इसकी लोक-प्रियता इसी से ज्ञात होती है कि इसके पन्द्रह संस्करण निकल चुके हैं। पन्द्रहवाँ संस्करण नवलकिशोर प्रेस से सन् १६०४ में निकला है। इसकी एक प्रति साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के पुस्तकालय में है।

विश्राम सागर एक प्रबन्धात्मक रचना है, जो दोहे चौपाई में लिखी गई है। रचना का विभाजन अध्यायों में हुआ है। भ्रमरगीत का प्रसंग ६वें अध्याय से प्रारम्भ होता है[१]। आरम्भ में एक दोहा दिया गया है—

सुमिरि राम सिय संत गुरु गणपति गिरा सुख दानि।
भंवर गीत हरि मीत मत शुक कृत कहत बखानि॥

सम्पूर्ण नवम् अध्याय गोपी उद्धव संवाद से पूर्ण है। कथा का विस्तार भागवत् के आधार पर हुआ है। अन्त में कृष्ण गोपी विषयक रहस्य का उद्घाटन करते हैं कि गोपियाँ तो उनकी श्वास रूपी वेदों की ऋचायें हैं और वे उनसे क्षण भर भी न्यारी नहीं रहतीं। उनका फिर विरह कैसा। अन्तिम दोहे में प्रेम प्राप्ति का उपाय बता कर यह सर्ग समाप्त हो जाता है।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र (रचना काल सं० १६२५–१६४१)

इनका जन्म काशी के एक सम्पन्न वैश्य कुल में संवत् १६०७ में हुआ था। आप अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे। आपका 'हिन्दी-गद्य-विकास' में महत्वपूर्ण योग है। खड़ी बोली के तो ये जन्मदाता ही माने जाते हैं। भारतेन्दु ने गद्य-क्षेत्र में खड़ी बोली की आवश्यकता तथा महत्त्व का अनुभव किया किन्तु पद्य में वे ब्रज-भाषा को ही गौरव प्रदान करने के पक्ष में थे। अल्प आयु में आपकी मृत्यु संवत् १६४१ में हुई थी। इतने कम समय में ही आपने हिन्दी

---

१ पृ० ३४४ से

संवत अठारै सौ उनासिया तिथि तृतीया गुरुवार।
कीर्ति कृस्ना जानि के गोस्वामी बैन कियो विस्तार ॥७५॥
स्वामी श्री हरिदास बंस में जानिये गुरु गोस्वामी रामप्रसाद
जिन चरनन की रैनु हरिदास बैन सिरलाद ॥७६॥

कुशलसिंह

कुशलसिंह रचित 'गोपी सागर' का उल्लेख खोज रिपोर्ट सन् १९४७-४९ में[1] है। यह रचना सभा संग्रह में है। रचना खंडित है। इसका लिपि-काल १८८१ है। प्रतिलिपि बड़ी भ्रष्ट और अशुद्ध है।

गंगादत्त

'लीला सागर' की रचना गंगादत्त जी ने की है. यह एक प्रबन्ध काव्य है जिसमें कृष्ण-जीवन की समस्त लीलाओं का वर्णन है। संदीपनि गुरु की गुरु-दक्षिणा देने के पश्चात् श्रीकृष्ण के मथुरा लौटने पर भ्रमरगीत प्रसंग प्रारम्भ होता है। श्रीकृष्ण गोपियों को सान्त्वना देने के लिए उद्धव को ब्रज भेजते हैं। उद्धव गोपियों के प्रेम से प्रथम ही प्रभावित हो जाते हैं और फिर उन्हें ज्ञानमय उपदेश देते हैं जिसे गोपियाँ मान कर प्रसन्न हो जाती हैं। वे कृष्ण लीला का स्मरण कर प्रेम विभोर हो उठती हैं। उद्धव का मथुरा गमन होता है किन्तु वे ब्रज-दशा-वर्णन में मौन हैं यह एक बृहत् ग्रन्थ है जो दोहे चौपाई में लिखा गया है। रचना का लिपि-काल सं० १८८६ है।

श्री रत्नसिंह नटनागर

श्रीमान स्वर्गीय महाराज कुमार श्री रत्नसिंह जी 'नटनागर' सीतामऊ के भूतपूर्व युवराज थे। इनका जन्म संवत १८६५ में हुआ था। इन्होंने 'नटनागर विनोद' नामक कृष्ण-भक्ति की रचना की है। यह रचना सन १९३५ (सं० १९९१) में इण्डियन प्रेस इलाहाबाद से प्रकाशित हुई है जिसका सम्पादन पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने किया है। रचना नौ उपशीर्षकों में विभक्त है। 'उद्धव गोपी संवाद' के अन्तर्गत लगभग ६३ छन्द प्राप्त हैं। उद्धव गोपी संवाद का नाम पहले 'गोपी पचीसी' था जिसकी रचना संवत् १८९७ में हुई। बाद को यह नटनागर विनोद का अंग बना दिया गया।[2]

---

१ पृ० नं० ३८

२ पृ० ५४ नटनागर विनोद

रघुनाथदास

रघुनाथदास रामसनेही ने विश्राम सागर ग्रन्थ की रचना की है। रचना के विषय सम्बन्ध में लिखा है—जिसमें षट् शास्त्र अठारहों पुराण का मत और श्री त्रिभुवन पति कृष्ण चन्द्रावतार के चरित्र जन्म से निज लोकागमन पर्यन्त और श्री सच्चिदानन्द परब्रह्म रामावतार की कथा बहुत से ग्रन्थों के मत से उत्तम उत्तम छन्दों में वर्णित है। ग्रन्थ का रचना-काल संवत् १६११ है। इसकी लोक-प्रियता इसी से ज्ञात होती है कि इसके पन्द्रह संस्करण निकल चुके हैं। पन्द्रहवाँ संस्करण नवलकिशोर प्रेस से सन् १६०४ में निकला है। इसकी एक प्रति साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के पुस्तकालय में है।

विश्राम सागर एक प्रबन्धात्मक रचना है, जो दोहे चौपाई में लिखी गई है। रचना का विभाजन अध्यायों में हुआ है। भ्रमरगीत का प्रसंग ६वें अध्याय से प्रारम्भ होता है[१]। आरम्भ में एक दोहा दिया गया है—

सुमिरि राम सिय संत गुरु गणपति गिरा सुख दानि।
भंवर गीत हरि मीत मत शुक कृत कहत बखानि॥

सम्पूर्ण नवम् अध्याय गोपी उद्धव संवाद से पूर्ण है। कथा का विस्तार भागवत् के आधार पर हुआ है। अन्त में कृष्ण गोपी विषयक रहस्य का उद्घाटन करते हैं कि गोपियाँ तो उनकी श्वास रूपी वेदों की ऋचायें हैं और वे उनसे क्षण भर भी न्यारी नहीं रहतीं। उनका फिर विरह कैसा। अन्तिम दोहे में प्रेम प्राप्ति का उपाय बता कर यह सर्ग समाप्त हो जाता है।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र (रचना काल सं० १६२५–१६४१)

इनका जन्म काशी के एक सम्पन्न वैश्य कुल में संवत् १६०७ में हुआ था। आप अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे। आपका 'हिन्दी-गद्य-विकास' में महत्वपूर्ण योग है। खड़ी बोली के तो ये जन्मदाता ही माने जाते हैं। भारतेन्दु ने गद्य-क्षेत्र में खड़ी बोली की आवश्यकता तथा महत्त्व का अनुभव किया किन्तु पद्य में वे ब्रज-भाषा को ही गौरव प्रदान करने के पक्ष में थे। अल्प आयु में आपकी मृत्यु संवत् १६४१ में हुई थी। इतने कम समय में ही आपने हिन्दी

---

१ पृ० ३४४ से

साहित्य को अनेक गद्य तथा पद्य ग्रन्थ रत्न प्रदान किये। आपकी रचनाओं का सम्पादन 'भारतेन्दु ग्रन्थावली' के नाम से ब्रज-रत्नदास ने किया है। यह दो खण्डों में नागरी प्रचारिणी सभा से संवत १९९१ में प्रकाशित हुई है। प्रथम खण्ड का सम्बन्ध गद्य रचनाओं से है। दूसरे खण्ड में उनके समस्त काव्य ग्रन्थों तथा स्फुट कविताओं आदि का संग्रह है। भारतेन्दु कृष्ण भक्त थे। अतः कृष्ण-लीला सम्बन्धी रचनायें भी मिलती हैं। भ्रमरगीत प्रसंग पर भी पद मिलते हैं। ये पद किसी एक रचना में नहीं हैं किन्तु कई रचनाओं में उपलब्ध हैं। प्रेम मालिका,[1] प्रेमाश्रुवर्षण[2], प्रेम माधुरी[3], प्रेम तरंग[4], वर्षा विनोद[5], प्रेम फुलवारी[6] कृष्ण चरित्र[7] और स्फुट[8] कविताओं में इस विषय के लगभग पचास पद उपलब्ध हैं। प्रेम फुलवारी में विरह वर्णन विषयक पद अधिक हैं।

बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'

उपाध्याय पं० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' का जन्म मिर्जापुर के एक ब्राह्मण परिवार में संवत् १९१२ में हुआ था और मृत्यु संवत् १९७९ में हुई थी। प्रेमघन जी का हिन्दी गद्य साहित्य के लेखकों में विशेष स्थान है। गद्यकार के अतिरिक्त आप सुकवि भी हैं। आप की रचनाओं का 'प्रेमघन सर्वस्व' नाम से हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा सम्पादन हुआ है। प्रेमघन सर्वस्व का प्रथम भाग सम्मेलन से संवत् १९९६ में प्रकाशित हुआ है। इसमें 'संगीत काव्य' शीर्षक के अन्तर्गत दो पद[9] मिलते हैं जिनमें गोपियाँ उद्धव से कृष्ण सन्देश के विषय में प्रश्न करती हैं।

---

१ पृ० ६५, पद ६८, पृ० ७६ पद ८७, ८८
२ पृ० ११४ पद १३
३ पृ० १४७ पद ७, पृ० १४९ पद १२-१४, पृ० १६५ पद ८९
४ पृ० १८५ पद ३२, पृ० १९१ पद ६४, पृ० १९५ पद १ लावनी।
५ पृ० ४९० पद ९, पृ० ४९२ पद १८, ४९३-२०, ५१७-८६
६ पृ० पद २७-३१, ३३-३६, ३९-४५, पृ० ५९१—पद ५६, ५७ ५८४-५८७
७ पृ० ६१८ पद ४५-४६
८ पृ० ८२१ पद १४, ८२२ पद २-४, ८४१ पद ४५।
९—पृ० ४५४

सुधाकर द्विवेदी

सुधाकर द्विवेदी का समय संवत् १६१७ से १६६७ है। साहित्य प्रभाकर प्रथम भाग में आप के कुछ पद संग्रहीत हैं। उसी संग्रह में एक पद उद्धव को सम्बोधित कर के लिखा गया है।

पंडित युगलकिशोर मिश्र (ब्रजराज)

साहित्य प्रभाकर प्रथम भाग में पंडित युगलकिशोर मिश्र विरचित एक पद मिलता है जिसमें उद्धव के सन्देश और योग-जाल का वर्णन है।

संतदास (संत रसिक)

खोज रिपोर्ट १६४४-४६[1] में संतदास या संत रसिक नाम के कवि की 'भँवरगीत' रचना का उल्लेख मिलता है। यह १२३२ अनुष्टुम छन्दों में है। पुस्तक में ५७ पत्र हैं। इसका लिपि-काल संवत् १६२३ है। यह प्रतिलिपि श्री नृसिंह नारायण शुक्ल के पास है जो ग्राम मीरजहाँपुर पो० मिडारा, जिला इलाहाबाद के हैं।

रसीले

रसीले ने संवत् १६४५ में ऊधो ब्रजागमन चरित्र नामक एक सुन्दर ग्रन्थ की रचना की। यह एक प्रबन्ध काव्य है जो दोहे सोरठा तथा कवित्त सवैयों में लिखा गया है। इसमें ७५२ पद हैं। रचना सरस तथा व्यंग्यपूर्ण है। ऐसा प्रतीत होता है कि उद्धव-शतक की रचना के पूर्व 'रत्नाकर जी' ने इस ग्रन्थ को अवश्य ही देखा होगा। रचना सभा संग्रहालय में प्राप्त है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

इनका जन्म संवत् १६२२ में हुआ था। हरिऔध ने खड़ी बोली में कविताएँ लिखीं और संस्कृत के छन्दों का भी प्रयोग किया। पौराणिक विषयों पर साहित्यिक भाषा में रचना की तथा बोल चाल की भाषा में अनेक फुटकर विषयों पर भी कविताएँ लिखी हैं। प्रिय प्रवास तथा वैदेही बनवास दो प्रबन्ध काव्य भी आपने लिखे हैं। रस कलश रस सम्बन्धी ग्रन्थ है। प्रिय प्रवास एक महाकाव्य है जिसकी रचना संवत् १६७१ में हुई।

१—खो० रि० १६४४-४६। ४३५

प्रिय प्रवास की कथा कृष्ण के मथुरागमन प्रसंग से ही सम्बन्धित है किन्तु इसमें कृष्ण की समस्त लीलाओं का वर्णन भी कृष्ण लीला स्मृति के रूप में मिलता है। आधुनिक युग की रचना होने के कारण देश काल की परिवर्तित परिस्थिति के अनुसार प्रिय प्रवास के कृष्ण तथा राधा में भी महान् परिवर्तन दिखाई पड़ता है। प्रिय प्रवास में भ्रमरगीत प्रसंग को बुद्धि संगत रूप मिला है और विरह भावना का आदर्शीकरण हुआ है। प्रेम की भावना व्यक्तिगत परिधि से निकल कर समष्टिगत हो गई है। आधुनिक युग का बुद्धिवादी मानव कृष्ण की अलौकिक लीलाओं में विश्वास नहीं करता। अतः आधुनिक कवि कृष्ण को एक महान आदर्श से युक्त महापुरुष के रूप में देखता है। आज राधा कृष्ण के विरह में केवल ठंडी आहें लेने वाली राधा नहीं। वह कृष्ण के आदर्श पथ की देश कल्याण के मार्ग की पथिक है। प्रिय प्रवास की राधा में भी यही परिवर्तन मिलता है। वह भ्रमर के स्थान पर वायु को दूत बना कर भेजती है। साथ ही उसे जन कल्याण का ध्यान रखने का भी आदेश देती है। इस प्रकार प्रिय प्रवास में भ्रमरगीत प्रसंग एक नवीन रूप में हमारे सम्मुख आता है। यह नवम सर्ग से प्रारम्भ हो कर सप्तदश सर्ग में उद्धव के मथुरा लौट जाने पर समाप्त होता है।

राजा राजेश्वरी प्रसाद सिंह प्यारे

भूतपूर्व सूर्यपुराधीश का जन्म संवत् १९२३ को हुआ। आपके पिता का नाम दीवान श्री रामकुमार सिंह जी था। आपकी अपने समय के बड़े-बड़े विद्वान तथा सुकवियों से मित्रता थी। आप शृङ्गार रस के प्रेमी कवि, सौन्दर्योपासक तथा कृष्ण भक्त थे। आपने २५-३० वर्ष की आयु में कुछ रचना की थी जिनका संग्रह राज राजेश्वरी ग्रन्थावली के नाम से सन् १९३७ में साहित्य मन्दिर इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ है। कृष्ण भक्त तथा शृङ्गार रस के प्रेमी होने के कारण आपने उद्धव-गोपी सम्बन्धी भ्रमरगीत के प्रसंग पर भी रचना की है। ये रचना एक समय की नहीं है बल्कि स्फुट पद हैं। अतः इनमें कथा का कोई क्रम नहीं है। एक पद में एकभाव व्यक्त किया गया है। पाती लालसा, कृष्ण व्यंग्य, योगचर्चा आदि विषय पर लगभग १३ सवैया मिलती हैं।[1]

---

१ पृ० ६६—३३, पृ० ५६—८, ९; पृ० ५६—१०, पृ० ६१—३४; पृ० ६२—३५, ३६; पृ० ४१—४०, ४१, ४२।

लाला भगवानदीन 'दीन'

'दीन' जी का जन्म जिला फतेहपुर के बरवट ग्राम में संवत् १६२३ में हुआ था। आप ब्रज भाषा, खड़ी बोली और उर्दू में अच्छी कविता करते थे किन्तु आप ब्रज भाषा के पक्षपाती थे। साहित्य-प्रभाकर-प्रथम भाग में आपका उद्धव गोपी सम्बन्धी एक कवित्त मिलता है।[1] कृष्ण के श्याम वर्ण पर भी व्यंग्य किया गया है।[2] आपकी मृत्यु १६८७ को काशी में हुई।

जगन्नाथ दास रत्नाकर

जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का जन्म संवत् १६२३ में काशी में हुआ था। आप आधुनिक युग में प्राचीनता के पुजारी हैं। ब्रज भाषा तथा पौराणिक विषयों को ही आपने काव्य के लिए चुना है। आपकी समस्त रचनाओं का संग्रह निकल चुका है। पौराणिक विषयों में विशेष रुचि के कारण ही सम्भवतः आपने 'उद्धव शतक' की रचना की है। उद्धव शतक जैसा कि नाम से ज्ञात होता है उद्धव कृष्ण तथा गोपियों से सम्बन्धित रचना है। प्रसिद्ध भ्रमरगीत प्रसंग का इसमें ११७ सुन्दर कवित्तों में वर्णन है। विषय के अनुरूप कवित १० शीर्षकों में विभक्त हैं। 'रत्नाकर' के उद्धव शतक पर 'रसीले' कृत 'ऊधो बृजागमन चरित' का प्रभाव दिखाई पड़ता है। जो उद्धव शतक से पूर्व की रचना है (१६४५) उद्धव शतक का रचना काल संवत १६८६ है। यह रचना उनकी मृत्यु से तीन वर्ष पूर्व की है। आपकी मृत्यु संवत् १६८६ में हरिद्वार में हुई।

प्रागनि

प्रागनि कवि की भंवरगीत नामक रचना की दो प्रतियाँ प्राप्त हैं। एक प्रति साहित्य सम्मेलन के पुस्तकालय में है तथा दूसरी प्रयाग के म्यूनिसिपल म्यूजियम में सुरक्षित है। भंवरगीत संवत् १६२४ की रचना है (यह तिथि तथा कवि का नाम अन्त में दिया गया) यह एक प्रबन्धात्मक रचना है। इसमें ५३ छन्द हैं। म्यूजियम वाली प्रति खंडित है। दोनों प्रतियों में साधारण पाठ भेद मिला है। म्यूजियम वाली प्रति मूल रचना की प्रतिलिपि जान पड़ती है।

---

१ पृ० ५१२

२ पृ० ३६—'देवघाट' सूक्तिसरोवर संग्रहकर्ता लाला भगवानदीन—मिश्र-बन्धु कार्यालय दीक्षितपुरा, जबलपुर सं० १६७६।

पं० मातादीन शुक्ल

पं० मातादीन शुक्ल ने नानार्थ नव संग्रहावली नामक संग्रह ग्रन्थ की रचना की जिसमें रामायण माला, राम गीताष्टक, ज्ञान दोहावली, रस सारिणी, तिथि बोध तथा वृत्त दीपिका रचना का संग्रह है। यह रचना संवत् १९३१ में नवलकिशोर प्रेस में प्रकाशित हुई है। इसमें प्रारम्भ में वियोग शृंगार के अन्तर्गत १०८ पद हैं, जिनमें से ३ पदों का सम्बन्ध उद्धव गोपी संवाद से है।[1]

हरिविलास

विष्णुगीत हरिविलास कृत रचना है जिसमें दशावतार चरित्र सूर सागर की रीति से वर्णित है। यह रचना संवत् १९३३ में कलकत्ते में प्रकाशित हुई जिसका सम्पादन पंडित सुन्दर पाण्डे ने किया है। इसमें अन्य ४ कथाओं के साथ भ्रमरगीत प्रसंग का उल्लेख है। यह वर्णन दोहे से प्रारम्भ होता है।[2] इसमें भ्रमरगीत प्रसंग को पर्याप्त विस्तार प्राप्त है।[3] रचना विभिन्न राग रागनियों में है। दोहे सोरठे भी बीच-बीच में हैं। रचना का प्रारम्भ 'अथ भ्रमर-गीत' से प्रारम्भ होता है और कुब्जा गृह गमन के पूर्व समाप्त हो जाता है।

सत्यनारायण कविरत्न

सत्यनारायण 'कविरत्न' का जन्म संवत् १९४१ में अलीगढ़ जिले के सराय नामक गाँव में हुआ था। कई वर्ष तक ब्रज में रहने के कारण आप श्रीकृष्ण के अनन्य प्रेमी हो गये थे। कविरत्न ने भवभूति के उत्तर रामचरित तथा मालतिमाधव का सुन्दर अनुवाद किया है। अँग्रेजी के भी एक ग्रन्थ का 'देश भक्त होरेशस' के नाम से आपने अनुवाद किया। कविता के क्षेत्र में आप ब्रज भाषा के प्रेमी थे। आपकी रचनायें हृदय तरंग में संग्रहीत हैं। इसी में इनका 'भ्रमर दूत' नामक काव्य भी है[4]। भ्रमर दूत भ्रमरगीत परम्परा की एक कड़ी है जिसमें कवि ने गोपियों के विरह तथा उपालम्भ की

१—पृ० २८ पद ३४, ३५, ३६

२—पृ० १४७

३—पृ० १४७ से १६१

४—भ्रमर दूत पृ० ५१-६० छन्द ४०

अपेक्षा माता यशोदा के विरह को ही स्थान दिया है। इसमें आधुनिक नारी की प्रतीक यशोदा नारी-पतन के कारण दुखी हो रही है और उस दुःख को सुनने के लिए भक्त वत्सल भगवान कृष्ण ही स्वयं भ्रमर बन आ उपस्थित होते हैं। माता यशोदा देश की दीन हीन दशा का संदेश उनसे कहती हैं। इस प्रकार भ्रमरगीत में व्यक्तिगत प्रेम के स्थान पर देश प्रेम और गोपी विरह के स्थान पर यशोदा रूपी भारत माता के दुख, विवशता तथा व्याकुलता को स्थान दिया गया है।

मैथिलीशरण गुप्त

इनका जन्म संवत् १९४३ में चिरगाँव झाँसी में हुआ था। आप आधुनिक युग के प्रतिनिधि कवि हैं। खड़ी बोली में आपकी कई रचनायें निकल चुकी हैं। आपका झुकाव भी पौराणिक विषयों की ओर ही अधिक रहा है। आपने साकेत, यशोधरा, द्वापर, सिद्ध-राज, नहुष आदि लगभग २६ काव्य ग्रन्थ रचे हैं। द्वापर की रचना संवत् १९९३ में हुई है।

द्वापर में कृष्ण चरित्र का वर्णन है। कवि ने इसमें आत्म कथात्मक शैली को अपनाया है। अतः रचना खण्डों में न विभक्त होकर पात्रों के नामानुसार विभाजित हुई है। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही अपनी कथा कहता है। भ्रमरगीत कथा के जिस सूत्र को अभी तक काव्य में ढूँढा गया है, उसका एक सूक्ष्म स्वरूप उसमें भी मिलता है। गोपी उद्धव संवाद का प्रसंग पूर्णतः विस्तृत तथा स्पष्ट है। यह प्रसंग कुब्जा के आत्म-कथन से प्रारम्भ होता है तथा उद्धव और गोपी कथन के पश्चात् समाप्त हो जाता है। आदर्श की प्रतिष्ठा के कारण द्वापर में कुब्जा पर भी कवि की कृपादृष्टि हुई है और उसके अधिक सहृदय मानव रूप का उद्घाटन किया गया है। उद्धव भी यहाँ कोरे उपदेशक ही नहीं वरन कुशल राजनीतिज्ञ बन कर आते हैं। इस प्रकार द्वापर में कथा को अधिक लौकिक रूप देने का मौलिक प्रयत्न किया गया है।

मुकुन्दीलाल

मुकुन्दीलाल मोहन सराय जिला बनारस के रहने वाले हैं। आपकी संवत् १९९० में 'मुकुन्द विलास' नाम की रचना भारत जीवन प्रेस से प्रकाशित हुई है। इसमें कृष्ण जीवन का वर्णन विभिन्न छन्दों में किया गया है। 'वियोग शृङ्गार' के अन्तगत

पं० मातादीन शुक्ल

पं० मातादीन शुक्ल ने नानार्थ नव संग्रहावली नामक संग्रह ग्रन्थ की रचना की जिसमें रामायण माला, राम गीताष्टक, ज्ञान दोहावली, रस सारिणी, तिथि बोध तथा वृत दीपिका रचना का संग्रह है। यह रचना संवत् १९३१ में नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित हुई है। इसमें प्रारम्भ में वियोग शृंगार के अन्तर्गत १०८ पद हैं, जिनमें से ३ पदों का सम्बन्ध उद्धव गोपी संवाद से है।[1]

हरिविलास

विष्णुगीत हरिविलास कृत रचना है जिसमें दशावतार चरित्र सूर सागर की रीति से वर्णित है। यह रचना संवत् १९३३ में कलकत्ते में प्रकाशित हुई जिसका सम्पादन पंडित सुन्दर पाण्डे ने किया है। इसमें अन्य ४ कथाओं के साथ भ्रमरगीत प्रसंग का उल्लेख है। यह वर्णन दोहे से प्रारम्भ होता है।[2] इसमें भ्रमरगीत प्रसंग को पर्याप्त विस्तार प्राप्त है।[3] रचना विभिन्न राग रागनियों में है। दोहे सोरठे भी बीच-बीच में हैं। रचना का प्रारम्भ 'अथ भ्रमर-गीत' से प्रारम्भ होता है और कुब्जा गृह गमन के पूर्व समाप्त हो जाता है।

सत्यनारायण कविरत्न

सत्यनारायण 'कविरत्न' का जन्म संवत् १९४१ में अलीगढ़ जिले के सराय नामक गाँव में हुआ था। कई वर्ष तक ब्रज में रहने के कारण आप श्रीकृष्ण के अनन्य प्रेमी हो गये थे। कविरत्न ने भवभूति के उत्तर रामचरित तथा मालतिमाधव का सुन्दर अनुवाद किया है। अँग्रेजी के भी एक ग्रन्थ का 'देश भक्त होरेशस' के नाम से आपने अनुवाद किया। कविता के क्षेत्र में आप ब्रज भाषा के प्रेमी थे। आपकी रचनायें हृदय तरंग में संग्रहीत हैं। इसी में इनका 'भ्रमर दूत' नामक काव्य भी है[4]। भ्रमर दूत भ्रमरगीत परम्परा की एक कड़ी है जिसमें कवि ने गोपियों के विरह तथा उपालम्भ की

१—पृ० २८ पद ३४, ३५, ३६

२—पृ० १४७

३—पृ० १४७ से १६१

४—भ्रमर दूत पृ० ५१-६० छन्द ४०

अपेक्षा माता यशोदा के विरह को ही स्थान दिया है। इसमें आधुनिक नारी की प्रतीक यशोदा नारी-पतन के कारण दुखी हो रही है और उस दुःख को सुनने के लिए भक्त वत्सल भगवान कृष्ण ही स्वयं भ्रमर बन आ उपस्थित होते हैं। माता यशोदा देश की दीन हीन दशा का संदेश उनसे कहती हैं। इस प्रकार भ्रमरगीत में व्यक्तिगत प्रेम के स्थान पर देश प्रेम और गोपी विरह के स्थान पर यशोदा रूपी भारत माता के दुख, विवशता तथा व्याकुलता को स्थान दिया गया है।

मैथिलीशरण गुप्त

इनका जन्म संवत १९४३ में चिरगांव झांसी में हुआ था। आप आधुनिक युग के प्रतिनिधि कवि हैं। खड़ी बोली में आपकी कई रचनायें निकल चुकी हैं। आपका झुकाव भी पौराणिक विषयों की ओर ही अधिक रहा है। आपने साकेत, यशोधरा, द्वापर, सिद्ध-राज, नहुष आदि लगभग २९ काव्य ग्रन्थ रचे हैं। द्वापर की रचना संवत १९९३ में हुई है।

द्वापर में कृष्ण चरित्र का वर्णन है। कवि ने इसमें आत्म कथात्मक शैली को अपनाया है। अतः रचना सर्गों में न विभक्त होकर पात्रों के नामानुसार विभाजित हुई है। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही अपनी कथा कहता है। भ्रमरगीत कथा के जिस सूत्र को अभी तक काव्य में ढूँढा गया है, उसका एक सूक्ष्म स्वरूप इसमें भी मिलता है। गोपी उद्धव संवाद का प्रसंग पूर्णतः विस्तृत तथा स्पष्ट है। यह प्रसंग कुब्जा के आत्म-कथन से प्रारम्भ होता है तथा उद्धव और गोपी कथन के पश्चात् समाप्त हो जाता है। आदर्श की प्रतिष्ठा के कारण द्वापर में कुब्जा पर भी कवि की कृपादृष्टि हुई है और उसके अधिक सहृदय मानव रूप का उद्घाटन किया गया है। उद्धव भी यहाँ कोरे उपदेशक ही नहीं वरन कुशल राजनीतिज्ञ बन कर आते हैं। इस प्रकार द्वापर में कथा को अधिक लौकिक रूप देने का मौलिक प्रयत्न किया गया है।

मुकुन्दीलाल

मुकुन्दीलाल मोहन सराय जिला बनारस के रहने वाले हैं। आपकी संवत् १९९० में 'मुकुन्द विलास' नाम की रचना भारत जीवन प्रेस से प्रकाशित हुई है। इसमें कृष्ण जीवन का वर्णन विभिन्न छन्दों में किया गया है। 'वियोग श्रृंगार' के अन्तर्गत

लगभग सात सवैया[1] में ज्ञान पाती जोग, उद्धव वार्तालाप आदि प्रसंग का वर्णन है जिनका सम्बन्ध भ्रमरगीत परम्परा से है।

गौरीशंकर चौबे

चौबे जी शाहजहाँपुर के रहने वाले हैं। इनके पिता का नाम दुर्गाप्रसाद है। इनकी चार रचनाएँ मिलती हैं। दानलीला, बाँसुरी-लीला, मान लीला और उद्धव लीला। उद्धव लीला रोला छन्द में लिखी गई है। इसमें ५२० श्लोक हैं। इसका रचना काल संवत् १९६३ है। उद्धव लीला में उद्धव दुखी ब्रजवासियों को सान्त्वना देते हैं। रचना का उल्लेख खोज रिपोर्ट १९१२ में मिलता है।

जगन्नाथ सहाय

जगन्नाथ सहाय टेकारी जिला गया के रहने वाले हैं। आपने कृष्ण सागर नाम की वृहत् ग्रन्थ रचना की है। यह एक प्रबन्ध काव्य है और दोहे चौपाई में लिखा गया है। इसमें राधा-कृष्ण के चरित्र का वर्णन है। रचना पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भागों में विभक्त है, तथा अध्यायों में विभाजित है। ४९ अध्यायों का सम्बन्ध पूर्वार्द्ध से है। उत्तरार्द्ध में ५०-९० अध्याय हैं। ४६-४७ अध्याय में उद्धव ब्रजागमन तथा गोपी उद्धव संवाद का वर्णन है। इस प्रसंग के भ्रमर प्रवेश का भी उल्लेख किया गया है तथा पूर्ववर्ती कवियों के सदृश ही ज्ञान योग आदि प्रसंगों का वर्णन है।

श्री द्विजदेव नारायण शर्मा 'विधु'

'विधु' जी की रचना 'विनोद' संवत् १९८३ में विधु साहित्य मन्दिर गया से प्रकाशित हुई है। विनोद के 'आमोद' अंश में तीन ऐसे पद मिले हैं जिनका स्पष्ट रूप से तो भ्रमरगीत परम्परा से सम्बन्ध नहीं है किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से वे उसी विषय की ओर संकेत करते हैं।[2] इन पदों का सम्बन्ध योग सन्देश तथा कुब्जा व्यंग्य से ही है।

कैप्टेन चन्द्रभानुसिंह 'रज'

दीवान कैप्टेन चन्द्रभानुसिंह जू देव गरौली-बुन्देलखण्ड के चीफ हैं। इनकी 'नेह निकुञ्ज' नामक रचना संवत् १९९० में

---

१ सवैया ११३-१९

२—पृ० १३-१७; पृ० १६-२६; पृ० ?७-३७

अग्रवाल प्रेस, मथुरा से प्रकाशित हुई है। आप की दूसरी रचना प्रेम सतसई है। नेह निकुञ्ज पद-कवित्त, छप्पय, सवैया तथा दोहे आदि छन्दों में लिखी गई है। इसमें कुल १५८ पद हैं। इनमें से लगभग १६ पदों का सम्बन्ध भ्रमरगीत परम्परा से है।[1]

प्रद्युम्न टुगा

प्रद्युम्न टुगा इलाहाबाद के रहने वाले हैं। आपको महात्मा प्रेमानन्द से कृष्ण चरित्र सुनने का अवसर प्राप्त हुआ था और उन्हीं की प्रेरणा से आपने संवत् १९९८ में 'कृष्ण चरित मानस' की रचना की। 'कृष्ण चरित मानस' राम चरित मानस के अनुकरण पर लिखा गया है। यह अवधी भाषा का प्रबन्ध काव्य है जिसकी रचना दोहे चौपाई छन्दों में हुई है। समस्त रचना सात काण्डों में विभाजित है। रचना का आरम्भ कृष्ण जन्म से होता है। युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के पश्चात् कृष्ण वृन्दावन जा कर यशोदा और राधा तथा गोपियों से मिलते हैं और इस मिलन के पश्चात् ही रचना समाप्त हो जाती है। श्रीकृष्ण चरित्र होने के कारण इसमें भ्रमरगीत प्रसंग का भी उल्लेख है। चतुर्थ काण्ड में इसका वर्णन मिलता है।[2] श्रीकृष्ण स्वयं उद्धव के पास जाकर उनसे गोपियों का सन्देश लाने और यदि गोपियाँ दुखी हों तो ज्ञान का उपदेश देने का आदेश देते हैं। कृष्ण चरितमानस के उद्धव प्रारम्भ में ही श्रीकृष्ण से स्वयं ही ब्रज जाकर गोपियों के दुख दूर करने का परामर्श देते हैं किन्तु कृष्ण उन्हीं को समझा बुझा कर भेज देते हैं। पहले उद्धव ब्रज पहुँच कर परिस्थिति के अनुकूल ही सन्देश सुनाते हैं तदन्तर ज्ञान चर्चा भी होती है। यहाँ राधा भी मुखर दिखाई पड़ती हैं। उनमें कर्तव्य की भावना प्रधान हो गई है। उद्धव प्रत्यागमन के पश्चात् का प्रसंग अत्यन्त संक्षिप्त है। उद्धव ब्रज की दशा का संकेत मात्र

१—पृ० १५-१७ पद २६-३४; पृ० २०-२१ पद ४५, ४६
पृ० ३१-३३ पद ६९-७१; पृ० ३५-३६ पद ७४-७५
पृ० ३८-४० पद ८०-८५
पृ० ५९-६०-१४६
पद १४९ (पाती)

२—पृ० १४६-१५३ कृष्ण चरित मानस कार्यालय, बरहना, इलाहाबाद सन् १९४१

करते हैं जिसे सुनकर योगीराज कृष्ण भी क्षण भर के लिए अपना योग भूल कर व्याकुल हो जाते हैं किन्तु शीघ्र ही वे प्राकृत प्रेम पर विजय प्राप्त कर लेते हैं।

कबीन्द्र 'माहोर'

कवीन्द्र 'माहोर' ने अश्रुमाल नामक रचना द्वारा भक्तों की अश्रुमाला भगवान को अर्पित की है। इस प्रकार यह करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गार की रचना है। प्रत्येक युग के भक्तों के आँसुओं का वर्णन है। भक्तों का युग के अनुरूप वर्गीकरण किया गया है। इनके अन्तर्गत अन्य उपशीर्षक हैं। 'द्वापर के भक्त' शीर्षक में गोपियों तथा द्रौपदी के आँसुओं का वर्णन है। 'गोपियों के आँसू' उपशीर्षक में संग्रहीत रचनाओं में १८ पद हैं जिनमें गोपी विरह तथा उद्धव ज्ञान चर्चा का वर्णन है।[1]

डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'

इनका जन्म संवत् १९५५ में मऊ, जिला बाँदा में हुआ। आपके पिता पण्डित कुञ्जबिहारीलाल जी बाँदे में हेडमास्टर थे। डा० रसाल ब्रजभाषा साहित्य के मर्मज्ञ विशेषज्ञ हैं और साथ ही कुशल कवि भी। आप वर्तमान काल के अलंकारवादी कवि हैं। आपके विचार से ब्रजभाषा ही कविता के लिए उपयुक्त भाषा है किन्तु इधर खड़ी बोली में भी आपने कुछ खण्ड काव्य रचे हैं।

आपकी 'उद्धव गोपी संवाद' रचना अभी अपूर्ण तथा अप्रकाशित है। इसके १८ पद आधुनिक ब्रजभाषा काव्य में संग्रहीत हैं।[2] रचना कवित्त सवैयों में लिखी गई है।

द्वारिकाप्रसाद मिश्र

द्वारिकाप्रसाद मिश्र का जन्म संवत् १९५८ में हुआ था। आप मध्य प्रान्त के मन्त्री रह चुके हैं। मिश्र जी ने 'कृष्णायन' नामक एक महाकाव्य की रचना की है। सम्भवतः इसका नामकरण रामायण के अनुकरण पर ही किया गया है। कृष्णायन नौ सौ छः पृष्ठों का वृहत् ग्रन्थ है जो सात काण्डों में विभाजित है। इसकी रचना

१—पृ० २५-३२ नेशनल प्रेस, इलाहाबाद सन् १९४३

२—पृ० १३०-१३५ सं० पं० शुकदेवबिहारी मिश्र, डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' सरस्वती मंदिर, इलाहाबाद २००२

अवधी भाषा तथा दोहे चौपाई और सोरठा छन्दों में हुई है। मथुरा काण्ड में भ्रमरगीत प्रसंग का वर्णन है। किन्तु देश काल के अनुरूप परिस्थिति तथा चरित्र में पर्याप्त अन्तर कर दिया गया है। एक दिन स्वयं कृष्ण बलराम के साथ ब्रज जाने का परामर्श करते हैं। उसी समय उद्धव जी का प्रवेश होता है और नीति कुशल श्रीकृष्ण तत्काल जान लेते हैं कि राज्य पर कोई आपत्ति आई है। अवश्य ही जरासंध ने चढ़ाई की है[1]। भाग्य की इस विडम्बना के कारण कृष्ण कहते हैं कि अब ब्रज का दर्शन दुर्लभ है। इस प्रकार ब्रज न जाने के मूल में परिस्थिति की प्रतिकूलता ही है। नीतिज्ञ कृष्ण मथुरावासियों की रक्षा के लिए स्वयं तो द्वारिकापुरी में जा बसते हैं। उसी समय उन्हें यह ध्यान आता है कि ब्रज से इतनी दूर द्वारिका में जाने से ब्रज-वासी छूट जायेंगे और ब्रजवासी भी यह सुनकर अत्यधिक दुखी होंगे। अतः वे उसी समय उद्धव को ब्रज भेज देते हैं। इस प्रकार कृष्णायन में कृष्ण के लौकिक रूप की उद्‌भावना के कारण कवि ने भ्रमरगीत प्रसंग में भी मौलिक परिवर्तन किया है। यह प्रसंग २१६ पृष्ठ से २२७ पृष्ठों में वर्णित है।[2]

लाला हरदेव प्रसाद कायस्थ–ऊधौ पचीसी

ऊधौ पचीसी २६ छन्दों की लघु रचना है। २६ वां छन्द बारह मासी है। समस्त रचना गोपी विरह व्यंजना से पूर्ण है। इसमें गोपियाँ ही निरंतर व्यथा कहती हैं, उद्धव मौन हैं।

श्याम सुन्दरलाल दीक्षित—श्याम संदेश

श्यामसुन्दर लाल दीक्षित कृत श्याम संदेश भ्रमरगीत प्रसंग के विशेष (कृष्ण चरित्र) के उद्‌घाटन की दृष्टि से लिखा गया है। कवि का विचार है कि गोपियों से बिछुड़ कर कृष्ण के हृदय में व्यथा की जो अथाह पीड़ा थी उसका वर्णन कृष्ण कवियों—विशेष कर भ्रमरगीतकारों ने नहीं किया है। यद्यपि रत्नाकर ने कृष्ण के मनो-भावों का मार्मिक चित्रण किया है किन्तु कवि को इतने से ही सन्तोष नहीं। विकास के लिए असन्तोष अनिवार्य भी है। श्याम संदेश में कवि ने आधुनिक स्वातन्त्र्य भावों का भी समावेश किया है। भ्रमर

---

१ पृ० २०१, विश्वभारती कार्यालय, चारबाग, लखनऊ सं० २००२

२ दोहा १६७ के पश्चात दोहा १८४ तक।

गीत के चिर प्रचलित प्रसंग को नवीन ढंग से प्रस्तुत करने के लिए ही कवि ने स्वतन्त्रता दिवस नामक सर्ग की कल्पना की है।

उपर्युक्त सामग्री के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी सामग्री प्राप्त है जिनके रचना-काल तथा कवियों के विषय में विस्तृत विवेचन उपलब्ध नहीं है। कुछ रचनाओं का विवरण खोज रिपोर्ट में अवश्य मिलता है। अतः प्राप्त सामग्री के आधार पर यहाँ उनका संक्षिप्त वर्णन दिया जा रहा है।

श्री दयालाल

प्रयाग म्युनीसिपल संग्रहालय में प्रेम बतीसी नाम का एक हस्तलिखित संग्रह ग्रंथ देखने को मिला जिसमें श्री दयालाल विरचित 'प्रेम बतीसी' रचना मिली है। प्रेम बतीसी के आरम्भ में इस प्रकार लिखा है। "इति श्रीकृष्णचंद गोस्वामिना कृतसार संग्रह संपूर्ण ॥

अब उद्धव गोपी संवाद प्रेम बतीसी लिष्यते ॥" रचना के अन्त में "इति श्री उद्धव गोपी संवाद प्रेम बतीसी दयालाल कृत सम्पूर्ण ॥ अथ कवितसार संग्रह लिष्यते ॥"

प्रेम बतीसी के लेखक दयालाल हैं। इससे अधिक कुछ पता नहीं चलता। रचना अथवा लिपि-काल का भी उल्लेख कहीं नहीं मिलता। रचना पूर्ण है और उद्धव गोपी प्रसंग से युक्त है। प्रेम बतीसी के उद्धव केवल प्रेम-भक्ति में ही रंग कर कृष्ण के पास नहीं जाते किन्तु वे अब गोपियों का संदेश लेकर जाते हैं। रचना कवित्तों में लिखी गई है किन्तु प्रबन्धात्मकता का पूर्ण निर्वाह मिलता है। एक छोटे से खंड काव्य के रूप में यह हमारे सामने आती है।

तेजसिंह

खोज रिपोर्ट १६४१ में तेजसिंह रचित भ्रमरगीत का उल्लेख है। ब्रज भाषा का यह ग्रन्थ कवित्त सवैया छन्दों में रचा गया है। इसमें गोपी उद्धव संवाद के रूप में गोपी विरह वर्णन मिलता है। रचना अपूर्ण है और महेश प्रसाद मिश्र गांव लिदहावहा, डाकखाना अटरामपुर जिला इलाहाबाद के पास है। उदाहरण स्वरूप आदि मध्य तथा अन्त के पद खो० रि० में दिये गए हैं।

कालीदास

कालीदास कृत भ्रमरगीत का उल्लेख भी खो० रि० १६०६–१०

में मिलता है। खो० रि० के अनुसार यह ग्रन्थ सम्भवतः कालीदास त्रिवेदी का लिखा है जो जलजीतसिंह रघुवंशी, जम्मू के आश्रित थे। इसमें १६३ श्लोक हैं। ग्रन्थ का रचना तथा लिपि काल अज्ञात है। इसकी एक प्रति श्री रघुनन्दन प्रसाद अवस्थी के पास है जो कि सनातन धर्म सभा, कालपी, जिला जालौन के मंत्री हैं।

भ्रमरगीत सम्बन्धी उपलब्ध इन समस्त काव्य ग्रन्थों के अतिरिक्त लोक गीतों में भी इस प्रसंग को प्रचुरता से अपनाया गया है। काव्य का सम्बन्ध हमारे साहित्य तथा शिक्षित समाज से है। उसकी एक लिखित परम्परा है। अतः इनके विषय में हमें निश्चित काल तथा लेखक का पता चल जाता है किन्तु लोकगीतों की कोई लिखित परम्परा नहीं है। वे मौखिक रूप से ही अनिश्चित काल से चले आते हैं। शिक्षा के अभाव में हमारी साधारण जनता के हृदयगत भावों की लोकगीत में अभिव्यक्ति मिलती है। इन लोकगीतों में काव्य सौष्ठव चाहे न हो किन्तु भावनाओं की मर्मस्पर्शिणी शक्ति का अभाव नहीं। ये हमारे प्रतिदिन के जीवन से सम्बन्धित प्रेम विरह आदि भावों की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत करते हैं।

भ्रमरगीत प्रसंग हमारे जीवन में कितना घुल मिल गया है, इसका पता हमें लोकगीतों को देखने से ही लगता है। शताब्दियों से कवियों द्वारा ग्रहीत इस प्रसंग को गीत का रूप देकर व्यक्ति अपने हृदय की प्रेम तथा विरह भावना को व्यंजित करता है। प्रकृति के उन्मत्तकारी वातावरण के मध्य मानव की विरह व्यथा तीव्रतर हो उठती है और वह उसे गीतों के रूप में गा उठता है। भ्रमरगीत प्रसंग को इसी रूप में अपनाया गया है। ये लोकगीत लिखित रूप में भी मिलते हैं। अनेक कवियों ने बारहमासी के रूप में इस प्रसंग को अपनाया है। संवत् १९१८ में इस प्रकार की अनेक बारहमासी लिखी गई। नागरी प्रचारिणी सभा के याज्ञिक संग्रह में इस प्रकार के कई बारहमासी मिलते हैं। बारहमासी लावनी संग्रह का लिपि काल संवत् १९१८-१९२३ है। इसमें बरेली निवासी लालदास की लिखी बारहमासी भी संग्रहीत है। इसमें ऊधो से कृष्ण को समझाने का उल्लेख किया गया है।

सूरदास कृत बारहमासी भी मिलती है। ये सूरदास अष्ट

छापी सूरदास से भिन्न व्यक्ति हैं। इनकी बारहमासी में विरह का वर्णन बारह छन्दों में किया गया है।

जगन्नाथदास कृत बारहमासी में कुब्जा के नाम को भी स्थान मिला है। बैनीमाधव की बारहमासी में सूरदास स्वामी की छाप भी मिलती है। इसमें उद्धव के द्वारा विरह-व्यथा का संदेश भेजा गया है। एक अन्य सूरदास कृत बारहमासी है। इसकी टेक है—

"छाँड चले हर वारी सी उमर में ऊधो रही मन की मन मेरे ॥"

संवत् १९२० की लिखी अन्य बारहमासी है जिसमें लेखक का नाम अज्ञात है। इस बारहमासी के पहले ही छन्द में ऊधो का 'योग' पहन कर आना' वर्णित है।

प्रथम चेत ऋतु आई। कुछ समए को आगि मुदा सा
फूले फूल सुहाए ऊधो जोग पहिरि घर आए ॥ टेक ॥
हौं कैसो जी जो ऊधो ज्ञानी,
जादो नाथ मिलाओ आनी ॥

इन सभी बारहमासियों में कृष्ण तथा उद्धव को सम्बोधित कर विरह का वर्णन किया गया है। सभी बारहमासियों का रचना काल लगभग समान ही है। ये संवत् १९१८ से १९२३ के मध्य की हैं।

पजन कुंवरि

बुन्देलखण्ड वासी पजन कुंवरि की बारहमासी रचना का उल्लेख खोज रिपोर्ट १९०६।८३ में मिलता है। इनकी बारहमासी में ४५ श्लोक हैं। उद्धव कृष्ण का संदेश लेकर गोपियों के पास जाते हैं। रचना में 'मधुप' शब्द द्वारा उद्धव को सम्बोधित किया गया है। इसमें कथा का अंश अधिक है। अन्त में इस प्रकार रचना समाप्त होती है।

"सेस सारदा पार न पावे हरि के चरित यही।
ब्रज बनतन की विरह विपति यह आन कही।
पजन कुवर की विनय जानकर हे ब्रज के वासी
मत अनुसार गाई में प्रभु की या बारामासी ॥"

बारहमासी के अतिरिक्त होली आदि के गीतों में भी भ्रमर-गीत प्रसंग का वर्णन मिलता है। श्रीकृष्ण लीला सम्बन्धी एक

भजन संग्रह में होली सम्बन्धी अनेक भजन हैं जिनका सम्बन्ध कृष्ण की विभिन्न लीलाओं से है 'फाग श्री कृश्न की' के अन्तर्गत उद्धव से गोपियाँ संदेश भेजती हैं। यह दोहे सोरठे में हैं।

"मोहन से जाके कहो ऊधो हमारो हाल।
जब से हर मथुरे गए ब्रज हो गयो बिहाल ॥"

उद्धव के जोग संदेश की चर्चा भी इसमें की गई है। गोपियों की दशा देखकर उद्धव का सब ज्ञान गर्व दूर हो जाता है।

अन्य भजन भी उद्धव को सम्बोधित करके लिखे गए हैं।

"मोहन ऊधौ ब्रज पठवाए"
"ब्रज के पाती स्याम पठाई"
"ऊधौ कहत सुनौ ब्रज बाला
घट घट में व्यापक ब्रह्म तुम्हारे हिय बसे नंद लाला।"
ऊधौ जोग साधना जानै"

आदि सभी फाग के भजनों में उद्धव गोपी प्रसंग का वर्णन मिलता है। इन भजनों में सूर स्याम की छाप है किन्तु ये अष्ट छापी सूरदास की रचना नहीं है।

ललनप्रिया फरुखाबाद निवासी ने ठुमरी प्रेमी पाठकों के लिए ललनसागर की रचना की। इसमें ललनप्रिया ने दो ठुमरी उद्धव गोपी संवाद के प्रसंग पर भी लिखी हैं।[1]

अथ ब्रह्मानन्द भजन माला में भी उद्धव की ज्ञान चर्चा पर एक गजल मिलती है। प्रारम्भ इस प्रकार है—

बिना कृष्ण दर्शन के शान्ती नहीं है।
ऊधो ज्ञान चरचा सुहाती नहीं है ॥
क्या तुम सुनाते हो निर्गुण कहानी।
हमारी समझ बीच आती नहीं है ॥

हिन्दी के इन लोकगीतों के अतिरिक्त आधुनिक काल में विभिन्न बोली के लोकगीतों के भी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। राम इकबाल सिंह राकेश ने मैथिली लोक गीतों का एक संग्रह निकाला

१ ललन सागर—पृ० २२५-६६२, पृ० ४०६-१०६८ नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, द्वितीय संस्करण, सन् १६२७ ई०।

है जो साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से प्रकाशित हुआ है। इस संग्रह में भ्रमर, तिरहुति, वट गमनी आदि के अन्तर्गत भ्रमरगीत प्रसंग के अनेक पद मिलते हैं। इसी प्रसंग पर चार बारहमासी भी मिलते हैं।[1]

रामनरेश त्रिपाठी ने कविता कौमुदी के पांचवें भाग में लोक-गीतों का संग्रह किया है। इसमें उक्त विषय से सम्बन्धित एक बारह मासी मिलती है।[2]

भ्रमरगीत काव्य के अध्ययन और विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि लगभग चारसौ वर्षों से हिन्दी साहित्य में यह परम्परा अविरल रूप से प्रवाहित हो रही है। अनेक प्रबन्ध तथा स्फुट रचनाएँ विषय की लोक प्रियता को प्रकट कर रही हैं। साहित्य में ही नहीं समाज के प्रत्येक स्पन्दन में यह व्याप्त हो रहा है। प्रत्येक अवसर पर प्रिय से वियुक्त नारी अपनी व्यथा में गोपियों की पीड़ा का अनुभव करती है। विरह की यह व्यंजना देश तथा काल की परिधि लांघ कर चिर व्याप्त तथा चिर अनुभव बन गई है। सावन की रिमझिम फुहारों के बीच बसन्त की शीतल सुगन्ध मन्द पवन कोयल की कुहू सुन कर और शरद की शीतल ज्योत्सना से युक्त धवल धरा को देख प्रिय से वियुक्त नारी गा उठती है विरह के गीत जिसमें गोपियों की विरह-व्यथा स्पन्दित हो उठती है। उसका निर्मम नायक मानों कृष्ण की ही प्रतिमूर्ति है जिसके विरह में ऋतुओं का यह मादक वातावरण उसे और भी अधिक पीड़ा दे रहा है। विवश नारी व्याकुल हो गोपियों के सदृश ही अपने निष्ठुर नायक को उपालम्भ देती हैं। उसे लगता है चितचोर कृष्ण ने गोपियों को योग संदेशा भेजा था वैसा ही योग का संदेश उसके प्रिय ने भी तो भेजा है और तब वह खीझ कर अपनी असमर्थता और विवशता प्रकट करती है। इस प्रकार साहित्य से उतर कर भ्रमरगीत काव्य जनता के हृदय

१ झूमर पृ० १६५–३ विरहुति पृ० २२९–६, पृ० २३०–१२।
वटगमनी पृ० २६६–२०, २७०–२१, २०२–२३, २६८–८ (मलार) २६६–६, ३००–१०, ३०१–१२ ३०३, १५, १६,
बारहमासा पृ० ३५६–७६ संख्या ३ से ५; ३६८–१३; ४१०–१७
मैथिली लोकगीत सं० १६६६

२ बारहमासा (३)

प्राण में समा गया है। वह नारी का, लोक का गीत बन गया है। उसमें अब केवल गोपियों की ही विरह व्यंजना नहीं है। वह नारी मात्र के दग्ध हृदय की अनुभूति है।

उपलब्ध सामग्री के आधार पर भ्रमरगीत परम्परा के कवियों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम तो वे जिन्होंने भ्रमरगीत काव्य पर स्वतन्त्र रूप से रचना की है अथवा कृष्ण चरित्र के साथ भ्रमरगीत प्रसंग का भी पर्याप्त वर्णन किया है। द्वितीय श्रेणी में वे कवि रखे जा सकते हैं जिन्होंने इस विषय पर स्वतन्त्र रूप से कोई रचना नहीं की किन्तु विषय के प्रभाव से वे अछूते न रह सके। अन्य विषयों के साथ भ्रमरगीत प्रसंग पर भी उन्होंने कुछ पद रचे हैं। ये पद स्फुट रूप में ही पर्याप्त हैं। इनमें प्रबन्धात्मकता तथा कथा-क्रम का अभाव है। अतः भ्रमर-गीत परम्परा की वास्तविक कड़ी के रूप में प्रथम श्रेणी के ही कवि आते हैं।

हिमालय से निकल कर सागर तल तक पहुँचने में भगवती भागीरथी में स्थान भेद से जिस प्रकार अन्तर हो गया है, उसी प्रकार दीर्घ काल से चली आती इस भ्रमरगीत परम्परा के विषय विवेचन में भी सूक्ष्म अन्तर होता रहा है जो बीसवीं शताब्दी में आकर स्पष्ट हो गया है। समाज की आवश्यकता और देश की परिस्थिति के अनुरूप ही भ्रमरगीत काव्य में बौद्धिक भावनाओं का बराबर विकास हो रहा है जिससे काव्य का मानव पक्ष अधिक सबल स्पष्ट और प्रभावशाली हो सके और वर्तमान काल की जनता उसे बौद्धिक तुला पर तौल कर ग्रहण कर सके।
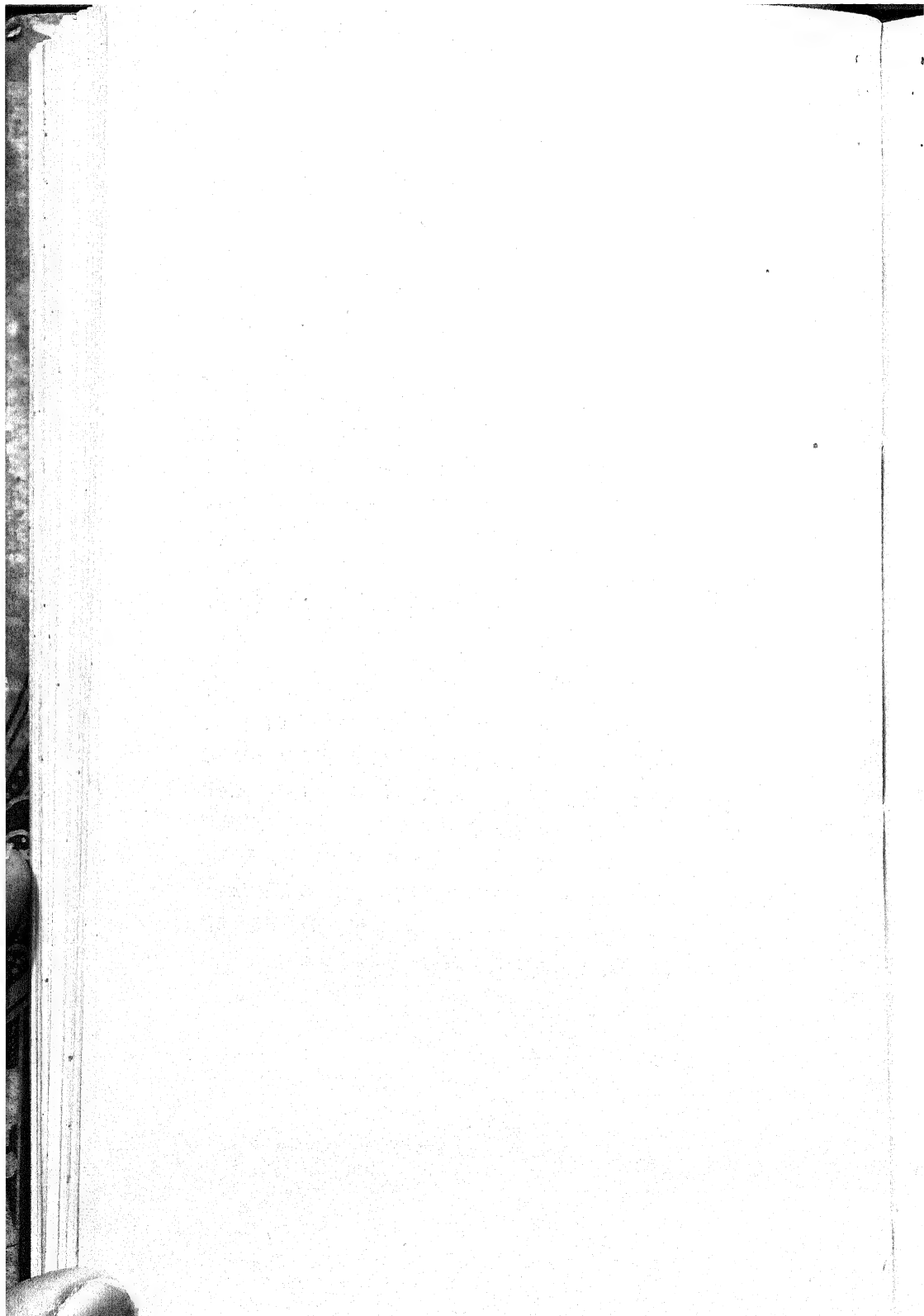
चतुर्थ अध्याय

भ्रमरगीत की धार्मिक एवं दार्शनिक पृष्ठ भूमि

प्रथम खण्ड—भारतीय उपासना पद्धति का विकास एवं ब्रह्म स्वरूप

१—वेदों का बहु देववाद

२—उपनिषद् का ब्रह्मवाद

३—गीता का ब्रह्मस्वरूप

४—दर्शन ग्रन्थों में ब्रह्म का स्वरूप

५—वेदान्त दर्शन

६—शंकर भाष्य

७—वैष्णव आन्दोलन

८—वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास

९—वैष्णव धर्म के अन्तर्गत विभिन्न मत—चार आचार्य
- रामानुजाचाय
- मध्वाचार्य आनन्दतीर्थ
- निम्बार्क
- विष्णुस्वामी—वल्लभाचार्य

१०—वैष्णवधर्म के मूल तत्व

११—शैव-शाक्त मत
- त्रिक तथा त्रिपुरा सिद्धान्त
- शाक्त धर्म

१२—नाथ सम्प्रदाय

१३—बौद्ध तथा जैन मत

१४—सूफी तथा इसलाम मत

द्वितीय खण्ड—कृष्ण काव्य के प्रतीक

भारतीय उपासना पद्धति का विकास

वेदों का बहु देववाद—

भारतीय सांस्कृतिक चेतना का मूल स्रोत वेद हैं। एक प्रकार से वे ही भारतीय ज्ञान के मूल उद्गम स्थान हैं साथ ही उपासना की भावना भी वेदों में मिलती है। वैदिक कालीन ऋषि प्रकृति के शक्तिशाली तत्वों को देख आश्चर्य चकित हो गए। उसकी महत्ता को वे भय, आश्चर्य और श्रद्धा से देखते। इन्हीं संयुक्त भावनाओं के कारण प्रकृति उपासना की प्रवृत्ति जाग्रत हुई। यही कारण है कि वेदों में प्रकृति की देवता रूप में उपासना की गई है। अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि की स्तुति में अनेक मंत्रों की रचना की गई। स्तुति द्वारा वे इनकी अनुकूलता के साथ अपनी कल्याण कामना की अपेक्षा भी रखतेः—

(३) अग्निनो रयिमश्नवत्
पोषमेव दिवेदिवे।
यशस वीर वत्तमम्॥

(६) स नः पितेव सूनवे
ग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तयें॥ ऋ० १। १६

(१३) द्यावा चिदस्मै पृथ्वी न मेते,
शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते।
यः सोमपा निचितो वज्रबाहुर
यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः॥
अयं सु तुभ्यं वरुण स्वधावो
हृदि स्तोम उपश्रितश्चिदस्तु।
शं नः क्षेमे शमु योगे नो अस्तु
यूयं पोत स्वस्तिभिः सदा नः॥

अनेक देवताओं की कल्पना के कारण इसे वेदों का बहुदेववाद भी कहा जा सकता है। किन्तु ये अनेक देवता भी किसी एक

महान शक्ति के ही विभिन्न स्वरूप मात्र माने गए हैं। देवता की भावना के साथ मूर्ति अथवा प्रतीक निर्माण की आवश्यकता उस समय अनुभव नहीं की गई किन्तु पूजा, उपासना तथा गान द्वारा इन शक्तियों को प्रयत्न कर अनुकूल बनाने की भावना वर्तमान थी। अतः वैदिक काल में यज्ञ आदि कर्मकांड का भी महत्वपूर्ण स्थान था।

वैदिक कालीन समाज में सत्यान्वेषण का आग्रह भी पाया जाता है अतः "भारतीय विचारधारा में द्विविध प्रवृत्ति तथा द्विविध लक्ष्य के दर्शन होते हैं। प्रथम प्रवृत्ति प्रतिभा मूलक अथवा प्रज्ञा-मूलक है जो प्रतिमा चक्षु के द्वारा तत्वों के विवेचन में कृतकार्य होती है। दूसरी प्रवृत्ति तर्क मूलक है जो तत्वों की समीक्षा के लिए तक या तार्किक बुद्धि के योग को नितान्त समर्थ मानती है। लक्ष्य भी दो प्रकार के हैं—धर्म का उपार्जन तथा ब्रह्म का साक्षात्कार।"[१]

उपनिषद् का ब्रह्मवादः—

भारतीय दार्शनिक विचारधारा का विकास वैदिक कालीन उक्त प्रवृत्ति पर ही आश्रित है। उपनिषद् के तत्व ज्ञान में उभय प्रवृत्तियों का सम्मिलन दिखाई पड़ता है। उपनिषद् वेदों के अन्तिम भाग हैं। इनमें आध्यात्मिक रहस्य की विवेचना की गई है। उप-निषद् अद्वैतवाद के पोषक हैं। इनके अनुसार आत्मा ही सर्वश्रेष्ठ है, वही इस भौतिक शरीर तथा कार्यव्यापार का स्वामी है। आत्मा चैतन्य स्वरूप है। शारीरिक दुःख सुख की भावना उसे स्पर्श तक नहीं करती। शुद्ध आत्मा 'तुरीय' और ओंकार अक्षर इसी आत्मा का द्योतक है। आत्मा और ब्रह्म की विवेचना में बृहदारण्यक उपनिषद् में "अहं ब्रह्मास्मि"[२] छान्दोग्य में 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं'[३] 'तत्वमसि'[४] 'सर्व खल्विदं ब्रह्म'[५] आदि वाक्य कहे गए हैं। 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति'[६] 'शिवमद्वैतं चतुर्थम्' आदि वाक्यों द्वारा मुण्डक और माण्डूक्य उपनिषद् भी इसी बात की पुष्टि करते हैं। इस प्रकार आत्म स्वरूप का ज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है। आत्मा के साक्षात्कार से ब्रह्म का

१ पृ० सं० ३२-३३ भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय
२ I iv, 10 — ३ vi, viii, 7
४ V. viii, 7 — ५ III, xiv, 1
६ III ii, 1

साक्षात्कार सम्भव है आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं। यह अद्वैत भावना ही उपनिषद् की मूल विचारधारा है।

उपनिषदों में ब्रह्म के सगुण तथा निर्गुण स्वरूपों का वर्णन मिलता है। सगुण स्वरूप को सविशेष., सोपाधि अथवा 'अपर ब्रह्म' कहा गया है। निर्गुण के लिए निर्विशेष, निरुपाधि अथवा 'परब्रह्म' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। वास्तव में ये शब्द एक ही ब्रह्मतत्व के द्योतक हैं। सविशेष ब्रह्म को, गुण चिह्न, लक्षण तथा विशेषणों द्वारा हृदयंगम किया जा सकता है किन्तु निर्विशेष ब्रह्म की व्याख्या गुण, लक्षण आदि के अभाव में नकारात्मक रूप में ही की जा सकती है। कालान्तर में दर्शन शास्त्र के आचार्यों ने ब्रह्म के किसी एक स्वरूप को ही प्रधानता देकर अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

गीता का ब्रह्मस्वरूप—

गीता में ज्ञान, कर्म और भक्ति का उपदेश दिया गया है। आत्मा की अनित्यता बताते हुए श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२॥२०॥

आत्मा अमर है भौतिक पदार्थ उसका कुछ भी बना बिगाड़ नहीं सकते—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२॥२३॥

इस अनादि और अनित्य आत्मा के स्वरूप को जानकर ही ब्रह्म स्वरूप जाना जा सकता है। ब्रह्म ने ही समस्त जगत् को बनाया है। उसी सर्वव्यापक परमात्मा से यह जगत् प्रकाशित है, इस प्रकार समस्त चराचर जगत् ब्रह्म की अव्यक्त मूर्ति में ही स्थित है। किन्तु ब्रह्म निर्विकार और निःसंग होने के कारण जगत् का पालक होते हुए भी उसमें स्थिर नहीं है। प्रलय में समस्त सृष्टि ब्रह्म की अपार माया में लीन हो जाती है। परमेश्वर सृष्टि रचना तथा विनाश कार्य को तटस्थ रूप से करता है। समस्त देवताओं द्वारा की गई

पूजा उपासना को अन्त में वासुदेव ही ग्रहण करते हैं और उन वासुदेव को न जानने से सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान को नहीं जाना जा सकता।

इस प्रकार गीता में ब्रह्म के सगुण तथा निर्गुण दोनों ही स्वरूपों का वर्णन मिलता है। ब्रह्म की प्राप्ति ज्ञान, भक्ति तथा योग आदि कर्म द्वारा ही सम्भव है। यह ब्रह्म ही 'पुरुषोत्तम' है जो संसार की सृष्टि और विनाश करता हुआ भी उससे परे है।

दर्शनों में ब्रह्म का स्वरूप—

भारतीय षड् दर्शनों में जीव, जगत् तथा ब्रह्म की विवेचना विभिन्न दृष्टिकोणों से की गई है। जीव को प्रायः सभी आचार्यों ने अनादि माना है। जगत् की सृष्टि के विषय में मतभेद है। न्याय दर्शनकार ईश्वर को निमित्त कारण मानता है। वह परमाणुओं से सृष्टि की रचना किया करता है। इस प्रकार परमाणुओं पर आश्रित रहने से ईश्वर की सर्वज्ञता पर गहरा आघात पहुँचाता है। वैशेषिक दर्शन में ईश्वर की सत्ता ही विवाद का विषय है। सांख्य दर्शन प्रकृति और पुरुष की सत्ता स्वीकार कर द्वैत मत का प्रतिपादन करता है किन्तु ईश्वर की सत्ता इसमें अस्वीकार की गई है। सृष्टि रचना पुरुष और प्रकृति के संयोग पर ही निर्भर है। योग दर्शन में ईश्वर को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वह ही गुरुओं का गुरु है तथा तारक ज्ञान का दाता[1] इसकी प्राप्ति भक्ति तथा यौगिक क्रियाओं द्वारा सम्भव है। मीमांसा दर्शनकार का मुख्य उद्देश्य धर्म की व्याख्या करना है। मीमांसा में वैदिक अनुष्ठानों का ही विशद वर्णन है। इसमें ईश्वर की सत्ता संदिग्ध है। पूर्व आचार्यों ने कर्मफल दाता यज्ञ को ही माना है परन्तु उत्तरकालीन आचार्यों ने ईश्वर को यज्ञपति के रूप में ग्रहण कर लिया है। प्रायः समस्त दर्शन शास्त्र के आचार्यों ने दुःखाभाव की स्थिति को ही मोक्ष माना है।

वेदान्त दर्शन—भारतीय दर्शन में वेदान्त ही सर्वश्रेष्ठ दर्शन माना जाता है। दार्शनिक विचारधारा इसमें चरम सीमा पर पहुँच गई है। वेदान्त ब्रह्म मीमांसा का ग्रन्थ है। बादरायण व्यास ने ब्रह्म सूत्रों की रचना की है। उनके जीव, जगत् तथा ब्रह्म सम्बन्धी

१—पृ० सं० ३६८ भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय।

विचार क्या थे यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। वेदान्त दर्शन के समस्त आचार्यों ने ब्रह्म-सूत्रों की, अपनी रुचि तथा मति अनुकूल व्याख्या की है। ब्रह्म सूत्रों पर सबसे अधिक भाष्य लिखे गए हैं। सम्भवतः ब्रह्म सूत्र के अनुसार ब्रह्म ही सृष्टि का उपादान तथा निमित्त कारण है। जीव चैतन्य स्वरूप तथा ज्ञानमय है। ब्रह्म तथा जीव में अभेद भाव है। दोनों ही एक हैं।

शंकर भाष्य—बादरायण के ब्रह्म सूत्रों की व्याख्या कर शंकराचार्य ने निर्विशेषाद्वैत की स्थापना की। शंकराचार्य के अनुसार उपनिषदों में निर्गुण ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया गया है, सगुण का नहीं। ब्रह्म सत् चित् और आनन्द स्वरूप है। उनके विचार से सगुण ब्रह्म तो जगत् के समान माया विशिष्ट होने से मायिक सत्ता को धारण करता है। ब्रह्म सत्य तथा ज्ञान स्वरूप है। शंकराचार्य के विचार से ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेदों से रहित है। जगत् की उत्पत्ति के विषय में शंकराचार्य ने माया अविद्या को माना है[1]। माया भगवान् की अव्यक्त शक्ति है जिसके आदि का पता नहीं वह गुणत्रय से मुक्त अविद्या रूपिणी है। वही जगत् को उत्पन्न करती है।[2] ब्रह्म से अलग जगत् सत्य नहीं हो सकता, वह मिथ्या है। रज्जु में सर्प की भ्रम भावना के सदृश ही इस जगत् की सत्ता है।

जीव चेतन तथा सत् है। वह ब्रह्म का अंश है। अविद्या के संसर्ग से जीव अपने शुद्ध ज्ञान स्वरूप को भूल कर संसार में भटकता रहता है। जब उसे आत्मा और ब्रह्म की अभिन्नता का ज्ञान हो जाता है तभी वह मुक्त हो जाता है अतः निष्काम कर्म ही जीव को जीवन मुक्त करा सकने में समर्थ है।

वैष्णव आन्दोलन

शंकर का अद्वैतवाद ज्ञान प्रधान तथा मननशील था। शंकर का यह अद्वैतवाद बौद्ध दर्शन के विरोध में खड़ा हुआ था किन्तु आगे चलकर इसके विरोध में भी वैष्णव आचार्यों ने वैष्णव दर्शन की स्थापना की। शंकराचार्य ने जिस अद्वैतवाद की स्थापना की थी वह सिद्धान्त के विचार से अत्यन्त उच्च श्रेणी का था किन्तु व्यवहारिक दृष्टिकोण से यह सर्वथा अनुपयुक्त था। शंकराचार्य के मायावाद तथा विवर्तवाद

१—पृ० सं० ४२०-४२२ २—पृ० सं० ४२४।

के विरोध में जो धार्मिक आन्दोलन उठा उसका मूल उद्देश्य भक्तिमार्ग को पुनः स्थापित करना ही था।

वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास

वैष्णव आन्दोलन भी बौद्ध तथा जैन सुधार आन्दोलनों के समान ही वैदिक कालीन ब्राह्मण ग्रन्थों के हिंसात्मक यज्ञ परक कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रारम्भ हुआ था। इसका उदय लगभग ६०० ई० पू० उत्तर भारत में हुआ था। लगभग २०० ई० तक इसका विकास होता रहा और इसमें विष्णु सम्बन्धी अन्य शाखायें आकर मिलती रहीं। इस प्रकार वैष्णव धर्म में वासुदेव सम्प्रदाय हरि अथवा नारायणी धर्म, विष्णु धर्म तथा गोपाल कृष्ण को इष्टदेव मानकर पूजने वाली चारों विभिन्न धारायें मिलकर एक हो गईं। इन्हीं सम्मिलित धाराओं से एक नवीन वैष्णव धर्म की स्थापना हुई जिसमें कृष्ण का दोहरा व्यक्तित्व प्रकट हुआ। एक ओर तो वे वसुदेव पुत्र हैं और दूसरी ओर गोपाल कृष्ण। कृष्ण ही विष्णु के अवतार मान लिए गए। ये सम्मिलित धारायें ही भागवत धर्म अथवा भागवत सम्प्रदाय कहलाईं।

कालान्तर में वैष्णव धर्म का विकास अवरुद्ध हो गया किन्तु १०० ई० से १२०० ई० तक दक्षिण भारत में यह धारा विकसित तथा परिवर्धित होती रही। दक्षिण में वैष्णव धर्म का विकास तमिल के सन्तों द्वारा सातवीं से नवीं शताब्दी में किया गया। किन्तु भाषा की कठिनता के कारण यह विशेष सफल न हो सका। दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म का प्रचार प्रसिद्ध आचार्यों द्वारा भी किया गया। इन आचार्यों ने बौद्ध धर्म को समूल नष्ट करने में प्रयत्नशील शंकराचार्य (शैव) के अद्वैतवाद और मायावाद के विरोध में वैष्णव धर्म तथा दर्शन की स्थापना की। इन्होंने मायावाद के स्थान पर अपने दर्शनों को रखा और शिव के स्थान पर वैष्णव पूजा का आयोजन किया। इन आचार्यों ने अपने सम्प्रदाय तथा मतों की स्थापना कर वैष्णव धर्म का प्रचार तथा प्रसार किया।

वैष्णव धर्म के अन्तर्गत विभिन्न मत—चार आचार्य—

वैष्णव धर्म के अन्तर्गत चार प्रमुख आचार्य हुए। ये सभी संस्कृत के विद्वान् थे। इन्होंने बादरायण के ब्रह्म सूत्रों की व्याख्या कर अपने मतों की स्थापना की।

रामानुजाचार्य—ने ब्रह्म-सूत्र पर श्री भाष्य लिखा जिसके अन्तर्गत विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया। इनका सम्प्रदाय श्री सम्प्रदाय है जिसमें नारायण इष्टदेव स्वरूप माने गए हैं। विशिष्टाद्वैत के अनुसार पदार्थ तीन हैं। चित (जीव), अचित् (जगत्) तथा ईश्वर सर्वान्तर्यामी। जीव तथा जगत् नित्य तथा स्वतंत्र हैं किन्तु वे ईश्वर के अधीन हैं। जीव तथा ब्रह्म में अंशांशी भाव है। अन्तर्यामी ईश्वर सदैव ही इनके अन्दर विराजमान रहता है[1]। रामानुजाचार्य के अनुसार ब्रह्म सगुण ही है। निर्गुण ब्रह्म की कल्पना संसार में असम्भव है। अवतारों को उन्होंने ब्रह्मरूप माना है। उनके विचार से भक्तों पर करुणा करने के लिए भक्तवत्सल परब्रह्म पर व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चावतार के रूप में अवतार लेता है। रामानुजाचार्य ने राम को अपना इष्टदेव माना है यद्यपि कृष्ण को भी वे समान महत्त्व की दृष्टि से देखते हैं। यह सम्प्रदाय भक्ति प्रधान है जो अपनी उपासना तथा भक्ति से परब्रह्म को प्रसन्न करता है।

मध्वाचार्य-आनन्दतीर्थ—मध्वाचार्य ने माध्व मत अथवा ब्रह्म सम्प्रदाय की स्थापना की। इन्होंने विष्णु को अपना इष्टदेव[2] माना और दार्शनिक सिद्धान्त को द्वैतवाद की संज्ञा दी[3]। इन्होंने जीव और परमात्मा को अनादि और भिन्न माना है। मध्वाचार्य के विचार से परमात्मा विष्णु जगत् का नियन्ता, सृष्टि रक्षक, स्वतंत्र, निर्दोष, सद्गुण स्वरूप है। जीव परमात्मा का दास है जिसे परमात्मा कर्मानुसार दण्ड भी देता है। परमात्मा गुणातीत है किन्तु माया के संयोग होने पर सत्व, रज, तम यह तीन गुण ब्रह्मा, विष्णु और शिव रूप में आविर्भूत होते हैं। जो सृष्टि के सृजन, पोषण तथा प्रलय के कारण बनते हैं[4]। लक्ष्मी नारायण की नाना रूप धारिणी भार्या है। भगवान् के सदृश ही यह भी अप्राकृत दिव्य शरीर सम्पन्न तथा अक्षरा है। ब्रह्म, रुद्र आदि देवता 'क्षर' हैं। लक्ष्मी गुण में परमात्मा से न्यून है। परमात्मा के इन गुणोत्कर्ष का ज्ञान होने से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। आवागमन से मुक्ति पाने के लिए परमात्मा की भक्ति तथा प्रेम अत्यन्त आवश्यक है।

१—पृ० ४६७ भारतीय दर्शन।
२—सूर सागर पद ४६६५।
३—सूरसागर पद ४६६६।
४—प्रेम दीपिका।

निम्बार्क—निम्बार्क सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धान्त भेदाभेद अथवा द्वैताद्वैत है। निम्बार्क ने राधाकृष्ण की युगल मूर्ति को इष्टदेव के रूप में ग्रहण किया है। निम्बार्काचार्य के अनुसार जीव ब्रह्म से भिन्न-भी है और अभिन्न भी। यह अन्तर अवस्था भेद से होता है। संसार में अनेक रूपधारी जीव ब्रह्म से भिन्न हैं किन्तु वही जीव मुक्त होकर चैतन्यस्वरूप हो अभिन्नत्व को प्राप्त होता है। निम्बार्काचार्य के अनुसार जीव चैतन्यात्मक ज्ञानाश्रय रूप से ईश्वर के सदृश होकर भी उससे न्यून है। ईश्वर उसका नियन्ता है वह ईश्वर के अधीन है। मुक्ति प्राप्ति के पश्चात् भी वह ईश्वर के अधीन रहता है। निम्बार्क ने ब्रह्म की सगुण रूप में कल्पना की है। परब्रह्म नारायण, भगवान्, कृष्ण, पुरुषोत्तम, परमात्मा के ही पर्याय हैं। मुक्ति के विषय में इनका मत है कि मुक्तावस्था प्राप्त होने पर भी जीव अपने अस्तित्व को खोता नहीं है। भगवान् के अनुग्रह से जीव भक्ति में लगता है। भक्ति ही समस्त क्लेशों से छुटकारा दिलाने का एकमात्र साधन है।

विष्णुस्वामी—विष्णु स्वामी ने रुद्र सम्प्रदाय की स्थापना कर शुद्धाद्वैतवाद का प्रतिपादन किया। इन्होंने कृष्ण को इष्टदेव के रूप में रखा। रुद्र सम्प्रदाय प्रचार एवं विकास में वल्लभाचार्य ने बहुत योग दिया। वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैत का ही नाम पुष्टिमार्ग अथवा वल्लभ सम्प्रदाय पड़ा। ब्रह्मवाद अथवा अविकृत परिणाम वाद भी इसी का ही नाम है। शुद्धाद्वैत के अन्तर्गत ब्रह्म की शुद्धता की भावना निहित है। ब्रह्म माया से शुद्ध है। माया तथा उसके अज्ञान का उस पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। पुष्टिमार्ग के अन्दर भगवान की पुष्टि अथवा अनुग्रह की भावना निहित है। ब्रह्म के अनुग्रह से ही यह संसार सागर पार किया जा सकता है। अन्य नामों के पीछे भी इसी प्रकार की कल्पना निहित है। वल्लभाचार्य ने ब्रह्म सूत्रों पर अणुभाष्य की रचना की है। अणुभाष्य तथा तत्वदीप निबंध आदि रचनाओं से इनके दार्शनिक विचारों का पता चलता है। वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म सगुण तथा निर्गुण दोनों ही हैं। उनकी ब्रह्म भावना ब्रह्म के समस्त प्रचलित गुणों से युक्त है। वह सर्वज्ञ, स्वतंत्र तथा मायाधीश है। समस्त सृष्टि की उत्पत्ति तथा विनाश उसकी इच्छा पर निर्भर है। वह सगुण निर्गुण की

भावना से मुक्त तथा युक्त दोनों ही है। वह सर्वशक्तिमान पुरुषोत्तम है। भगवान् कृष्ण ही परब्रह्म और रसरूप हैं। वल्लभाचार्य के अनुसार परब्रह्म ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव के रूप में प्रकट होता है। चौबीस अवतारों में भी वही है उसके परिस्थितिजन्य इन विभिन्न स्वरूपों को ही 'अक्षर ब्रह्म' की संज्ञा दी गई है। अक्षर ब्रह्म ही सृष्टि की रचना, पालन तथा विनाश करता है। वल्लभाचार्य के अनुसार योगी ब्रह्म के एक तीसरे स्वरूप अन्तर्यामी रूप का ध्यान तथा साक्षात्कार समाधि द्वारा करते हैं।

कृष्ण परब्रह्म तथा रस रूप हैं। वे धर्म-रक्षक-उपदेशक तथा भक्तवत्सल हैं। बसुदेव पुत्र तथा यशोदानंदन के रूप में उनके दोनों स्वरूपों का दर्शन होता है। वल्लभाचार्य ने कृष्ण के रस रूप को ही अपनाया है। इन्हीं के लिए वल्लभाचार्य ने हरि शब्द का भी प्रयोग किया है। यह हरि पूर्ण पुरुषोत्तम, मायाधीश तथा मायातीत है जो अपनी समस्त आनन्द प्रसारिणी शक्तियों के साथ अवतार लेता है। वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म विरुद्ध धर्मों का आगार है। अज्ञेय अगोचर ब्रह्म भक्त को ज्ञेय तथा गोचर हो जाता है। आविर्भाव तथा तिरोभाव से वह जीव तथा जगत् की सृष्टि करता है।

जीव—परब्रह्म के आनन्द अंश के तिरोभाव से जीव की सृष्टि हुई है। इस प्रकार जीव ब्रह्म का ही अंश है। आनन्द के अभाव में वह दुखी रहता है। अनादि ब्रह्म का अंश होने से जीव भी अनादि तथा नित्य है किन्तु आनन्द के अभाव से वह सीमित शक्ति वाला है। उसमें ब्रह्म के गुणों का अभाव हो जाता है। नित्य जीव अनित्य देह के संयोग से संसार में भटकता रहता है। इस भवजाल से छूटने के तीन मार्ग हैं। योगसिद्धि, दिव्य ज्ञान तथा भगवत अनुग्रह अथवा पुष्टि। पुष्टि मार्ग सबसे श्रेष्ठ तथा सरल है।

वल्लभाचार्य जीव की स्वतंत्र सत्ता मानते हैं जबकि शंकराचार्य ब्रह्म के अतिरिक्त सब कुछ मायाजनित ही बताते हैं। वल्लभाचार्य के अनुसार जीव परब्रह्म का ही ज्योतिर्मान अंश है जोकि ब्रह्म के अल्प गुणों[1] से युक्त है। जीव के अनेक प्रकार हैं। आनन्द अंश के तिरोभाव के पूर्व वह शुद्ध रूप में रहता है। अविद्या के संयोग से जीव संसारी बन जाता है। संसारी जीव दैवी तथा आसुरी दो प्रकार के होते हैं। दैवी जीव मुक्ति प्राप्त कर सकता है

१—छः गुण=ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य।

निम्बार्क—निम्बार्क सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धान्त भेदाभेद अथवा द्वैताद्वैत है। निम्बार्क ने राधाकृष्ण की युगल मूर्ति को इष्टदेव के रूप में ग्रहण किया है। निम्बार्काचार्य के अनुसार जीव ब्रह्म से भिन्न-भी है और अभिन्न भी। यह अन्तर अवस्था भेद से होता है। संसार में अनेक रूपधारी जीव ब्रह्म से भिन्न हैं किन्तु वही जीव मुक्त होकर चैतन्यस्वरूप हो अभिन्नत्व को प्राप्त होता है। निम्बार्काचार्य के अनुसार जीव चैतन्यात्मक ज्ञानाश्रय रूप से ईश्वर के सदृश होकर भी उससे न्यून है। ईश्वर उसका नियन्ता है वह ईश्वर के अधीन है। मुक्ति प्राप्ति के पश्चात् भी वह ईश्वर के अधीन रहता है। निम्बार्क ने ब्रह्म की सगुण रूप में कल्पना की है। परब्रह्म नारायण, भगवान्, कृष्ण, पुरुषोत्तम, परमात्मा के ही पर्याय हैं। मुक्ति के विषय में इनका मत है कि मुक्तावस्था प्राप्त होने पर भी जीव अपने अस्तित्व को खोता नहीं है। भगवान् के अनुग्रह से जीव भक्ति में लगता है। भक्ति ही समस्त क्लेशों से छुटकारा दिलाने का एकमात्र साधन है।

विष्णुस्वामी—विष्णु स्वामी ने रुद्र सम्प्रदाय की स्थापना कर शुद्धाद्वैतवाद का प्रतिपादन किया। इन्होंने कृष्ण को इष्टदेव के रूप में रखा। रुद्र सम्प्रदाय प्रचार एवं विकास में वल्लभाचार्य ने बहुत योग दिया। वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैत का ही नाम पुष्टिमार्ग अथवा वल्लभ सम्प्रदाय पड़ा। ब्रह्मवाद अथवा अविकृत परिणाम वाद भी इसी का ही नाम है। शुद्धाद्वैत के अन्तर्गत ब्रह्म की शुद्धता की भावना निहित है। ब्रह्म माया से शुद्ध है। माया तथा उसके अज्ञान का उस पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। पुष्टिमार्ग के अन्दर भगवान की पुष्टि अथवा अनुग्रह की भावना निहित है। ब्रह्म के अनुग्रह से ही यह संसार सागर पार किया जा सकता है। अन्य नामों के पीछे भी इसी प्रकार की कल्पना निहित है। वल्लभाचार्य ने ब्रह्म सूत्रों पर अणुभाष्य की रचना की है। अणुभाष्य तथा तत्वदीप निबंध आदि रचनाओं से इनके दार्शनिक विचारों का पता चलता है। वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म सगुण तथा निर्गुण दोनों ही हैं। उनकी ब्रह्म भावना ब्रह्म के समस्त प्रचलित गुणों से युक्त है। वह सर्वज्ञ, स्वतंत्र तथा मायाधीश है। समस्त सृष्टि की उत्पत्ति तथा विनाश उसकी इच्छा पर निर्भर है। वह सगुण निर्गुण की

भावना से मुक्त तथा युक्त दोनों ही है। वह सर्वशक्तिमान पुरुषोत्तम है। भगवान् कृष्ण ही परब्रह्म और रसरूप हैं। वल्लभाचार्य के अनुसार परब्रह्म ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव के रूप में प्रकट होता है। चौबीस अवतारों में भी वही है उसके परिस्थितिजन्य इन विभिन्न स्वरूपों को ही 'अक्षर ब्रह्म' की संज्ञा दी गई है। अक्षर ब्रह्म ही सृष्टि की रचना, पालन तथा विनाश करता है। बल्लभाचार्य के अनुसार योगी ब्रह्म के एक तीसरे स्वरूप अन्तर्यामी रूप का ध्यान तथा साक्षात्कार समाधि द्वारा करते हैं।

कृष्ण परब्रह्म तथा रस रूप हैं। वे धर्म-रक्षक-उपदेशक तथा भक्तवत्सल हैं। बसुदेव पुत्र तथा यशोदानंदन के रूप में उनके दोनों स्वरूपों का दर्शन होता है। वल्लभाचार्य ने कृष्ण के रस रूप को ही अपनाया है। इन्हीं के लिए वल्लभाचार्य ने हरि शब्द का भी प्रयोग किया है। यह हरि पूर्ण पुरुषोत्तम, मायाधीश तथा मायातीत है जो अपनी समस्त आनन्द प्रसारिणी शक्तियों के साथ अवतार लेता है। वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म विरुद्ध धर्मों का आगार है। अज्ञेय अगोचर ब्रह्म भक्त को ज्ञेय तथा गोचर हो जाता है। आविर्भाव तथा तिरोभाव से वह जीव तथा जगत् की सृष्टि करता है।

जीव—परब्रह्म के आनन्द अंश के तिरोभाव से जीव की सृष्टि हुई है। इस प्रकार जीव ब्रह्म का ही अंश है। आनन्द के अभाव में वह दुखी रहता है। अनादि ब्रह्म का अंश होने से जीव भी अनादि तथा नित्य है किन्तु आनन्द के अभाव से वह सीमित शक्ति वाला है। उसमें ब्रह्म के गुणों का अभाव हो जाता है। नित्य जीव अनित्य देह के संयोग से संसार में भटकता रहता है। इस भवजाल से छूटने के तीन मार्ग हैं। योगसिद्धि, दिव्य ज्ञान तथा भगवत अनुग्रह अथवा पुष्टि। पुष्टि मार्ग सबसे श्रेष्ठ तथा सरल है।

वल्लभाचार्य जीव की स्वतंत्र सत्ता मानते हैं जबकि शंकराचार्य ब्रह्म के अतिरिक्त सब कुछ मायाजनित ही बताते हैं। वल्लभाचार्य के अनुसार जीव परब्रह्म का ही ज्योतिर्मान अंश है जोकि ब्रह्म के अल्प गुणों[1] से युक्त है। जीव के अनेक प्रकार हैं। आनन्द अंश के तिरोभाव के पूर्व वह शुद्ध रूप में रहता है। अविद्या के संयोग से जीव संसारी बन जाता है। संसारी जीव दैवी तथा आसुरी दो प्रकार के होते हैं। दैवी जीव मुक्ति प्राप्त कर सकता है

१—छः गुण=ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य।

आसुरी के लिए मुक्ति असम्भव है। वह संसार प्रवाह में बहता रहता है। दैवी जीवों में भी कोई जीव तो ज्ञान, कर्म तथा योग द्वारा बैकुण्ठ अथवा स्वर्ग प्राप्त कर अक्षर ब्रह्म में लय हो जाता है। यह मर्यादा जीव कहलाता है। पुष्ट जीव भगवान् के अनुग्रह को प्राप्त करता है। पुष्ट जीव भी चार प्रकार के माने गए हैं। शुद्ध पुष्ट, पुष्टि पुष्ट, मर्यादा पुष्ट और प्रवाही पुष्ट। शुद्ध पुष्ट भक्त भगवान् की लीला का आनन्द प्राप्त कर सकते हैं तथा भगवान् के अवतार के साथ संसार में जाते हैं। पुष्टि पुष्ट जीव लीला का आनन्द लाभ प्राप्त करते हैं। मर्यादा पुष्ट ज्ञान कर्म-योग द्वारा सायुज्य मुक्ति को प्राप्त होता है। प्रवाही पुष्ट जीव भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

जगत् के विषय में वल्लभाचार्य अविकृत परिणामवाद को मानते हैं। जगत् सत्य तथा ईश्वर का अंश है इसमें चेतन तथा आनन्द अंश का तिरोभाव है। अनादि ब्रह्म का अंश होने के कारण ही जगत् अनादि है किन्तु संसार, जोकि जीव की कल्पना है, नाशवान है। जीव का संसार बदलता रहता है किन्तु जगत् वैसा ही रहता है।

माया को वल्लभाचार्य परब्रह्म की शक्ति मानते हैं जो उनकी इच्छा से सृष्टि की उत्पत्ति तथा लय करती है। यह विद्या माया है। इसके अतिरिक्त अविद्या माया को भी वल्लभाचार्य स्वीकार करते हैं। विद्या माया जीव को अविद्या माया से छुड़ा कर भगवान् का साक्षात्कार कराती है। अविद्या माया से छुटकारा पाने का प्रमुख मार्ग भगवान् का अनुग्रह अथवा पुष्टि मार्ग है।

अविद्या माया से छुटकारा पाना ही मोक्ष है। इस प्रकार संसार के बंधनों से छूट कर जीव आनन्द की प्राप्ति करता है। आनन्द प्राप्ति की अवस्था को ही मुक्तावस्था कहा गया है। यह मुक्तावस्था चार प्रकार की मानी गई है—सालोक्य (ब्रह्म के लोक में पहुँचना) सामीप्य (ब्रह्म की निकटता प्राप्त करना), सारूप्य (उसका स्वरूप पाना), सायुज्य (ब्रह्म में लय हो जाना)। वल्लभाचार्य के अनुसार मर्यादा मार्ग के द्वारा जीव अक्षर ब्रह्म तक ही पहुँचता है किन्तु पुष्टि मार्ग उसे परब्रह्म के पास पहुँचाती है। पुष्टिमार्ग में ईश्वर अनुग्रह पर जीव के समस्त कर्म (क्रियमाण, संचित तथा

प्रारब्ध) तत्क्षण नष्ट हो सकते हैं। इससे सद्यः मुक्ति प्राप्त होती है जबकि मर्यादा मार्ग द्वारा मुक्ति क्रमशः होती है। वल्लभाचार्य के विचार से मुक्तावस्था में जीव ब्रह्म में लय नहीं होता। उसकी पृथक् सत्ता बनी रहती है। एकाकार हो जाने से जीव ब्रह्म मिलन के आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता अतः पुष्टिमार्ग में पुष्टमार्गी भक्त प्रवेशात्मक सायुज्य मुक्ति को प्राप्त करता है। अर्थात् वह गोलोक में होने वाली ब्रह्म की लीला में प्रवेश कर आनन्द प्राप्त करता है। इस प्रकार के जीव को पुनः संसार में नहीं आना पड़ता।

गोलोक परब्रह्म का लीला स्थान है। इसका महत्त्व बैकुण्ठ से कम नहीं है। गोलोक का ही अन्य नाम गोकुल या वृन्दावन है। परब्रह्म के अवतार के साथ ही सम्पूर्ण गोलोक अर्थात् लीला धाम भी अवतरित होता है। मुक्तात्माएँ ही लीलाधाम में प्रवेश पा सकती हैं।

वैष्णव धर्म के मूल तत्व—

वैष्णव धर्म के मूल सिद्धान्त में वे सभी बातें आती हैं जिन्हें समस्त वैष्णव आचार्यों ने समान रूप से अपनाया है।

आस्तिकता—वैष्णव धर्म में ईश्वर की सत्ता में विश्वास के साथ ही व्यक्तिगत इष्ट देव को भी प्रधानता दी गई। विष्णु अवतार इष्टदेव के रूप में माने गये हैं और राम तथा कृष्ण प्रमुख इष्टदेव के रूप में स्वीकार किये गये हैं।

सगुण स्वरूप—परब्रह्म को विरोधी गुणों का आगार मानते हुए भी निर्गुण स्वरूप की अपेक्षा सगुण स्वरूप को अधिक महत्त्व दिया गया है।

भक्ति—इष्ट के प्रति भक्ति भावना का प्रदर्शन आवश्यक समझा गया। इस प्रकार पूजा अर्चना आदि कर्मकाण्ड को भी भक्ति के साथ स्थान मिला।

अहिंसा—अहिंसा वैष्णव धर्म के मूल सिद्धान्तों में से है। हिंसा परक यज्ञों की प्रतिक्रिया रूप ही यह आन्दोलन प्रारम्भ हुआ था फलतः अहिंसात्मक यज्ञों का आयोजन कर तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति में सुधार किया गया।

उदार भावना—वैष्णवों ने समस्त धर्मों के प्रति एक उदार दृष्टिकोण अपनाया। भारतीय तथा अन्य धर्मों का विरोध न कर

प्राचीन वैदिक विचारधारा से अपना सम्बन्ध बनाए रखने के लिए वैष्णव धर्म ने निरन्तर प्रयत्न किया है। इसमें समन्वय की भावना प्रधान है। यह खंडनात्मक न होकर समन्वयात्मक है। अतएव वेद दर्शन आदि का विरोध न कर इसमें समस्त धार्मिक तथा दार्शनिक विचारधाराओं को सम्मान की दृष्टि से देखा गया है।

शंकराचार्य के मायावाद का सभी ने विरोध किया। कालान्तर में यही विरोध निर्गुण-सगुण विरोध के रूप में विकसित हुआ।

वैष्णव धर्म प्रवृत्ति मार्गी है। भगवान् की भक्ति, श्रद्धा तथा विश्वासपूर्वक सत्कर्मों द्वारा इसी संसार में नियमित जीवन व्यतीत करते हुए भी की जा सकती है। अरण्य तपस्या का प्रतिपादन इसमें नहीं मिलता है। इस प्रकार वैष्णव धर्म पलायनवादी नहीं है। भक्तों द्वारा वैष्णव धर्म का बराबर प्रचार तथा प्रसार होता रहा है।

शैव-शाक्त मत—

शिव अथवा रुद्र की उपासना भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से ही होती आ रही है। शैव-धर्म वैदिक काल से पूर्व भी भारतवर्ष में प्रचलित था। दक्षिण भारत तो शैव-धर्म का प्रधान केन्द्र रहा है। शैव-मत भक्ति परक होते हुए क्रिया-प्रधान है। इसमें साधना को भी पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। इनके मुख्य ग्रन्थ आगम हैं जिनमें ज्ञान की अपेक्षा क्रिया तथा साधन की ही प्रमुखता है। शैव सम्प्रदाय चार हैं—शैव, पाशुपत, कालादमन तथा कापालिक। कालादमन का अन्य नाम कालामुख है। 'शैवागम' इन मतों के धार्मिक ग्रन्थ हैं। शैव-मत में द्वैत, द्वैताद्वैत तथा अद्वैत तीनों ही प्रकार की भावना मिलती है। शैव सम्प्रदायों का प्रचार विभिन्न स्थानों में था। समस्त शैव सम्प्रदायों में शिव को ही परब्रह्म माना गया है। पाशुपत सम्प्रदाय के अनुसार यह भौतिक शरीर ही जीव और निरंजन के मध्य बाधा स्वरूप है। इस जगत् की सृष्टि, पालन तथा विनाश महेश्वर ही करता है। महेश्वर असीम शक्ति तथा ज्ञान से युक्त है। जीव अथवा पशु के दुख का कारण मिथ्या ज्ञान आदि दोष ही हैं। इन दोषों से मुक्त होना ही मोक्ष है। यह मोक्ष योग-जप तप ध्यान आदि तथा भक्ति द्वारा प्राप्त होती है। महेश्वर की प्राप्ति के लिए जो विभिन्न क्रियायें की जाती हैं उसमें नाचना, गाना, भस्मस्नान, जप, व्रत आदि को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इस प्रकार

कर्मकाण्ड की प्रधानता दिखाई पड़ती है। कापालिक और काला-मुख आदि मतों में शव भस्म कपाल पात्र में भोजन आदि प्रथा को विशेष महत्वपूर्ण समझा जाता है। इसमें अपवर्ग प्राप्ति के लिए कुण्डल, शिखा भस्म आदि छः मुद्राओं को धारण करने का आदेश है।

शैवमत की एक अन्य शाखा है जिसमें शक्ति को प्रधानता दी गई है। इसका नाम वीर शैव अथवा शक्ति विशिष्टाद्वैत है। शक्ति विशिष्टाद्वैत कर्म प्रधान है। इसमें शिव तथा जीव को विशिष्ट शक्ति से युक्त माना गया है। शक्ति शिव का ही विशेषण है[1]। शक्ति और शिव का समवाय सम्बन्ध है। शिव-शक्ति से ही समस्त सृष्टि की रचना, पालन तथा संहार होता है। शक्ति सत्व, रज, तम गुणों से युक्त है। तमोगुण से युक्त शक्ति का नाम ही जड़ माया है।

जीव शिव का अंश है। जीव शिव से भिन्न भी है और अभिन्न भी है। जीव भक्ति द्वारा परम शिव को प्राप्त कर सकता है। किन्तु इस पथ पर चलाने के लिए गुरु की अत्यन्त आवश्यकता होती है।

शक्ति विशिष्टाद्वैत के अनुसार जगत् परम शिव से उत्पन्न है। शिव से भिन्न होने के कारण ही यह सत्य है। किन्तु जगत् उत्पत्ति के विषय में यह मत परिणामवाद को ही मानता है। यह परिणामवाद दूध से दही बन जाने की विकारात्मक भावना को न मान कर कछुये के अंग विस्तार और अंग संकोच्य की भावनाओं को स्वीकार करता है। इस प्रकार शक्ति विस्तार तथा शक्ति संकोच्य से ही क्रमशः सृष्टि उत्पत्ति तथा विनाश माना गया है।

शैव सिद्धान्त मत के अनुसार पति (शिव) अथवा परमेश्वर[2] ही परम शिव है, वह सर्वज्ञ, स्वतंत्र तथा असाधारण गुण सम्पन्न है। जीव मुक्त होकर शिवत्व को प्राप्त करता हुआ भी शिव के अधीन रहता है। ध्यान योग के लिए नित्य मुक्त शिव के पंच मंत्र तनु की कल्पना की गई है। जीवों के पाश (मल आदि अर्थपंचक) को दूर करने के लिए शिव सगुण रूप धारण करते हैं। शिव की दो अवस्थायें होती हैं—'लयावस्था और योगावस्था'। जिस समय

१—सूर सागर पद ५०४४।
२—सूर सागर पद ४०३१।

प्राचीन वैदिक विचारधारा से अपना सम्बन्ध बनाए रखने के लिए वैष्णव धर्म ने निरन्तर प्रयत्न किया है। इसमें समन्वय की भावना प्रधान है। यह खंडनात्मक न होकर समन्व्यात्मक है। अतएव वेद दर्शन आदि का विरोध न कर इसमें समस्त धार्मिक तथा दार्शनिक विचारधाराओं को सम्मान की दृष्टि से देखा गया है।

शंकराचार्य के मायावाद का सभी ने विरोध किया। कालान्तर में यही विरोध निर्गुण-सगुण विरोध के रूप में विकसित हुआ।

वैष्णव धर्म प्रवृत्ति मार्गी है। भगवान् की भक्ति, श्रद्धा तथा विश्वासपूवक सत्कर्मों द्वारा इसी संसार में नियमित जीवन व्यतीत करते हुए भी की जा सकती है। अरण्य तपस्या का प्रतिपादन इसमें नहीं मिलता है। इस प्रकार वैष्णव धर्म पलायनवादी नहीं है। भक्तों द्वारा वैष्णव धर्म का बराबर प्रचार तथा प्रसार होता रहा है।

शैव-शाक्त मत—

शिव अथवा रुद्र की उपासना भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से ही होती आ रही है। शैव-धर्म वैदिक काल से पूर्व भी भारतवर्ष में प्रचलित था। दक्षिण भारत तो शैव-धर्म का प्रधान केन्द्र रहा है। शैव-मत भक्ति परक होते हुए क्रिया-प्रधान है। इसमें साधना को भी पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। इनके मुख्य ग्रन्थ आगम हैं जिनमें ज्ञान की अपेक्षा क्रिया तथा साधन की ही प्रमुखता है। शैव सम्प्रदाय चार हैं—शैव, पाशुपत, कालादमन तथा कापालिक। कालादमन का अन्य नाम कालामुख है। 'शैवागम' इन मतों के धर्मिक ग्रन्थ हैं। शैव-मत में द्वैत, द्वैताद्वैत तथा अद्वैत तीनों ही प्रकार की भावना मिलती है। शैव सम्प्रदायों का प्रचार विभिन्न स्थानों में था। समस्त शैव सम्प्रदायों में शिव को ही परब्रह्म माना गया है। पाशुपत सम्प्रदाय के अनुसार यह भौतिक शरीर ही जीव और निरंजन के मध्य बाधा स्वरूप है। इस जगत् की सृष्टि, पालन तथा विनाश महेश्वर ही करता है। महेश्वर असीम शक्ति तथा ज्ञान से युक्त है। जीव अथवा पशु के दुख का कारण मिथ्या ज्ञान आदि दोष ही हैं। इन दोषों से मुक्त होना ही मोक्ष है। यह मोक्ष योग-जप तप ध्यान आदि तथा भक्ति द्वारा प्राप्त होती है। महेश्वर की प्राप्ति के लिए जो विभिन्न क्रियायें की जाती हैं उसमें नाचना, गाना, भस्मस्नान, जप, व्रत आदि को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इस प्रकार

कर्मकाण्ड की प्रधानता दिखाई पड़ती है। कापालिक और काला-मुख आदि मतों में शव भस्म कपाल पात्र में भोजन आदि प्रथा को विशेष महत्वपूर्ण समझा जाता है। इसमें अपवर्ग प्राप्ति के लिए कुण्डल, शिखा भस्म आदि छः मुद्राओं को धारण करने का आदेश है।

शैवमत की एक अन्य शाखा है जिसमें शक्ति को प्रधानता दी गई है। इसका नाम वीर शैव अथवा शक्ति विशिष्टाद्वैत है। शक्ति विशिष्टाद्वैत कर्म प्रधान है। इसमें शिव तथा जीव को विशिष्ट शक्ति से युक्त माना गया है। शक्ति शिव का ही विशेषण है[1]। शक्ति और शिव का समवाय सम्बन्ध है। शिव-शक्ति से ही समस्त सृष्टि की रचना, पालन तथा संहार होता है। शक्ति सत्व, रज, तम गुणों से युक्त है। तमोगुण से युक्त शक्ति का नाम ही जड़ माया है।

जीव शिव का अंश है। जीव शिव से भिन्न भी है और अभिन्न भी है। जीव भक्ति द्वारा परम शिव को प्राप्त कर सकता है। किन्तु इस पथ पर चलाने के लिए गुरु की अत्यन्त आवश्यकता होती है।

शक्ति विशिष्टाद्वैत के अनुसार जगत् परम शिव से उत्पन्न है। शिव से भिन्न होने के कारण ही यह सत्य है। किन्तु जगत् उत्पत्ति के विषय में यह मत परिणामवाद को ही मानता है। यह परिणामवाद दूध से दही बन जाने की विकारात्मक भावना को न मान कर कछुये के अंग विस्तार और अंग संकोच्य की भावनाओं को स्वीकार करता है। इस प्रकार शक्ति विस्तार तथा शक्ति संकोच्य से ही क्रमशः सृष्टि उत्पत्ति तथा विनाश माना गया है।

शैव सिद्धान्त मत के अनुसार पति (शिव) अथवा परमेश्वर[2] ही परम शिव है, वह सर्वज्ञ, स्वतंत्र तथा असाधारण गुण सम्पन्न है। जीव मुक्त होकर शिवत्व को प्राप्त करता हुआ भी शिव के अधीन रहता है। ध्यान योग के लिए नित्य मुक्त शिव के पंच मंत्र तनु की कल्पना की गई है। जीवों के पाश (मल आदि अर्थपंचक) को दूर करने के लिए शिव सगुण रूप धारण करते हैं। शिव की दो अवस्थायें होती हैं—'लयावस्था और योगावस्था'। जिस समय

१—सूर सागर पद ५०४४।
२—सूर सागर पद ४०३१।

शक्ति समस्त व्यापारों को समाप्त कर स्वरूप मात्र से अवस्थान करती है तब शिव शक्तिमान् कहा जाता है। यही लयावस्था है। जिस समय शक्ति उन्मेश को प्राप्त कर बिन्दु को कार्योत्पादन के लिए अभिमुख करती है और कार्योत्पादन कर शिव के ज्ञान और क्रिया में समृद्धि करती है, वह शिव की भोगावस्था है[1]। शैव सिद्धान्त मत के अनुसार जीव कर्ता है वह व्यापक प्रकाश स्वरूप तथा अनेक है। पाशों से मुक्त होकर वह शिवत्व को प्राप्त होता है। फलस्वरूप ज्ञान तथा क्रिया शक्तियाँ उदित होती हैं। प्रलयकाल में जीव माया के गर्भ में पड़े रहते हैं। सृष्टि के आरम्भ में ये जीव कर्मानुसार संसार में भ्रमण करते हैं। सांसारिक बन्धन से मुक्ति का केवल एकमात्र उपाय परम शिव की अनुग्रह शक्ति ही है। अनुग्रह शक्ति ही दीक्षा है, दीक्षा के द्वारा जीव में उत्पन्न अभिमान, मोह आदि नष्ट हो जाते हैं और जीव मुक्तावस्था को प्राप्त होता है।

त्रिक तथा त्रिपुरा सिद्धान्त–

इनके अनुसार शिव लीलामय है, शक्ति के बिना वे कुछ कर नहीं सकते। शक्ति द्वारा वह नाना रूप की लीलाएँ करता है। इसमें भी शिव के सगुण तथा निर्गुण दोनों ही स्वरूपों को स्वीकार किया गया है।

शाक्तधर्म– के अनुसार जीव अग्नि विस्फुलिंगवत् ब्रह्म से आविर्भूत हुआ है। शाक्तमत में तीन भाव तथा सात आचार होते हैं। आगे चलकर इन्हीं आचारों का बड़ा विस्तार हुआ। इन आचारों के नाम पर ही विभिन्न सम्प्रदाय, जैसे : कौलसम्प्रदाय आदि प्रचलित हुए। इन सम्प्रदायों में साधना तथा बाह्य आचार विचार पर बड़ा बल दिया गया। मत्स्येन्द्रनाथ तथा नाथ सम्प्रदाय का सम्बन्ध कौल सम्प्रदाय से ही माना जाता है।

इस भांति शैव-शाक्त धर्म में सगुण तथा निर्गुण दोनों ही भावनायें सम्मिलित थीं किन्तु आगे चलकर मत्स्येन्द्रनाथ आदि ने निर्गुण विचारधारा को ही अधिक बल दिया। इनके विचार से योग साधना आदि का भक्ति से अधिक महत्वपूर्ण स्थान है।

नाथ सम्प्रदाय—नाथ सम्प्रदाय अनेक नामों से प्रचलित है। सिद्धमत, सिद्धमार्ग, योगमार्ग, योग सम्प्रदाय, अवधूत मत, अवधूत

१—पृ० सं० ५८० भारतीय दर्शन।

सम्प्रदाय इत्यादि इसके प्रचलित नाम हैं। नाथ सम्प्रदाय का सम्बन्ध शैव मत से ही है और मूलतः समग्र नाथ सम्प्रदाय शैव है। सबके मूल उपास्यदेव शिव हैं[१]। नाथ सम्प्रदाय का प्रचार मत्स्येन्द्रनाथ तथा गोरखनाथ के द्वारा विशेष रूप से हुआ। आगे चल कर ये सम्प्रदाय अनेक शाखाओं में विभक्त हो गए।

नाथ योगियों की एक विशेष प्रकार की वेश-भूषा होती है। ये मेखला, शृङ्गी, सेली, गूदरी, खप्पर, कर्णमुद्र बन्धवर आदि चिन्ह धारण करते हैं। ये योगी वैरागी तथा गृहस्थ दोनों ही होते हैं।

नाथ सम्प्रदाय का शैव तथा शाक्त मत से विशेष सम्बन्ध है किन्तु साधना मार्ग में बौद्ध तथा जैन धर्म का भी इस पर विशेष प्रभाव पड़ा है। विभिन्न धर्म तथा मतों से प्रभावित होकर नाथ सम्प्रदाय में शिव के निर्गुण स्वरूप को ही अपनाया गया तथा योग साधन के द्वारा उनकी प्राप्ति पर बल दिया गया। विशेष आचार व्यवहार तथा वेशभूषा उनके योग-साधन के ही अंग हैं।

मत्स्येन्द्रनाथ ने कौलमार्ग की स्थापना की। यह मार्ग शाक्त मत था जिसमें शिव तथा शक्ति को 'अकुल' तथा 'कुल' नाम से ग्रहण किया गया है। 'कुल का अकुल से मेल ही इस साधना का लक्ष्य है। कुल तथा अकुल का सम्बन्ध चन्द्र और चन्द्रिका के समान है। शिव की सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा-शक्ति का नाम कुल है। शिव अनन्य अखण्ड, सद्वय, अविनश्वर, धर्महीन और निरंग है। इसीलिए उन्हें अकुल कहा जाता है।.........शक्ति के बिना शिव कुछ भी करने में असमर्थ है अतः शक्ति ही उपास्य है। शक्ति और शिव अविच्छेद है[२]।' शिव ही जीव में परिणत है। परम शिव की इच्छा होने पर ३६ तत्वों से यह सृष्टि उत्पन्न हुई। इन ३६ तत्वों को क्रमशः तीन तत्वों के ही अन्तर्गत रखा जा सकता है।

(१) शिवतत्व—शिव और शक्ति।

(२) विद्यातत्व—सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या।

१—पृष्ठ सं० ३ नाथ सम्प्रदाय, हजारीप्रसाद द्विवेदी १९५० हिन्दुस्तानी एकेडेमी।

२—पृ० सं० ६१-६२ नाथ सम्प्रदाय।

" ६८ "

(३) आत्मतत्व—माया, अविद्या, कला, राग, काल, नियति, जीव, प्रकृति, मन, बुद्धि, अहंकार, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी। 'शरीर द्वारा आच्छादित शिव ही जीव और अनाच्छादित जीव ही शिव है।'

इस प्रकार नाथ सम्प्रदाय शिव और जीव की अद्वैतता को स्वीकार करता है। इस अद्वैतता को प्राप्त करने के लिए जीव को यौगिक साधना पद्धति को अपनाना पड़ता है। जिसके द्वारा कुण्डलनी उद्बुद्ध होकर क्रमशः षड् चक्रों को भेदती हुई सातवें-संहार चक्र में परम शिव से मिलती है किन्तु जब उसे यह अद्वैत ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब इन साधनाओं की आवश्यकता नहीं रहती।

नाथ सम्प्रदाय का विकास गोरखनाथ के योग सम्प्रदाय में हुआ। गोरखनाथ के पूर्व अनेक शैव, शाक्त तथा बौद्ध सम्प्रदाय प्रचलित थे। ये सम्प्रदाय तन्त्र मन्त्र आदि में भी विश्वास करते तथा यौगिक साधना को भी मानते थे। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार ये समस्त सम्प्रदाय गोरखनाथ के योग सम्प्रदाय में विलीन हो गए। गोरखनाथ के योग सम्प्रदाय में योग साधना, हठ योग की क्रिया विधान, वैराग्य तथा निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना पर ही बल दिया है। यही योग मार्ग कालान्तर में निर्गुण सम्प्रदाय अथवा सन्त सम्प्रदाय में परिणत हो गया जो अपनी परम्परागत विशेषताओं के साथ ही तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों से भी प्रभावित होता हुआ अग्रसर हुआ।

बौद्ध तथा जैन मत—

बौद्ध तथा जैनी दोनों ही नास्तिक हैं। ये वेदों अथवा ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते। अतः बौद्ध तथा जैन धर्म में ब्रह्म की उपासना का प्रश्न ही नहीं उठता। निर्गुण निराकार अथवा सगुण साकार की समस्या का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं। नास्तिक होते हुए भी ये परलोक, धर्माधर्म और कर्तव्याकर्तव्य के भेद में विश्वास करते हैं। इन विश्वासों के कारण दोनों धर्मों में धर्माचरण पर विशेष बल दिया गया। जीवन को सुख पूर्ण बनाने के लिए कठिन साधनाओं तथा आचरणों का विधान बनाया गया। इस

प्रकार ये साधना प्रधान बन गए। निर्गुण ब्रह्म के उपासक तथा हठयोग आदि में श्रद्धा रखने वाले नाथ सम्प्रदाय तथा गोरखनाथ के पन्थ पर बौद्ध और जैन साधना पद्धतियों का अत्यधिक प्रभाव पड़ा।

सूफी तथा इसलाम मत—

भारतवर्ष की राजनीति में जब इसलामी शासन का प्रादुर्भाव हुआ उसी समय राजनीति के साथ ही एक विदेशी धर्म तथा संस्कृति का भारतीय संस्कृति से सम्मिलन हुआ। दो विभिन्न संस्कृतियों का आदान प्रदान इतिहास की एक प्रसिद्ध घटना है। जिसने भारत के सामाजिक तथा धार्मिक जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया। इस समय भारतवर्ष में दो धार्मिक धारायें बह रही थीं। एक भक्तिधारा जिसका मूल उद्गम वेद तथा उपनिषद् माने जाते हैं। जिसका दक्षिण में आलवर सन्तों तथा वैष्णव आचार्यों द्वारा प्रचार तथा विकास हुआ। उत्तर भारत में वैष्णव आचार्यों ने इसका प्रचार किया। इसमें सगुण ब्रह्म की उपासना तथा भक्ति पर बल दिया गया और ब्रह्म के रामावतार तथा कृष्णावतार को प्रमुख रूप से अपनाया गया।

दूसरी विचारधारा ज्ञानमार्गीय अथवा निर्गुण ब्रह्म की थी जिसका प्रारम्भ शंकराचार्य से हुआ था। शंकराचार्य भी उपनिषदों को ही प्रमाण मानकर चले हैं। उनका मूल उद्देश्य बौद्धधर्म के स्थान पर ब्राह्मण धर्म की स्थापना करना था। निर्गुण धारा में शैव तथा शाक्तों की अधिकता है शंकराचार्य स्वयं शैव थे। शैव तथा शाक्त मत आगे चलकर समय-समय पर सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों से भी प्रभावित होते रहे हैं। निर्गुण ब्रह्म को मानने के कारण इस धारा में बाह्य आचार-विचार तथा साधना पर अत्यधिक बल दिया। भक्ति का इसमें अत्यन्त गौण स्थान है। साधना को अपनाने के कारण गुरु को भी महत्वपूर्ण माना गया। बिना गुरु के साधना का उचित पथ प्रदर्शन असम्भव है।

भारत में इसलाम प्रवेश के समय दोनों ही धारायें चल रही थीं। सूफी तथा इसलाम दोनों ही ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप को मानने वाले हैं। सूफी उस अलौकिक परब्रह्म का दर्शन लौकिक प्रेम कथानकों द्वारा करते हैं। इसलाम हिन्दुओं की सगुण उपासना को घृणा की

दृष्टि से देखता है। मुसलमानों ने इसलाम के प्रचार के लिए शक्ति तथा लोभ दोनों का ही आश्रय लिया। इसलाम की इस कट्टरता के कारण एक ओर तो भक्ति सम्प्रदाय भक्ति द्वारा अपने को इससे दूर रखकर सगुण ब्रह्म की उपासना तथा पूजा के पथ पर चलती रही। कबीर आदि संत कवियों ने सूफी मत से प्रेम भावना तथा इसलाम से निर्गुण ब्रह्म की भावना को लेकर धार्मिक सामंजस्य उत्पन्न करने की चेष्टा की। इस प्रकार १५ वीं शताब्दी में दो विभिन्न धारायें समानान्तर रूप से बहती रहीं जोकि सगुण भक्ति धारा तथा निर्गुण भक्ति धारा कहलाईं। सगुण भक्ति धारा में विशेष अन्तर नहीं हुआ किन्तु निर्गुण धारा में विभिन्न दार्शनिक विचार धाराओं तथा साधनाओं का इतना मिश्रण हुआ कि शंकर के निर्गुण विचारधारा से यह बहुत दूर जा पड़ी।

संत मत और कबीर—

जब भारत में कबीर का आविर्भाव हुआ। उस समय यहाँ सूफी और इसलाम दोनों मतों का ही पूर्ण प्रचार था। एक ओर सूफी संत प्रेम पीर का अनुभव करते हुए लौकिक कथानकों के द्वारा अलौकिक ब्रह्म का दर्शन करते—'पर्दे बुतों पर नूरे खुदा देखते हैं।' दूसरी ओर इसलाम के पुजारी मसजिद की नमाज़ अजान तथा रोज़ा में विश्वास कर खुदा का प्रसन्न करने की चेष्टा करते थे। सूफी संत अपनी शान्त और एकान्त प्रिय प्रकृति के द्वारा भारतीय जनता को आकर्षित कर रहे थे, तो दूसरी ओर शस्त्र और धन के आधार पर इसलाम को स्वीकार कराया जाता था। इस प्रकार हिन्दू जनता सूफी संतों को श्रद्धा की दृष्टि से देखती हुई भी इसलाम से शंकित ही रहती।

विदेशी धार्मिक संस्कृति के इन स्वरूपों के अतिरिक्त भारतीय धार्मिक विचारधारायें भी समानान्तर रूप से बह रही थीं। भक्ति धारा कुलवधू के समान अपना अंचल बचाए आगे बढ़ रही थी। वर्ग और वर्ण विभाजन के संकुचित घेरे में घिर कर ही वह धीरे-धीरे पग बढ़ा रही थी। रामानन्द जी के द्वारा इसका प्रचार हो रहा था। किन्तु निर्गुण धारा जो मूल रूप में उपनिषदों को ही मान कर चली थी शैव, शाक्त तथा बौद्ध धर्म से प्रभावित होती हुई नाथ सम्प्रदाय के रूप में विकसित हो रही थी। निर्गुण धारा विभिन्न धार्मिक आचार विचारों को ग्रहण करने में अति उदार थी, फलस्वरूप इसमें

प्राचीन योग, अनेक प्रकार की साधनाओं तथा वेशभूषा का प्रचलन स्वीकार किया गया। वज्रपात तथा सिद्ध-सम्प्रदाय की शृङ्गार भावना का इसमें पूर्ण निषेध मिलता है। फलस्वरूप निर्गुण धारा में ग्रहस्थ जीवन के प्रति अरुचि और वैराग्य की भावना भी पाई जाती है।

इस धार्मिक विभिन्नता के समय ही कबीर का जन्म हुआ। उन पर हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही संस्कृतियों का प्रभाव पड़ा; अतएव वे किसी एक ही धार्मिक विचार धारा को पूर्णतः स्वीकार न कर सके। रामानन्द के शिष्य होने के कारण वे वैष्णव धर्म से प्रभावित हुए। विष्णु के सर्वप्रिय 'रा-' नाम को ही उन्होंने अपनी स्तुति के लिए चुना किन्तु मुसलमान परिवार में रहने के कारण वे वैष्णवों के इष्टदेव को उसके सगुण तथा साकार रूप में ग्रहण न कर सके। राम नाम की व्याख्या करते हुए उन्हें बार-बार यह स्पष्ट करना पड़ा कि 'राम' दशरथ सुत 'राम' नहीं है। एक स्थान पर वे कहते हैं:—

'कबीर कहता जात हूँ, सुणता है सब कोई।
राम कहें भला होइगा, नहितर भला न होई' ॥[1]

तो दूसरे स्थान पर वे कहते हैं:—

'विष्णु पूजा करे ध्यान शंकर धरे,
मनहि सुविरंचि बहु विविध वानी।
कहे कबीर कोउ पार पावे नहीं
राम को नाम है अकह कहानी ॥[2]

धार्मिक सामंजस्य की भावना से प्रेरित होकर कबीर ने समस्त जाति और वर्ग गत बन्धनों को तोड़ कर ब्रह्म उपासना का मार्ग सभी के लिए उन्मुक्त कर दिया और समस्त मतों से सारभूत अंश लेकर एक नवीन पथ की स्थापना की। मुसलमान जनता से सामजस्य बनाए रखने के कारण कबीर ने निर्गुण ब्रह्म को ही अपना इष्टदेव माना। यद्यपि नमाज़, मूर्तिपूजा आदि का कबीर ने विरोध किया तथापि ब्रह्म प्राप्ति के लिए तत्कालीन प्रचलित योग, साधना, आचार-विचार आदि पर अत्यधिक महत्व दिया। इस प्रकार निर्गुण धारा

१—पृ० २ कबीर ग्रन्थावली १९४७ नागरी प्रचारिणी सभा।

२—पृ० १०८ कबीर बचनावली १९६६।

कबीर के सन्त मत में विकसित हुई जोकि आचार प्रधान बन गई। सन्तों का ज्ञान सत्संग और भ्रमण पर आधारित रहता है अतः इसमें प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों को कोई महत्त्व नहीं दिया गया। प्रेम की पीर तथा साधना को ही विशेष माना गया। ढाई अक्षर प्रेम का पढ़ने वाला ही पूर्ण पंडित समझा गया।

पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय॥

मृग-नाभि में स्थित कस्तूरी की खोज में पागल मृग के सदृश ब्रह्म की खोज में व्याकुल जीव के लिए कबीर गुरु को परम आवश्यक मानते हैं। जीव-ब्रह्म की अद्वैतता के रहस्य को बिना सद्गुरु के कौन समझा सकता है। यह समस्त विश्व उस बाजीगर की माया के वशीभूत घूम रहा है, केवल सन्त ही अथक परिश्रम के फलस्वरूप इस फन्द से बच पाते हैं।

कबीर का ब्रह्म जिसे 'राम' तथा 'हरि' नाम से उन्होंने पुकारा है, निर्गुण निराकार, अगम, अगोचर तथा इन्द्रियातीत है। वह ज्ञान, ध्यान, साधना, तपस्या तथा योग के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। उसकी प्राप्ति के लिए सर्वस्व त्याग तथा प्रेम पीर की अनुभूति और विह्वलता अत्यन्त आवश्यक है। ज्ञान तथा भक्ति के द्वारा सहज समाधि को प्राप्त हुआ जीव शून्य महल में अनहद नाद सुनता और परम ज्योति का दर्शन करता है। वह परब्रह्म केवल अनुभव की वस्तु है उसकी अनुभूति गूँगे का गुड़ है। परब्रह्म सर्वव्यापक तथा सर्वान्तर्यामी है। जीव उसी से उत्पन्न तथा उसी में लय होते हैं। ब्रह्म जीव की भिन्नता का मूल कारण माया है। जीव और ब्रह्म उसी प्रकार एक हैं जिस प्रकार घड़े का और सागर का जलः

जल में कुम्भ कुम्भ में जल बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यहु तत कथी गियानी॥

उसी प्रकार इस नश्वर काया के नष्ट हो जाने पर जलरूपी आत्मा परब्रह्म में विलीन हो जाती है। जिस प्रकार एक ही वस्तु विभिन्न आकार के कारण भिन्न-भिन्न संज्ञा को प्राप्त होती है उसी प्रकार संसार में सृष्टि का विभिन्न स्वरूप दिखाई पड़ता है। वास्तव में ये सभी एक ही ब्रह्म से प्रसूत हैं।

'पानी ही ते हिम भया हिम ही गया विलाय।
कबिरा जो था सोई भया अब कछु कहा न जाय॥'

यह एक रहस्य है जिससे अनभिज्ञ जीव अपने वास्तविक स्वरूप को पहिचानने में असमर्थ संसार चक्र में घूमता रहता है। संसार चक्र में फँसाने वाली माया कामिनी और कांचन के रूप में सबको मोहित करती है। इस प्रकार कबीर के विचार से ब्रह्म प्राप्ति में नारी सबसे बड़ी बाधा है। जीव को मुक्त होने के लिए उसका त्याग करना ही चाहिए। इस तरह सन्तमत गृहस्थ जीवन की पवित्रता में विश्वास करता हुआ भी, वैराग्य को ही महान मानता है।

इन विभिन्न धाराओं के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदों से चली आती हुई मूल दार्शनिक तथा धार्मिक धारा ही इस समय दो विभिन्न साधना मार्गों में विभक्त हो गई। अब भारतीय जनता के सम्मुख दो स्पष्ट मार्ग थे प्रथम तो ज्ञान मार्ग, द्वितीय भक्ति मार्ग। ज्ञान-मार्ग का मूल उद्गम जैसा कि पहले कहा जा चुका है उपनिषद् तथा दर्शन ही हैं। कालान्तर में शैव, शाक्त, बौद्ध आदि धर्मों से प्रभावित होता हुआ ज्ञान मार्ग ही निर्गुण मार्ग कहलाया। ज्ञान और निर्गुण पर्याय बन गए। सन्त मत के समय तक यह निर्गुण ही अधिक रह गया क्योंकि ज्ञान की अपेक्षा ब्रह्म का निर्गुण स्वरूप ही जनता के सम्मुख उभर कर आया। ज्ञान की अपेक्षा बाह्याचार, साधना तथा वैराग्य पर ही बल दिया जाने लगा। इस प्रकार निर्गुण अथवा ज्ञान मार्ग साधनापरक, कष्ट साध्य और निवृत्ति मूलक हो गया। यह निर्गुण मार्ग पूर्व निर्गुण मार्ग से जिसका दर्शन हमें शंकराचार्य के वेदान्त में मिलता है, बहुत कुछ भिन्न है। यह मार्ग अपने समय की समस्त प्रचलित विचारधाराओं से पुष्ट होता हुआ एक नवीन रूप में सामने आता है।

भक्ति मार्ग—यह अति प्राचीन तथा सगुण साकार की उपासना का मार्ग है। इसके अनुसार श्रद्धा, विश्वास और प्रेम के द्वारा सामान्य जन भी परम प्रभु को प्राप्त कर सकता है। ब्रह्म प्राप्ति का मूल मंत्र भक्ति है जो संसार में रहकर भी की जा सकती है इसके लिए संसार त्याग तथा अरण्यवास की आवश्यकता नहीं, यह प्रवृत्ति मूलक तथा रागात्मक वृत्ति पर आधारित है। मानव मन की अनुराग वृत्ति

में केवल एक मोड़ की ही आवश्यकता है। यह ब्रह्म प्राप्ति का सरल तथा सरस साधन है।

मनुष्य के चंचल मन को स्थिर करने के लिए एक दृढ़ आधार की आवश्यकता है। कृष्ण तथा राम का शील सौन्दर्य से युक्त रूप का ध्यान ही इस चंचल मन को स्थिर करने में समर्थ है। ब्रह्म की पूजा, उपासना स्तुति, वंदना तथा अर्चना आदि के द्वारा ही मनुष्य दृढ़ प्रेम को प्राप्त करता है। अतः सगुण माग में नवधा भक्ति को प्रमुख स्थान दिया गया है।

ज्ञान-मार्ग तथा भक्ति-मार्ग में बाह्य विभिन्नता होते हुए भी मूलतः दोनों एक ही हैं। जीव ब्रह्म की अद्वैतता तथा आवागमन में दोनों ही विश्वास करते हैं। सांसारिक दुःखों से छूट कर ब्रह्म की प्राप्ति करना दोनों का ही मूल उद्देश्य है।

वल्लभाचार्य ने इन दोनों मतों के अन्तर एवं तत्कालीन जनता की स्थिति को भली भाँति पहचाना और समझा था वे जानते थे कि एक 'अलख' को लखने वाले निर्गुणियों के गीत जनता को क्षण भर के लिए श्रद्धा से अभिभूत कर सकते हैं किन्तु वे उनके जीवन के संबल नहीं बन सकते। जीवन की क्षण भंगुरता को जानते हुए भी प्रत्यक्ष जीवन के प्रति वितृष्णा उत्पन्न करना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य था। यही कारण था कि संत मत का प्रवेश गृहस्थ जीवन में न हो सका। संत मत का सम्बन्ध निर्गुण निराकार ब्रह्म के साथ ही विभिन्न कष्ट साध्य साधनाओं से भी है। जो शुष्क तथा नीरस हैं जिसका सम्बन्ध मनुष्य के मस्तिष्क से ही है हृदय से नहीं। यही कारण है कि निर्गुण धारा की अपेक्षा सगुण धारा मानव जीवन को अधिक आकृष्ट कर सकी।

ज्ञान मार्ग अथवा निर्गुण मार्ग और भक्ति अथवा सगुण मार्ग में मूल अन्तर ब्रह्मरूप को ग्रहण करने में है तथा प्राप्ति के साधनों में है। जहाँ तक ब्रह्म के गुणों का सम्बन्ध है दोनों मार्गों में उसे दयालु, सर्वव्यापी, अन्तर्यामी आदि गुणों से विभूषित किया गया है। किन्तु जहाँ तक स्वरूप का सम्बन्ध है भक्तिमार्गी ब्रह्म की शक्ति शील सौन्दर्य से युक्त मनमोहन रूप में कल्पना करते हैं जबकि ज्ञानमार्गी का ब्रह्म ज्योतिपुञ्ज स्वरूप ही है जिसका वे त्रिकुटी में दर्शन कर सकते हैं। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल अन्तर

गुणों की अपेक्षा आकार से ही सम्बन्धित है। इस प्रकार इन धाराओं का नाम 'निर्गुण' 'सगुण' की अपेक्षा 'निराकार' 'साकार' अधिक उपयुक्त है और इनका प्रयोग करना ही मूल विचारधारा के अधिक निकट होगा।

कृष्ण काव्य के प्रतीक

ह्वाइट हैड ने अपनी पुस्तक 'सिम्बालिज्म' में प्रतीक की परिभाषा देते हुए कहा है कि 'मानव अनुभव के आधार पर जब विश्वास भावना और क्रियायें उद्भूत हो जाती हैं जिनका सम्बन्ध इन अनुभवों के अन्य उपांगों से होता है उस समय मानव मस्तिष्क प्रतीकात्मक रूप में कार्य करता है।[1]

उपर्युक्त परिभाषा की आलोचना करते हुए बेवेन ने इसे संकुचित तथा अपूर्ण बताया है। इसका क्षेत्र मानव अनुभूतियों तक ही सीमित है। धार्मिक प्रतीकों का सम्बन्ध केवल मानव अनुभूतियों में आबद्ध नहीं है।[२]

इस आलोचना के उपरान्त बेवेन ने स्वयं प्रतीक की परिभाषा देते हुये कहा है कि "मेरे विचार से प्रतीक मुख्य रूप से इन्द्रिय अथवा कल्पना के सम्मुख प्रस्तुत कोई वस्तु है जिसका किसी अन्य वस्तु के लिए प्रयोग होता है।[3]

बेवेन की यह परिभाषा ह्वाइट हैड की परिभाषा से अधिक पूर्ण होते हुये भी अतिव्याप्ति दोष से युक्त है। इसके अन्तर्गत हिन्दी के सभी सादृश्यमूलक अलंकार आ जाते हैं। यह काव्य के रूपक

1. "The human mind", he says "is functioning symbolically when some components of its experience elicit consciousness, beliefs, emotions & usages, respecting other components of its experience."

Quoted in "Symbolism and Belief" Page 11

—Bevan

२ पृ० १४ बेवेन द्वारा 'सिम्बालिज़्म एण्ड बिलीफ' से उद्धृत।

3. A symbol certainly, I think, means something presented to the senses or the imagination—usually to the senses– which stands for something else. Symbolism in that way runs through the whole life.

Same Page 11

अलंकार के अधिक निकट है। परशुराम चतुर्वेदी ने "कबीर साहब की प्रतीक योजना" नामक निबन्ध में प्रतीक-प्रयोग के उद्देश्य तथा व्यापकता का उल्लेख करते हुए उसकी परिभाषा निम्नप्रकार से की है—

प्रतीक से अभिप्राय किसी वस्तु की ओर इंगित करने वाला न तो संकेत मात्र है और न उसका स्मरण दिलाने वाला कोई चित्र या प्रतिरूप ही है। यह उसका एक जीता जागता एवं पूर्णतः क्रिया-शील प्रतिनिधि है। जिस कारण इसे प्रयोग में लाने वाले को इसके व्याज से उसके उपयुक्त सभी प्रकार के भावों को सरलतापूर्वक व्यक्त करने का पूरा अवसर मिल जाया करता है। ऐसे प्रतीकों का प्रयोग अपनी भाषा में केवल किन्हीं चमत्कारों द्वारा अधिक क्षमता लाने के उद्देश्य से भी नहीं किया जाता और न इससे उसमें उक्ति-वैचित्र्य का ही समावेश कराया जाता है। सादृश्य मूलक दीख पड़ने के कारण इसे कभी उपमानों का स्थान दे दिया जाता है जो उचित नहीं है। यह उससे कहीं अधिक व्यापक है। इसकी सहायता बहुधा ऐसे अवसरों पर ली जाती है जब हमारी भाषा पंगु और अशक्त सी बनकर मौन धारण करने लगती है और जब अनुभवकर्त्ता के विविध भाव पत्थरों से चतुर्दिक टकराने वाले स्रोतों की भाँति फूट निकलने के लिए मचलने से लग जाते हैं। ऐसी दशा में हम उनकी यथेष्ट अभिव्यक्ति के लिए उनके साम्य की खोज अपने जीवन के विभिन्न अनुभवों में करने लगते हैं और जिस किसी को उपयुक्त पाते हैं उसका प्रयोग कर उसके मार्ग द्वारा अपनी भाव-धारा को प्रवाहित कर देते हैं।[1]

परशुराम चतुर्वेदी की इस परिभाषा में बेवेन की अति-व्यापकता का दोष नहीं है परन्तु उन्होंने प्रतीक को उपमान से भिन्न मानते हुए भी इन दोनों के मध्य किसी स्पष्ट विभाजक रेखा का उल्लेख नहीं किया है।

प्रतीकों का महत्त्व

सुसेन लेंगर ने अपनी रचना "फिलासफी इन ए न्यू की" में प्रतीकों की महत्ता पर प्रकाश डालते हुये लिखा है कि "यह मानव

1 पृ० ५१— अवन्तिका वर्ष २ अङ्क १, सन् १९५४

मस्तिष्क को समझने का साधन है। प्रतीकात्मक विचार शक्ति के कारण ही मानव पशु से उच्च तथा विस्तृत जगत् में निवास करता है। इस सम्बन्ध में सभी दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, मानव-शास्त्र-वेत्ता एक मत है।[1]"

प्रतीक और विचार

प्रोफेसर ए० डी० रिशी के अनुसार विचार एक प्रतीकात्मक क्रिया है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'नेचुरल हिस्ट्री आफ दी माइण्ड' में लिखा है, "जहाँ तक विचारों का सम्बन्ध है विचार प्रत्येक स्तर पर प्रतीकात्मक क्रिया है। इस क्रिया के मानसिक होने का कारण प्रतीकों की अमूर्तता' नहीं है क्योंकि प्रतीक तो अधिकतर और सम्भवतः सदैव मूर्त ही रहते हैं। यह क्रिया मानसिक इसलिए है क्योंकि वह स्वयं प्रतीक है............विचार की मुख्य क्रिया ही प्रतीकात्मक है।[2]"

प्रतीकात्मकता और धर्म

प्रतीकों की निर्माण क्रिया पर विचार करते हुए लेङ्गर ने लिखा है कि ऐन्द्रीय अनुभवों के आधार पर ही विचारों का निर्माण होता है किन्तु यह क्रिया विचारों का संयोग मात्र नहीं है। यदि यह क्रिया केवल समान अनुभवों के आधार पर ही होती तो शीघ्र ही यह असम्बद्ध, जटिल तथा कृत्रिम हो जाती। यह क्रिया कहीं अधिक सूक्ष्म सिद्धान्त पर आधारित है जिसे प्रतीकात्मक क्रिया की संज्ञा दी जा सकती है। ऐन्द्रीय अनुभव निरन्तर प्रतीकों में परिवर्तित होते रहते हैं जोकि हमारे प्रारम्भिक विचार हैं। इस प्रकार के कुछ विभिन्न विचार सम्बद्ध होकर वह रूप प्राप्त करते हैं जिसे हम तर्क कहते हैं। अन्य विचार जो तर्क से सम्बद्ध नहीं हो पाते वे स्वप्न, दिवा स्वप्न और कल्पना के रूप में प्रकट होते हैं और इनमें से अनेक मानव मस्तिष्क के उस विशाल प्रासाद का निर्माण करते हैं जिसे हम धर्म की संज्ञा देते हैं।[3]'

१—पृ० २१ लेङ्गर द्वारा उद्धृत।

२—वही।

३—वही पृ० ३३।

अलंकार के अधिक निकट है। परशुराम चतुर्वेदी ने "कबीर साहब की प्रतीक योजना" नामक निबन्ध में प्रतीक-प्रयोग के उद्देश्य तथा व्यापकता का उल्लेख करते हुए उसकी परिभाषा निम्नप्रकार से की है—

प्रतीक से अभिप्राय किसी वस्तु की ओर इंगित करने वाला न तो संकेत मात्र है और न उसका स्मरण दिलाने वाला कोई चित्र या प्रतिरूप ही है। यह उसका एक जीता जागता एवं पूर्णतः क्रिया-शील प्रतिनिधि है। जिस कारण इसे प्रयोग में लाने वाले को इसके व्याज से उसके उपयुक्त सभी प्रकार के भावों को सरलतापूर्वक व्यक्त करने का पूरा अवसर मिल जाया करता है। ऐसे प्रतीकों का प्रयोग अपनी भाषा में केवल किन्हीं चमत्कारों द्वारा अधिक क्षमता लाने के उद्देश्य से भी नहीं किया जाता और न इससे उसमें उक्ति-वैचित्र्य का ही समावेश कराया जाता है। सादृश्य मूलक दीख पड़ने के कारण इसे कभी उपमानों का स्थान दे दिया जाता है जो उचित नहीं है। यह उससे कहीं अधिक व्यापक है। इसकी सहायता बहुधा ऐसे अवसरों पर ली जाती है जब हमारी भाषा पंगु और अशक्त सी बनकर मौन धारण करने लगती है और जब अनुभवकर्त्ता के विविध भाव पत्थरों से चतुर्दिक टकराने वाले स्रोतों की भाँति फूट निकलने के लिए मचलने से लग जाते हैं। ऐसी दशा में हम उनकी यथेष्ट अभिव्यक्ति के लिए उनके साम्य की खोज अपने जीवन के विभिन्न अनुभवों में करने लगते हैं और जिस किसी को उपयुक्त पाते हैं उसका प्रयोग कर उसके मार्ग द्वारा अपनी भाव-धारा को प्रवाहित कर देते हैं।[1]

परशुराम चतुर्वेदी की इस परिभाषा में बेवेन की अति-व्यापकता का दोष नहीं है परन्तु उन्होंने प्रतीक को उपमान से भिन्न मानते हुए भी इन दोनों के मध्य किसी स्पष्ट विभाजक रेखा का उल्लेख नहीं किया है।

प्रतीकों का महत्त्व

सुसेन लेंगर ने अपनी रचना 'फिलासफी इन ए न्यू की" में प्रतीकों की महत्ता पर प्रकाश डालते हुये लिखा है कि "यह मानव

१ पृ० ५१— अवन्तिका वर्ष २ अङ्क १, सन् १९५४

मस्तिष्क को समझने का साधन है। प्रतीकात्मक विचार शक्ति के कारण ही मानव पशु से उच्च तथा विस्तृत जगत् में निवास करता है। इस सम्बन्ध में सभी दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, मानव-शास्त्र-वेत्ता एक मत है।[1]"

प्रतीक और विचार

प्रोफेसर ए० डी० रिशी के अनुसार विचार एक प्रतीकात्मक क्रिया है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'नेचुरल हिस्ट्री आफ दी माइण्ड' में लिखा है, "जहाँ तक विचारों का सम्बन्ध है विचार प्रत्येक स्तर पर प्रतीकात्मक क्रिया है। इस क्रिया के मानसिक होने का कारण प्रतीकों की अमूर्तता' नहीं है क्योंकि प्रतीक तो अधिकतर और सम्भवतः सदैव मूर्त ही रहते हैं। यह क्रिया मानसिक इसलिए है क्योंकि वह स्वयं प्रतीक है............विचार की मुख्य क्रिया ही प्रतीकात्मक है।[2]"

प्रतीकात्मकता और धर्म

प्रतीकों की निर्माण क्रिया पर विचार करते हुए लेङ्गर ने लिखा है कि ऐन्द्रीय अनुभवों के आधार पर ही विचारों का निर्माण होता है किन्तु यह क्रिया विचारों का संयोग मात्र नहीं है। यदि यह क्रिया केवल समान अनुभवों के आधार पर ही होती तो शीघ्र ही यह असम्बद्ध, जटिल तथा कृत्रिम हो जाती। यह क्रिया कहीं अधिक सूक्ष्म सिद्धान्त पर आधारित है जिसे प्रतीकात्मक क्रिया की संज्ञा दी जा सकती है। ऐन्द्रीय अनुभव निरन्तर प्रतीकों में परिवर्तित होते रहते हैं जोकि हमारे प्रारम्भिक विचार हैं। इस प्रकार के कुछ विभिन्न विचार सम्बद्ध होकर वह रूप प्राप्त करते हैं जिसे हम तर्क कहते हैं। अन्य विचार जो तर्क से सम्बद्ध नहीं हो पाते वे स्वप्न, दिवा स्वप्न और कल्पना के रूप में प्रकट होते हैं और इनमें से अनेक मानव मस्तिष्क के उस विशाल प्रासाद का निर्माण करते हैं जिसे हम धर्म की संज्ञा देते हैं।[3]'

१—पृ० २१ लेङ्गर द्वारा उद्धृत।

२—वही।

३—वही पृ० ३३।

प्रतीकात्मकता और मानव

रिशी के अनुसार मानव की मूल आवश्यकताओं में प्रतीकात्मकता की आवश्यकता स्पष्ट है। दैनिक क्रिया के सदृश प्रतीक निर्माण की क्रिया भी स्वाभाविक रूप से निरन्तर कार्यशील रहती है। कभी हमें इस क्रिया का ज्ञान होता है और कभी हम उसके परिणाम से ही अवगत हो पाते हैं और हमें ऐसा ज्ञान होता है कि हमारे अनुभव मस्तिष्क में पहुँच कर घुल मिल गए हैं।

इस विषय पर उन्होंने आगे लिखा है—यदि प्रतीक ही विचार की सामग्री है तो मस्तिष्क को विचार-क्रियाशील बनाए रखने के लिए अनुभवों को निरन्तर प्रतीक रूप में परिवर्तित करते रहना पड़ेगा। यथार्थ में प्रतीकात्मकता विचार की मुख्य क्रिया नहीं है। बल्कि यह विचारों के लिए आवश्यक तथा उससे पूर्व की है। प्रतीक निर्माण मस्तिष्क की आवश्यक क्रिया है किन्तु हमें यह ज्ञात है कि मस्तिष्क में ऐसी अनेक बातें आती हैं जोकि विचार की परिधि से परे हैं। मस्तिष्क द्वारा निर्मित प्रतीकों में से कुछ ही प्रतीक तर्क सम्मत भाषा का रूप ग्रहण कर सकते हैं। प्रत्येक मानव मस्तिष्क में प्रतीकों का भण्डार रहता है जिनमें से आवश्यकतानुसार कुछ का प्रयोग होता है और कुछ बिना प्रयुक्त ही रह जाते हैं जोकि प्रतीकों के वृहत् भण्डार के स्वामी और मानसिक सम्पत्ति के आगार मस्तिष्क की निरन्तर क्रियाशीलता का परिणाम है।[1]

प्रतीक और रूपक

यह ऊपर कहा जा चुका है कि रूपक और प्रतीक दो भिन्न वस्तुएँ हैं। रूपक में किसी वस्तु का गुण, कर्म अथवा धर्म के सादृश्य से किसी अन्य वस्तु पर आरोप होता है। यहाँ उपमेय और उपमान का एक होना दिखाया जाता है अर्थात् उपमेय में उपमान का आरोप कर दिया जाता है। सादृश्य पर आधारित होते हुए भी प्रतीक में उपमेय पर उपमान के आरोप की क्रिया नहीं होती न चमत्कार की ही प्रधानता होती है। प्रतीक उस भाव या वस्तु के स्थानापन्न होते हैं जिनके द्वारा मूल वस्तु का स्वरूप सरलता पूर्वक स्पष्ट हो जाता है। रूपक में वर्णित दोनों पक्ष प्रधान रहते हैं जबकि प्रतीक द्वारा व्यंजित सत्य ही प्रधान होता है।

---

१ लेंगर द्वारा उद्धृत पृ० ३३

प्रतीक और अन्योक्ति

प्रतीक तथा अन्योक्ति में सादृश्य होते हुए भी सूक्ष्म अन्तर है। अन्योक्ति में किसी एक वस्तु का आधार लेकर जो उक्ति कही जाती है उसका सम्बन्ध किसी अन्य से होता है। इसमें चमत्कार की प्रधानता होती है। प्रतीक में उक्ति वैचित्र्य की प्रधानता नहीं होती वरन् कथन ही प्रतिनिधि रूप में उपस्थित हो जाता है।

पीछे यह स्पष्ट किया जा चुका है कि मानव मस्तिष्क की क्रियायें ही प्रतीकात्मक हैं। प्रतीकों का यह वैज्ञानिक किन्तु अति विस्तृत अर्थ है। साधारणतः प्रतीक आध्यात्मिक अनुभूति और भावनाओं को व्यक्त करने के साधनों के रूप में प्रयुक्त होते हैं। प्रस्तुत निबन्ध में प्रतीकों का यह रूढ़ रूप ही ग्रहण किया गया है।

भ्रमरगीत में प्रतीकात्मकता

भागवत चतुर्थ स्कन्ध के २५-२८ वें अध्याय में एक प्रतीकात्मक आख्यान का स्पष्ट उल्लेख है जिसमें राजा पुरंजन जीव, नगर, शरीर, अविगत नामक सखा ईश्वर, पत्नी पुरंजनी बुद्धि या विद्या, दस मित्र, दस इन्द्रियाँ, सखियाँ इन्द्रियों की वृत्ति की प्रतीक हैं। नगर की रक्षा करने वाला पाँच फण का साँप प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान नामक प्राण वायु है। ग्यारहवां महारथी योद्धा मन है। शब्दादिक पाँच विषय ही पांचाल देश है जिसके बीच में वह नौ द्वारों वाला नगर बसा है।

भागवत में कृष्ण के मूल स्वरूप का स्थान-स्थान पर वर्णन है किन्तु कृष्ण कथा को प्रतीकात्मक रूप में ग्रहण करने का कहीं भी आभास नहीं मिलता, यद्यपि दार्शनिकों तथा भक्तों ने कृष्ण लीला की प्रतीकात्मक व्याख्या की है और उसको इसी रूप में ग्रहण किया है।

कृष्ण स्वरूप

कृष्ण का स्वरूप विभिन्न सम्प्रदायों में विभिन्न प्रकार से वर्णित है किन्तु मूल रूप से सभी कृष्ण को परब्रह्म मानते हैं। निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुसार ब्रह्म जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण है। श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं जो कि अद्वैत हैं। उनका सच्चिदानन्दात्मक विग्रह है। ब्रजधाम में नित्य स्थित हैं। ब्रज में वे द्विभुज रूप हैं और

द्वारावलि में चतुर्भुज हैं। वे सर्वज्ञ, सर्व ऐश्वर्य पूर्ण, सर्व कारणत्व, सर्व शक्तित्व, सौहार्द, मृदुलता, करुणा आदि गुणों के रत्नाकर तथा भक्त वत्सल हैं।[१] मध्व सम्प्रदाय का असीम गुणों से युक्त नित्य परमात्मा अष्ट कार्यकर्त्ता हैं[२] और वह अपने मूल रूप में ही अवतरित होता है।

चैतन्य मत के अनुसार तत्त्ववेत्ता द्वारा अद्वितीय तत्त्व जोकि ब्रह्म कहा गया है वह परम तत्त्व ही स्वयं श्रीकृष्ण हैं। "श्रीकृष्ण में अनन्त गुण हैं, वे असंगय, अप्राकृत गुणशाली और अपरिमित शक्ति से विशिष्ट है और पूर्णानन्द धन उनका विग्रह है। जो ब्रह्म निर्गुण, निर्विशेष और अमूर्त कहा गया है वह सूर्य तुल्य श्रीकृष्ण के प्रकाश तुल्य है।[३]

श्री रूप गोस्वामी ने लघुभागवामृत में कृष्ण स्वरूप की व्याख्या करते हुए बताया है कि ब्रह्म के तीन स्वरूप स्वयं, तदैकात्मरूप तथा आवेश रूप में से स्वयं सब ही श्रीकृष्ण हैं। इस स्वयं रूप के भी तीन प्रकार हैं जिनमें से उनका वृन्दावन व्रज लीला रूप पूर्णतम है।

वल्लभाचार्य के अनुसार श्रुतियों का परब्रह्म ही पुरुषोत्तम है। वह विरुद्ध धर्मों का आगार अगम्य तथा अगोचर ब्रह्म ज्ञान, योग तथा भक्ति से गम्य और गोचर हो जाता है। श्रीकृष्ण ही सच्चिदानंद, रस रूप पूर्ण पुरुषोत्तम हैं।

कृष्ण भक्ति के समस्त सम्प्रदायों में कृष्ण ही परब्रह्म माने गये हैं। ब्रज के यशोदानंदन स्वयं परब्रह्म स्वरूप हैं। उनके साथ उनका समस्त लीलाधाम भी ब्रज वृन्दावन में आ गया है। इस प्रकार यशोदानंदन श्रीकृष्ण परब्रह्म के प्रतीक हैं। भ्रमरगीत में यह प्रतीक भावना अधिक सुदृढ़ तथा स्पष्ट है। सूरदास, नंददास आदि सभी भक्त कवियों ने श्रीकृष्ण को परब्रह्म ही माना है। सूरदास की गोपियाँ ब्रह्म के इस पूर्णतम स्वरूप से पूर्णतः परिचित हैं यही कारण है कि उद्धव द्वारा ब्रह्म का निर्गुण स्वरूप उन्हें रुचिकर नहीं लगता। उद्धव

१ निम्बादित्य दश श्लोकी, हरि व्यास पृ० ३८ से उद्धृत अष्ट छाप पृ० ४४।

२ सृष्टि, स्थिति, संहार, नियम, आवरण (अज्ञान) बोधन, बंधन मोक्ष।

३—अष्ट छाप पृ० ५९—लघुभागवतामृत श्लोक ६८-६९ पृ० १६३-१६ ।

के अहम् ने उन्हें उस रस रूप के दर्शन से वंचित कर रखा है। रस रूप ब्रह्म का दर्शन अहम् भाव को खोकर ही हो सकता है। गोपियों ने उस स्वरूप को भलीभाँति जान लिया है :—

"हरि रस तो ब्रजवासी जानै"

अहंकारी ज्ञानी उद्धव तो ब्रह्म के केवल अन्तर्यामी स्वरूप को ही जान सके हैं। मुक्ति सुख को भी तुच्छ कर देने वाले परब्रह्म के रसमय स्वरूप की उद्धव को अनुभूति ही नहीं है। इसी तथ्य की ओर संकेत करती हुई गोपियाँ कहती हैं :

मधुकर यह सुख तुम तें दूरि।
देख्यो, सुन्यो न परस्यौ रंचक, उड़िहु न लागी धूरि ॥

नंददास ने भी रस रूप परब्रह्म कृष्ण का दर्शन प्रेमाभक्ति द्वारा ही सम्भव माना है। उद्धव गोपियों से प्रेम की दीक्षा लेकर जब मथुरा जाते हैं तब श्रीकृष्ण उनके भ्रमजाल को नष्ट करने के हेतु अपने उसी रूप का दर्शन कराते हैं जिसको गोपियाँ निरन्तर ध्यान करती हैं—

"अपनौ रूप दिखाइ कै लीनौ बहुरि दुराइ"

कृष्ण ही परब्रह्म तथा चतुर्वर्गों के दाता हैं। महात्मा अक्षर अनन्य की गोपियाँ कृष्ण के इस स्वरूप का वर्णन उद्धव से करती हैं :

हमरे तो इष्ट ऊधौ मूरत बिहारीलाल
सच्चित अनन्द रूप कूप दुख दारका
नव रस वंत जसवंत भगवंत नाम
अर्थ धर्म काम मोक्ष दाता यव तारका ॥

भक्ति काल में कृष्ण ब्रह्म के ही प्रतीक हैं किन्तु कालान्तर में उनका यह स्वरूप परिवर्तित होता चला गया। आधुनिक बौद्धिक युग में उनका ब्रह्म स्वरूप भी नहीं रह गया। अब वे केवल आदर्श मानव मात्र रह गए हैं।

गोपी स्वरूप

ब्रज वृन्दावन में निवास करने वाली गोपियाँ विभिन्न रूपा हैं। वृहद्‌वावनपुराण और ब्रह्मवैवर्तपुराण की एक कथा के अनुसार गोपियाँ वेद की रिचायें हैं। एक बार सब श्रुतियों ने रस रूप भगवान

का अनुभव करने के लिए प्रार्थना की। तब उस आनन्द स्वरूप ने उन्हें ब्रज में गोपी रूप से प्रकट होने का वरदान दिया। जहाँ वे रस रूप भगवान् का अनुभव कर सकें। इस प्रकार श्रुतियों पर कृपा कर जब यह परात्पर रस लोक में साकार होकर प्रकट होता है तब वह श्रीकृष्ण कहा जाता है, वही पुरुषोत्तम है।...... इस तरह अपने मूल स्वरूप का अनुभव कराने के लिए उस रस रूप ने कितनी ही श्रुतियों को गोपी रूप में प्रकट किया वे श्रुति रूपा गोपी हैं। इन श्रुति रूपा गोपियों का एक यूथ है।[1]

दण्डकारण्य वासी ऋषियों को भी प्रभु ने वर दिया था। वेद की श्रुतियों को ऋषि भी कहते हैं। उन श्रुतियों को प्राप्त करने वाले तपस्वी लोग ऋषि कहे जाते हैं। ये ऋषि दण्डकारण्य वन में रहते थे। जब मर्यादित रस स्वरूप श्री रामचन्द्र वहाँ पधारे तो सब ऋषियों के हृदय में प्रभु के मूल रूप के अनुभव की इच्छा हुई और उन्होंने प्रभु से प्रार्थना की। तदनुसार अपने स्वरूप का अनुभव कराने के लिए सारस्वत काव्य में जिनको गोपी स्वरूप में प्रकट किया ये अग्निकुमार किंवा ऋषि रूप गोपी हैं। इनका भी एक यूथ है।[2]

गोपियों के तृतीय रूप का वर्णन इस प्रकार किया गया है— "मूल रस अनन्त लहरी युक्त है। रस-शास्त्र में रस की लहरी, मनोरथ की भावनायें मानी गई हैं। इसमें अनन्त भावनाएँ होती हैं। यह स्वभाव सिद्ध नित्य सिद्ध बात है। जब वह रस लोक में श्रीकृष्ण रूप में प्रकट होता है तब उसकी वे लहरें गोपी रूप में प्रकट होती हैं। वे नित्य सिद्ध गोपियाँ हैं। रस सामान्य या रस समुद्र जब श्रीकृष्ण हैं तो भाव व्यक्तियाँ उसी की अनेकांश गोपियाँ हैं।[3]

वल्लभाचार्य के अनुसार गोपियाँ भगवान् की आनन्द प्रसारिणी सामर्थ्य-शक्ति हैं। वे परब्रह्म श्रीकृष्ण से उद्भूत हैं। श्रीकृष्ण तथा

१—पृ० ७-६ 'श्री राधा कृष्ण तत्त्व' देवर्षि भट्ट श्री रामनाथ शास्त्री कृत सुबोधिनी कारिका की व्याख्या। प्रकाशक श्री भट्ट रामनाथ श्री द्वारिकानाथ शास्त्री, बड़ा मंदिर बम्बई सन् १६२७।

२—वही पृ० १०।

३—वही।

गोपियों का अनन्य सम्बन्ध है। वे कृष्ण की अंश स्वरूपा होने के कारण उनसे अभिन्न हैं।

वल्लभ भक्तों के अनुसार गोपियाँ रसात्मकता (आनन्द के आविर्भाव की स्थिति) सिद्ध कराने वाली शक्तियों की प्रतीक भी हैं[1]।

भक्ति में गोपियों का स्वरूप उन भक्तों का भी है जो सिद्ध होकर भगवान् की कृपा से रास के पूर्ण आनन्द के अधिकारी हो गए हैं अथवा जो अभी सिद्धि प्राप्ति के मार्ग पर लगे हुए हैं।[2]

चैतन्य सम्प्रदाय के अनुसार गोपियाँ अप्राकृत प्रेम और आनन्द की शक्ति स्वरूप हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में गोपियाँ आत्मा और कृष्ण परब्रह्म के प्रतीक समझे जाते हैं।

राधा स्वरूप—

राधा का उल्लेख भागवत में नहीं है। ब्रह्म वैवर्त पुराण में राधा का उल्लेख मिलता है। राधा को दार्शनिक रूप में उपस्थित करने वाले सर्वप्रथम आचार्य निम्बार्क ही प्रतीत होते हैं।[3] निम्बार्क मत के अनुसार भगवान् की माधुर्य तथा प्रेम शक्ति का स्वरूप ही राधा है। वे ही समस्त कामनाओं को पूर्ण करा सकती हैं। चैतन्य सम्प्रदाय में प्रेम और आनन्द की शक्ति स्वरूपा गोपियों में राधा महाभाव स्वरूपा हैं।[4]

राधा स्वरूप का उल्लेख करते हुए श्रीकृष्ण तत्व में देवर्षि भट्ट श्री रामनाथ शास्त्री ने लिखा है—'रस ही भाव या भावना रूप धारण करता है। इस भवन (होने) को सिद्धि कहते हैं और इसे ही 'राधस' (राधा) कहते हैं। संस्कृतज्ञों के लिए राधस् राधा या सिद्धि शब्द के आपस में पर्याय होने में कोई आश्चर्य नहीं है। तद्भवापति को ही राधस् या सिद्धि कहते हैं। सिद्धि शब्द का, प्रकृति प्रत्यया-नुकूल तात्पर्य यह है कि रसात्मा भगवान् ही सिद्ध स्वरूप में सिद्ध

१—पृ० ५०६ अष्ट छाप।

२—पृ० वही।

३—पृ० १७५ भारतीय साधना और सूरसाहित्य—मुंशीराम शर्मा संवत् २०१०।

४—पृ० ६३ अष्ट छाप।

हुआ है। अथवा यों कहो कि अनन्त शक्तिमान प्रभु ने ही यह शक्ति सामान्य का स्वरूप धारण किया है। यह मुख्य शक्ति या महासिद्धि ही श्री राधा है। इसे ही रस मर्यादा से कहें तो यों कहना पड़ेगा कि रस की महा भावना स्वरूप श्री राधिका हैं। रस को जब अपने स्वरूप का आनन्द लेना होता है तब वह राधा स्वरूप धारण करता है।'[१]

ब्रह्म वैवर्त पुराण के अनुसार राधा कृष्ण में अभेद भाव है। राधा प्रकृति और कृष्ण पुरुष हैं। श्री विष्णुपुराण में भी यह अभेदता स्वीकृत है। वल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार राधा भगवान् के आनन्द की पूर्ण सिद्धशक्ति है। 'राधा भगवान् की आदि रस-शक्ति है और गोपिकाएँ इस रस-शक्ति के भिन्न-भिन्न रूप हैं। इसीलिए भगवान् की रस-शक्तियों के बीच रस की सिद्ध-शक्ति राधा स्वामिनी-स्वरूपा हैं। भगवान् रस-शक्तियों के बीच पूर्ण रस-शक्ति स्वरूपा राधा के वश में रहते हैं।'[२]

राधा स्वरूप का उल्लेख करते हुए मुन्शीराम शर्मा ने लिखा है, 'वैष्णव धर्म के आचार्य वल्लभ निम्बार्क तथा चैतन्य माया अथवा शक्ति को भगवान् की ह्लादिनी शक्ति कहते हैं। सम्भव है राधा इसी ह्लादिनी शक्ति का रूपान्तर हो। जीव गोस्वामी ने उज्ज्वल नीलमणि की टीका में एक स्थान पर राधा को कृष्ण की स्वरूपा ह्लादिनी शक्ति कहा भी है।'[३]

भक्त कवियों ने गोपियों तथा राधा को ब्रह्म की आनन्द प्रसारिणी शक्ति के रूप में ग्रहण किया है। अन्य रूप भी स्थान-स्थान पर मिल जाते हैं। सूरदास ने भी गोपियों को वैदिक ऋचाओं का अवतार माना है। इसका उल्लेख सूर सागर दशम स्कन्ध में हुआ है:—

ब्रज सुन्दरि नहिं नारि, ऋचा श्रुति की सब आहि
मैं (ब्रह्म) अरु शिव पुनि लक्ष्मी विन सम कोउ नाहि

प्रेम दीपिका में भी गोपियों को वेद की ऋचा कहा गया है:—

१—पृ० ११-१२ श्रीकृष्ण तत्व।
२—पृ० ५०६ अष्ट छाप।
३—पृ० १७३।

तौ लौं ऊधो आइगे सब को किये प्रनाम
ग्यान दृष्टि हरि भाव तिन जानो तिनको नाम
जानौं तिनको नाम रिचा वेदन की चातुर[१]

एक अन्य स्थल पर श्रीकृष्ण उद्धव से गोपियों का परिचय देते हुए कहते हैं:—

विरह विकल करी इच्छा मम ऊधो
गोपी पहुप गोपाल रूप मम इक बहुसूधो
हौं नारायन ब्रह्म वेद मम स्वास प्रसंसत
तासु रिचा ब्रजनार लहर जैसे हिय अंसत
पूर्व अवतार जब-जब धरौं तब प्रगटे थे निज भगत।[२]

आधुनिक काल की अन्य रचनाओं में भी गोपी सम्बन्धी यह मत स्वीकृत है। रघुनाथ दास राम सनेही, प्रागनि आदि कवियों ने गोपियों को वेद की ऋचाएँ माना है। विश्राम सागर में कृष्ण उद्धव से कहते हैं:—

ममश्वास वेदन की ऋचा हैं गोपिन के दुख कहा सुनि हैं जो कहि है चरित तिनके नाशि है।

भक्त कवियों ने वैष्णव आचार्यों के मतानुसार गोपी, राधा तथा कृष्ण के भेद भाव को स्वीकार किया है। सूरदास ने इस अभेदता का वर्णन कई स्थानों पर किया है—

समुझि री नाहिन नई सगाई
सुनि राधिके तोहिं माधौ सों प्रीति सदा चलिआई।[३]

राधा कृष्ण का यह प्रेम अनन्त कालीन और नित्य है। इसी को और अधिक स्पष्ट करते हुये सूरदास कहते हैं—

गोपी, ग्वाल कान्ह दुइ नाहीं ये कहुँ नेक न न्यारि।

राधा के प्रकृति रूप का उल्लेख भी सूरसागर में मिलता है—

सकल तत्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण सब हैं अंश गोपाल॥[४]

१—पृ० ६ प्रेम दीपिका—महात्मा अक्षर अनन्य सन १६३५।

२—पृ० ३४ वही।

३—पद ३४३४ सूरसागर नागरी प्रचारणी।

४—पद ११०१ सूर सारावली।

इस अंश अंशी भाव का वर्णन नंददास कृत भंवर गीत में बहुत ही सुन्दर हुआ है। उद्धव से गोपियों का विरह वर्णन सुनकर कृष्ण की विचित्र दशा हो गई—

रोम रोम प्रति गोपिका, ह्वै रही सांवरे गात
कल्प तरोवर सांवरौ, ब्रज बनिता भई पात
उलहि अंग अंग हैं।

उद्धव की व्याकुलता देखकर कृष्ण ने उन्हें समझाते हुए कहा—

मो मैं उन मैं अंतरौ एकौ छिन भरि नाहि
ज्यों देखी मौं माझ वे, त्यों मैं उन मांहि
तरंगीन वारि लौं।

गोपियों को योग का संदेश भेजते समय भी कृष्ण ने इसी ऐक्य का संकेत किया था—

हमहि तुमहि कछु भेद नहीं देखो ग्यान विचार
हम, तुम में ऐसे रमै ज्यों सब मांहि बिहार
तुम सब हा मेरी कला देखौ आपहि आप ॥[1]

श्रीकृष्ण के सदृश्य ही राधा का यह प्रतीक भी आधुनिक काल में पर्याप्त बदल गया है।

उद्धव स्वरूप

उद्धव का उल्लेख भागवत पुराण में मिलता है। ये श्रीकृष्ण के परम मित्र तथा मंत्री थे। उद्धव ईश्वर के निर्गुण स्वरूप के उपासक तथा ज्ञानी भक्त हैं। आध्यात्मिक पक्ष में कृष्ण तथा गोपियों के सदृश्य उद्धव प्रतीक नहीं हैं। उद्धव का प्रतीक रूप में वर्णन सर्वप्रथम सूरसागर में मिलता है। तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के फलस्वरूप भक्तिकाल में उद्धव रूप का नव निर्माण हुआ। उद्धव पूर्ण ब्रह्म के ज्ञाता हैं—

पूर्ण ब्रह्म अचल अविनासी ताके तुम हो ज्ञाता

इस निर्गुण ब्रह्म ज्ञान ने उन्हें योगियों के सदृश्य अहंकारी बना दिया।[2] अभिमान वश वे रस रूप परब्रह्म के सगुण स्वरूप का साक्षात्कार करने में असमर्थ हैं। प्रेम भक्ति के अभाव में अहंकारी उद्धव

१—प्रेमदीपिका।

२—सूरसागर पद ४०४४।

ज्ञान-योग को ही सब कुछ समझते हैं। उद्धव के इसी अहम को नष्ट करने के लिए ही कृष्ण उन्हें ब्रज भेज देते हैं, वहाँ विरह दुख का अनुभव कर वे प्रेम भक्ति को प्राप्त कर सके क्योंकि बिना विरह के प्रेम का वास्तविक स्वरूप निखर नहीं पाता। उसकी तीव्रता एवं गम्भीरता का ज्ञान नहीं हो पाता—

> विरह दुख जहाँ नाहिं-नेकहु वहं न उपजे प्रेम
> रेख रूप न धरन जाकें, रहिं धरयो वह प्रेम
> त्रिगन तन करि लखत हमको ब्रह्म मानत और
> बिना गुन क्यों पुहुमि उघरै यह करत मन डोर[1]

इस भांति सूर काव्य में उद्धव अहंकारी ज्ञानी भक्त के प्रतीक हैं। हिन्दी काव्य में उद्धव का यही प्रतीक स्वरूप ग्रहण किया गया है।

भ्रमर

संस्कृत साहित्य में भ्रमर पुरुष की रस-लोलुप चंचल वृत्ति का प्रतीक है। पुरुष की स्वार्थ वृत्ति तथा प्रेम की एक निष्ठा के अभाव का प्रतिरूप भ्रमर है। हिन्दी काव्य में भी भ्रमर का यह स्वरूप मान्य है। भ्रमरगीत में भ्रमर एक ओर तो इस भावना का प्रतीक है, दूसरी ओर उद्धव का भी प्रतीक है। कृष्ण के लिए व्याज रूप से वह इसी भावना की व्यंजना के लिए प्रयुक्त हुआ है। रूप और वृत्ति का साम्य इस आरोप में सहायक हुआ है। उद्धव के लिए जो उसका प्रयोग हुआ है वह कृष्ण के नाते—वहाँ गेहूँ के सहारे घुन भी पिस गया है।

— - —

१—सूरसागर पद ४०३१।
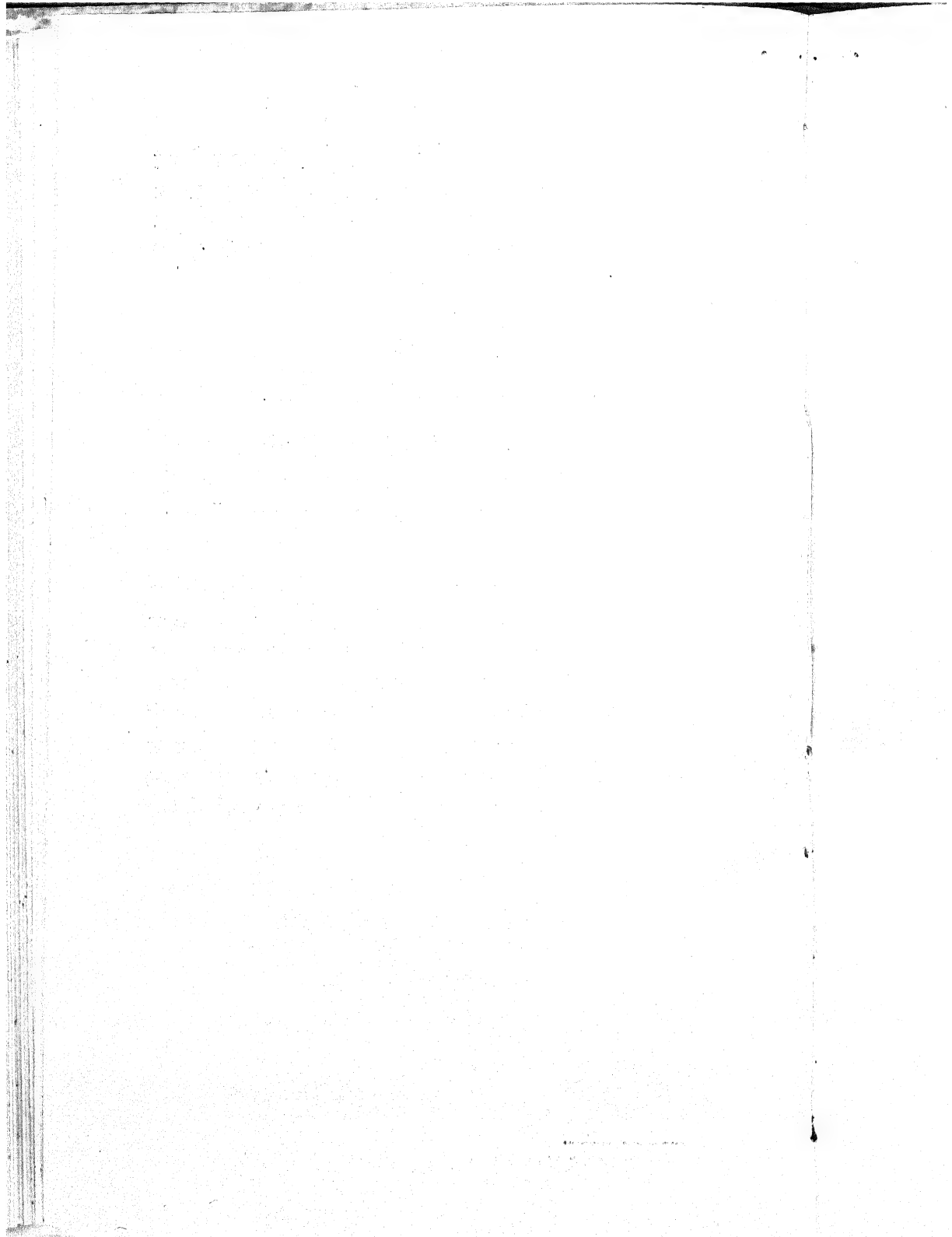
पंचम अध्याय

१—उपालम्भ का शास्त्रीय विवेचन।

२—उपालम्भ का मनोवैज्ञानिक अध्ययन।

३—उपालम्भ का ऐतिहासिक सामाजिक आधार।
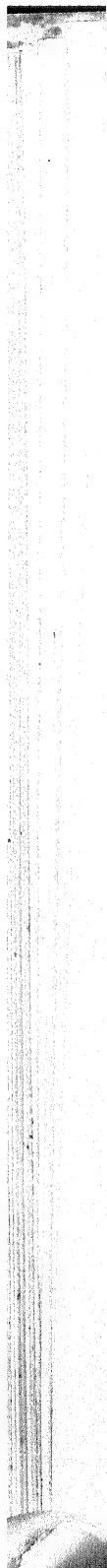
उपालम्भ का शास्त्रीय विवेचन

संस्कृत लक्षण ग्रन्थों में उपालम्भ का स्थान :-

संस्कृत आचार्यों ने उपालम्भ काव्य पर पृथक् रूप से विचार नहीं किया है। विप्रलम्भ शृङ्गार एवं नायिका भेद के अन्तर्गत खंडिता तथा विप्रलब्धा की उपालम्भ-पूर्ण उक्तियों का उल्लेख अवश्य मिल जाता है। सामान्यतः उपालम्भ विप्रलम्भ शृङ्गार के अन्तर्गत आता है। अतः उपालम्भ के विवेचन के पूर्व विप्रलम्भ-शृङ्गार की स्थिति पर विचार कर लेना उचित होगा। प्रिय से विमुक्त स्थिति का नाम ही विप्रलम्भ है। यह वियोग मानसिक एवं शारीरिक दोनों ही प्रकार का हो सकता है। आचार्य मम्मट के अनुसार विप्रलंभ-शृङ्गार पाँच प्रकार का है—

अपरस्तु अभिलाष विरहेर्ष्या प्रवासशाप हेतुक इति पंचविधः

काव्य प्रकाश। पृ० ६७

अर्थात् अभिलाषा, विरह, ईर्ष्या, प्रवास, तथा शाप के कारण विरह की स्थिति उत्पन्न होती है।

हेमचन्द्र ने अपनी रचना काव्यानुशासन में तीन प्रकार का विप्रलम्भ शृंगार माना है। करुण विप्रलम्भ को ये करुण रस के अन्तर्गत मानते हैं—

अभिलाषमान प्रवास रूपी विप्रलम्भ

काव्यानुशासन पृ० ७१

काव्यमाला ७० सन् १६०१

साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ प्रसाद के अनुसार विप्रलम्भ शृङ्गार चार प्रकार का होता है—

पूर्वरागमानप्रवास करुणात्मकश्चतुर्धास्यात्

साहित्य दर्पण पृ० १४७। १८७

सं० १६६१ लखनऊ

हिन्दी आचार्यों ने विप्रलम्भ विवेचन में इन्हीं का अनुकरण किया है। कन्हैयालाल[1] पोद्दार ने मम्मट के आधार पर पाँच भेद किये

१—देखिये रसमंजरी पृ०

हैं। हरिऔध[1] ने हेमचन्द्र के अनुसार पूर्वराग, मान और प्रवास केवल तीन ही भेदों को स्वीकार किया है। किन्तु पं० रामदहिन[2] मिश्र ने विश्वनाथ के अनुसार विप्रलम्भ के चारों भेदों को यथावत स्वीकार किया है।

अभिलाषा अथवा पूर्वराग—मिलन के पूर्व केवल गुण-श्रवण, स्वप्न दर्शन अथवा चित्र दर्शन से उत्पन्न प्रेम के कारण संयोग के अभाव में उत्पन्न विरह ही अभिलाष जन्य अथवा पूर्वराग कहलाता है।

मान—कोप का नाम मान है। मान दो प्रकार का होता है। प्रणयमान और ईर्ष्यामान—

मानः कोपः स तु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्भवः।
द्वयोः प्रणयमानः स्यात्प्रमोदे सुमहत्यपि ॥१६८

सा० दर्पण तृतीय परिच्छेद पृ० १५१

पूर्ण प्रेम होने पर भी जब नायक नायिका एक दूसरे पर झूठा क्रोध कर मान करते हैं तब प्रणयमान होता है। प्रणय मान प्रेम को पुष्ट करने वाला है। ईर्ष्यामान का सम्बन्ध केवल नायिका से है। नायक की अन्य स्त्री में आसक्ति देख कर या अनुमान कर जो मान किया जाता है वह ईर्ष्यामान है। यह अनुमान तीन प्रकार से होता है—

ईर्ष्या मानो भवेत्स्त्रीणां तत्र त्वनुमितिस्त्रिधा।
उत्स्वप्नायित भोगांकगोत्रस्खलनसंभवा ॥२००

सा० दर्पण तृतीय परिच्छेद पृ० १५२

प्रथम स्वप्न में अन्य नायिका के सम्बन्ध की बातें बड़बड़ाने से, दूसरे नायक में अन्य नायिका के सम्भोग चिह्न देखने से और तीसरे जाग्रत अवस्था में नायक के मुख से अचानक अन्य नायिका का नाम निकल जाने से इसी को क्रमशः लघु, मध्यम और गुरु मान भी कहा गया है। 'मान' पर विचार करते हुए 'रसकलस' में हरिऔध ने लिखा है—'पर पत्नी' अवलोकन-जनित मान को लघुमान कहते हैं। परस्त्री-प्रशंसा-सूचक काव्य अथवा आदरपूर्वक उसका नाम लेते सुनकर जो मान होता है उसे मध्यम मान कहते हैं। अन्य स्त्री रमण विश्वास जनित मान को गुरु मान कहते हैं।'

रसकलस पृ० २५४-२५५

१—रसकलस। २—काव्यदर्पण।

प्रवास—कार्य, शाप अथवा सम्भ्रमवश नायक के अन्य देश में चले जाने को प्रवास कहते हैं—

प्रवासी भिन्नदेशत्वं कार्याच्छापाच्च संभ्रमात् ॥२०४॥

सा० दर्पण तृ० परिच्छेद १५३

कार्यवश प्रवास भविष्यत्, वर्तमान और भूत इन तीनों भेदों में विभक्त होता है—

भावी भवन्भूत इति त्रिधा स्यातत्र कार्यजः ॥२०८॥

सा० दर्पण तृ० परिच्छेद

करुण

नायक नायिका में से एक की मृत्यु हो जाने पर दूसरे की जो दशा होती है वह करुण विप्रलम्भ कहलाती है। इस स्थिति में प्रिय का वियोग होने पर भी उसके इसी जन्म में इसी शरीर से पुनर्मिलन की आशा बनी रहती है। इस प्रकार करुण विप्रलम्भ का स्थायीभाव रति होता है। कुछ लोगों के विचार से नैराश्य की चरमावस्था भी करुण विप्रलम्भ के अन्तर्गत समझी जा सकती है।

विप्रलम्भ शृंगार के विवेचन के पश्चात यदि भ्रमरगीत पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि गोपियों का विरह प्रवास विरह के अन्तर्गत जाता है। कृष्ण का मथुरा प्रवास कार्यवश है। वे दुष्ट कंस के निमंत्रण पर कार्यवश ही मथुरा गए थे किन्तु मथुरा की जटिल राजनीति के कारण ही वे व्रज न लौट सके। इस प्रकार गोपियों का विरह कार्य-प्रवास विप्रलम्भ समझा जायेगा। किन्तु कृष्ण के मथुरा निवास का एक अन्य कारण भी है—कुब्जा अनुराग। कुब्जा प्रणय की यह कथा गोपियों को अन्य गोपों द्वारा ज्ञात होती है। किन्तु इसकी पुष्टि उद्धव के निर्गुण ब्रह्म तथा योग संदेश से हो जाती है। कृष्ण के अन्य नारी में आसक्त होने की चर्चा सुनकर गोपियाँ मान करती हैं। मान के कारण ही वे कृष्ण तथा उद्धव को उपालम्भ देती हैं। गोपियों का यह मान ईर्ष्या जन्य है। कृष्ण का कुब्जानुराग ही उनकी ईर्ष्या का कारण है। किन्तु गोपियों का यह मान काव्य-शास्त्र के लघु, मध्यम तथा गुरु मान से कुछ भिन्न है। मान-विप्रलम्भ में नायक-नायिका में स्थान की दूरी नहीं रहती केवल नायिका की तत्कालीन भिन्न मनोवृत्ति, नायक में अनन्य निष्ठा का अभाव ही

रहता है किन्तु गोपियों की स्थिति इससे भिन्न है। मान की स्थिति के साथ ही वे प्रवास जन्य विरह का भी दुख उठाती हैं। इस प्रकार गोपियों का विरह मान एवं प्रवास का मिश्रित रूप है। कृष्ण के प्रवास के कारण ही गोपियों का यह मान उपर्युक्त तीन आधारों पर आधारित भी नहीं है। गोपियों के मान का कारण परीक्षा रूप से गोपों द्वारा प्राप्त संवाद एवं प्रत्यक्ष रूप से कृष्ण प्रेषित उद्धव संदेश है। मान-स्थिति का ज्ञान नायिका की भाव-भंगिमा एवं उपालम्भ तथा व्यंगपूर्ण उक्तियों से ही होता है। अवस्था के अनुसार खंडिता तथा विप्रलब्धा और भाव के अनुसार वक्रोक्ति-गर्विता नायिका ही उपालम्भ एवं व्यंग्य का आश्रय लेती है। किन्तु गोपियाँ न तो खंडिता नायिका हैं और न विप्रलब्धा[1] अवस्था के अनुसार वे प्रोषित पतिका और स्वभाव के अनुसार वक्रोति गर्विता एवं मानवती दोनों ही हैं।

अपने रूप और नायक के प्रेम का गर्व करने वाली नायिका ही रूपगर्विता तथा प्रेमगर्विता कहलाती है। गोपियों को एक ओर तो कुब्जा के सम्मुख अपने रूप सौन्दर्य का गर्व है तो दूसरी ओर उन्हें प्रेम का भी अभिमान है। वे बड़े विश्वासपूर्वक कहती हैं—

वे तो हैं हमारे ही हमारे ही औ
हम उन्हीं की उनही की उनहीं की हैं॥६८॥
उ० शतक रत्नाकर

कृष्ण के कुब्जा पर आसक्त होने के कारण कुपित गोपियाँ मानवती भी हैं। इस प्रकार भ्रमरगीत में मान और प्रवास का सुन्दर सम्मिश्रण है। मान और ईर्ष्या के कारण ही वे कृष्ण को उपालम्भ देती हैं।

बिलग हम मानें ऊधौ काको
तरसत रहे बसुदेव देवकी, नहिं हित मातु पिता को।
काके मातु पिता को काकौ, दूध पियौ हरि जाकौ।
नंद जसौदा लाड़ लड़ायौ, नाहिं भयौ हरि ताकौ।

१—खंडित नायिका उसे कहते हैं जो परस्त्री-संसर्ग के चिह्नों से चिन्हित नायक को देखकर ईर्ष्या से दुखी होती है। विप्रलब्धा-नियुक्त स्थान पर नायक के न आने से अपमानित नायिका को कहते हैं।
रसमंजरी पृ० १९२

कहियौ जाइ बनाइ बात यह, को हित है अबला कौ।
सूरदास प्रभु प्रीति है कासों, कुटिल मीत कुबिजा कौ ॥४४७४॥
सूरसागर

उपालम्भ का स्वरूप

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि उपालम्भ एक मिश्र भाव है। ईर्ष्या विरह एवं विवशता के कारण ही उपालम्भ की उत्पत्ति होती है। नारी अपने प्रणय व्यापार में अनुकूल प्रतिदान न पाकर ही नायक को उपालम्भ देकर अपने हृदगत, ईर्ष्या, क्रोध तथा विरह भाव को व्यक्त करती है। उपालम्भ का मूल कारण उसकी विवशता एवं दयनीय स्थिति है। वह नायक पर प्रत्यक्ष क्रोध नहीं कर सकती किन्तु नायक को अन्य नायिका पर आसक्त देखकर उसके अहम् को पीड़ा पहुँचती है। उपालम्भ उसी पीड़ा का व्यक्त स्वरूप है। इस प्रकार उपालम्भ अनुभाव का ही एक रूप है।

व्यंग्य :—

उपालम्भ एवं व्यंग्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। काव्य में प्रायः उपालम्भ एवं व्यंग्यपूर्ण उक्तियों का साथ ही साथ प्रयोग हुआ है। व्यंग्य भी मानसिक अव्यवस्थित स्थिति का परिचायक है। असंतोष, क्रोध और ईर्ष्या का मिश्र भाव व्यंग्य में भी झलकता है। उपालंभ एवं व्यंग्य में इतना साम्य होते हुए भी सूक्ष्म अन्तर है। उपालम्भ तथा व्यंग्य एक ही मानसिक स्थिति के दो रूप हैं। उपालम्भ में नायिका की विवशता अधिक है। इसमें अपने ही ऊपर दोषारोपण की भावना निहित रहती है। किन्तु व्यंग्य में क्रोध तथा प्रतिहिंसा का रूप अधिक प्रखर होता है। व्यंग्योक्ति में तीखापन, हृदय को ठेस पहुँचाने की प्रवृत्ति है परन्तु उपालम्भ में दैन्य भावना ही प्रधान है। यही कारण है कि मुग्धा, मध्या खंडिता एवं विप्रलब्धा नायिकाएँ उपालम्भ तथा प्रौढ़ा खंडिता एवं प्रौढ़ा विप्रलब्धा व्यंग्य का अधिक प्रयोग करती है।

वक्रोक्ति गर्विता होने के कारण गोपियाँ उपालम्भ एवं व्यंग्य दोनों का ही प्रयोग करती हैं। कृष्ण के मनमोहन रूप पर मुग्ध होने के कारण जब वे अपनी विवशता एवं मान का प्रदर्शन करती हैं उस समय वे उपालम्भ का ही आश्रय लेती हैं। किन्तु जब ईर्ष्या एवं

रहता है किन्तु गोपियों की स्थिति इससे भिन्न है। मान की स्थिति के साथ ही वे प्रवास जन्य विरह का भी दुख उठाती हैं। इस प्रकार गोपियों का विरह मान एवं प्रवास का मिश्रित रूप है। कृष्ण के प्रवास के कारण ही गोपियों का यह मान उपर्युक्त तीन आधारों पर आधारित भी नहीं है। गोपियों के मान का कारण परीक्षा रूप से गोपों द्वारा प्राप्त संवाद एवं प्रत्यक्ष रूप से कृष्ण प्रेषित उद्धव संदेश है। मान-स्थिति का ज्ञान नायिका की भाव-भंगिमा एवं उपालम्भ तथा व्यंगपूर्ण उक्तियों से ही होता है। अवस्था के अनुसार खंडिता तथा विप्रलब्धा और भाव के अनुसार वक्रोक्ति-गर्विता नायिका ही उपालम्भ एवं व्यंग्य का आश्रय लेती है। किन्तु गोपियाँ न तो खंडिता नायिका हैं और न विप्रलब्धा[1] अवस्था के अनुसार वे प्रोषित पतिका और स्वभाव के अनुसार वक्रोति गर्विता एवं मानवती दोनों ही हैं।

अपने रूप और नायक के प्रेम का गर्व करने वाली नायिका ही रूपगर्विता तथा प्रेमगर्विता कहलाती है। गोपियों को एक ओर तो कुब्जा के सम्मुख अपने रूप सौन्दर्य का गर्व है तो दूसरी ओर उन्हें प्रेम का भी अभिमान है। वे बड़े विश्वासपूर्वक कहती हैं—

> वे तो हैं हमारे ही हमारे ही औ
> हम उन्हीं की उनही की उनहीं की हैं ॥६०॥
> उ० शतक रत्नाकर

कृष्ण के कुब्जा पर आसक्त होने के कारण कुपित गोपियाँ मानवती भी हैं। इस प्रकार भ्रमरगीत में मान और प्रवास का सुन्दर सम्मिश्रण है। मान और ईर्ष्या के कारण ही वे कृष्ण को उपालम्भ देती हैं।

> बिलग हम मानें ऊधौ काको
> तरसत रहे बसुदेव देवकी, नहिं हित मातु पिता को।
> काके मातु पिता को काकौ, दूध पियौ हरि जाकौ।
> नंद जसौदा लाड़ लड़ायौ, नाहिं भयौ हरि ताकौ।

१—खंडित नायिका उसे कहते हैं जो परस्त्री-संसर्ग के चिह्नों से चिन्हित नायक को देखकर ईर्ष्या से दुखी होती है। विप्रलब्धा-नियुक्त स्थान पर नायक के न आने से अपमानित नायिका को कहते हैं।

रसमंजरी पृ० १९२

कहियौ जाइ बनाइ बात यह, को हित है अबला कौ ।
सूरदास प्रभु प्रीति है कासों, कुटिल मीत कुबिजा कौ ॥४४७४॥
सूरसागर

उपालम्भ का स्वरूप

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि उपालम्भ एक मिश्र भाव है। ईर्ष्या विरह एवं विवशता के कारण ही उपालम्भ की उत्पत्ति होती है। नारी अपने प्रणय व्यापार में अनुकूल प्रतिदान न पाकर ही नायक को उपालम्भ देकर अपने हृद्गत, ईर्ष्या, क्रोध तथा विरह भाव को व्यक्त करती है। उपालम्भ का मूल कारण उसकी विवशता एवं दयनीय स्थिति है। वह नायक पर प्रत्यक्ष क्रोध नहीं कर सकती किन्तु नायक को अन्य नायिका पर आसक्त देखकर उसके अहम् को पीड़ा पहुँचती है। उपालम्भ उसी पीड़ा का व्यक्त स्वरूप है। इस प्रकार उपालम्भ अनुभाव का ही एक रूप है।

व्यंग्य :—

उपालम्भ एवं व्यंग्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। काव्य में प्रायः उपालम्भ एवं व्यंग्यपूर्ण उक्तियों का साथ ही साथ प्रयोग हुआ है। व्यंग्य भी मानसिक अव्यवस्थित स्थिति का परिचायक है। असंतोष, क्रोध और ईर्ष्या का मिश्र भाव व्यंग्य में भी झलकता है। उपालंभ एवं व्यंग्य में इतना साम्य होते हुए भी सूक्ष्म अन्तर है। उपालम्भ तथा व्यंग्य एक ही मानसिक स्थिति के दो रूप हैं। उपालम्भ में नायिका की विवशता अधिक है। इसमें अपने ही ऊपर दोषारोपण की भावना निहित रहती है। किन्तु व्यंग्य में क्रोध तथा प्रतिहिंसा का रूप अधिक प्रखर होता है। व्यंग्योक्ति में तीखापन, हृदय को ठेस पहुँचाने की प्रवृत्ति है परन्तु उपालम्भ में दैन्य भावना ही प्रधान है। यही कारण है कि मुग्धा, मध्या खंडिता एवं विप्रलब्धा नायिकाएँ उपालम्भ तथा प्रौढ़ा खंडिता एवं प्रौढ़ा विप्रलब्धा व्यंग्य का अधिक प्रयोग करती है।

वक्रोक्ति गर्विता होने के कारण गोपियाँ उपालम्भ एवं व्यंग्य दोनों का ही प्रयोग करती हैं। कृष्ण के मनमोहन रूप पर मुग्ध होने के कारण जब वे अपनी विवशता एवं मान का प्रदर्शन करती हैं उस समय वे उपालम्भ का ही आश्रय लेती हैं। किन्तु जब ईर्ष्या एवं

क्रोध के कारण कुब्जा प्रणयी कृष्ण के निर्गुण ब्रह्म एवं योग संदेश का प्रतिकार करती हैं तब वे व्यंग्यपूर्ण भाषा का ही प्रयोग करती हैं।

उपालम्भ का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

भावनाओं की व्यंजना अनुभावों द्वारा होती है। शारीरिक चेष्टाओं द्वारा ही सूक्ष्म भावना मूर्त रूप ग्रहण करती है। जैसे—क्रोध-भावना की अभिव्यक्ति लाल आँखें, फड़कती भुजाएँ कटु शब्द आदि द्वारा ही सम्भव है। इसी भाँति समस्त भावनाएँ किसी न किसी रूप में प्रकट होती हैं। यह निर्विवाद सत्य है कि मानव मस्तिष्क में सदैव एक ही भावना विद्यमान नहीं रहती भावनाएँ विभिन्न परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप ही उत्पन्न होती हैं। उपालम्भ भी कुछ विशेष मानसिक अवस्थाओं का परिणाम है। इन मानसिक अवस्थाओं के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के बिना उपालम्भ के स्वरूप को समझना कठिन है।

उपालम्भ का सम्बन्ध

दाम्पत्य जीवन में उपालम्भ का सम्बन्ध रति भाव से है। किन्तु उपालम्भ का सम्बन्ध उस व्यक्ति विशेष से ही हो सकता है जिससे हमारा कोई विशेष सम्बन्ध है, जिस पर हमारा अधिकार है, जिससे हमारा मोह अथवा लगाव है। जो हमारा प्रेम पात्र है वही उपालम्भ का पात्र भी हो सकता है, सामाजिक जीवन में हमारा उससे चाहे जो भी सम्बन्ध हो। इस प्रकार उपालम्भ शृंगारिक एवं अशृंगारिक दोनों ही प्रकार का हो सकता है। सत्य तो यह है कि प्रेम की नींव पर ही उपालम्भ का प्रासाद निर्मित होता है।

उपालम्भ का मूल कारण

उपालम्भ का मूल कारण कुण्ठा है। इच्छापूर्ति में उत्पन्न बाधा ही इस नैराश्य भावना को जन्म देती है। कुण्ठा (Frustration) सदैव बाह्य रूप में ही प्रकट हो यह आवश्यक नहीं है। हाँ, बाह्याभिव्यक्ति से निराशा की प्रबलता का अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है। प्रायः यह नैराश्य भावना आगे चल कर प्रतिशोधत्मक प्रवृत्ति में बदल जाती है। कभी जीवन की प्रथम कुण्ठा ही इस रूप में परिवर्तित हो जाती है। किन्तु प्रायः अनवरत नैराश्य पूर्ण परिस्थितियाँ ही मनुष्य को प्रतिशोधात्मक (aggressive) बना देती

हैं नैराश्य की विकसित प्रवृत्ति का उद्घाटन विभिन्न प्रकार की क्रियाओं द्वारा होता है। जैसे—शिकायत करना, मारना, अपमान करना, बातें फैलाना, कानाफूसी करना, व्यंग्य करना तथा गाली देना। मानसिक संतुलन बिगड़ जाने पर आत्म हत्या कर लेना भी इसी का स्वरूप है। उपालम्भ का सम्बन्ध शिकायत तथा व्यंग्य से है। बदनामी एवं अपमान करने की भावना भी इसमें अंतर्भूत है। किन्तु कुण्ठा का परिणाम सदा प्रतिशोधात्मक ही नहीं होता। कभी-कभी निराश व्यक्ति प्रतिशोधात्मक न हो कर अपनी संतुष्टि का भिन्न मार्ग ढूंढ लेता है। ऐसी स्थिति में वह उस व्यक्ति या वस्तु के प्रति उदासीन हो जाता है। इस परिवर्तन का कारण मानव मस्तिष्क की जटिलता है। मानव मनोविज्ञान के अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मनुष्य में प्रतिशोध-भावना के अतिरिक्त कुछ अन्य वृत्तियाँ भी हैं जो उसकी प्रतिशोध-भावना को नियंत्रित रखती हैं। किन्तु एक समय वह भी आता है जब नैराश्य की तीव्रता इन समस्त वृत्तियों की उपेक्षा करती हुई मनुष्य पर एकाधिकार प्राप्त कर उसे प्रतिशोधात्मक बना देती हैं।

प्रतिशोध—(aggression) की तीव्रता निम्न परिस्थितियों पर निर्भर है।

१—प्रेरणा

प्रिय वस्तु को प्राप्त करने की प्रेरणा भी जितनी बलवती होती है उसी अनुपात से उसके न मिलने पर नैराश्य भी तीव्र होता है। निराशा की तीव्रता पर ही प्रतिशोध भावना निर्भर है।

उदाहरण द्वारा यह अधिक स्पष्ट हो सकेगा। एक युवती की किसी युवक से मित्रता हो जाती है। कुछ समय पश्चात् उसका युवक के प्रति अनुराग बढ़ जाता है और वह स्वभावतः उसकी ओर से विवाह-प्रस्ताव की आशा करती है। किन्तु अपनी आशा के विपरीत वह देखती है कि युवक के हृदय में उसके प्रति तनिक भी अनुराग नहीं है और मित्रता के नाते ही वह किसी अन्य युवती से विवाह का प्रस्ताव करता है तो उस प्रस्ताव को सुन कर युवती खीज उठती है, उसे क्रोध आता है, वह झल्ला कर उठ जाती है और घर जाकर आँसुओं से मुँह धोती है। उसकी आशा टूट गई। नैराश्य में कुछ

रातें उसने जग कर काट दीं। किन्तु कुछ मास पश्चात् जब वह एक सुखी वैवाहिक जीवन व्यतीत करने लगती है तब उसे युवक की याद भी नहीं आती। यहाँ पर कुण्ठा के कारण ही खीज, क्रोध, झल्लाहट, रोदन आदि प्रतिशोधात्मक व्यवहार दिखाई पड़ा। चूँकि यहाँ मिलन प्रेरणा अधिक तीव्र एवं बलवती नहीं थी और अनुराग एकांगी था। अतः इस कुण्ठा से उत्पन्न प्रतिशोधात्मक व्यवहार भी अधिक समय तक स्थायी न रहा।

इसी उदाहरण में हम देखेंगे कि किस प्रकार नैराश्य पूर्णतः प्रतिशोधात्मक बन जाता है। उपर्युक्त उदाहरण में यह कहा जा चुका है कि यहाँ मिलन प्रेरणा अधिक तीव्र नहीं है परन्तु यदि यह अनुराग एकांगी न हो और युवक तथा युवती दोनों ही विवाह बंधन के लिए आकुल हों; किन्तु सामाजिक रूढ़ियाँ एवं पारिवारिक समस्यायें उनकी आशा पूर्ति में बाधक हों तो उस समय उत्पन्न निराशा के परिणाम स्वरूप या तो वे दोनों साहस कर घर से भाग निकलेंगे अथवा समाज से हार कर आत्महत्या कर लेंगे। घर से भागना अथवा आत्महत्या दोनों ही कुंठा जनित प्रतिशोधात्मक व्यवहार हैं। प्रथम में व्यक्ति अपने को शक्तिशाली समझ कर समाज से लोहा लेने की सोचता है। उसमें पर पीड़न की भावना जाग्रत होती है। वह दूसरों को जलाकर स्वयं प्रसन्न रहना चाहता है। किन्तु द्वितीय स्थिति में वह अपने को निबल समझ कर स्वपीड़न में ही विश्वास करता है। दोनों ही स्थितियों में प्रेरणा की तीव्रता के कारण ही कुंठा भी अधिक तीव्र हो गई है। परिणामस्वरूप प्रतिशोधात्मक व्यवहार भी अधिक गम्भीर हो गया है। चाहे वह व्यवहार बहिर्मुखी—समाज के प्रति हो अथवा अन्तर्मुखी—आत्महत्या आदि स्वपीड़न का कोई रूप हो।

२—बाधा की कठोरता—व्यवधान और नैराश्य का अटूट सम्बन्ध है। हमारी इच्छा पूर्ति में जितना कठोर व्यवधान होता है उसके दूर न हो सकने पर हमारी निराशा भी उसी अनुपात से गहरी हो जाती है। छोटी-छोटी बाधायें तो सरलता से दूर की जा सकती हैं और इस प्रकार क्षणिक निराशा की अवस्था से छुटकारा मिल जाता है। किन्तु जब ये बाधायें अति कठोर बनकर मनुष्य को जकड़ लेती हैं तब मनुष्य विफल मनोरथ तथा असहाय होकर नैराश्य सागर में डूबने लगता है। ऐसी विषम अवस्था में ही वह अपना बुद्धिबल और धैर्य खोकर प्रतिशोधात्मक बन जाता है।

३—नैराश्य की पुनरावृत्ति—यह पूर्व ही कहा जा चुका है कि यह आवश्यक नहीं कि मनुष्य प्रथम निराशा से ही प्रतिशोधात्मक बन जाय। प्रायः प्रथम बार इच्छा पूर्ति न होने से उत्पन्न निराशा क्षणिक होती है। मनुष्य बुद्धि बल द्वारा उस परिस्थिति को उत्पन्न ही नहीं होने देता अथवा तर्क एवं धैर्य द्वारा ऐसे अवसरों को उपेक्षा की दृष्टि से देखकर उनके प्रति उदासीन हो जाता है। किन्तु बार बार की असफलता के कारण उत्पन्न निराशा जनक परिस्थितियाँ उसे पूर्ववत् नहीं रहने देतीं। नैराश्य की यह पुनरावृत्ति उसको प्रतिशोधात्मक बनाने में सहायक होती है। इसका दाम्पत्य जीवन से एक उदाहरण दिया जा सकता है। परिवार में पति पत्नी दो ही व्यक्ति हैं अतः संध्या समय पत्नी बड़ी उत्सुकता से पति की प्रतीक्षा करती है। किन्तु पति महोदय पत्नी के अस्तित्व को पूर्णतः भुलाकर झटपट जलपान से निपट कर क्लब चले जाते हैं। दिन भर पति की प्रतीक्षा में आँखें बिछाए बैठी रहने वाली पत्नी को पति का इस प्रकार तुरन्त चला जाना अच्छा नहीं लगता। उसकी आशायें टूट जाती हैं, फिर भी वह शीघ्र ही मन को समझा लेती है अवश्य ही उन्हें कोई आवश्यक कार्य होगा। परन्तु यदि पति की यह उपेक्षा बढ़ जाती है और वह प्रतिदिन इसी प्रकार उसे निराश करता है तो वह भी पूर्ववत् नहीं रह पाती। उसका मन क्षोभ और क्रोध से भर जाता है। प्रत्यक्ष रूप से वह पति पर क्रोध तो नहीं कर सकती परन्तु उसका कुंठाजनित प्रतिशोधात्मक व्यवहार छिपा भी नहीं रहता। परिणामस्वरूप उसे गृह कार्य से अरुचि हो जाती है। काम तो वह करती है परन्तु उसमें वह लगन नहीं जो पहले थी। वह झल्लाहट, खीज, उपालम्भ और व्यंग्य द्वारा अपनी कुंठा को प्रकट करती है। कभी सखियों के मध्य वह पति का उपहास करती है। इस प्रकार परोक्ष रूप से वह अपनी कुंठित भावना को सन्तुष्ट करने का साधन ढूँढ निकालती है। ऐसी परिस्थिति में पत्नी के इस व्यवहार का कारण निराशा की पुनरावृत्ति ही है।

दूसरा उदाहरण—एक बालक किसी मित्र से हार जाता है। इससे उसे बड़ी निराशा होती है। वह फिर प्रयत्न करता है किन्तु पुनः असफलता ही हाथ लगती है। इस प्रकार तीन चार प्रयत्नों के पश्चात् निरन्तर असफलता उसके मन में एक भिन्न वृत्ति को जन्म

रातें उसने जग कर काट दीं। किन्तु कुछ मास पश्चात् जब वह एक सुखी वैवाहिक जीवन व्यतीत करने लगती है तब उसे युवक की याद भी नहीं आती। यहाँ पर कुण्ठा के कारण ही खीज, क्रोध, झल्लाहट, रोदन आदि प्रतिशोधात्मक व्यवहार दिखाई पड़ा। चूँकि यहां मिलन प्रेरणा अधिक तीव्र एवं बलवती नहीं थी और अनुराग एकांगी था। अतः इस कुण्ठा से उत्पन्न प्रतिशोधात्मक व्यवहार भी अधिक समय तक स्थायी न रहा।

इसी उदाहरण में हम देखेंगे कि किस प्रकार नैराश्य पूर्णतः प्रतिशोधात्मक बन जाता है। उपर्युक्त उदाहरण में यह कहा जा चुका है कि यहाँ मिलन प्रेरणा अधिक तीव्र नहीं है परन्तु यदि यह अनुराग एकांगी न हो और युवक तथा युवती दोनों ही विवाह बंधन के लिए आकुल हों किन्तु सामाजिक रूढ़ियाँ एवं पारिवारिक समस्यायें उनकी आशा पूर्ति में बाधक हों तो उस समय उत्पन्न निराशा के परिणाम स्वरूप या तो वे दोनों साहस कर घर से भाग निकलेंगे अथवा समाज से हार कर आत्महत्या कर लेंगे। घर से भागना अथवा आत्महत्या दोनों ही कुंठा जनित प्रतिशोधात्मक व्यवहार हैं। प्रथम में व्यक्ति अपने को शक्तिशाली समझ कर समाज से लोहा लेने की सोचता है। उसमें पर पीड़न की भावना जाग्रत होती है। वह दूसरों को जलाकर स्वयं प्रसन्न रहना चाहता है। किन्तु द्वितीय स्थिति में वह अपने को निबल समझ कर स्वपीड़न में ही विश्वास करता है। दोनों ही स्थितियों में प्रेरणा की तीव्रता के कारण ही कुंठा भी अधिक तीव्र हो गई है। परिणामस्वरूप प्रतिशोधात्मक व्यवहार भी अधिक गम्भीर हो गया है। चाहे वह व्यवहार बहिर्मुखी—समाज के प्रति हो अथवा अन्तर्मुखी—आत्महत्या आदि स्वपीड़न का कोई रूप हो।

२—बाधा की कठोरता—व्यवधान और नैराश्य का अटूट सम्बन्ध है। हमारी इच्छा पूर्ति में जितना कठोर व्यवधान होता है उसके दूर न हो सकने पर हमारी निराशा भी उसी अनुपात से गहरी हो जाती है। छोटी-छोटी बाधायें तो सरलता से दूर की जा सकती हैं और इस प्रकार क्षणिक निराशा की अवस्था से छुटकारा मिल जाता है। किन्तु जब ये बाधायें अति कठोर बनकर मनुष्य को जकड़ लेती हैं तब मनुष्य विफल मनोरथ तथा असहाय होकर नैराश्य सागर में डूबने लगता है। ऐसी विषम अवस्था में ही वह अपना बुद्धिबल और धैर्य खोकर प्रतिशोधात्मक बन जाता है।

३—नैराश्य की पुनरावृत्ति—यह पूर्व ही कहा जा चुका है कि यह आवश्यक नहीं कि मनुष्य प्रथम निराशा से ही प्रतिशोधात्मक बन जाय। प्रायः प्रथम बार इच्छा पूर्ति न होने से उत्पन्न निराशा क्षणिक होती है। मनुष्य बुद्धि बल द्वारा उस परिस्थिति को उत्पन्न ही नहीं होने देता अथवा तर्क एवं धैर्य द्वारा ऐसे अवसरों को उपेक्षा की दृष्टि से देखकर उनके प्रति उदासीन हो जाता है। किन्तु बार बार की असफलता के कारण उत्पन्न निराशा जनक परिस्थितियाँ उसे पूर्ववत् नहीं रहने देतीं। नैराश्य की यह पुनरावृत्ति उसको प्रतिशोधात्मक बनाने में सहायक होती है। इसका दाम्पत्य जीवन से एक उदाहरण दिया जा सकता है। परिवार में पति पत्नी दो ही व्यक्ति हैं अतः संध्या समय पत्नी बड़ी उत्सुकता से पति की प्रतीक्षा करती है। किन्तु पति महोदय पत्नी के अस्तित्व को पूर्णतः भुलाकर झटपट जलपान से निपट कर क्लब चले जाते हैं। दिन भर पति की प्रतीक्षा में आँखें बिछाए बैठी रहने वाली पत्नी को पति का इस प्रकार तुरन्त चला जाना अच्छा नहीं लगता। उसकी आशायें टूट जाती हैं, फिर भी वह शीघ्र ही मन को समझा लेती है अवश्य ही उन्हें कोई आवश्यक कार्य होगा। परन्तु यदि पति की यह उपेक्षा बढ़ जाती है और वह प्रतिदिन इसी प्रकार उसे निराश करता है तो वह भी पूर्ववत् नहीं रह पाती। उसका मन क्षोभ और क्रोध से भर जाता है। प्रत्यक्ष रूप से वह पति पर क्रोध तो नहीं कर सकती परन्तु उसका कुंठाजनित प्रतिशोधात्मक व्यवहार छिपा भी नहीं रहता। परिणामस्वरूप उसे गृह कार्य से अरुचि हो जाती है। काम तो वह करती है परन्तु उसमें वह लगन नहीं जो पहले थी। वह झल्लाहट, खीज, उपालम्भ और व्यंग्य द्वारा अपनी कुंठा को प्रकट करती है। कभी सखियों के मध्य वह पति का उपहास करती है। इस प्रकार परोक्ष रूप से वह अपनी कुंठित भावना को सन्तुष्ट करने का साधन ढूँढ निकालती है। ऐसी परिस्थिति में पत्नी के इस व्यवहार का कारण निराशा की पुनरावृत्ति ही है।

दूसरा उदाहरण—एक बालक किसी मित्र से हार जाता है। इससे उसे बड़ी निराशा होती है। वह फिर प्रयत्न करता है किन्तु पुनः असफलता ही हाथ लगती है। इस प्रकार तीन चार प्रयत्नों के पश्चात् निरन्तर असफलता उसके मन में एक भिन्न वृत्ति को जन्म

देती है। वह जानता है कि शक्ति द्वारा वह मित्र को परास्त नहीं कर सकता अतएव अब वह उससे लड़ता नहीं। प्रत्युत उसकी बुराई करता है। उसके विषय में दूसरों से कानाफूसी करता है। उस पर व्यंग्य करता है। इस प्रकार वह अपनी नैराश्य भावना की संतुष्टि का अन्य साधन ढूंढ निकलता है।

उक्त विवेचन से नैराश्य और प्रतिशोध-भावना का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। इनमें कारण और कार्य का सम्बन्ध है। नैराश्य कारण से ही प्रतिशोध-भावना-कार्य का जन्म होता है। कारण के बिना कार्य नहीं हो सकता किन्तु कभी कभी कारण होने पर भी उसका परिणाम स्पष्ट लक्षित नहीं होता। प्रतिशोध भावना भी कभी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है और कभी नहीं। इस प्रकार प्रतिशोध भावना की दो स्थितियाँ हैं। प्रथम मानसिक अथवा आन्तरिक और द्वितीय शारीरिक अथवा वाह्य।

मानसिक स्थिति में प्रतिशोधात्मक विचार, भावना रूप में ही रहता है। किन्तु शारीरिक स्थिति में वह कार्य रूप में परिणत होकर प्रत्यक्ष हो जाता है। अर्थात् वाह्य स्थिति में प्रतिशोध-भावना की अभिव्यक्ति शारीरिक क्रियाओं के रूप में होती है।

प्रतिशोध-भावना के वाह्य रूप की संभावना कुछ कारणों पर निर्भर है। नैराश्य का स्थायी रूप से बना रहना ही व्यक्ति के व्यवहार को प्रतिशोधात्मक बना देता है। किन्तु जिनके प्रति हम प्रतिशोधपूर्ण होना चाहते हैं यदि उस पक्ष से भी प्रतिशोधात्मक व्यवहार की संभावना हो तो प्रतिशोध का भाव दब जाता है। (ऐसी स्थिति में नैराश्य में कमी नहीं होती वरन् वह अधिक हो जाता है। इस घोर निराशा से उत्पन्न प्रतिशोध भावना को न प्रकट कर सकने के कारण व्यक्ति और भी प्रतिशोधात्मक हो जाता है। फलस्वरूप मानसिक तनाव बढ़ता जाता है। किन्तु उसके कम करने का मार्ग नहीं दिखाई पड़ता।)

यदि प्रतिशोध भावना के कार्य रूप में परिणत हो जाने से किसी सुखद परिणाम का काल्पनिक चित्र मानस पटल पर अङ्कित हो तो ऐसी दशा में प्रतिशोध भावना स्वाभाविक रूप से प्रबल हो जाती है। किन्तु यदि प्रतिशोधात्मक व्यवहार भी नैराश्य को दूर करने

में असमर्थ है तो उस समय प्रतिशोधात्मक व्यवहार प्रत्यक्ष नहीं दिखाई पड़ता। दोनों परिस्थितियों में प्रतिशोध की भावना कम नहीं होती किन्तु प्रतिशोधात्मक व्यवहार की सम्भावना कम हो जाती है।

निराशा को जन्म देने वाले कारण के स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष होने से प्रतिशोध भावना का प्रबल हो जाना स्वाभाविक है। प्रथम स्थिति में जब सभी ओर से प्रतिक्रियात्मक प्रतिशोध की सम्भावना होती है उस समय व्यक्ति की भावना अन्तर्मुखी हो जाती है। भावना के अन्तर्मुखी होने का कारण व्यक्ति की अपनी सीमाएँ, सीमित शक्ति एवं विवशता ही है। ऐसी दशा में वह स्वयं को ही प्रतिशोध का पात्र बना लेता है। स्वपीड़न अथवा आत्महत्या का यही रहस्य है। यह उसकी विवशता एवं दुखाधिक्य का परिणाम है।

प्रतिशोध भावना का मूल कारण अतृप्ति है। वस्तु प्राप्ति की इच्छा जब तृप्त नहीं हो पाती तब वह परोक्ष रूप से प्रतिशोध-भावना बन कर प्रकट होती है। किन्तु यदि अपर पक्ष इतना प्रबल होता है कि व्यक्ति अपने प्रतिशोधात्मक व्यवहार की प्रभावहीनता का अनुमान लगा सकता है तब उसकी प्रतिशोध-भावना को किसी प्रकार का मार्ग नहीं मिलता। यदि इसे किसी प्रकार का मार्ग मिल जाय तो कुछ समय के लिए भावना की तीव्रता कम हो जाती है।

प्रतिशोध-भावना के मूल में जो भावना है वह उसकी प्रेरक शक्ति के रूप में है। अतएव जब तक यह शक्ति अपने उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर पाती तब तक शान्त नहीं होती। अभिलषित वस्तु को न पा सकने के कारण जो निराशा उत्पन्न होती है वह इस प्रेरणाशक्ति को प्रतिशोध का मार्ग दिखाती है और यदि मनुष्य प्रतिशोध ले लेता है तो प्रत्यक्ष रूप से वह प्रेरणा शक्ति सन्तुष्ट हो जाती है। यह प्रतिशोध ही उसकी अभिव्यक्ति का साधन बन जाता है। इस अभिव्यक्ति के उपरान्त निराशा तथा उससे उत्पन्न प्रतिशोध-भावना दोनों ही दब जाती हैं। मानसिक गुत्थियों को सुलझाने के लिए भावनाओं की बाह्याभिव्यक्ति आवश्यक है—इसके अतिरिक्त अन्य साधन नहीं है। सिगमण्ड फ्रायड का विरेचन (Catharsis) सिद्धान्त इसी पर आधारित है। उनके अनुसार समस्त मानसिक अस्वस्थ दशाओं का कारण इन प्रेरणाओं को अभिव्यक्ति का मार्ग न मिल सकना ही है। हृदय की इन समस्त भावनाओं को चेतन तथा

अवचेतन की गहराई से निकाल कर प्रकट रूप देना ही विरेचन है। जिसे फ्रायड मानसिक रोगों के निराकरण का सर्व प्रमुख साधन समझते हैं। (फ्रायड के सिद्धान्त का यह व्यापक एवं सर्वांगी विश्लेषण नहीं है। यह विश्लेषण विषय के सीमित दृष्टिकोण से ही किया गया है)।

मानव व्यापार को पूर्णतः समझने के लिए मानव स्वभाव का अध्ययन एवं विश्लेषण आवश्यक है। मनोवैज्ञानिकों ने मानव प्रकृति का विश्लेषण विभिन्न प्रकार से किया है। कुछ विद्वानों के अनुसार मानव प्रकृति में सहजवृत्ति ही प्रमुख है। सहजवृत्ति भी कई प्रकार की होती है। कुछ मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्त अलग अलग सहजवृत्ति के विवेचन पर ही आधारित हैं। फ्रायड के अनुसार मानव में काम या रति भाव ही प्रधान है और इस रतिभाव की पूर्ति में उत्पन्न व्यवधान ही कुण्ठा का कारण है।

रति का सम्बन्ध प्रेम भावना से है और इसकी व्यंजना भी इसी रूप में सम्भव है। फ्रायड के अनुसार प्रेम भावना के दो आलम्बन हो सकते हैं एक तो वाह्य जिसमें प्रेम का पात्र या आलम्बन अन्य व्यक्ति होता है। किन्तु कभी कभी यह प्रेम भावना अन्य के प्रति न होकर स्वयं के प्रति होती है। इसी को स्व-रति कहते हैं। फ्रायड के अनुसार स्वरति की मनोवृत्ति प्रत्येक मानव में होती है। जब किसी प्रकार व्यक्तित्व का अनादर या उपेक्षा होती है उस समय उसका अहम् भाव उसे प्रतिशोध लेने के लिए उत्तेजित करता है। फ्रायड ने इसी को स्वरति की प्रवृत्ति (नारसिस्टिक टेंडेंसी) कहा है।

मनुष्य में अपने को कुछ समझने अथवा आत्मभिमान की भावना स्वरति के परिणामस्वरूप ही होती है। इसीलिये स्वाभिमान पर आघात लगने से मनुष्य प्रतिशोधात्मक बन जाता है। ऐसी परिस्थिति में इस प्रतिशोधात्मक व्यवहार के मूल में मनुष्य की स्वरति ही प्रेरक शक्ति के रूप में काय करती है।

प्रतिशोधात्मक व्यवहार पर विचार करते समय फ्रायड के एक अन्य सिद्धान्त पर भी विचार कर लेना अनुचित न होगा। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को परपीड़न में ही आनन्द का अनुभव होता है। मनुष्य की इस मनोवृत्ति को फ्रायड ने परपीड़न की प्रवृत्ति (सेडेस्टिक टेंडेंसी) कहा है।

प्रतिशोधात्मक व्यवहार में मनुष्य की परपीड़न वृत्ति उभर जाती है। उसे दूसरों को सताने में मजा आने लगता है। अतृप्त एवं अपूर्ण इच्छाओं से उत्पन्न आनन्दाभाव को, दूसरे व्यक्ति की कष्ट पूर्ण स्थिति से उत्पन्न सुख, पूर्ण कर देता है। विपक्षी की विपत्ति का आनन्द हम इसी मनोवृत्ति के कारण उठा पाते हैं। अन्यथा दूसरे की कष्टप्रद स्थिति हमें कभी भी सुख नहीं पहुँचा सकती।

एक अन्य मनोवैज्ञानिक—आडलर के मतानुसार यौन भावना की अपेक्षा अधिकार की भावना ही प्रधान है। प्रत्येक व्यक्ति अधिकारों का अधिक से अधिक उपभोग करना चाहता है। इस अधिकार भावना में व्याघात होने से उसे निराशा होती है। जिसकी अभिव्यक्ति प्रतिशोधात्मक व्यवहार में होती है। अधिकार की यह भावना सभी मनुष्यों में होती है चाहे हम प्रकट रूप में उसका अनुभव करें या न करें। कभी कभी अधिकार भावना का प्रयोग वस्तु स्थिति के अनुभव बिना भी होता रहता है। किन्तु जब हमारी अधिकार भावना को कोई ललकार देता है अथवा उसकी उपेक्षा करता है तब हम इसके प्रति विशेष सजग हो जाते हैं। हम देखते हैं कि अधिकार और शक्ति में कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है। शक्ति के अभाव में अधिकार भावना निर्बल पड़ जाती है। मनुष्य की यह निर्बलता विवशता और नैराश्य में बदल कर उसे प्रतिशोध का भिन्न मार्ग ढूँढने पर विवश कर देती है।

नैराश्य तथा प्रतिशोधात्मक व्यवहार पर विचार करने के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि उपालम्भ एवं व्यंग्य कुण्ठा जन्य प्रतिशोधात्मक व्यवहार का ही एक रूप है। जिसमें उसकी पराजित अधिकार-भावना तथा स्वरति दोनों का ही समावेश है। मनुष्य अपने आप से प्रेम करता है, अपने को संतुष्ट करने के लिए ही वह संसार में अनेक कर्म करता तथा अनेक सम्बन्ध जोड़ता है। यह आत्म तुष्टि अनेक रूपों में संभव है। कभी विश्व वन्धुत्व तो कभी भौतिक पदार्थों का संचय एवं उपभोग में उसे आनन्द मिलता है। किसी भी स्थिति में वह अपने आपको सुखी एवं संतुष्ट देखना चाहता है। जब मनुष्य के सुख में बाधा पड़ती है उस समय उसका स्वाभिमान आत्म-प्रेम एवं अधिकार भावना सभी सजग होकर उसे प्रतिशोधात्मक बनने के लिए प्रेरित करती हैं। उपालम्भ एवं व्यंग्य के विषय में भी यही कहा जा सकता है। ये दोनों मनुष्य के प्रतिशोधात्मक व्यवहार के ही रूप हैं।

व्यंग्य में उसकी परपीडन वृत्ति अधिक बलवती हो जाती है। वह उस व्यक्ति को जिसने उसके प्रेम का प्रतिपादन नहीं दिया अथवा जो उसके आत्म प्रेम तथा अधिकार भावना पर आघात कर रहा है, कटूक्तियों द्वारा दुखी बना कर सन्तुष्ट होना चाहता है। व्यंग्य में अपर पक्ष को व्यथित करने का भी भाव रहता है। उपालम्भ में अपनी हीनता, विवशता और दैन्य का प्राधान्य होता है। उपालम्भ आत्म पीड़न का रूप है। व्यंग्य परपीड़न का। व्यंग्य द्वारा मनुष्य अपनी वास्तविक स्थिति का अनुभव कराना चाहता है इसीलिए वह जितना तीखा व्यंग्य कर सकता है उतना ही उसे संतोष होता है। परन्तु उपालम्भ तथा व्यंग्य दोनों ही निर्बल पक्ष के अस्त्र हैं। अतः दाम्पत्य जीवन में नारी ही इनका अधिक प्रयोग करती है।

उपालम्भ एवं व्यंग्य का प्रयोग भ्रमरगीत काव्य में प्रचुर रूप में हुआ है। सच तो यह है कि भ्रमरगीत काव्य ही उपालम्भ काव्य है। अब हम देखेंगे कि भ्रमरगीत काव्य में उपालम्भ एवं व्यंग्य किस रूप में व्यक्त हुआ है।

भ्रमरगीत का उपालम्भ दाम्पत्य जीवन से सम्बन्धित होने के कारण रति भाव का उपालम्भ है। इस उपालम्भ का मुख्य कारण कुण्ठा है। जब तक गोपियों को कृष्ण के आने की आशा थी उन्होंने कृष्ण पर न तो व्यंग्य किए और न उन्हें उपालम्भ ही दिया। उनका विरह वर्णन प्रोषितपतिका के सदृश ही उनके अश्रुओं से सजल है। किन्तु नन्द आगमन पर उन्हें मथुरा का नवीन समाचार मिला जिससे उनकी व्यथा निराशा के घने अन्धकार में डूब कर उपालम्भ पूर्ण बन गई। कुब्जा की प्रणय गाथा को सुन कर उन्होंने कृष्ण को अनेक उपालम्भ दिए जिनमें उनका रूप गर्व, प्रेम गर्व, विकलता, विवशता तथा ईर्ष्या सभी कुछ छिपी हुई है। गोपियाँ परस्पर कहती हैं—

भामिनि कुबिजा सों रङ्ग राते।
राजकुमारि नारि जो पावते तो कब अङ्ग समाते।
रीझे जाइ तनक चन्दन ले मधुवन मारग जाते।
ताकी कहा गड़ाई कीजे, ऐसे रूप लुभाते।
ए अहीर वह कंस की दासी, जोरी करी विधाते[1]।
ब्रजवनिता त्यागी सूरज-प्रभु-बूझी उनकी बातें॥

१—सूर सागर पद ३७७१।

उपालम्भ के मूल में स्थिति आत्म प्रेम की भावना का उल्लेख किया जा चुका है। कुब्जा-प्रणय में गोपियों को अपने आत्म प्रेम का निरादर दिखाई पड़ता है। हास्य एवं व्यंग्य द्वारा वे इसी लक्ष्य की ओर संकेत करती हैं—

हम तो सब गुन आगरी, कुबिजा कूबर वाढ़ि।
कहो तौ हमहूँ ले चलें पाछें कूबर काढ़ि॥

गोपियों ने केवल कृष्ण को ही उपालम्भ नहीं दिया किन्तु विरह भावना को उद्दीप्त करने वाले चन्द्र आदि उद्दीपनों के प्रति भी अनेक उपालम्भ पूर्ण उक्तियाँ कहीं हैं। शारीरिक व्यथा को तीव्र करने वाले नयनों को भी उपालम्भ सुनना पड़ा है। उद्धव आगमन के पूर्व गोपियों के कथन में विरह व्यंजना की ही प्रधानता है। कुब्जा तथा कृष्ण के प्रति उपालम्भपूर्ण कुछ ही उक्तियाँ मिलती हैं परन्तु उद्धव आगमन के पश्चात् तो स्थिति पूर्णतः बदल जाती है। इसका कारण नैराश्य की गहनता ही है। नैराश्य की तीव्रता के साथ ही प्रतिशोधात्मक व्यवहार—उपालम्भ एवं व्यंग्य अधिक स्पष्ट एवं तीव्र हो गया है।

वस्तुतः उद्धव के आगमन के पूर्व गोपियों के हृदय में कृष्ण मिलन की आशा बनी थी। वे निरन्तर लिखित एवं मौखिक संदेश द्वारा उन्हें स्व स्थिति से अवगत करा रहा थीं किन्तु कृष्ण ने न तो उत्तर ही दिया और न स्वयं आये अतः एक के पश्चात् दूसरी निराशा से नैराश्य का रंग और भी गहरा हो गया। ऐसी ही दशा में एक दिन उनके बाम अंग फड़क उठे। कौए प्रिय आगमन की सूचना देने लगे। गोपियों के हृदय में पुनः आशा का संचार हुआ। निश्चय ही या तो कृष्ण स्वयं आ रहे हैं। अथवा उन्होंने कोई संदेश भेजा है। आशापूर्ण हो वे मथुरा-मार्ग पर आते हुए रथ को देखकर पुलकित हो गई। वैसा ही रथ है, वैसा ही मोर मुकुटधारी कोई व्यक्ति बैठा है—निश्चय ही वे कृष्ण हैं—किन्तु यह क्या कृष्ण के स्थान पर उद्धव निकले। मिलन की समस्त आशा नैराश्य में बदल गई। परन्तु उद्धव को देखकर उन्होंने किसी प्रकार हृदय को सान्त्वना दी। कृष्ण न सही उनका संदेश तो आया है। पुनः उनका हृदय चंचल हो उठा परन्तु इस बार फिर निराशा ही हाथ लगी। प्रेमपूर्ण सन्देश के स्थान पर विरह भावना को तीव्र करने वाला निर्गुण ब्रह्म एवं योग संदेश ने उनकी शेष आशा को भी छिन्न भिन्न कर दिया। इस प्रकार अनवरत

व्यंग्य में उसकी परपीडन वृत्ति अधिक बलवती हो जाती है। वह उस व्यक्ति को जिसने उसके प्रेम का प्रतिपादन नहीं दिया अथवा जो उसके आत्म प्रेम तथा अधिकार भावना पर आघात कर रहा है, कटूक्तियों द्वारा दुखी बना कर सन्तुष्ट होना चाहता है। व्यंग्य में अपर पक्ष को व्यथित करने का भी भाव रहता है। उपालम्भ में अपनी हीनता, विवशता और दैन्य का प्राधान्य होता है। उपालम्भ आत्म पीड़न का रूप है। व्यंग्य परपीड़न का। व्यंग्य द्वारा मनुष्य अपनी वास्तविक स्थिति का अनुभव कराना चाहता है इसीलिए वह जितना तीखा व्यंग्य कर सकता है उतना ही उसे संतोष होता है। परन्तु उपालम्भ तथा व्यंग्य दोनों ही निर्बल पक्ष के अस्त्र हैं। अतः दाम्पत्य जीवन में नारी ही इनका अधिक प्रयोग करती है।

उपालम्भ एवं व्यंग्य का प्रयोग भ्रमरगीत काव्य में प्रचुर रूप में हुआ है। सच तो यह है कि भ्रमरगीत काव्य ही उपालम्भ काव्य है। अब हम देखेंगे कि भ्रमरगीत काव्य में उपालम्भ एवं व्यंग्य किस रूप में व्यक्त हुआ है।

भ्रमरगीत का उपालम्भ दाम्पत्य जीवन से सम्बन्धित होने के कारण रति भाव का उपालम्भ है। इस उपालम्भ का मुख्य कारण कुण्ठा है। जब तक गोपियों को कृष्ण के आने की आशा थी उन्होंने कृष्ण पर न तो व्यंग्य किए और न उन्हें उपालम्भ ही दिया। उनका विरह वर्णन प्रोषितपतिका के सदृश ही उनके अश्रुओं से सजल है। किन्तु नन्द आगमन पर उन्हें मथुरा का नवीन समाचार मिला जिससे उनकी व्यथा निराशा के घने अन्धकार में डूब कर उपालम्भ पूर्ण बन गई। कुब्जा की प्रणय गाथा को सुन कर उन्होंने कृष्ण को अनेक उपालम्भ दिए जिनमें उनका रूप गर्व, प्रेम गर्व, विकलता, विवशता तथा ईर्ष्या सभी कुछ छिपी हुई है। गोपियाँ परस्पर कहती हैं—

> भामिनि कुबिजा सों रङ्ग राते।
> राजकुमारि नारि जो पावते तो कब अङ्ग समाते।
> रीझे जाइ तनक चन्दन ले मधुवन मारग जाते।
> ताकी कहा गड़ाई कीजे, ऐसे रूप लुभाते।
> ए अहीर वह कंस की दासी, जोरी करी विधाते[1]।
> ब्रजवनिता त्यागी सूरज-प्रभु-बूझी उनकी बातें॥

१—सूर सागर पद ३७७१।

उपालम्भ के मूल में स्थिति आत्म प्रेम की भावना का उल्लेख किया जा चुका है। कुब्जा-प्रणय में गोपियों को अपने आत्म प्रेम का निरादर दिखाई पड़ता है। हास्य एवं व्यंग्य द्वारा वे इसी लक्ष्य की ओर संकेत करती हैं—

हम तो सब गुन आगरी, कुबिजा कूबर बाढ़ि।
कहो तौ हमहूँ ले चलें पाछें कूबर काढ़ि॥

गोपियों ने केवल कृष्ण को ही उपालम्भ नहीं दिया किन्तु विरह भावना को उद्दीप्त करने वाले चन्द्र आदि उद्दीपनों के प्रति भी अनेक उपालम्भ पूर्ण उक्तियाँ कहीं हैं। शारीरिक व्यथा को तीव्र करने वाले नयनों को भी उपालम्भ सुनना पड़ा है। उद्धव आगमन के पूर्व गोपियों के कथन में विरह व्यंजना की ही प्रधानता है। कुब्जा तथा कृष्ण के प्रति उपालम्भपूर्ण कुछ ही उक्तियाँ मिलती हैं परन्तु उद्धव आगमन के पश्चात् तो स्थिति पूर्णतः बदल जाती है। इसका कारण नैराश्य की गहनता ही है। नैराश्य की तीव्रता के साथ ही प्रतिशोधात्मक व्यवहार—उपालम्भ एवं व्यंग्य अधिक स्पष्ट एवं तीव्र हो गया है।

वस्तुतः उद्धव के आगमन के पूर्व गोपियों के हृदय में कृष्ण मिलन की आशा बनी थी। वे निरन्तर लिखित एवं मौखिक संदेश द्वारा उन्हें स्व स्थिति से अवगत करा रही थीं किन्तु कृष्ण ने न तो उत्तर ही दिया और न स्वयं आये अतः एक के पश्चात् दूसरी निराशा से नैराश्य का रंग और भी गहरा हो गया। ऐसी ही दशा में एक दिन उनके बाम अंग फड़क उठे। कौए प्रिय आगमन की सूचना देने लगे। गोपियों के हृदय में पुनः आशा का संचार हुआ। निश्चय ही या तो कृष्ण स्वयं आ रहे हैं। अथवा उन्होंने कोई संदेश भेजा है। आशापूर्ण हो वे मथुरा-मार्ग पर आते हुए रथ को देखकर पुलकित हो गईं। वैसा ही रथ है, वैसा ही मोर मुकुटधारी कोई व्यक्ति बैठा है—निश्चय ही वे कृष्ण हैं—किन्तु यह क्या कृष्ण के स्थान पर उद्धव निकले। मिलन की समस्त आशा नैराश्य में बदल गई। परन्तु उद्धव को देखकर उन्होंने किसी प्रकार हृदय को सान्त्वना दी। कृष्ण न सही उनका संदेश तो आया है। पुनः उनका हृदय चंचल हो उठा परन्तु इस बार फिर निराशा ही हाथ लगी। प्रेमपूर्ण सन्देश के स्थान पर विरह भावना को तीव्र करने वाला निर्गुण ब्रह्म एवं योग संदेश ने उनकी शेष आशा को भी छिन्न भिन्न कर दिया। इस प्रकार अनवरत

नैराश्य पूर्ण स्थितियों ने गोपियों को व्यंग्यमय बना दिया। वे उद्धव से सहज रूप में बात न कर सकीं। नैराश्य को बढ़ाने वाले उद्धव एवं उनके योग संदेश को सुनकर वे उद्धव पर कटूक्तियों की वर्षा कर अपने को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करती हैं। गोपियों के व्यंग्य में परपीड़न की प्रवृत्ति ही काम कर रही है। उद्धव की खीज, उनकी झुंझलाहट देखकर गोपियाँ उद्धव द्वारा उत्पन्न किये गए दुख को दूर करना चाहती हैं—

प्रकृति जो जाके अंग परी।
स्वान पूंछ कोउ कोटिक लागे, सूधी कहुँ न करी।
जैसे काग भच्छ नहिं छाँडे, जनमत जौन धरी।
धोए रंग जात नहिं कैसुहुँ, ज्यों कारी कमरी।
ज्यों अहि डसत उदर नहिं पूरत ऐसी धरनि धरी।
सूर होइ सो होइ सोच नहि, तैसेई एऊरी।[1]

उद्धव को सम्मुख देखकर गोपियों में जो प्रतिक्रियात्मक भावना उत्पन्न हुई उसके फलस्वरूप कृष्ण, कुब्जा, अक्रूर और भ्रमर सभी व्यंग्य एवं उपालम्भ के पात्र बनाये गए। अक्रूर के नाम को ध्यान में रखकर गोपियाँ कहती हैं—

कंस के कहे सों जदुवंश कौ बताइ उन्हें
तैसें ही प्रसंसि कुब्जा पै ललचायौ जो।
कहै रतनाकर न मुष्टिक चनूर आदि
मल्लनि कौ ध्यान आनि हिय कस कायो जो।
नंद जसुदा की सुख भूरि करि करि धूरि सबै
गोपी ग्वाल गैयनि पै गाज लै गिरायो जो॥
होते कहूँ क्रूर तौ न जानै करते धौं कहा
एतै क्रूर करम अक्रूर ह्वै कमायो जो।[2]

कृष्ण के योग संदेश पर व्यंग्य करते हुए गोपियों ने कृष्ण, उद्धव और कुब्जा तीनों को ही लपेट लिया है—

वे तो भए जोगी जाइ पाइ कूबरी को जोग
आप कहैं उनके गुरु है किधौ चेला है।[3]

१—सूर सागर पद ४१४४।
२—उद्धव शतक पद ७६।
३—उद्धव शतप पद ७०।

उपालम्भ एवं व्यंग्य का सम्बन्ध व्यक्ति विशेष के छोटे-छोटे कार्य कलापों से लेकर उसके पूर्वजन्म तक से होता है। गोपियाँ कृष्ण के नवीन व्यवहार को श्याम तक ही सीमित नहीं मानतीं, वे तो उनके पूर्वजन्मों तक की खबर लेती हैं। विष्णु के विभिन्न अवतारों का उल्लेख करती हुई वे सभी रूपों में उनके निष्ठुर स्वरूप का ही दर्शन करती हैं। कृष्ण के स्वार्थ स्वरूप के लिए उनके पास अनेक प्रमाण हैं—

> कोउ कहे री कहा दोष सिसुपाल नरेसे,
> ब्याह करन को गयो नृपति भीषम के देसे।
> दलबल जोरि बरात कों बढ़े है छबि बाढ़ि,
> इन छल कर दुलही हरि छुधित ग्रासमुख काढ़ि।
> आपने स्वारथी।[1]

उद्धव के सर्वव्यापी ब्रह्म-भाव को लेकर गोपियों ने तीखा व्यंग्य किया है—

> ब्रह्म जो घट घट में हरि बूझै।
> मथुरा जाय कंस को मार्‌यौ वामें ब्रह्म न सूझै।
> हम में ब्रह्म नहीं हो कहा वा कुबिजा प्रीति असूझै।
> वृन्दावन हित रूप पठाये हमें ज्ञान के गूझै।[2]

उपालम्भ एवं व्यंग्य के मनोवैज्ञानिक विवेचन तथा भ्रमर-गीत सम्बन्धी उद्धरणों द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि भ्रमरगीत मनोविज्ञान के सुदृढ़ आधार पर ही निर्मित हुआ है। भ्रमरगीतकारों ने उपालम्भ का जो विस्तृत एवं सूक्ष्मरूप अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया है वह मनोवैज्ञानिकों के लिए महत्वपूर्ण सामग्री प्रदान कर सकता है।

उपालम्भ का ऐतिहासिक सामाजिक आधार

पिछले विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि उपालम्भ मिश्र भावनाओं का अभिव्यक्ति रूप है। उपालंभ के ऐतिहासिक एवं सामा-जिक आधार को पूर्णतः जानने के लिए मानव इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेना आवश्यक हो जाता है। वर्तमान खोज के आधार पर यह स्वीकार किया जा चुका है कि वर्तमान सामाजिक प्रथा

१—नन्ददास भँवरगीत पद ४१ सं० २—विन्दावनदास भंवरगीत पद ७२

मनुष्य के अथक परिश्रम एवं बुद्धिबल का परिणाम है। मनुष्य में भाव, मनोवेग और सहज वृत्तियाँ तो पहले से ही वर्तमान थीं और मनुष्य अपनी भावनाओं द्वारा ही परिचालित होता था। किन्तु कालान्तर में इनको संयमित एवं नियंत्रण में रखने का कार्य सामाजिक जीवन में ही प्रतिफलित हुआ। मनुष्य सामाजिक प्राणी है; वह समाज में रह कर ही सोचता; बिचारता और कार्य करता है। समाज के बिना उसका जीवित रहना असंभव है। सामाजिक जीवन के पूर्व मनुष्य स्वच्छन्द एवं उद्दंड रूप से ही विचरण करता था; उसके मन में खाने पीने एवं संभोग आदि की साधारण भावनायें ही थीं; किन्तु समाज में रह कर उसकी स्वच्छन्दता नष्ट हो गई। स्वतन्त्र रह कर भी उसे दूसरों की इच्छाओं का ध्यान रखना पड़ता है। फलस्वरूप विचारों की जटिलता प्रारम्भ हुई। स्वच्छन्द मानव ने विवाह का बन्धन भी इसी आधार पर स्वीकार किया।

स्त्री-पुरुष के विवाह सम्बन्ध ने एक तो उन्हें अधिक निकट ला दिया तो दूसरी ओर समाज का अंग होते हुये भी वे उससे कुछ विशेष बातों में दूर हो गये। अर्थात् उनका प्रेम सम्बन्ध व्यक्ति विशेष के मध्य सीमित हो गया। स्त्री पुरुष प्रणय अधिकार के अतिरिक्त सामाजिक अधिकार के कारण भी एक बन्धन में बँध गए। मानसिक तथा शारीरिक रूप से दोनों का एक दूसरे पर समान अधिकार स्वीकार कर लिया गया। किन्तु यह नियम अधिक समय तक स्थिर न रह सका। पुरुष और नारी की समानता का यह अधकार कालान्तर में ढीला पड़ता गया और पुरुष ने एक नारी प्रेम के बन्धन से अपने को मुक्त कर लिया। वह खुले रूप में अनेक विवाह कर सकता था। शास्त्र ग्रन्थ ने उसे धार्मिक रूप से बहु-विवाह की स्वतंत्रता देदी। यद्यपि कुछ समय तक नारी समाज में भी बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी किन्तु यह अपवाद स्वरूप ही रह गयी थी। रामायण और महाभारत काल में दशरथ भीम अर्जुन आदि के अनेक विवाहों का उल्लेख मिलता है। किन्तु नारियों में केवल 'द्रौपदी का ही नाम लिया जा सकता है। सत्य तो यह है कि नारी की शारीरिक दुर्बलता का लाभ उठाकर समाज के शक्तिशाली अंग—पुरुष ने उस पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर उसे उपभोग्य सामग्री मात्र बना डाला। इस प्रकार के सामाजिक जीवन में नारी-हृदय की सहज भावना को कुचल डालने का प्रयत्न किया गया अर्थात् नारी

अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को भूलकर पुरुष के व्यक्तित्व में ही अपने को मिला देने का प्रयत्न करने लगी। यद्यपि सामाजिक परिस्थिति एवं मान्यताओं ने उसकी आन्तरिक भावना पर आवरण डाल रखा था फिर भी उसकी आत्म प्रेम और अधिकार भावना के अपने स्वत्व को इतनी सरलता से खोना नहीं चाहती थी। वह अनेक पुरुषों की अंकशायिनी नहीं बनना चाहती थी। साथ ही वह यह भी नहीं चाहती थी कि जिससे वह प्रेम करती है, जिसको उसने अपना तन मन अर्पण कर दिया है वह उसके प्रणय का प्रतिदान दिये बिना अन्य नारियों से प्रणय की भिक्षा माँगे। उसकी यह इच्छा मानव प्रकृति के अनुरूप ही है। सत्य तो यह है कि जहाँ एकनिष्ठ प्रेम की भावना होती है वहाँ एकाधिकार की भावना स्वतः ही आ जाती है। किन्तु नित्य नव रस का इच्छुक पुरुष एकनिष्ठ प्रेम का पूर्ण निर्वाह न कर सका। उसे सामाजिक एवं धार्मिक रूप से स्वतन्त्रता प्राप्त थी। अतः बहु विवाह का उन्मुक्त पथ उसके सामने था। नारी ने जब पुरुष को इस प्रकार अन्य नारी के साथ प्रेमालाप करते देखा तो उसको बड़ी निराशा हुई, वह अभूतपूर्व पीड़ा से कराह उठी, किन्तु स्वच्छन्द पुरुष ने मुड़कर उस पर दृष्टि भी नहीं डाली। सामाजिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों के आधार पर वह पुरुष से कुछ कह नहीं सकती थी। आर्थिक रूप से पुरुष के अधीन होने के कारण उसकी स्थिति और भी शोचनीय थी। इस सबके साथ उसकी शारीरिक दुर्बलता और विवश हृदय ने उसे प्रत्यक्ष रूप से प्रतिशोधात्मक होने से रोक रखा। इस प्रकार नारी की यह पीड़ा बहिर्मुखी होने की अपेक्षा अन्तर्मुखी हो गई। चारों ओर से निराश होकर शक्तिहीन नारी ने उपालम्भ एवं व्यंग्य को ही अपनी भाव व्यंजना का साधन बनाया। निर्बल होने के कारण वह पुरुष के सदृश उसकी उपेक्षा नहीं कर सकती थी और प्रत्यक्ष प्रतिशोध का साहस भी उसमें न था किन्तु हृदयगत ईर्ष्या, क्रोध एवं मान की पूर्ण अभिव्यक्ति बिना वह हृदय के भार को हल्का भी नहीं कर सकती थी। अतः प्रत्यक्ष रूप छोड़कर उसने परोक्ष रूप से अपने विचारों को प्रगट करना चाहा। उपालम्भ इसी प्रकार परोक्ष साधन मात्र है। उपालम्भ द्वारा वह अप्रत्यक्ष रूप से पुरुष को उसकी निष्ठुरता, अपनी विवशता और दीनता से परिचित कराती रही। उपालम्भ का यह रूप प्रत्यक्ष एवं अन्योक्ति दोनों ही रूपों में होता है। जब नारी की स्थिति अधिक गम्भीर होती है और उसे अपर

पक्ष से विपरीत परिणाम की आशा होती है, तब वह अन्योक्ति रूप से ही उपालम्भ देती है। किन्तु इस संशय के हट जाने पर अथवा कम होने पर वह प्रत्यक्ष व्यंग्य का ही उपयोग करती है। इस प्रकार उपालम्भ और व्यंग्य नारी के प्रतिशोधात्मक व्यवहार का ही रूप है।

सामंतीय युग में जब पुरुष में एकनिष्ठ प्रेम का नितान्त अभाव हो गया, उपालम्भ और व्यंग्य प्रतिदिन की बात बन गई। पुरुष जब एक नारी को छोड़कर अन्य के पास जाता तो लौटने पर उसे पत्नी से उपालम्भ एवं व्यंग्य पूर्ण उक्तियाँ सुननी पड़तीं। जीवन का यह तथ्य ही उपालम्भ काव्य के रूप में व्यक्त हुआ।

भ्रमरगीत के उपालम्भ एवं व्यंग्य के विषय में यह शंका हो सकती है कि ब्रज में कृष्ण के रहने पर गोपियों में ईर्ष्या का जन्म क्यों नहीं हुआ। मथुरा की एकमात्र कुब्जा से ही उन्हें क्यों इतनी ईर्ष्या है। इसके विषय में यही कहा जा सकता है कि गोपियों का व्यक्तित्व अलग अलग होते हुये भी वे समष्टि रूप से एक ही हैं। यही कारण है कि राधा के स्थान पर गोपी-विरह-वर्णन ही प्रधान है। वस्तुतः राधा तथा गोपियों में कोई भेद नहीं। वे नाम मात्र को अलग हैं। अन्तर तो गोपी एवं कुब्जा ही में है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्कालीन सामंतीय प्रथा ही उपालम्भ का सामाजिक आधार है। समाज की इसी भावना का चित्रण उपालम्भ काव्य-भ्रमरगीत—में हुआ है।

———

षष्ठ अध्याय

भ्रमरगीत का आलोचनात्मक अध्ययन

१—भ्रमरगीत—काल विभाजन।

(क) आरम्भ—भक्ति युग में भ्रमरगीत।

(ख) मध्यकाल—रीति युग में भ्रमरगीत।

(ग) आधुनिक काल—आधुनिक काल में भ्रमरगीत।

२—आरम्भ—भक्ति युग में भ्रमरगीत संवत् १६००–१७००

भक्ति युग की सामयिक परिस्थिति।

राजनीतिक परिस्थिति।

सामाजिक परिस्थिति।

धार्मिक परिस्थिति।

साहित्यिक परिस्थिति।

३—भक्ति युग में भ्रमरगीत की सामान्य प्रवृत्तियाँ।

४—भक्ति युग की भ्रमरगीत सम्बन्धी रचनायें तथा भ्रमरगीतकार।

(क) प्रमुख भ्रमरगीत रचनाएँ तथा उनके रचयिता।

१—सूरसागर—सूरदास

२—श्रीकृष्ण गीतावली—तुलसीदास।

३—भंवरगीत—नन्ददास।

४—सनेह लीला—हरिराय।

(ख) गौण रचनायें तथा कवि।

१—परमानन्द सागर—परमानन्द दास।

२—स्फुट—रहीम।

३—स्फुट—रसखान।

४—ऊधौ पचीसी—मलूकदास।

५—स्फुट—सेनापति।

६—भंवरगीत - मुकुन्ददास।

७—स्फुट—घासीराम।
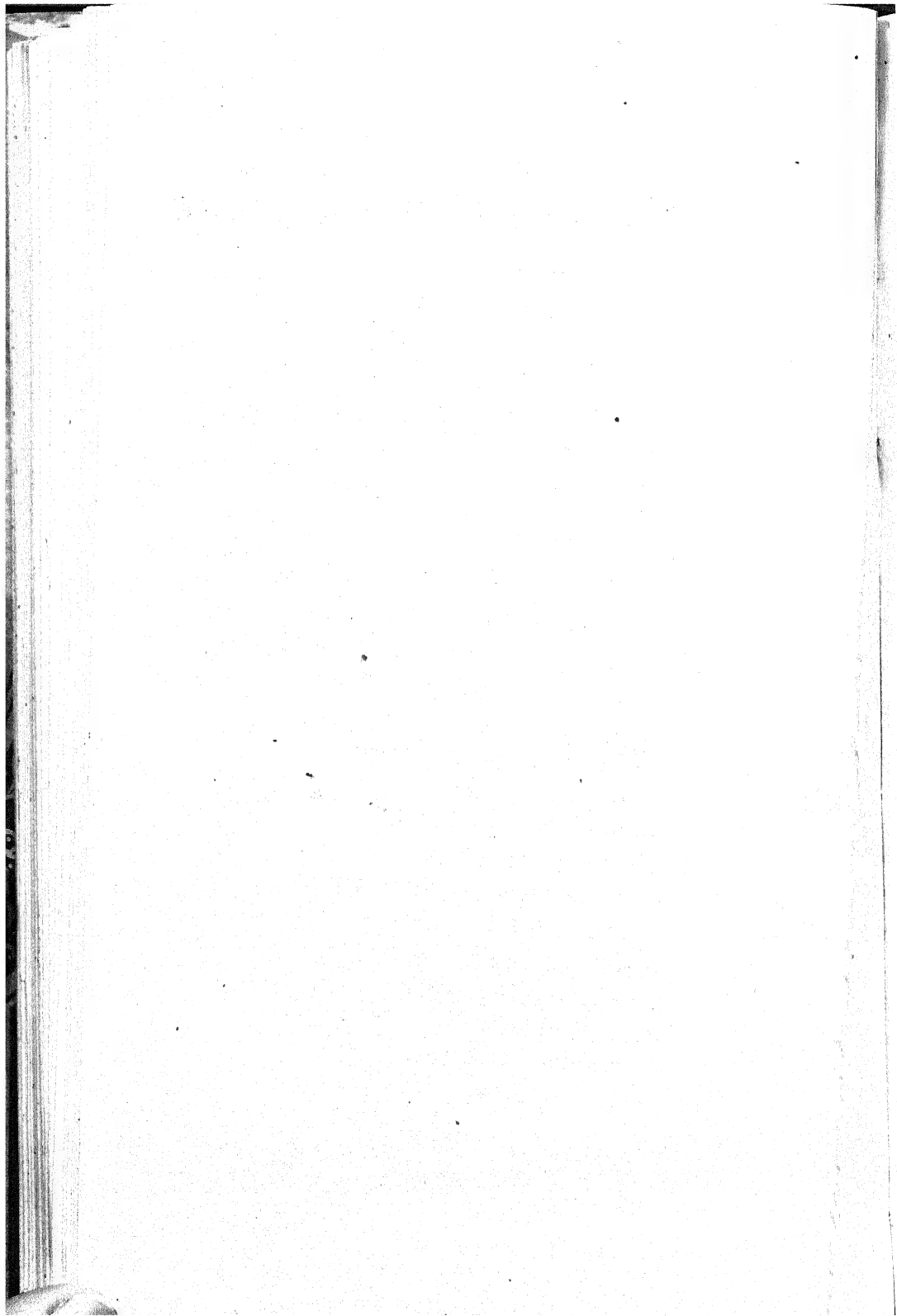
भ्रमरगीत का आलोचनात्मक अध्ययन

भ्रमरगीत—काल विभाजन

भ्रमरगीत का प्रारम्भ सोलहवीं शताब्दी से होता है। चार सौ वर्षों से निरन्तर प्रवाहित इस साहित्यिक धारा के सम्यक् अध्ययन के लिए इसका काल विभाजन कर लेना आवश्यक सा हो जाता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास को पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने आदिकाल—(वीरगाथा काल सं० १०५०-१३७५) पूर्व मध्यकाल—(भक्तिकाल सं० १३७५-१७००) उत्तर मध्यकाल—(रीतिकाल सं० १७००-१९००) आधुनिक काल—(गद्य काल सं० १९००-१९८०) में विभक्त किया है। हिन्दी के प्रायः सभी विद्वानों ने पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के इस विभाजन को स्वीकार किया है। इस विचार से भ्रमरगीत धारा भक्ति काल में सूर की वाणी से उद्भूत होकर आधुनिक काल तक निरन्तर प्रवाहित हो रही है। एक लेखक ने भ्रमरगीत परम्परा का काल विभाजन इसी आधार पर इस प्रकार किया है:—

(१) आदि काल (सं० १६००-१७००)।
(२) मध्य काल (सं० १७००-१९००)।
(३) आधुनिक काल (सं० १९००-२०००)

साधारणतः इस विभाजन को स्वीकार कर लेने में कोई हानि नहीं है केवल आदि काल से भ्रम उत्पन्न होने की आशंका है, अतएव हम उसके स्थान पर 'आरम्भ' कहेंगे। इस प्रकार भ्रमरगीत का शुक्लजी के अनुसार भक्ति, रीति तथा आधुनिक इन तीन कालों के अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता है। आधुनिक काल के विषय में थोड़े परिवर्तन की आवश्यकता है। शुक्लजी के अनुसार आधुनिक काल सं० १९८४ और श्री 'वीतराग' जी के अनुसार सं० २००० तक का समय स्वीकार किया गया है। मेरे विचार से सम्वत् २०१० तक की रचनाओं को आधुनिक काल के अन्तगत रखना उचित होगा।

१—आरम्भ—भक्ति युग में भ्रमरगीत की परम्परा (१६००-१७००)
२—मध्यकाल—रीति युग में भ्रमरगीत की परम्परा (१७००-१९००)
३—आधुनिक काल—आधुनिक काल में भ्रमरगीत की परम्परा (१९००-२०१०)

आरम्भ—भक्तिकाल में भ्रमरगीत की परम्परा—(सं० १६००-१७००)।

सामयिक परिस्थिति—

भ्रमरगीत परम्परा की प्रवृत्तियों का अध्ययन करने के लिए तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक, साहित्यिक परिस्थितियों पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा।

राजनीतिक परिस्थिति—

सोलहवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में भारत के सिंहासन पर प्रसिद्ध मुग़ल सम्राट् अकबर आसीन था। राजनीतिक उथल-पुथल के पश्चात् जनता ने चैन की सांस ली। अकबर बड़ा दूरदर्शी सम्राट था। भारत में मुग़ल साम्राज्य की नीवँ दृढ़ करने के लिए ही उसने हिन्दुओं, विशेषकर राजपूतों से रोटी-बेटी का सम्बन्ध स्थापित किया। वह हिन्दुओं के धार्मिक विश्वासों में हस्तक्षेप करना अनुचित समझता। इतना ही नहीं कभी-कभी वह स्वयं भी हिन्दू धर्म के अनुसार व्यवहार कर हिन्दू जनता की श्रद्धा तथा विश्वास प्राप्त करने में सफल हो सका। फलस्वरूप महाराणा प्रताप को छोड़ कर सभी हिन्दू राजा मुग़ल पताका के नीचे आ खड़े हुए। अब उत्तर भारत में अकबर का सामना करने वाला कोई भी राजा न था। यह कहा जा सकता है कि देश में राजनीतिक दृष्टि से शान्ति स्थापित हो चुकी थी और हिन्दुओं को अपने धार्मिक कृत्य करने की भी स्वतंत्रता थी।

सामाजिक तथा आर्थिक—

आर्थिक दृष्टि से समाज की अवस्था अच्छी थी। हिन्दुओं को भी बड़े-बड़े राजकीय पद प्राप्त थे। समाज में वर्ण-व्यवस्था शिथिल हो चली थी किन्तु जातियों तथा विभिन्न वर्गों का जाल-सा बिछा था। दो विभिन्न धर्मों के कारण धार्मिक दृष्टि से भारत हिन्दू तथा मुसलमानों में विभक्त था, किन्तु दोनों के अन्तर्गत अनेक शाखाएँ तथा उपशाखाएँ वर्तमान थीं।

धार्मिक—

सामाजिक भेद के अतिरिक्त जनता अनेक धार्मिक सम्प्रदायों में तथा मतों में विभक्त थी। भारत की संस्कृति निरन्तर विभिन्न

संस्कृतियों और विचारों के संघर्ष में पड़ कर आगे बढ़ रही थी। एक ओर तो प्राचीन वैष्णव धर्म अपने आचार विचार तथा भक्ति भावना के साथ वेग से बढ़ रहा था, दूसरी ओर बौद्ध धर्म शंकर के द्वारा नष्ट किया जाने पर भी महायान के रूप में जनता के अन्दर व्याप्त था। बौद्ध धम का महायान ही सहजयान और सहजयान से व्रजयान द्वारा अपना मार्ग तय करता हुआ आगे बढ़ कर सन्त मत में विलीन हो गया। महायान और शैव साधनाओं के सम्मिश्रण से ही नाथ-पन्थ का जन्म हुआ। इसके अतिरिक्त इस काल में अनेक बाह्याचार तथा वामाचार भी प्रचलित थे। तन्त्र-मन्त्र तथा जादू-टोने द्वारा भी भोली जनता पर प्रभाव डाला जा रहा था। सन्तों ने इस बाह्याचार का विरोध किया। यद्यपि वे सहज साधना पर विश्वास करते थे तथापि उन्होंने शरीर शुद्धि पर विशेष बल दिया। भक्त कवियों पर नाथ सम्प्रदाय के प्रभाव के विषय में हिन्दी साहित्य की भूमिका में पण्डित हजारीप्रसाद जी ने लिखा है, 'यह सम्प्रदाय काल क्रम से हिन्दी भाषी जन समुदाय को बहुत दूर तक प्रभावित कर सकता था। कबीरदास, सूरदास और जायसी की रचनाओं से जान पड़ता है कि यह सम्प्रदाय उन दिनों बड़ा प्रभावशाली रहा होगा।'

शैव तथा शाक्त धर्म भी अनेक आचार विचार में बंध कर आगे बढ़ रहे थे, यद्यपि पश्चिमी प्रदेशों में इनका अपेक्षाकृत कम प्रभाव था।

दक्षिण भारत के वैष्णव आन्दोलन का प्रचार जब उत्तर भारत में बहुमुखी प्रतिभा के साथ हुआ, तो समस्त भारत वैष्णव आचार्यों के चरणों में लोटने लगा। इनके भक्ति प्रचार से जनता के जीवन में एक नवीन आनन्द की लहर उठी, उन्हें जीवन में आधार स्वरूप शक्तिशाली तथा मनमोहन राम और कृष्ण की प्राप्ति हुई। शील, शक्ति तथा सौन्दर्य से युक्त मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित्र ने दुविधा में डूबती जनता को आशा का किनारा दिखा दिया। दूसरी ओर मुरली मनोहर की लीलाओं का गान करती हुई जनता भक्तिभाव से आत्मविभोर हो गई। राम और कृष्ण की सगुण भक्ति प्रचार में कर्मकाण्ड को भी स्थान दिया गया। वल्लभाचार्य द्वारा विभिन्न मन्दिरों की स्थापना सम्भवतः दो दृष्टिकोणों से की गई थी। भगवान्

आरम्भ—भक्तिकाल में भ्रमरगीत की परम्परा—(सं० १६०२-१७००)।

सामयिक परिस्थिति—

भ्रमरगीत परम्परा की प्रवृत्तियों का अध्ययन करने के लिए तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक, साहित्यिक परिस्थितियों पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा।

राजनीतिक परिस्थिति—

सोलहवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में भारत के सिंहासन पर प्रसिद्ध मुग़ल सम्राट् अकबर आसीन था। राजनीतिक उथल-पुथल के पश्चात् जनता ने चैन की सांस ली। अकबर बड़ा दूरदर्शी सम्राट था। भारत में मुग़ल साम्राज्य की नीवँ दृढ़ करने के लिए ही उसने हिन्दुओं, विशेषकर राजपूतों से रोटी-बेटी का सम्बन्ध स्थापित किया। वह हिन्दुओं के धार्मिक विश्वासों में हस्तक्षेप करना अनुचित समझता। इतना ही नहीं कभी-कभी वह स्वयं भी हिन्दू धर्म के अनुसार व्यवहार कर हिन्दू जनता की श्रद्धा तथा विश्वास प्राप्त करने में सफल हो सका। फलस्वरूप महाराणा प्रताप को छोड़ कर सभी हिन्दू राजा मुग़ल पताका के नीचे आ खड़े हुए। अब उत्तर भारत में अकबर का सामना करने वाला कोई भी राजा न था। यह कहा जा सकता है कि देश में राजनीतिक दृष्टि से शान्ति स्थापित हो चुकी थी और हिन्दुओं को अपने धार्मिक कृत्य करने की भी स्वतंत्रता थी।

सामाजिक तथा आर्थिक—

आर्थिक दृष्टि से समाज की अवस्था अच्छी थी। हिन्दुओं को भी बड़े-बड़े राजकीय पद प्राप्त थे। समाज में वर्ण-व्यवस्था शिथिल हो चली थी किन्तु जातियों तथा विभिन्न वर्गों का जाल-सा बिछा था। दो विभिन्न धर्मों के कारण धार्मिक दृष्टि से भारत हिन्दू तथा मुसलमानों में विभक्त था, किन्तु दोनों के अन्तर्गत अनेक शाखाएँ तथा उपशाखाएँ वर्तमान थीं।

धार्मिक—

सामाजिक भेद के अतिरिक्त जनता अनेक धार्मिक सम्प्रदायों में तथा मतों में विभक्त थी। भारत की संस्कृति निरन्तर विभिन्न

संस्कृतियों और विचारों के संघर्ष में पड़ कर आगे बढ़ रही थी। एक ओर तो प्राचीन वैष्णव धर्म अपने आचार विचार तथा भक्ति भावना के साथ वेग से बढ़ रहा था, दूसरी ओर बौद्ध धर्म शंकर के द्वारा नष्ट किया जाने पर भी महायान के रूप में जनता के अन्दर व्याप्त था। बौद्ध धम का महायान ही सहजयान और सहजयान से व्रजयान द्वारा अपना मार्ग तय करता हुआ आगे बढ़ कर सन्त मत में विलीन हो गया। महायान और शैव साधनाओं के सम्मिश्रण से ही नाथ-पन्थ का जन्म हुआ। इसके अतिरिक्त इस काल में अनेक बाह्याचार तथा वामाचार भी प्रचलित थे। तन्त्र-मन्त्र तथा जादू-टोने द्वारा भी भोली जनता पर प्रभाव डाला जा रहा था। सन्तों ने इस बाह्याचार का विरोध किया। यद्यपि वे सहज साधना पर विश्वास करते थे तथापि उन्होंने शरीर शुद्धि पर विशेष बल दिया। भक्त कवियों पर नाथ सम्प्रदाय के प्रभाव के विषय में हिन्दी साहित्य की भूमिका में पण्डित हजारीप्रसाद जी ने लिखा है, 'यह सम्प्रदाय काल क्रम से हिन्दी भाषी जन समुदाय को बहुत दूर तक प्रभावित कर सकता था। कबीरदास, सूरदास और जायसी की रचनाओं से जान पड़ता है कि यह सम्प्रदाय उन दिनों बड़ा प्रभावशाली रहा होगा।'

शैव तथा शाक्त धर्म भी अनेक आचार विचार में बंध कर आगे बढ़ रहे थे, यद्यपि पश्चिमी प्रदेशों में इनका अपेक्षाकृत कम प्रभाव था।

दक्षिण भारत के वैष्णव आन्दोलन का प्रचार जब उत्तर भारत में बहुमुखी प्रतिभा के साथ हुआ, तो समस्त भारत वैष्णव आचार्यों के चरणों में लोटने लगा। इनके भक्ति प्रचार से जनता के जीवन में एक नवीन आनन्द की लहर उठी, उन्हें जीवन में आधार स्वरूप शक्तिशाली तथा मनमोहन राम और कृष्ण की प्राप्ति हुई। शील, शक्ति तथा सौन्दर्य से युक्त मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित्र ने दुविधा में डूबती जनता को आशा का किनारा दिखा दिया। दूसरी ओर मुरली मनोहर की लीलाओं का गान करती हुई जनता भक्तिभाव से आत्मविभोर हो गई। राम और कृष्ण की सगुण भक्ति प्रचार में कर्मकाण्ड को भी स्थान दिया गया। वल्लभाचार्य द्वारा विभिन्न मन्दिरों की स्थापना सम्भवतः दो दृष्टिकोणों से की गई थी। भगवान्

के भजन कीर्तन के साथ ही अष्टयाम पूजा का विधान भी किया गया। इस प्रकार चंचल मन को स्थिर और एकाग्र करने के लिए एक सबल तथा सशक्त संबल प्रदान किया गया।

साहित्यिक

हिन्दी कृष्ण काव्य के सम्मुख संस्कृत का विशाल काव्य भंडार था। दर्शन और काव्य के अनेक सुन्दर ग्रन्थ थे। कृष्ण चरित्र तो पुराणों का महत्वपूर्ण विषय ही था। भागवत पुराण में चौबीस अवतारों के साथ कृष्णावतार की कथा को विशेष विस्तार मिला है। भागवत के अतिरिक्त वल्लभाचार्य तथा अन्य वैष्णव आचार्यों ने अनेक रचनाओं में अपने दार्शनिक मतों का प्रतिपादन किया। इन रचनाओं के अतिरिक्त जयदेव के गीतगोविन्द ने भी जनता का पर्याप्त ध्यान आकृष्ट किया। जयदेव की कोमल कान्त पदावली का प्रभाव मैथिल कोकिल विद्यापति पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। विद्यापति की पदावली की झंकार से तो समस्त मिथिला प्रदेश गूँज उठा। विद्यापति के अतिरिक्त संत कवियों के 'शब्द' भी पद शैली में ही रचे गए। इस प्रकार कृष्ण काव्य के रचियताओं के सामने भक्ति के राज-मार्ग का निर्माण आरम्भ हो चुका था।

भक्ति युग के भ्रमरगीत की सामान्य प्रवृत्तियाँ

भक्ति काल में उपलब्ध भ्रमरगीत अलौकिक परब्रह्म कृष्ण को लेकर रचा गया है, यही कारण है कि इसमें भक्ति तथा शृंगार की समानान्तर धारायें बह रही हैं। गोपियों का विरह वर्णन शृंगारिक विरह न होकर विरहासक्ति का ही रूप है। दूसरी प्रवृत्ति गोपी कथन के अन्तर्गत देखी जा सकती है। समस्त कवियों ने निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार तथा योग और भक्ति के प्रसंग को समान रूप से ग्रहण किया है। सभी ने निर्गुण ब्रह्म तथा योग संदेश का खंडन गोपियों की भावात्मक उक्तियों द्वारा कराया है। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है इसी समय आचार्य वल्लभ अपने दार्शनिक मत के प्रतिपादन में रचनायें कर रहे थे अतः भक्त कवियों ने दर्शन के शुष्क विषय को विशेष रूप से ग्रहण करना उचित न समझा। नंद-दास इस कथन के अपवाद स्वरूप हैं। उनकी गोपियाँ दर्शन के तत्वों के आधार पर ही विवाद करती हैं।

शैली की दृष्टि से भ्रमरगीत में पद-शैली को ही विशेष रूप से ग्रहण किया गया है यद्यपि बरवै, कवित्त चौपाई आदि छन्दों में भी रचनाएँ मिलती हैं।

इस युग के भ्रमरगीत में कला की अपेक्षा भावोत्कर्ष पर ही बल दिया गया है तथापि कलापक्ष की शिथिलता कहीं भी नहीं मिलती। रीतिकाल के कवियों के सदृश इनका झुकाव भाषा शृंगार की ओर न था। कीर्तन भजन के कारण साहित्य के साथ संगीत कला का समावेश स्वतः ही हो गया था।

भ्रमरगीत सम्बन्धी रचनायें तथा भ्रमरगीतकार

भक्ति काल में उपलब्ध समस्त सामग्री दो श्रेणियों के अन्तर्गत रखी जा सकती है। (१) प्रमुख रचनायें, जिनमें भ्रमरगीत प्रसंग विशेष रूप से उपलब्ध है। (२) गौड़ रचनायें, इसके अन्तर्गत स्फुट छन्दों को स्थान दिया गया है। यह विभाजन काव्य परिमाण के आधार पर ही किया गया है। काव्यगत आलोचना व्यक्तिगत कवियों के साथ ही प्रस्तुत की जायेगी।

प्रमुख रचनाएँ तथा कवि।
सूरसागर—सूरदास कृत।
श्रीकृष्ण गीतावली—तुलसीदास कृत।
भँवरगीत—नंददास कृत।
सनेह लीला—हरिरायकृत।
गौण रचनाएँ तथा कवि
स्फुट पद—परमानन्ददास
स्फुट पद—रहीम

सूरदास

भ्रमरगीत का रचनाकाल तथा प्रामाणिकता

भ्रमरगीत प्रसंग सूरदास की रचनाओं सूरसारावली तथा सूर सागर में उपलब्ध है। सूरसारावली में यह प्रसंग अत्यन्त संक्षिप्त है। किन्तु सूर सागर में यह प्रसंग विस्तार से वर्णित है। सूर सागर का भ्रमरगीत ही सूरदास की अमर रचना है। इस विस्तृत भ्रमरगीत की कथा वस्तु का सम्बन्ध भागवत के दशमस्कंध पूर्वार्ध के छियालीसवें और सेंतालीसवें अध्याय से है। किन्तु कथा का वर्णन उसी क्रम से

नहीं मिलता है। सूरदास ने इसमें मौलिक परिवर्तन कर दिया है। सूरसागर में तीन भ्रमरगीत उपलब्ध हैं। दो संक्षिप्त तथा एक बृहत् पद मय भ्रमरगीत। कथावस्तु के विचार से जहाँ एक ओर इनमें भागवत से भिन्नता है वहाँ दूसरी ओर इनका कथानक परस्पर भी भिन्न है। यद्यपि अन्तिम लक्ष्य तीनों भ्रमरगीतों का एक ही है। यहाँ पर प्रथम संक्षिप्त भ्रमरगीतों पर विचार किया जायगा।

कथावस्तु—प्रथम संक्षिप्त भ्रमरगीत दो बड़े पदों में उपलब्ध है।[1] इस भ्रमरगीत की कथा का प्रारम्भ उद्धव के ब्रज-प्रवेश से होता है। कथा इस प्रकार है, 'जिस मार्ग से हरि गए थे उसी मार्ग से हरि का रत्न-जड़ित रथ आता हुआ दिखाई पड़ता है। रथ को देख कर सखियाँ परस्पर एक दूसरे को दिखा कर कहती हैं कि रथ पर मुकुट, कुण्डल और पीताम्बर पहने हुए कोई कृष्ण के अनुरूप ही व्यक्ति आ रहा है। इतनी ही देर में उद्धव आ जाते हैं जिन्हें देख कर गोपियाँ खिन्न हो जाती हैं और कहती हैं कि कृष्ण ने सन्देश भेजा है। इसके बाद वे उद्धव से हरि का कुशल समाचार पूछती हैं कि हरि ने आने को कहा है अथवा नहीं। क्या राज-पद पाकर उन्हें गर्व हो गया और अब हम अच्छी नहीं लगतीं? गोपियाँ व्याकुल हो रही हैं, उनके शरीर काँप रहे हैं। वे शपथ दिला कर उद्धव से ब्रज आने का सत्य कारण पूछती हैं।'

उद्धव कहते हैं, 'हमें कृष्ण ने यहाँ भेजा है। तुम चतुर सयानी हो, सन्देह को मन से निकाल डालो और कृष्ण को गोपसखा मत समझो, वे अविगत अविनाशी हैं। मोह माया से रहित सबके घर घर में निवास करने वाले हैं।' उद्धव के इन वचनों को सुनकर गोपियाँ कहती हैं कि "उद्धव प्रभु की प्रभुता का वर्णन मत करो, इससे तो हमें खीज और क्रोध ही आता है। भला कुब्जा दासी की नीच सङ्गति किस वेद के अनुसार उन्होंने की है और तुम भी भले हो जो हमसे इस प्रकार कहने आ गए। गोविन्द की बातें सभी जानते हैं। हम परवश हैं इसलिए जो कहो वही मानें। अब तो जो कुछ कुब्जा चाहती है वैसा ही नाच नचाती है। उसके लिए सब उचित और हमारे लिए सब अनुचित है, कर्म की रेख को कौन जानता है। हे उद्धव कमल नैन से कहना एक बार ब्रज जाकर देख आवें जो प्रेम में

१—पद संख्या ४७११, ४७१२ नागरी प्रचारिणी सभा २००७।

निरन्तर मग्न हैं वे अपने मन को किस प्रकार समुझावें, शंकर, ब्रह्मा शेष और सुरपति भी जिनका दर्शन नहीं पाते वे ही कृष्ण रास विलास करते और घर घर मक्खन चुराकर खाते थे। उन प्रभु के मिलन में ही बहुत सुख है, विरह स्वांस में क्यों जलें।"

दूसरे पद में उद्धव गोपी सम्वाद उत्तर प्रत्युत्तर के रूप में चलता है। उद्धव ब्रज आने का कारण बताते हुये सृष्टि के निमित्त और उपादान कारण स्वरूप ब्रह्म को भजने का संदेश देते हैं, उद्धव कहते हैं, 'आत्म ज्ञान की शिक्षा देने के लिए ही ब्रजनाथ ने मुझे यहाँ भेजा है। अतः जोग समाधि द्वारा तुम ब्रह्म का ध्यान कर परमानन्द की प्राप्ति करो।' उद्धव के इस कथन का सुनकर गोपियाँ कहती हैं, जो जोगी है वह जोग को बड़ा समझता है किन्तु प्रेमी नवधा भक्ति में ही रति मानता है। हे अलि ! हमें तो भजनानन्द के सम्मुख ब्रह्मानन्द तुच्छ जान पड़ता है।' कृष्ण के मधुर स्वरूप तथा वस्त्राभूषणों का ध्यान करती हुई गोपियाँ कहती हैं, रूप की राशि ग्वालिनों के साथी कृष्ण का वह ललित त्रिभंगी स्वरूप कब दिखाई पड़ेगा ? हे उद्धव ! जो तुम हित की बात बताते हो तो मदन गोपाल से क्यों नहीं मिला देते।'

उद्धव उत्तर देते हैं कि जोग पंथ का क्रमशः अनुसरण करती हुई नेत्र बन्द कर अपने चित्त में ही रूप, वर्ण रहित ब्रह्म का ध्यान करो। हृदय कमल में ज्योति विराजती है और अनहद नाद होता है। इड़ा, पिंगला, सुषमना नाड़ी को वश में करो, सहज शून्य में ही मुरारी बसते हैं। इस प्रकार ध्यान करने से ही तुम भवसागर से पार हो जाओगी। उद्धव के ब्रह्मज्ञान को सुनकर गोपियाँ कहती हैं, 'हम गोपाल की उपासना करने वाली हैं, तुम्हारे ब्रह्मज्ञान को सुनकर हँसी आती है। यह जोग क्या कुब्जा के कूबड़ में छिपा था जिसे तुम यहाँ लाए हो। कुब्जा ने कृष्ण रूपी सुन्दर ग्राहक को देखकर यह 'जोग' उन्हें दिखाया फिर कृष्ण ने तुम्हारे हाथों उसे (जोग) यहाँ भिजवा दिया। हम अबलाओं को जिस ठग ने ठग लिया था उसी ठग को अब कंस की दासी ने ठगा। रामावतार में सीता को जिसने छला था वही अब कुब्जा बधू बनी है। उस समय सीता ने वियोग का दुख उठाया। अब कुब्जा के कारण हमारा हृदय दुखी हो रहा है। इस नीरस ज्ञान को लेकर हम क्या करेंगी। यह जोग की गठरी तो

कुब्जा के ही सिर पर पटको।' उद्धव ने एक बार पुनः प्रयत्न किया, 'प्रभु पारब्रह्म परमेश्वर हैं, वे अच्युत और अविनाशी तथा तीनों गुणों से रहित हैं, उनके लिए कोई दासी या ठकुराइन नहीं है। सर्वत्र वही ब्रह्म व्यापक है उसका तुम हृदय में ध्यान करो और सृष्टि में ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरे को मत समझो।'

गोपियों को उद्धव का यह ब्रह्मज्ञान तनिक भी न रुचा वे कहने लगीं, 'हे अलि ! तुम अपने जोग को सँवारो, तुम्हारा यह ज्ञान भक्ति विरोधी है। फिर तुम्हारे उपदेश से कुछ नहीं हो सकता क्योंकि हमारे ये नेत्र ही हमारे वश में नहीं हैं। हरि की बाट देखते हुये ये प्रति क्षण रोया करते हैं। कृष्ण के वियोग में पल भर भी नहीं सोते। यह नंदनन्दन को देखकर ही जीवित रह सकते हैं। जोग-पथ के जल को ये नहीं पी सकते। जब हरि आकर कंठ से लगा लेंगे तभी ये सुख पा सकते हैं। हे अलि ! तुम्हारे ये दुसह बचन हमें नहीं भाते। तुम्हारे जोग को लेकर हम क्या करें ओढ़ें कि बिछावें।'

गोपियों की अनन्य भक्ति देखकर उद्धव कहने लगे, हे ब्रजबाला ! तुम धन्य हो जिनके कि मदनगोपाल ही सर्वस्व हैं। मैं तो और ही उपाय कर रहा था किन्तु तुम्हारे दर्शन से ही मुझे भी भक्ति प्राप्त हुई। तुम मेरी गुरु हो, मैं तुम्हारा दास हूँ। भक्ति को सुनाकर संसार का निस्तार करूँगा।' तत्पश्चात् सूरदास कहते हैं कि जो इस भ्रमरगीत को सुने या सुनावेगा वह गोपियों की प्रेम-भक्ति को पावेगा क्योंकि गोपियाँ बड़भागी हैं जिन्हें कृष्ण की डोरी लगी है।[1]

प्रथम संक्षिप्त भ्रमरगीत में निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं

(क) भ्रमरगीत प्रसंग का प्रारम्भ ब्रज प्रदेश से होता है। उद्धव ब्रजागमन का कारण स्वयं ही बताते हैं। वे आत्मज्ञान सिखाने आए हैं। कृष्ण ने उन्हें भेजा है। आत्मा ज्ञान की शिक्षा के लिए वे निर्गुण निराकार ब्रह्म का उपदेश देते हैं कि योग समाधि द्वारा ही निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है। इड़ा, पिंगला, सुषमना, अनहद्नाद, आदि का भी उल्लेख है। अन्त में गोपियों की अनन्य भक्ति देखकर उद्धव भी भक्त बन जाते हैं। गोपियों को गुरु मान लेते हैं।

---

१ पद ४७१२ नागरी प्रचारिणी सभा।

(ख) दूर से आते हुए रथ को सर्वप्रथम गोपियाँ ही देखतीं हैं। उनके मन में एक आशा जाग उठती है, सम्भवतः कृष्ण आए हों किन्तु उद्धव को देखकर उनका चित्त दुखी हो जाता है। वे समझ जाती हैं कि कृष्ण ने संदेश भेजा है। अतः संदेश की उत्सुकता लिए वे उद्धव से हरि का कुशल समाचार पूछती हैं। कृष्ण के राजा होने और कुब्जा प्रणय की कथा उन्हें पहले से ही विदित जान पड़ती है अतः प्रसंग वश वे इसका भी उल्लेख करती हैं। कृष्ण के पूर्व जन्म रामावतार का भी उल्लेख है। गोपियाँ कृष्ण के सगुण साकार स्वरूप की उपासिका हैं उनके अंग प्रत्यंग कृष्ण वियोग में विह्वल हैं। इस जोग का उनके जीवन में कुछ भी मूल्य नहीं है।

कथावस्तु का विस्तार बहुत ही कम है। उद्धव के पूर्व ब्रजदशा, उद्धव, कृष्ण वार्तालाप उद्धव नंद मिलन तथा उद्धव प्रत्यागम आदि प्रसंगों को पूर्णतः छोड़ दिया गया है। निर्गुण ब्रह्म की चर्चा को इसमें प्रमुख स्थान मिला, द्वितीय पद में चौपाई छन्दों में ज्ञान की ही चर्चा है। इसमें उद्धव की ब्रज के प्रति अधिक भक्ति न दिखाकर गोपियों को ही गुरु रूप में ग्रहण करने का वर्णन है। यह गीत प्रबंधात्मक है। इसमें पाती का भी वर्णन नहीं मिलता ।

भागवत से साम्य तथा वैषम्य

प्रस्तुत भ्रमरगीत और भागवत के ब्रह्म निरूपण में पर्याप्त साम्य है। कृष्ण के निराकार निर्गुण स्वरूप की इसमें विस्तृत विवेचना है। इसके अतिरिक्त भागवत की गोपियों के सदृश ही इस भ्रमरगीत की गोपियाँ भी यह जानने को उत्सुक हैं कि कृष्ण को राजमद तो नहीं हो गया? उन्हें इनकी याद आती है अथवा नहीं। भागवत के सदृश ही यहाँ भी गोपियाँ रामावतार तथा कृष्णावतार को एक ही समझती हैं और कृष्ण चर्चा करते करते उनके स्वरूप का ध्यान करने लगती हैं। दोनों रचनाओं में साम्य की अपेक्षा कथा सम्बन्धी अन्तर अधिक स्पष्ट है। भागवत के छियालीसवें अध्याय में उद्धव के ब्रजागमन का उल्लेख है। उद्धव सर्वप्रथम नंद यशोदा के घर जाकर उनसे कृष्ण का संदेश कहते हैं। प्रातःकाल होने पर गोपियाँ नंद द्वार पर रथ देखकर अक्रूर आगमन से खीज उठती हैं उसी समय यमुना से आते हुए उद्धव के उन्हें दर्शन होते हैं।

भागवत में उद्धव गोपियों की प्रेमाभक्ति की प्रशंसा करते हुए उनसे कृष्ण के ब्रह्मस्वरूप का वर्णन करते हैं जिसे वे स्वीकार कर लेती हैं। किन्तु उक्त भ्रमर गीत में उद्धव गोपियों को आत्मज्ञान सिखाने आए हैं, और योग का उपदेश देते हैं, जबकि भागवत में गोपियों को इस प्रकार का उपदेश दिया ही नहीं गया। भागवत में तो श्रीकृष्ण के संदेश में पुनः मिलन की आशा झलकती है।

भागवत में वर्णित भ्रमरगीत में मथुरा की मानिनी नायिकाओं तथा सौतों के वक्षःस्थल से मसली हुई बनमालाओं का अवश्य उल्लेख है, किन्तु प्रस्तुत भ्रमरगीत में कुब्जा प्रणय का स्पष्ट वर्णन है। कुब्जा के कूबड़ को लेकर गोपियाँ व्यंग्य भी करती हैं। कुब्जा के संकेत पर नाचते कृष्ण की कल्पना कर वे भाग्य को ही दोष देती हैं।

यह भ्रमरगीत सूरदास की एक साधारण तथा संक्षिप्त रचना है। इसमें भ्रमरगीत प्रसंग को सीमित कथानक में वर्णन करने की प्रवृत्ति वर्त्तमान है। प्रथम पद में दार्शनिकता अधिक नहीं है किन्तु दूसरे पद में योग ज्ञान का ही विशेष उल्लेख है। साहित्यिक दृष्टि से इसका विशेष मूल्य नहीं। किन्तु भविष्य में जो भ्रमरगीत लिखे गए हैं उन पर इस संक्षिप्त भ्रमरगीत का भी प्रभाव पड़ा है। इसका उल्लेख अन्य रचनाओं के साथ यथास्थान किया जायगा।

द्वितीय संक्षिप्त भ्रमरगीत

कथावस्तु-द्वितीय संक्षिप्त भ्रमरगीत सत्तर पंक्तियों के एक बड़े पद रूप में प्राप्त है।[1] यह भ्रमरगीत प्रबन्धात्मक है। इसमें एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है। कथानक की दृष्टि से इसमें पूर्व वर्णित भ्रमरगीत से कुछ अन्तर है। इसका प्रारम्भ उद्धव को उपदेश देते हुए किया गया है। इसमें ब्रजवासियों के आचार व्यवहार में भी अन्तर दिखाई पड़ता है। उद्धव कहते हैं, हरि ने निर्गुण ब्रह्म का संदेश भेजा है उस उपदेश को ध्यान से सुनो।' गोपियाँ उस ओर से, जहाँ नंदसुवन, गये थे, कृष्ण के अनुरूप व्यक्ति को देखकर दौड़ी, वहाँ उद्धव को देख वे आदर पूर्वक उन्हें नन्द-गृह ले आईं और अतिथि सत्कार के पश्चात् समस्त गोप गोपियाँ उन्हें घेर कर बैठ गईं। वे मथुरा के प्रत्येक जन

१—पद सं० ४७१३ नागरी प्रचारणी सभा।

का—कृष्ण, बलदेव, वासुदेव देवकी, अक्रूर तथा कुब्जा का कुशल समाचार पूछती हैं। ब्रज के इस प्रेम व्यवहार को देखकर उद्धव आनन्दमग्न हो गए। उन्हें अपना योग संदेश सुनाने में संकोच होने लगा। वे सोचने लगे 'कृष्ण ब्रज के प्रेम को भुलाकर इन ब्रजबालाओं को योग का संदेश भेज रहे हैं। इनका प्रेम तो दीपक तथा पतंग के सदृश है। ये तो अपने शरीर को भस्म किये डाल रही हैं और कृष्ण के हृदय में तनिक भी स्नेह नहीं है। मन में इस प्रकार सोचकर उन्होंने कृष्ण का पत्र निकाला। गोपियों के नेत्र सजल हो गए, वे पत्र नहीं पढ़ सकीं। उनके प्रेम को देखकर उद्धव का ज्ञान-गर्व दूर हो गया। वे पुनः गोप गोपियों से बोले, जिस ब्रह्म का मुनि जन ध्यान करते हैं फिर भी पार नहीं पाते, तुम भी उन्हीं का ध्यान करो। उद्धव का यह कथन अमृत की आशा करने वाली उन गोपियों का विषदान के सदृश लगा। वे सरल रूप से कहने लगीं हम अहीर बालिकायें योग मुक्ति की रीति को क्या समझें। प्रत्यक्ष नंदनंदन के व्रत को छोड़कर अमूर्त रूप का ध्यान कौन करे। उद्धव के उस अलख, अरूप ब्रह्म के वर्णन को सुनकर गोपियाँ बोलीं, "यदि उनके हाथ पैर नहीं थे तो उन्हें ऊखल में किस प्रकार बाँधा गया, मक्खन चुराकर कौन खाता था। उस समय जब वे तुतला कर बोलते थे हमने उन्हें गोद में खिलाया था। अब तुम्हारी बात की सत्यता तो वही समझेगा जिसे अपने नेत्रों से नहीं दिखाई पड़ता। उद्धव कहने लगे कि 'माया में व्यक्ति नित्य ही अन्धा है। ज्ञान-नेत्र के बिना उसे वास्तविक प्रकाश नहीं दिखाई पड़ता। वास्तविक तत्व को तो वेद भी इस प्रकार समझा कर कहते हैं, ब्रह्म अनन्त है उसका न आदि है न अन्त, न माता न पिता।'

गोपियाँ बोलीं, "यहाँ तो वही दशा है कि घर और घूरे दोनों ही स्थानों पर आग लगी है। अपने घर को छोड़कर घूरे की अग्नि कौन बुझावेगा।" यादव जाति मूर्ख है जो हमें योग सिखाते हैं, हमें भूली बताते हैं। 'बताओ हम भूली हैं या अन्य लोग ही भ्रम में हैं। हे उद्धव तुम्हीं सत्य बात कहो योग और प्रेम कथा में कौन कंचन और कौन काँच है। हे मधुप! हमारी शपथ है योग और प्रेम में क्या भला है यह बताओ। प्रेम से ही व्यक्ति पार हो सकता है। प्रेम से ही संसार बँधा है। प्रेम से ही परमार्थ होता है, प्रेम से ही जीवन मुक्ति है। यह सत्य तथा निश्चित है।"

भागवत में उद्धव गोपियों की प्रेमाभक्ति की प्रशंसा करते हुए उनसे कृष्ण के ब्रह्मस्वरूप का वर्णन करते हैं जिसे वे स्वीकार कर लेती हैं। किन्तु उक्त भ्रमर गीत में उद्धव गोपियों को आत्मज्ञान सिखाने आए हैं, और योग का उपदेश देते हैं, जबकि भागवत में गोपियों को इस प्रकार का उपदेश दिया ही नहीं गया। भागवत में तो श्रीकृष्ण के संदेश में पुनः मिलन की आशा झलकती है।

भागवत में वर्णित भ्रमरगीत में मथुरा की मानिनी नायिकाओं तथा सौतों के वक्षःस्थल से मसली हुई बनमालाओं का अवश्य उल्लेख है, किन्तु प्रस्तुत भ्रमरगीत में कुब्जा प्रणय का स्पष्ट वर्णन है। कुब्जा के कूबड़ को लेकर गोपियाँ व्यंग्य भी करती हैं। कुब्जा के संकेत पर नाचते कृष्ण की कल्पना कर वे भाग्य को ही दोष देती हैं।

यह भ्रमरगीत सूरदास की एक साधारण तथा संक्षिप्त रचना है। इसमें भ्रमरगीत प्रसंग को सीमित कथानक में वर्णन करने की प्रवृत्ति वर्त्तमान है। प्रथम पद में दार्शनिकता अधिक नहीं है किन्तु दूसरे पद में योग ज्ञान का ही विशेष उल्लेख है। साहित्यिक दृष्टि से इसका विशेष मूल्य नहीं। किन्तु भविष्य में जो भ्रमरगीत लिखे गए हैं उन पर इस संक्षिप्त भ्रमरगीत का भी प्रभाव पड़ा है। इसका उल्लेख अन्य रचनाओं के साथ यथास्थान किया जायगा।

द्वितीय संक्षिप्त भ्रमरगीत

कथावस्तु-द्वितीय संक्षिप्त भ्रमरगीत सत्तर पंक्तियों के एक बड़े पद रूप में प्राप्त है।[1] यह भ्रमरगीत प्रबन्धात्मक है। इसमें एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है। कथानक की दृष्टि से इसमें पूर्व वर्णित भ्रमरगीत से कुछ अन्तर है। इसका प्रारम्भ उद्धव को उपदेश देते हुए किया गया है। इसमें ब्रजवासियों के आचार व्यवहार में भी अन्तर दिखाई पड़ता है। उद्धव कहते हैं, हरि ने निर्गुण ब्रह्म का संदेश भेजा है उस उपदेश को ध्यान से सुनो।' गोपियाँ उस ओर से, जहाँ नंदसुवन, गये थे, कृष्ण के अनुरूप व्यक्ति को देखकर दौड़ी, वहाँ उद्धव को देख वे आदर पूर्वक उन्हें नन्द-गृह ले आईं और अतिथि सत्कार के पश्चात् समस्त गोप गोपियाँ उन्हें घेर कर बैठ गईं। वे मथुरा के प्रत्येक जन

१—पद सं० ४७१३ नागरी प्रचारणी सभा।

का—कृष्ण, बलदेव, वासुदेव देवकी, अक्रूर तथा कुब्जा का कुशल समाचार पूछती हैं। ब्रज के इस प्रेम व्यवहार को देखकर उद्धव आनन्दमग्न हो गए उन्हें अपना योग संदेश सुनाने में संकोच होने लगा। वे सोचने लगे 'कृष्ण ब्रज के प्रेम को भुलाकर इन ब्रजबालाओं को योग का संदेश भेज रहे हैं। इनका प्रेम तो दीपक तथा पतंग के सदृश है। ये तो अपने शरीर को भस्म किये डाल रही हैं और कृष्ण के हृदय में तनिक भी स्नेह नहीं है। मन में इस प्रकार सोचकर उन्होंने कृष्ण का पत्र निकाला। गोपियों के नेत्र सजल हो गए, वे पत्र नहीं पढ़ सकीं। उनके प्रेम को देखकर उद्धव का ज्ञान-गर्व दूर हो गया। वे पुनः गोप गोपियों से बोले, जिस ब्रह्म का मुनि जन ध्यान करते हैं फिर भी पार नहीं पाते, तुम भी उन्हीं का ध्यान करो। उद्धव का यह कथन अमृत की आशा करने वाली उन गोपियों का विषदान के सदृश लगा। वे सरल रूप से कहने लगीं हम अहीर बालिकायें योग मुक्ति की रीति को क्या समझें। प्रत्यक्ष नंदनंदन के व्रत को छोड़कर अमूर्त रूप का ध्यान कौन करे। उद्धव के उस अलख, अरूप ब्रह्म के वर्णन को सुनकर गोपियाँ बोलीं, "यदि उनके हाथ पैर नहीं थे तो उन्हें ऊखल में किस प्रकार बाँधा गया, मक्खन चुराकर कौन खाता था। उस समय जब वे तुतला कर बोलते थे हमने उन्हें गोद में खिलाया था। अब तुम्हारी बात की सत्यता तो वही समझेगा जिसे अपने नेत्रों से नहीं दिखाई पड़ता। उद्धव कहने लगे कि 'माया में व्यक्ति नित्य ही अन्धा है। ज्ञान-नेत्र के बिना उसे वास्तविक प्रकाश नहीं दिखाई पड़ता। वास्तविक तत्व को तो वेद भी इस प्रकार समझा कर कहते हैं, ब्रह्म अनन्त है उसका न आदि है न अन्त, न माता न पिता।'

गोपियाँ बोलीं, "यहाँ तो वही दशा है कि घर और घूरे दोनों ही स्थानों पर आग लगी है। अपने घर को छोड़कर घूरे की अग्नि कौन बुझावेगा।" यादव जाति मूर्ख है जो हमें योग सिखाते हैं, हमें भूली बताते हैं। बताओ हम भूली हैं या अन्य लोग ही भ्रम में हैं। हे उद्धव तुम्हीं सत्य बात कहो योग और प्रेम कथा में कौन कंचन और कौन काँच है। हे मधुप! हमारी शपथ है योग और प्रेम में क्या भला है यह बताओ। प्रेम से ही व्यक्ति पार हो सकता है। प्रेम से ही संसार बँधा है। प्रेम से ही परमार्थ होता है, प्रेम से ही जीवन मुक्ति है। यह सत्य तथा निश्चित है।"

गोपियों के इस प्रेम को देखकर उद्धव का सब संयम नियम विस्तृत हो गया। वे गोपाल के गुण गाते हुये आनन्दमग्न हो कुंजों में फिरने लगे। कभी वे गोपियों के चरण छूते और उनके प्रेम-नेम की सराहना करते, कभी वे दौड़कर व्रज के द्रुम लताओं का आलिंगन करते। इस प्रकार प्रेम में छके उद्धव कहने लगे ये गोपी ग्वाल और समस्त ब्रजवासी धन्य हैं। यह पवित्र ब्रजभूमि, जहाँ अविनाशी कृष्ण चन्द्र ने विहार किया था, धन्य है। मैं इन्हें उपदेश देने आया था, मुझे स्वयं ही यहाँ उपदेश मिल गया। इसके अनन्तर उद्धव गोप-वेश में यदुपति नाम को भुलाकर गोपाल गोसाईं का नाम लेते मथुरा पहुँचे और कृष्ण से गोपियों को दर्शन देने के लिये कहने लगे। उद्धव बोले, आप वृन्दावन के सुख को छोड़कर कहाँ बसे हो। प्रेम विभोर उद्धव ने भगवान् को गोवर्द्धन प्रभु जान उनके चरण पकड़ लिये और व्रज की सम्पूर्ण दशा का वर्णन किया। उनके नेत्रों से अश्रु उमड़ पड़े, कंठ रुंध गया और वे पृथ्वी पर गिर पड़े। तब कृष्ण ने उन्हें उठाकर पीतपट से उनके अश्रु पोंछ कर कहा, 'अच्छा योग सिखाकर आए हो।'

भागवत तथा प्रथम भ्रमरगीत की कथा से साम्य तथा वैषम्य

उपर्युक्त भ्रमरगीत की कथा आरम्भ में अधिक संक्षिप्त है किन्तु अन्त में इसका विस्तार अधिक है। प्रथम भ्रमरगीत में उद्धव मथुरा गमन का वर्णन नहीं है। भागवत के समान ही इसका मथुरा गवन वर्णन संक्षिप्त होते हुये भी अधिक प्रभावशाली है।

उपर्युक्त भ्रमरगीत का प्रारम्भ नाटकीय ढंग से हुआ है। उद्धव हरि प्रेषित निर्गुण संदेश सुनने के लिये गोपियों को सावधान करते हैं। उद्धव की इस पुकार को सुनकर गोपियों का ध्यान उधर जाता है। वे देखती हैं जिधर से नंद सुवन गये थे उधर से ही कोई आ रहा है और वे क्षण भर में ही उद्धव से जा मिलती हैं। भागवत तथा प्रथम संक्षिप्त भ्रमरगीत में उद्धव गोपी मिलन विभिन्न परिस्थितियों में होता है। भागवत में अक्रूर आगमन की कल्पना से खीजती हुई गोपियों को उद्धव के दर्शन होते हैं। प्रथम संक्षिप्त भ्रमरगीत में कृष्ण मिलन की आशा के विपरीत उद्धव को देखकर गोपियाँ निराश हो जाती हैं किन्तु उपर्युक्त भ्रमरगीत में उद्धव मिलन से गोपियों की किसी भी प्रकार की भावना पर आघात नहीं होता।

वरन् यहाँ पर गोपियाँ अधिक सभ्य और सुसंस्कृत दिखाई पड़ती हैं। उद्धव को देखकर वे विशेष हर्षित हो आतिथेय नियमों के अनुसार उनका समुचित आदर सत्कार करती हैं। ये कुल तथा पारिवारिक नियमों के अनुरूप ही सभी का कुशल समाचार पूछती हैं। भोली गोपियाँ निश्चल प्रेम की प्रतीक हैं उनके मन में न घृणा है न ईर्ष्या, वे सभी के प्रति समान सम्मान प्रदर्शित करती हैं। गोपियों द्वारा पूछे गए कुशल समाचार के समान ही भागवत में नन्द उद्धव से मथुरा तथा मथुरावासियों का कुशल क्षेम पूछते हैं। भागवत तथा प्रथम संक्षिप्त भ्रमरगीत की गोपियाँ कुब्जा के प्रति इतनी उदार तथा क्षमाशील नहीं हैं। कुब्जा उनकी सपत्नी है, उसने कृष्ण को वश में कर रखा है। भागवत में भी कृष्ण के मथुरावासी मानिनी नायिकाओं के प्रेम-पाश में बँधने का उल्लेख है किन्तु प्रस्तुत भ्रमरगीत में कृष्ण के इस पक्ष को स्पर्श नहीं किया। गोपियों के शिष्ट, सरल तथा प्रेमपूर्ण व्यवहार को देखकर उद्धव स्वतः ही प्रभावित होने लगते हैं। उन्हें कृष्ण की निष्ठुरता और निर्ममता का ध्यान आता है। योग का सन्देश सुनाने में वे स्वयं संकोच का अनुभव करते हैं। यहाँ कृष्ण सन्देश रूप में वे कृष्ण का पत्र देते हैं। पत्र की कल्पना सूरदास की मौलिक सूझ है। मौखिक सन्देश भी दिया गया है। सन्देश का सार भागवत तथा प्रथम संक्षिप्त भ्रमरगीत के समान ही ब्रह्म की निराकारता को हृदयंगम कराना ही है। जिसकी सत्यता में गोपियों ने अपने सरल तर्क से अविश्वास प्रकट किया है। वे प्रेम को कञ्चन तथा योग को काच तुल्य मानती हैं। उनके प्रेम के प्रभाव से उद्धव स्वयं ही गोप रूप धारण कर गोपाल कृष्ण का नाम जपते मथुरा जाते हैं।

भागवत के उद्धव गोपियों के प्रेमाभक्ति की प्रशंसा कर उनकी चरण रज लेकर धन्य हो जाते हैं किन्तु यहाँ पर उद्धव की काया-पलट हो जाती है। वे प्रेम में विभोर हो ब्रज के लता-कुञ्जों तक से भेंटने लगते हैं वे तन, मन से कृष्ण प्रेम में रंग जाते हैं।

भ्रमर आगमन का इसमें भी उल्लेख नहीं है किन्तु 'मधुप' शब्द का प्रयोग अवश्य मिलता है। उद्धव के मथुरा प्रत्यागमन तथा कृष्णमिलन का प्रसंग भागवत में अति संक्षेप में दिया गया है। वहाँ पहुँच कर उन्होंने भगवान् कृष्ण को प्रणाम किया और उन्हें ब्रजवासियों की प्रेममयी भक्ति का उद्रेक, जैसा उन्होंने देखा था कह

सुनाया। इसके बाद नन्द बाबा ने भेंट की जो सामग्री दी थी, वह उनको, वसुदेव जी, बलराम और राजा उग्रसेन को दी।''

भागवत में उद्धव के कोमल पक्ष का तनिक भी वर्णन नहीं मिलता। प्रस्तुत भ्रमरगीत में उद्धव जी की मानसिक परिस्थिति का दिग्दर्शन कराया गया है।

उद्धव ब्रजागमन को कारण का स्पष्ट उल्लेख किसी भी भ्रमरगीत में नहीं मिलता। प्रस्तुत भ्रमरगीत में कृष्ण के चणिक उपहास तथा सरस व्यंग्य की एक झलक मिल जाती है। इससे उद्धव के योग अभिमान का अनुमान लगाया जा सकता है। सम्भवतः उद्धव के ब्रज भेजने का मूल कारण उनके योग अभिमान का खण्डन ही है।

कथावस्तु के विचार से सूरदास ने दोनों ही भ्रमरगीतों में परिवर्तन कर अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। इस प्रकार सूरदास ने परवर्ती कवियों के लिए एक विस्तृत पथ का निर्माण किया। सूरदास के पद-मय वृहत भ्रमरगीत की कथावस्तु पर विचार करते हुए हम देखेंगे कि सूरदास की कल्पना एक ही विषय को कितने विभिन्न विस्तृत तथा आकर्षक रूप में चित्रित करने में समर्थ हुई है।

सूरसागर का वृहत् भ्रमरगीत

कथावस्तु

सूरसागर में भ्रमरगीत प्रसंग अत्यधिक विस्तार से वर्णित है। भागवत के ४६ वें तथा ४७ वें अध्याय की सम्पूर्ण कथा मौलिक परिवर्तन तथा विस्तार के साथ कही गई है। सूरसागर में यह मार्मिक वर्णन नन्द के ब्रजागमन के साथ ही प्रारम्भ होता है। माँ यशोदा जो पुत्र के विरह में एक एक क्षण कल्प के समान व्यतीत कर रही थीं नन्द का आगमन सुन कर आनन्दमग्न हो आतुरता से कृष्ण दर्शन के लिए दौड़ी किन्तु वहाँ अकेले नन्द को देख वे ठगी-सी रह गई। कभी वे अपने जीवन को धिक्कारती, कभी नन्द के अकेले आने के कारण उन पर भी क्रुद्ध होती और कभी विवश हो पूछ बैठती, 'नन्द हरि तुम सौं कहा कह्यौ' सब ओर से निराश कभी वह कृष्ण की बातें याद करती; 'सुरति करत मोहन की बातें नैननि नीर बह्यौ'

१—पृ० ७९७ भागवतांक प्रथम खण्ड—गीता प्रेस, गोरखपुर।

इस प्रकार आरम्भ के ग्यारह पदों में[1] यशोदा विलाप है। सखी का यशोदा से कथन है। एक पद में एक गोप नंद से कृष्ण के विषय में पूछता है। आगे के एक पद में एक ग्वाल जो मथुरा से आया है वहाँ की बातें बताता है। जिसे सुनकर गोपियों का हृदय पीड़ा से कराह उठता है; उनके मन में शोक, क्षोभ, ईर्ष्या तथा हीनता आदि की अनेक भावनायें उद्बुद्ध हो उठती हैं। कुब्जा के प्रति कृष्ण-प्रेम को सुनकर सपत्नी की भावना से उनका हृदय अभिभूत हो जाता है। कृष्ण अब उनके नहीं रहे. कुब्जा ने उन्हें अपने प्रेम-पाश में जकड़ लिया है; यही क्यों कृष्ण स्वयं भी तो उन्हें विस्मृत कर कुब्जा में मग्न हो गये हैं। भाग्य की अदृश्य लिपि को कौन पढ़ सका है ? इस प्रकार ब्रज पर दुख की काली घटा छा गई। संयोगावस्था में मन को आनन्दातिरेक से भर देने वाले प्रकृति के समस्त उपकरण हृदय में द्विगुणित व्यथा उत्पन्न करने लगे। बसन्त की मादक ऋतु शीतल मंद सुगन्ध समीर कोयल की मस्त तान उनके हृदय की हूक बन गई। उधर यशोदा को घर काटने लगा, मक्खन वैसा ही पड़ा रहता, खिलौनों से कोई खेलने वाला ही नहीं रह गया, मुरली की मधुर तान सुनने के लिये श्रवण व्याकुल रहते, साँवली सूरत को देखने के लिए नयन प्रति क्षण द्वार की ओर दौड़ते रहते। ब्रज का वातावरण ही परिवर्तित हो गया। पशु पक्षी तक कृष्ण के वियोग में कृशगात हो गये। गोपियों को धवल चन्द्रिका काली नागिन के सदृश जान पड़ती। इस प्रकार विरहाकुल ब्रज जनों की मूक पीड़ा जो श्री मद्भागवत तथा विद्यापति की रचना में प्रकट न हो सकी थी सूरदास के सूरसागर में मुखरित हो समस्त सहृदय व्यक्तियों की संवेदना की अधिकारिणी बनी।

सूरदास ने लगभग तीन सौ सुन्दर पदों में यशोदा तथा गोपियों के विरह का मर्मस्पर्शी वर्णन प्रस्तुत किया है जिसकी समता हिन्दी साहित्य का कोई भी काव्य नहीं कर सकता। सूरसागर एक मुक्तक रचना है। इसमें प्रबन्धात्मकता के अभाव के कारण यशोदा नन्द विलाप ब्रजदशा, गोपी विरह, सन्देश आदि से सम्बन्धित पद बराबर मिल गए हैं। यद्यपि सम्पादक ने कथा को क्रम से रखने का पूर्ण प्रयत्न किया है। ये समस्त पद उद्धव ब्रजागमन के पूर्व के पद हैं, जिनके अन्तर्गत निम्न विषय सम्बन्धी पद उपलब्ध हैं।

---

१ —पद ३१४० ।

(क) यशोदा विरह—तथा सन्देश।
(ख) गोपी विरह तथा सन्देश।
(ग ब्रजदशा।
(घ) गोप तथा गऊओं से सम्बन्धित पद।

इन पदों को भ्रमरगीत के अन्तर्गत रखने का कारण—

सूरदास ने उपयुक्त प्रसंगों पर भी सुन्दर रचना की है। इनमें व्याकुल ब्रजवासियों का विरह वर्णन है। यशोदा और गोपियों के प्रेम की तीव्रता, उनके मानसिक भावों के उतार-चढ़ाव की सुन्दर व्यंजना है। इन पदों को भ्रमरगीत सम्बन्धी पदों के साथ रखने का कुछ विशेष कारण है। ब्रज विरह सम्बन्धी इन पदों और भ्रमरगीत सम्बन्धी पदों में प्रेम की तीव्रता तथा भाव व्यंजना की दृष्टि से अपूर्व साम्य दिखाई पड़ता है। अन्तर केवल इतना ही है कि भ्रमरगीत के पद ऊधौ, मधुप अथवा मधुकर को सम्बोधित कर के कहे गए हैं जबकि यहाँ उनका स्वतन्त्र रूप से वर्णन मिलता है।

भ्रमरगीत की मूल भावना उपालम्भ समस्त पदों में सर्वत्र वर्तमान है। आरम्भ में ही एक ग्वाल से कृष्ण विषय में यह सुनकर, 'वे मधुपुरी जाकर बड़े वंश वाले तथा राजा हो गए हैं। सूत मागध उनका यश गान करते हैं, राजसी वस्त्राभूषणों से सुसज्जित वे अब अहीर कहने में लज्जित होते हैं, उनके माता पिता अब यशोदा और नन्द के स्थान पर देवकी वसुदेव हो गए हैं, अब कुब्जा उनकी अर्द्धांगिनी बन गई है; उसके वश में होकर वे विभिन्न रास रंग में लीन हैं; यह सब सुनकर हाथ मल मल कर सब गोपियाँ पछताती हैं।'[1]

गोप के इस कथन ने गोपियों को एक नवीन दृष्टि से सोचने के लिए बाध्य किया। अब उनकी ईर्ष्या तथा उपालम्भ को एक दृढ़ आधार मिल गया। वे इस नवीन परिवर्तन को सुनकर आश्चर्य चकित हो रही हैं। भागवत में एक स्थान पर गोपियाँ उद्धव से प्रश्न करती हैं, 'किन्तु उद्धव जी एक बात हमें बतलाइये। जिस प्रकार हम अपनी प्रेम भरी लजीली मुस्कान और उन्मुक्त चितवन से उनकी पूजा करती थीं और वे प्यार करते थे, उसी प्रकार मथुरा की स्त्रियों से भी वे प्रेम

१—पद सं० ३७५६।

करते हैं या नहीं ? तभी दूसरी गोपी बोल उठी, 'अरी सखी ! तू यह क्या पूछती है ? हमारे प्यारे श्याम सुन्दर तो प्रेम की मोहिनी कला के विशेषज्ञ हैं न ?.........'[1] सूरदास ने इस प्रकार के सन्देह को स्थान न देकर परिस्थिति को पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है। गोप का एक एक शब्द उनके हृदय में शूल की भाँति गड़ रहा है। कृष्ण के यहाँ न आने का तात्पर्य अब वे भली भाँति समझ गई हैं। बड़े आदमी बन कर अब वे पूर्व स्मृति से ही लज्जित हो जाते हैं। इतना ही नहीं अब तो नन्द यशोदा जिन्होंने इतने लाड़ प्यार से उन्हें पाला, उनकी एक मुस्कान पर जो असंख्य दान देते थे, जिन्होंने उनकी बाल क्रीड़ा में ही जीवन की सार्थकता समझी वे ही नन्द यशोदा अब उनके पिता माता नहीं रहे। बसुदेव देवकी उनके माता-पिता हैं। कैसी विचित्र बात है। कुब्जा नारी को पाकर अब गोपियों की—अहीर बालिकाओं की उन्हें क्या चिन्ता ! अपने हृदय मन्दिर में अहर्निश कृष्ण का ही ध्यान करने वाली गोपिकाएँ अपने स्वत्व को इस प्रकार छिनते देख कर कैसे शान्त रह सकतीं ! कृष्ण के मथुरा वास के अन्य कारणों की अपेक्षा कुब्जा प्रणय को ही मूल मान कर वे ईर्ष्या और क्रोध से भर जाती हैं। किन्तु वे विवश हैं। कुब्जा की स्मृति उनके हृदय पर अमिट रेखा बन जाती है। उनके मन में अनेक चिन्ताएँ, विचार, तर्क वितर्क उठते हैं जिनके मूल में किसी न किसी रूप में कुब्जा ही है। नारी की विवशता के कारण कभी वे रो उठती हैं, तो कभी खीजती हैं। कभी कृष्ण को उपालम्भ देतीं, उन पर व्यंग्य करतीं तो कभी कुब्जा ही उनके व्यंग्य बाणों का लक्ष्य बनती है। मनमोहन कृष्ण पर वशीकरण का प्रयोग करने वाली कुब्जा पर उन्हें अत्यधिक क्रोध है। इसकी जलन वे उसके कूबड़ का उपहास कर मिटाना चाहतीं किन्तु घूम फिर कर उनका ध्यान कृष्ण पर ही आ जाता। वे सोचतीं, 'वे कह जानैं पीर पराई' कभी खीज कर कहतीं, 'सखी री काके मीत अहीर'। प्रेम की पीड़ा उन्हें अब प्रेम के दुष्परिणामों की ओर खींच रही है। शरीर का एक-एक अंग उन्हें पीड़ा पहुँचा रहा है। रूप को हृदय तक पहुँचाने वाले नयन सब से अधिक दुखी हैं। नेत्रों पर अनेक सुन्दर उपालम्भ पूर्ण पद कहे गए हैं। चन्द्रोपालम्भ सम्बन्धी पद भी अनेक हैं। वर्षा आदि ऋतु का भी भावाक्षिप्त और उद्दीपन रूप में वर्णन है।

१— पृ० ७९४ भागवतांक प्रथम अङ्क।

सूरदास ने यशोदा और गोपियों के सन्देश का भी वर्णन किया है। भागवत में यशोदा तथा गोपियों के सन्देश का उल्लेख नहीं है। संक्षिप्त भ्रमरगीतों में भी सूरदास ने इसका वर्णन नहीं किया है। भ्रमरगीत प्रसंग में कृष्ण यशोदा और गोपियों के नाम सन्देश भेजते हैं। अतः सूरदास की—यशोदा तथा गोपियों सम्बन्धी सन्देश—कल्पना एक मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थित है। सन्देश के पदों को भी दो श्रेणियों में रखा जा सकता है। प्रथम तो यशोदा सन्देश। द्वितीय गोपी सन्देश। यशोदा, कृष्ण तथा देवकी दोनों के पास सन्देश भेजती हैं। गोपियों का सन्देश कृष्ण के लिए ही है।

यशोदा पथिक से सन्देश कहती है कि कृष्ण से कहना 'यद्यपि मन को लोग समझाते हैं किन्तु मक्खन देख कर मेरे हृदय में पीड़ा होती है। प्रातः काल उठ कर वहाँ कौन मक्खन देता होगा। हे पथिक! उनसे कहना मेरी जैसी जिनकी माँ है, वे वहाँ क्यों दुख पा रहे हैं?'[1]

दूसरे पद में यशोदा कृष्ण के असुर निकन्दन स्वरूप का ध्यान दिला कर उन्हें ब्रज आने के लिए कहती है। इसी समय गोप की बातें उन्हें याद आती हैं कि अब तो वसुदेव देवकी उनके पिता माता हैं तो वे पथिक से कहलाती हैं कि 'यदि कृष्ण नाता नहीं मानते तो धाय समझ कर ही एक बार दर्शन दें। मैंने एक बार मक्खन के कारण उन्हें जो अटका रखा था उसका बुरा न मानें।'[2]

इसी बीच यशोदा के हृदय में एक दूसरा विचार उठ खड़ा होता है। कृष्ण तो देवकी के पुत्र हैं। अतः उन्हें यहाँ भेजने के लिए देवकी के पास सन्देश भेजना उचित है। एक पद में यशोदा कृष्ण की आदतों का वर्णन करती हुई कहती हैं कि 'यद्यपि माँ होने के नाते वे सब कुछ जानती होगी किन्तु मैं फिर कहना चाहती हूँ। तुम्हारे पुत्र की धाय हूँ। मैं उससे बराबर प्रेम करती रहूँगी किन्तु मुझे यही दुख है कि वहाँ मेरा प्यारा कृष्ण संकोच करता होगा।'[3] एक अन्य स्थान पर यशोदा कहती है, 'यदि तुम पहचान रखती हो तो कृष्ण की मोहिनी मूर्ति लाकर दिखाओ। तुम वसुदेव की रानी

१—पृ० सं० ३७६१।

२—पद ३७६०।

३—पद ३७९२।

हो और हम ब्रजवासी अहीर हैं। अब मेरे पुत्र को भेज दो। मुझे ऐसी हँसी पसन्द नहीं। कृष्ण ने असुरों को मार कर देवताओं का कार्य किया, यह ठीक है किन्तु अब यहाँ हमारी गायों को कौन चरावे? वहाँ पर उसे चाहे कितना ही ऐश्वर्य और वैभव में रखा जाय किन्तु उसे तो मक्खन ही भाता है।'[1]

इस प्रकार यशोदा ने अपने मन की विभिन्न भावनाओं को कृष्ण तथा देवकी तक पहुँचाने का प्रयत्न किया।

गोपियों के सन्देश में उनकी समस्त विरह कथा व्याप्त है। कभी वे कहतीं, 'ये दिन रूसिबे के नहीं' तो कभी प्रकृति के माध्यम द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से अपनी दशा का संकेत मात्र करतीं:—

'देखियत कालिंदी अतिकारी
अहो पथिक कहियो उन हरि सों भई विरह जुर नारी'।

× × ×

'सूरदास प्रभु जो जमुना गति सो गति भई हमारी'[2]। गोपियों के सन्देश से मधुवन के कूप भर गए हैं।

गोपियों का यह विरह वर्णन अति विशद है। सूरसागर का यह अंश विरह की तरल तरंगों से तरंगित है। इसमें विरह की निरन्तर प्रवाहित धारा है। उसमें इतना आवेग है कि मानव स्वयं उसी में बह जाता है। भागवत के भ्रमरगीत की गोपियों की विरह व्यंजना का यह अति विकसित रूप है।

ये समस्त पद प्रत्यक्ष रूप से भ्रमरगीत से सम्बन्धित नहीं हैं किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है सूरसागर में भ्रमरगीत का क्षेत्र विकसित तथा विस्तीर्ण हो गया। विरह की इस प्रबल धारा के अन्तर्गत नन्द ब्रजागमन से उद्धव मथुरा प्रत्यागमन तक के समस्त पद रखे जा सकते हैं। इस प्रकार इसमें उन सभी पदों को स्थान प्राप्त है जिसमें विरह की सुन्दर अभिव्यक्ति है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि भावों की तीव्रता अथवा अभिव्यंजना की दृष्टि से दोनों प्रकार के पदों में विशेष अन्तर नहीं है। यदि सम्पादन के क्रम को क्षण भर के लिए भुला दिया जाय तो कथन की सत्यता स्पष्ट हो

१—पद ३७९७।
२—पद ३८०९।

जायगी। सत्य तो यह है कि इस विशद विरह वर्णन के बीच कोई विभाजक रेखा खींचना अत्यन्त कठिन है। यदि हम इन पदों को पृथक्-पृथक् करना ही चाहें तो सूरदास की उस मौलिक प्रतिभा पर कुठाराघात होगा जिसके द्वारा वे एक लघु प्रसंग को इतना विशाल स्वरूप दे सके हैं। सुविधा के लिए उन्हें भ्रमरगीत की पूव पीठिका अथवा पूव पक्ष कहा जा सकता है।

मूल भ्रमरगीत

भ्रमरगीत का प्रसंग मूल रूप से उद्धव के सन्देश से ही प्रारम्भ होता है। जिसमें निम्नलिखित प्रसंगों का समावेश है:—

(क) कृष्ण का उद्धव को ब्रज भेजना।

(ख) उद्धव ज्ञान चर्चा तथा उद्धव-गोपी संवाद।

(ग) उद्धव का प्रेमा भक्ति से प्रभावित हो मथुरा लौटना।

इसी अंश को भ्रमरगीत का उत्तरार्द्ध भी कह सकते हैं। इसका प्रारम्भ उद्धव ब्रजागमन प्रसंग से होता है। भागवत में उद्धव को ब्रज भेजने का केवल एक ही कारण है गोपियों तथा नन्द यशोदा को सान्त्वना देना। उन पर अनुग्रह करना। सूरदास ने सूरसागर के विभिन्न पदों में अनेक कारणों का वर्णन किया है। भागवत के सदृश ही सूरदास उद्धव ब्रजागमन का उल्लेख करते हैं। अन्तर्यामी कुँवर कन्हाई जब गुरु गृह में पढ़ रहे थे, उन्हें ब्रजवासियों की सुधि आई। अतः गुरु से आज्ञा लेकर मथुरा आ गए और उद्धव को ब्रज भेज दिया।[1]

भागवत की भावना से भिन्न एक अन्य पद में उद्धव को देख कर कृष्ण विचार करते हैं, 'मेरे इस सखा की यह आदत अच्छी नहीं है कि निष्ठुर काठ के सदृश खड़ा रहता है। इसके साथ मित्रता कैसे निभाई जाय। कहने पर यह मान नहीं सकता। इसकी दशा है मदिरा से भरे कनक कलश के सदृश। इसका यह शरीर तभी सुन्दर लग सकता है जबकि किसी प्रकार यह प्रेम रस को प्राप्त कर ले।'

१—अन्तरजामी कुँवर कन्हाई।

गुरु गृह पढ़त हुये जहँ विद्या, तहँ ब्रज-वासिन की सुधि आई।

× × ×

सूरदास प्रभु आई मधुपुरी, ऊधो को ब्रज दियो पठाई॥ ४०२९

उद्धव कृष्ण के परम मित्र, ज्ञानी तथा विद्वान् व्यक्ति हैं। किन्तु प्रेम भक्ति से दूर केवल अद्वैत के ध्यान में लीन रहते हैं। कृष्ण को इस बात का बड़ा दुःख है कि उनका प्रिय सखा ही उनकी अनुभूति को उनकी विरह व्यथा को समझने में असमर्थ है। वह कृष्ण को त्रिगुण तन धारी समझ कर किसी अन्य को ही ब्रह्म समझते हैं। उद्धव अहंकार से भरे हुए प्रेम भजन से हीन है। अतः प्रेम भजन की प्राप्ति के लिए इसे ब्रज भेज देना उचित है।[1]

अन्य पदों में कृष्ण उद्धव जैसे अयोग्य सखा से सम्बन्ध हो जाने के कारण अपनी विवशता प्रकट करते हैं। अंतरंग मित्र जीवन की महान् आवश्यकताओं में से ही है। अपने हृदय के उल्लास और आनन्द, दुख तथा बिषाद को मित्र से कहकर मनुष्य अपना हृदय शान्त करता है। अंतरंग मित्र से कुछ भी रहस्य नहीं रहता। किन्तु मित्र के अभाव में भावों की पूर्ण अभिव्यक्ति न हो सकने के कारण उसका हृदय अन्दर ही अन्दर घुटता रहता है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। यही दशा कृष्ण की भी है। मथुरा के ऐश्वर्यपूर्ण वातावरण के मध्य भी उन्हें प्रायः ब्रज तथा ब्रजवासियों की स्मृति व्याकुल कर देती। वे सोचते—

कहाँ सुख ब्रज कैसो संसार।
कहाँ सुखद बंशी बट जमुना, यह मन सदा बिचार॥
कहँ बन धाम कहाँ राधा संग, कहाँ संग ब्रज धाम।
कहँ रसरास बीच अंतर सुख, कहाँ नारि तन ताम॥
कहाँ लता तरु तरु प्रति बूझनि, कुंज कुंज नवधाम।
कहाँ बिरह सुख बिन गोपिन संग, सूर स्याम मन काम॥[2]

ब्रज स्मृति सम्बन्धी अनेक भावनायें उमड़ घुमड़ कर छा जातीं किन्तु वे यह सब कहें तो किससे? कौन यहाँ सुनने वाला है? उद्धव तो निपट निष्ठुर है। प्रेम की बातें सुनकर बिपरीत बात करते हैं, जिससे रस भंग होता है। अंतरंग सखा का अभाव—इस समय उन्हें बहुत खटकता है। उद्धव, प्रिय सखा ज्ञानी और विद्वान् होते हुए भी इस अभाव को दूर करने में असमर्थ हैं। दोनों की मनोवृत्तियों

१—पद ४०३१
२—पद ४०३४।

में महान् अन्तर है। कृष्ण व्रज का लाड़ प्यार भोगकर मथुरा आए हैं। व्रज की एक एक घटना उनके जीवन के साथ जुड़ी है और प्रत्येक घटना से सम्बन्धित मधुर स्मृतियाँ उनके हृदय में एक मीठी कसक उत्पन्न कर जातीं किन्तु इन भावनाओं को समझने वाला मथुरा में कोई नहीं। उद्धव अपने अद्वैत ज्ञान के अभिमान में कृष्ण प्रेम को लौकिक दृष्टिकोण से देख उपहास की वस्तु समझते। निर्गुण ब्रह्म ज्ञान की चर्चा के सम्मुख हृदय के आदान प्रदान से उत्पन्न आनन्द रस—प्रेम तथा विरह उन्हें तुच्छ लगता था।

वास्तविकता तो यह थी उन्हें इसकी अनुमति न थी। अनुभव के अभाव में कूप मण्डूक सदृश निर्गुण ब्रह्म ज्ञान को ही वे सब कुछ समझ बैठे थे। जो स्वयं को बुद्धिमान समझता है उसे समझाना भी कठिन है। यही समस्या कृष्ण के सम्मुख थी। वे कहते हैं—

संग मिलि कहौ कासौं बात।
यह तो कहत जोग की बातें, जामैं रस जरि जात॥
कहत कहा पितु मातु कौन के, पुरुष नारि कह नात।
कहाँ जसोदा सी मैया है, कहाँ नंद सम तात॥
कहं वृषभानुसुता संग को सुख, वह बासर वह प्रात।
सखी सखा सुख नहि त्रिभुवन में, नहिं बैकुंठ सुहात॥
वे बातें कहिये किहि आगे, यह गुनि हरि पछितात।
सूरदास प्रभु व्रज की महिमा कहि, लिखी बदत बल प्रात॥[1]

कृष्ण उद्धव की यह मित्रता भी एक विडम्बना है। इसी प्रकार कृष्ण सोच विचार करते हैं[2]। उन्हें यह मित्रता हंस काग की मित्रता के समान असंगत लगती है। जब ये व्रज की चर्चा आरम्भ करते तो उद्धव उसे टाल देते हैं। अतः उद्धव के हृदय परिवर्तन का केवल एक ही उपाय है। कि इन्हें व्रज भेज दिया जाय[3]। मेरे कहने से यह मानेगा नहीं। गोपियों को प्रबोधने के व्याज से यह वहाँ तुरन्त चला

१—पद ४०३३।
२—वह सुख कहों काकें साथ।
सखा हमकों मिले ऊधौ, वचन भारत माथ।
+ + + ३४१७। ४०३५।
सूर व्रज की कथा कासों कहौ यह करै दम्भ।
३—पद ४०३६।

जायगा और गोपियों के सामने मन में बड़ा अभिमान करेगा यह सोच कर वे बैठ गये।[1]

इसी समय उद्धव आ जाते हैं। उनकी अपने सदृश ही सुन्दर आकृति को देख कर कृष्ण बड़ा पछताते हैं कि इतना सुन्दर व्यक्ति प्रेम रस से हीन है। यदि ऐसा न होता तो इसे ब्रज क्यों भेजता[2]। यह विचार कर कृष्ण उद्धव से ब्रज की चर्चा चला कर अपनी विरह-व्यथा कहने लगे। कृष्ण कहते हैं, 'हे उपांग सुत मुझे ब्रजवासी भूलते नहीं। मन में यही होता है कि अभी यहाँ से चला जाऊँ। यहाँ चित्त नहीं लगता। गोपी ग्वाल गाय आदि को छोड़ते समय मुझे बड़ा दुख हुआ। अब वह मक्खन रोटी, यशोदा का प्रेम से खिलाना कहाँ है[3]।' कृष्ण की बात सुन कर उद्धव मुस्करा कर अपनी ज्ञान चर्चा सुनाने लगे। कृष्ण अपनी ब्रज चर्चा में ही लगे हैं। वे बार-बार कहते हैं कि हमें ब्रज की याद भूलती नहीं। रात दिन सोते जागते ब्रजवासियों का ध्यान बना रहता है। राधिका की प्रीति तो चित्त से टलती ही नहीं है। विधि की लिखी को कौन मिटा सकता है। यह कह कह कर हरि पछताते और व्याकुल होते हैं। यह देख कर उद्धव जोग ज्ञान की शिक्षा देते हुये संसार को मिथ्या बताते हैं। अब श्रीकृष्ण उद्धव से गोपियों को उपदेश देने के लिये ब्रज जाने को कहते हैं। श्रीकृष्ण ने कहा, उद्धव तुम यह निश्चय जानो कि मैं मन, कर्म, बचन से तुम्हें भेज रहा हूँ। तुम पूर्ण ब्रह्म के ज्ञाता हो जो कि अचल अविनाशी तथा रेख, रूप, जाति और कुल से रहित है, जिसके न माता न पिता हैं। विरह नदी में डूबती गोपियों को समझाओ कि ब्रह्म के बिना कुछ भी नहीं है।[4]

आगे के पद में विरह विधुरा गोपियों का वर्णन भी कृष्ण उद्धव से करते हैं। उद्धव से ब्रज भेजने का मूल कारण संकेत रूप में भी कृष्ण कह देते हैं, सूर स्याम इहिं कारन पठवत, ह्वै आवैगौ संत।' किन्तु ज्ञान गर्व में भूले उद्धव इसे समझ भी सके इसमें संदेह है।

१—पद ४०३७।

२ - पद ४०३६।

३— ४०४०।

४—पद ४०४४।

उद्धव को ब्रज भेजने के कारण

यह स्पष्ट है कि सूरदास ने उस ब्रजागमन कारण में जो मौलिक परिवर्तन किया है, वह मानव मनोवृत्ति के अनुकूल है। उद्धव को ब्रज भेजने का कारण संक्षेप में इस प्रकार है :

(क) ब्रज की सुधि तथा ब्रजावासियों की कुशल जानने की इच्छा

(ख) उद्धव के निष्ठुर और नीरस हृदय को सरस बनाना।

(ग) उद्धव के निर्गुण ज्ञान के अभिमान को चूर्ण कर प्रेम भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन करना।

'उद्धव ब्रजागमन कारण' प्रसंग के पश्चात् 'कृष्ण संदेश' चर्चा का प्रसंग आरम्भ होता है। यह संदेश चर्चा मौखिक तथा पत्र दोनों ही रूपों में मिलती है। कृष्ण नन्द यशोदा तथा गोपियों के लिए पृथक्-पृथक् संदेश भेजते हैं। देवकी, वसुदेव और कुब्जा भी संदेश भेजना नहीं भूलती हैं। इस प्रकार सूरसागर का यह पत्र प्रसंग मौलिक तथा विस्तृत है।

कृष्ण का यशोदा सन्देश

कृष्ण यशोदा को सन्देश भिजवाते हैं, 'हम दोनों की कुशल कह कर उनसे कहना कि हम उन्हीं के पुत्र हैं दूसरे के नहीं। यहाँ पर कुछ कार्य शेष है उसके पूर्ण होने पर हम शीघ्र ही आवेंगे, तुम्हारे बिना हमें और कहाँ सुख मिल सकता है।'[1] 'हमें इस बात का बहुत बुरा लगा जो आपने धाय कहला कर भेजा। आपके लाड़ प्यार को हम कहाँ भूल सकते हैं। नन्द बाबा से समझा कर धौरी धूमरि गायों की देख रेख करने को कहना। यहाँ यद्यपि अनेक भांति के सुख हैं परन्तु ब्रजवासियों को देखूँगा तभी हृदय शीतल होगा।'[2]

'जब से तुम से बिछुड़े हैं कोई कन्हैया नहीं कहता। न सवेरे उठकर कलेवा ही किया न घैया ही चाखी।'[3]

नन्द बाबा को भी एक उपालम्भ पूर्ण सन्देश भेजा, 'कितना कठोर हृदय उन्होंने कर लिया कि मधुपुरी पहुंचा कर फिर सुधि ही

१—पद ४०५३।

२—पद ४०५६।

३—पद ४०५७।

न ली।'[१] नन्द यशोदा को यह सन्देश मौखिक तथा लिखित दोनों ही रूप में भेजे गए। गोपियों को केवल जोग का सन्देश ही भेजा गया।

देवकी का यशोदा को सन्देश

देवकी वसुदेव ने जब उद्धव को व्रज जाते सुना तो उन्होंने अपने हाथ से पत्र लिखा, 'हे नन्द यशोदा! तुम धन्य हो। तुमने हमारे पुत्र को पाल कर भेजा है और हमें आनन्द दिया। यहाँ आकर कभी बलराम और श्याम से क्यों नहीं मिल जाती। यह भी मैं कहती हूँ कि कभी भेज भी दूँगी। बाल लीला का समस्त सुख तो तुम्हीं ने भोगा मुझे तो कुमार मिले हैं। तुम्हारा यह उपकार मैं बारम्बार मानती।'[२]

कुब्जा का गोपियों को संदेश

उद्धव को व्रज जाते सुनकर कुब्जा ने उन्हें महल में बुला लिया। अपने हाथ से पत्र लिखकर दिया। राधा और गोपियों की प्रशंसा के उपरान्त उसने लिखा, "मुझे तुम अपराध लगाती हो, मुझ पर तो कृष्ण की अनायास ही कृपा हो गई। इसलिए मुझ पर क्यों क्रुद्ध होती हो।'[३]

भाग्य में किसी का साझा नहीं है। हरि की कृपा न्यारी है + + + मैं तो राजा कंस की दासी थी। जिस प्रकार कड़वी तुमड़ी घूरे पर पड़ी रहती है। किन्तु जंत्री के हाथ पड़कर वह सुन्दर राग उत्पन्न करती है उसी प्रकार मेरे जगत विदित त्रिभंगी रूप को करुणामय ने स्वयं अपने हाथ से संवार दिया है।"[४] "उद्धव राधा से कहना जैसी कृपा श्याम ने की है वैसे ही वे भी करती रहें। मुझ पर अकारण ही क्यों रिस करती है। मैं तो उनकी दासी हूँ। तुम अपने मन में विचार कर देखो। मैंने बिना तप के ही काशी पाली है। तुम श्याम की अर्द्धांगिनी हो मैं तुम्हारे समान कहाँ हूँ।"[५]

१—पद ४०५७।

२—पद ४०६०।

३—पद ४०६१।

४—पद ४०६२।

५—पद ४०६४।

इन विचारपूर्ण संदेशों के बाद कुब्जा की विचारधारा बदल जाती है। उसको लेकर गोपियों ने जो व्यंग्य तथा उपहासपूर्ण वाक्य कहे थे, कुब्जा उनसे अनभिज्ञ न थी। वह उद्धव से कहती है, "तुम राधा के हाथ में यह पत्र देना। प्रातः उठकर वे मुझे गाली देती हैं। यह मैं प्रतिदिन सुनती ही रहती हूँ "नंद नंदन वहाँ जाकर राजा हो गए हैं और कूबड़ी रानी मिल गई है मुझ पर वे क्यों क्रोध करती हैं। कृष्ण को ही क्यों नहीं रोक रखा ? बचपन में यशोदा बाँध रखती थीं क्या हो जाता था जो वे मक्खन खा लेते ? तुम सब राधा के साथ रस्सी लेकर उपस्थित होतीं। क्या कृष्ण अब फिर वहाँ जायेंगे ? ऐसे अज्ञानी बन जायेंगे।"[१] "उद्धव तुम गोपियों से हमारी बात कहना। कृष्ण माता पिता के प्रेम को ही समझ कर मधुपुरी आए हैं। कृष्ण न तो तुम्हारे प्रीतम हैं न यशोदा के पुत्र। तुम सब विचार कर देखो तुमने उन्हें क्या सुख दिया ? उन बाल कृष्ण को तुम मत्त ग्वालिनों ने मूंड़ लिया। तनिक दही, मक्खन के कारण यशोदा त्रास दिखाती और तुम सब हँस कर उन्हें बंधवाने को दौड़तीं। किसी को भी दया न आती। व्रषभानुसुता ने वहाँ जो किया है वह सभी जानती हो। तुम्हारे जाल को अब मन मोहन ने तोड़ दिया है तो क्यों दुख मानती हो।"[२]

कुब्जा के पिछले संदेश में सपत्नी का गर्व झलकता है। इस प्रकार सूरदास ने कुब्जा की विभिन्न भावनाओं का चित्रण किया है। भागवत में केवल कृष्ण के मौखिक संदेश का वर्णन है। वसुदेव, देवकी और कुब्जा के संदेशों की कल्पना कवि की मौलिक सूझ है। भागवत में राधा का वर्णन नहीं मिलता किन्तु सूरदास ने राधा को विशेष महत्व दिया। गोपियों का समस्त विरह राधा को ही केन्द्र मानकर चलता है। कृष्ण और कुब्जा दोनों ही राधा के पास संदेश भेजते हैं।

उद्धव ब्रजागमन

मथुरा वासियों के प्रेम तथा व्यंग्य से पूर्ण संदेशों को लेकर आनन्द मग्न उद्धव कृष्ण वेश से उन्हीं के स्वर्ण जड़ित रथ पर बैठ

१—पद ४०६३।

२—पद ४०६५।

कर ब्रज चल दिये। उधर उद्धव के चलते ही ब्रज में शुभ शकुन होने लगे। 'जहाँ तहाँ गोपियाँ काग उड़ाने लगीं। कृष्ण-आगमन को कह कर उड़ाने पर वे न उड़ते किन्तु संदेश के कहने से तुरन्त उड़ जाते हैं। परस्पर कहने लगीं आज या तो श्याम आ रहे हैं अथवा उन्होंने किसी को ब्रज भेजा है।[1] इन बाह्य शकुनों को देखकर गोपियों के हृदय में नवीन आशा का संचार हुआ। उनकी भुजायें फड़कने लगीं अंगियों के बंद तरकने लगे। ऐसा लगता कोई मीठी बातें सुनाने वाला है। इन शकुनों से वे श्याम सुन्दर के आगमन का ही निश्चय जान रही हैं। इन शकुनों की सार्थकता इसी में है कि कृष्ण का दर्शन प्राप्त हो।[2]

गोपियों के मन में कृष्ण-मिलन की उत्कण्ठा तीव्र हो उठी। वे व्याकुल होकर कृष्ण-दर्शन की प्रतीक्षा करने लगीं। उसी समय रथ को आते देखकर गोपियाँ मुस्करा कर राधा से कहने लगीं, आज मेरा बचन पूरा हुआ, निश्चय ही कृष्ण आ रहे हैं। दूर से आते हुए रथ को देखकर राधा तथा गोपियों के मन में अनेक प्रकार की जिज्ञासा तथा कुतूहल जाग्रत हो गये। दूर होने के कारण वे उद्धव को ठीक से पहचान नहीं पातीं। कृष्ण के समान ही रूप रंग और वस्त्राभूषणों से सज्जित होने के कारण उन्हें कृष्ण का भ्रम हो गया। सूरदास ने गोपियों की इस व्याकुलता, संशय तथा हर्ष का कई पदों में वर्णन किया है। उद्धव के हाथ उठा कर बात करने का ढंग, मुकुट, कुण्डल और पीताम्बर की शोभा देखकर विरह विधुरा गोपियाँ कृष्ण आगमन का काल्पनिक सुख लूटने लगीं। यह समाचार समस्त ब्रज में फैल गया। यशोदा, ग्वाल बाल, गोपियाँ तथा गऊ सभी, उमंग में भर कर एकत्र हो गए। ज्यों ज्यों रथ पास आने लगा उन्होंने देखा कि एक ही व्यक्ति रथ पर है। अब उनके मन में कुछ संदेह हो गया। कृष्ण के साथ बलराम अवश्य आते। कहीं कोई दूसरा व्यक्ति तो नहीं आ रहा है। यहीं से कृष्ण पुनर्मिलन की जो एक क्षीण ज्योति दिखाई दी थी उद्धव दर्शन के पश्चात् सदा के लिए नष्ट हो गई। उमंग से भरी गोपियाँ जब प्रियतम के स्थान पर उद्धव को देखती हैं, ठगी-सी रह जाती हैं। उनके मन में अनेक भावनाएँ उठती हैं। वे सोचती हैं—

१—पद ४०७१

२—पद ४०७२

इन विचारपूर्ण संदेशों के बाद कुब्जा की विचारधारा बदल जाती है। उसको लेकर गोपियों ने जो व्यंग्य तथा उपहासपूर्ण वाक्य कहे थे, कुब्जा उनसे अनभिज्ञ न थी। वह उद्धव से कहती है "तुम राधा के हाथ में यह पत्र देना। प्रातः उठकर वे मुझे गाली देती हैं। यह मैं प्रतिदिन सुनती ही रहती हूँ "नंद नंदन वहाँ जाकर राजा हो गए हैं और कूबड़ी रानी मिल गई है मुझ पर वे क्यों क्रोध करती हैं। कृष्ण को ही क्यों नहीं रोक रखा ? बचपन में यशोदा बाँध रखती थीं क्या हो जाता था जो वे मक्खन खा लेते ? तुम सब राधा के साथ रस्सी लेकर उपस्थित होतीं। क्या कृष्ण अब फिर वहाँ जायेंगे ? ऐसे अज्ञानी बन जायेंगे।"[1] "उद्धव तुम गोपियों से हमारी बात कहना। कृष्ण माता पिता के प्रेम को ही समझ कर मधुपुरी आए हैं। कृष्ण न तो तुम्हारे प्रीतम हैं न यशोदा के पुत्र। तुम सब विचार कर देखो तुमने उन्हें क्या सुख दिया ? उन बाल कृष्ण को तुम मत्त ग्वालिनों ने मूंड़ लिया। तनिक दही, मक्खन के कारण यशोदा त्रास दिखाती और तुम सब हँस कर उन्हें बंधवाने को दौड़तीं। किसी को भी दया न आती। व्रषभानुसुता ने वहाँ जो किया है वह सभी जानती हो। तुम्हारे जाल को अब मन मोहन ने तोड़ दिया है तो क्यों दुख मानती हो।"[2]

कुब्जा के पिछले संदेश में सपत्नी का गर्व झलकता है। इस प्रकार सूरदास ने कुब्जा की विभिन्न भावनाओं का चित्रण किया है। भागवत में केवल कृष्ण के मौखिक संदेश का वर्णन है। वसुदेव, देवकी और कुब्जा के संदेशों की कल्पना कवि की मौलिक सूझ है। भागवत में राधा का वर्णन नहीं मिलता किन्तु सूरदास ने राधा को विशेष महत्व दिया। गोपियों का समस्त विरह राधा को ही केन्द्र मानकर चलता है। कृष्ण और कुब्जा दोनों ही राधा के पास संदेश भेजते हैं।

उद्धव ब्रजागमन

मथुरा वासियों के प्रेम तथा व्यंग्य से पूर्ण संदेशों को लेकर आनन्द मग्न उद्धव कृष्ण वेश से उन्हीं के स्वर्ण जड़ित रथ पर बैठ

१—पद ४०६३।

२—पद ४०६५।

कर ब्रज चल दिये। उधर उद्धव के चलते ही ब्रज में शुभ शकुन होने लगे। 'जहाँ तहाँ गोपियाँ काग उड़ाने लगीं। कृष्ण-आगमन को कह कर उड़ाने पर वे न उड़ते किन्तु संदेश के कहने से तुरन्त उड़ जाते हैं। परस्पर कहने लगीं आज या तो श्याम आ रहे हैं अथवा उन्होंने किसी को ब्रज भेजा है।[1] इन वाह्य शकुनों को देखकर गोपियों के हृदय में नवीन आशा का संचार हुआ। उनकी भुजायें फड़कने लगीं अंगियों के बंद तरकने लगे। ऐसा लगता कोई मीठी बातें सुनाने वाला है। इन शकुनों से वे श्याम सुन्दर के आगमन का ही निश्चय जान रही हैं। इन शकुनों की सार्थकता इसी में है कि कृष्ण का दर्शन प्राप्त हो।[2]

गोपियों के मन में कृष्ण-मिलन की उत्कण्ठा तीव्र हो उठी। वे व्याकुल होकर कृष्ण-दर्शन की प्रतीक्षा करने लगीं। उसी समय रथ को आते देखकर गोपियाँ मुस्करा कर राधा से कहने लगीं, आज मेरा बचन पूरा हुआ, निश्चय ही कृष्ण आ रहे हैं। दूर से आते हुए रथ को देखकर राधा तथा गोपियों के मन में अनेक प्रकार की जिज्ञासा तथा कुतूहल जाग्रत हो गये। दूर होने के कारण वे उद्धव को ठीक से पहचान नहीं पातीं। कृष्ण के समान ही रूप रंग और वस्त्राभूषणों से सज्जित होने के कारण उन्हें कृष्ण का भ्रम हो गया। सूरदास ने गोपियों की इस व्याकुलता, संशय तथा हर्ष का कई पदों में वर्णन किया है। उद्धव के हाथ उठा कर बात करने का ढंग, मुकुट, कुण्डल और पीताम्बर की शोभा देखकर विरह विधुरा गोपियाँ कृष्ण आगमन का काल्पनिक सुख लूटने लगीं। यह समाचार समस्त ब्रज में फैल गया। यशोदा, ग्वाल बाल, गोपियाँ तथा गऊ सभी, उमंग में भर कर एकत्र हो गए। ज्यों ज्यों रथ पास आने लगा उन्होंने देखा कि एक ही व्यक्ति रथ पर है। अब उनके मन में कुछ संदेह हो गया। कृष्ण के साथ बलराम अवश्य आते। कहीं कोई दूसरा व्यक्ति तो नहीं आ रहा है। यहीं से कृष्ण पुनर्मिलन की जो एक क्षीण ज्योति दिखाई दी थी उद्धव दर्शन के पश्चात् सदा के लिए नष्ट हो गई। उमंग से भरी गोपियाँ जब प्रियतम के स्थान पर उद्धव को देखती हैं, ठगी-सी रह जाती हैं। उनके मन में अनेक भावनाएँ उठती हैं। वे सोचती हैं—

१—पद ४०७१

२—पद ४०७२

'सूरदास यहाँ कत आवें, बँधे कुबिजा रस दाम'

कभी कहती हैं ठीक ही है वे यहाँ आकर करेंगे ही क्या। उन्हें तो कूबरी नारी मिल ही गई है। "उद्धव को देखकर उनके नेत्र जल से भर गए। दर्शन की आशा मिट गई और नूतन विरह जग गया।"[1] इधर राधा और गोपियों की यह दशा है दूसरी ओर यशोदा का हृदय यह आघात न सह सका। वे मूर्च्छित होकर गिर पड़ीं। उनकी यह दशा देख गोपियाँ उन्हें समझाने लगीं, "कृष्ण ने अपना सखा भेजा है। वह उनका कुशल समाचार लाया है। जब रथ निकट आया तभी यह विश्वास हुआ।[2] यह अच्छा ही हुआ कि कृष्ण ने हमें याद किया। अब उठकर उनके कुशल समाचार पूछो, कृष्ण ने पत्र लिख कर संदेश भेजा है यह सुनकर वे उठीं,[3] यहीं से भाव में कुछ परिवर्तन हुआ। उद्धव को देखकर संदेश जानने की लालसा से व्रज नर-नारी रथ को घेर कर खड़े हो जाते हैं। तब नन्द उन्हें अपने घर ले जाकर आदर सत्कार करते हैं। उद्धव नन्द यशोदा को कृष्ण का प्रेमभरा संदेश सुनाकर उनका दुख-भार कम करते हैं।

एक अन्य स्थान पर उद्धव-गोपी मिलन प्रसंग का वर्णन भागवत के सदृश ही मिलता है। नन्द-द्वार पर खड़े रथ को देखकर गोपियों के मन में सन्देह होता है कि कहीं अक्रूर ही तो फिर नहीं आ गए हैं। फिर अवधि जानकर वे उनसे कुशल समाचार पूछने चलीं। "इसी बीच उन्हें उद्धव के दर्शन हो गये। कृष्ण के सखा जान सबने हाथ जोड़कर प्रेम पूर्वक उन्हें प्रणाम किया। गोपियाँ बोलीं, तुम्हारे दर्शन से हम धन्य हो गईं। हमने अपने जन्म को सफल समझा। तुम से मिलकर वैसा ही सुख हुआ जैसे मछली को पानी मिल जाने से होता है।"

इस प्रकार उद्धव व्रजागमन के प्रसंग का ही वर्णन सूरसागर में विभिन्न रूप में मिलता है। उद्धव के आते हुए रथ को सर्वप्रथम राधा ही देखकर सखियों को दिखाती है—

राधेहिं सखी बतावत री।
वैसोई रथ लागत मोकौं, उतही तैं कोउ आवत री॥

१—पद ३४६७। ४०८५

२—पद ३४६९। ४०८७

३—पद ३४७०। ४०९८

चढ़ि आयौ अक्रूर जाहि पर स्पंदन ब्रज तन धावत री।
वैसियै ध्वजा पताका वैसोइ घर घर सबद सुनावत री॥
कोउ कहै स्याम, कहति को ए हैं ब्रज तरुनी हरषावत री।
सूर स्याम जेहि मग पग धारे, तेहि मारग दरसावत री॥[१]

कृष्ण आगमन का समाचार सुनकर सभी ब्रजवासी कृष्ण-दर्शन की उत्सुकता से भागकर आते हैं।

सुने ब्रज लोग आवत स्याम।
जहँ तहँ तें सबै धाई, सुनत दुर्लभ नाम॥[२]

अब कृष्ण वियोग का एक क्षण भी युग के समान बीत रहा है :

एक इक पल जुग सवनि कौं, मिलन कौं अतुरात।

इस प्रकार एक ही प्रसंग का अनेक पदों में पुनरुक्ति होने से कथा प्रवाह में शिथिलता आ गई है। एक ही बात को बार बार पढ़ने से पाठक का जी ऊबने लगता है। किन्तु कथा प्रवाह के ध्यान को छोड़ देने से प्रत्येक पद अपने में पूर्ण तथा सुन्दर है।

कृष्ण के स्थान पर उनके मित्र तथा संदेश वाहक उद्धव को देखकर गोपियों के मन में बड़ी निराशा हुई। कोई व्याकुल होकर मूर्च्छित हो गई, कोई कुब्जा प्रणय में बँधे कृष्ण का ध्यान कर एक ठंडी साँस लेकर ही रह गई। दर्शन की आशा नष्ट होते देख वे नूतन विरह में जलने लगीं। उस समय यशोदा को मूर्च्छित देख वे क्षण भर को अपना दुख भूल कर कहती हैं:—

भल भई हरि सुरति करी।
उठो महरि कुशलात बूझिए, आनन्द उमंग भरी॥[३]

इस प्रकार विरह विधुरा ग्रामीण गोपियों में भी सहृदयता, सहानुभूति और कर्तव्य बुद्धि का दर्शन कराया गया है। गोपियों के इस प्रकार सान्त्वना देने पर यशोदा की मूर्च्छा दूर होती है और उद्धव कृष्ण के आने का आशाजनक संदेश सुनाते हैं।[४]

१—पद ४०७६
२—पद ४०८१
३—पद ४०८८
४—पद ४०९५

पाती प्रसंग

उद्धव से गोपियाँ सर्वप्रथम यही पूछती हैं कि कृष्ण कुशल-पूर्वक हैं। उन्होंने यहाँ आने को कहा है या नहीं। बिना हरि की प्रीति सुने हमारा एक-एक क्षण युग के समान बीत रहा है। तब उद्धव के मुख से कृष्ण का संदेश सुनने के लिए गोपियाँ दौड़ कर आ गईं। अन्य लोगों को उन्होंने हटा दिया[१]। मथुरा की समस्त घटनाओं का वर्णन सुनाकर उद्धव ने कृष्ण के हाथ की लिखी पाती गोपियों को दी। पाती देखकर वे प्रेम से भर गईं। पत्र के सुन्दर अंक को देखकर वे बार-बार उसे हृदय से लगा लेतीं। प्रेम आवेश के कारण उनके नेत्रों की जलधार से भीग कर स्याम की पाती श्यामवर्ण की हो गई। वे कृष्ण लीलाओं को स्मरण कर उनके मिलन के लिए व्याकुल हो उठीं।[२]

पाती का प्रसंग जैसा कि पहले कहा जा चुका है सूर की अपनी कल्पना है। प्रियतम के पत्र को देखकर प्रिया के मन में कितनी प्रकार की भावनायें जाग्रत हो जाती हैं। इस सबका वर्णन पाती प्रसंग में विस्तार से मिलता है। मधुवन से पाती आई है यह सुनकर कोई तो उसे पढ़ती है, कोई नेत्रों पर धरती है, तो कोई हृदय से लगा लेती है। कोई विश्वास न होने पर बार बार यही पूछती है कि क्या कृष्ण ने स्वयं अपने हाथ से लिखी है, भावना के आवेश में वे पत्र पढ़ ही नहीं पातीं और उद्धव को ही सुनाने के लिए पत्र लौटा देती हैं।[३] कृष्ण के जिस पत्र को देखकर गोपियाँ इस प्रकार प्रेम-मग्न हो गई थीं कि वे कभी उसे नेत्रों से लगातीं तो कभी हृदय से लगाती थीं, उन्हें कोई सुखद प्रेम संदेश सुनने की अभिलाषा थी, किन्तु वह तो योग का संदेश था जिसको सुनकर वे दुख से व्याकुल हो गईं। इस विषम संदेश को कोई पढ़ ही नहीं पाता जो देखता है वही नेत्रों में जल भर और एक दीर्घ उच्छ्वास छोड़कर ही रह जाता है। सूरदास ने इस योग संदेश से युक्त पाती की प्रतिक्रिया का वर्णन कई पदों में किया है। सूरदास के उद्धव योग का कटु संदेश विस्तार पूर्वक न रह

१—पद ४१०१।

२—पद ४१०५।

३—पद ४१०६।

कर पत्र से ही परिस्थिति स्पष्ट कर देते हैं। इस प्रकार उद्धव एक अल्पभाषी संदेशवाहक के रूप में दिखाई पड़ते हैं। पत्र देखकर गोपियाँ दीन होकर उद्धव से कहती हैं—

ऊधौ कहा करें ले पाती।
जौ लौ मदनगुपाल न देखौ, विरह जरावत छाती॥

× × ×

पीर हमारी जानत नाहीं, तुमतौ हौ स्याम संघाती।
यह पाती ले जाहुमधुपुरी, जहाँ वे बसें सुजाती॥[1]

कभी वे सोचतीं कि कृष्ण व्रजवासियों से रुष्ट हैं, तभी तो इस प्रकार मधुप के हाथ संदेश भेजे जाते हैं। क्या किया जाय अपना-अपना समय है। कभी वे हमें घर से बुला लेते थे और आज जूठी पत्तल के समान हमें त्याग दिया है। फिर भी हमारी यही कामना है कि वे जहाँ भी रहें करोड़ों वर्ष तक सुख पूर्वक जीवित रहें।[2]

उद्धव की इस 'योग चर्चा' से गोपियां व्याकुल हो गई। उसी समय एक भ्रमर आकर गुनगुनाने लगा। कृष्ण-विरह से व्यथित गोपियाँ उस भ्रमर से पूछती हैं, क्या कुब्जा ने तुझे भेजा है अथवा तू श्याम सुन्दर का संदेश लाया है ?[3]

भ्रमर प्रवेश के पूर्व के दो पद

इस प्रकार भ्रमर आगमन से भ्रमरगीत प्रारम्भ हो जाता है। किन्तु भ्रमर प्रवेश के पूर्व ही दो पदों में उद्धव को 'अलि' और 'मधुप' कहा गया है[4]। कृष्ण द्वारा भेजी 'जोग-पाती' की चर्चा करती हुई गोपियां उद्धव से कहती हैं, हे उद्धव ! जोग को लेकर क्या करें जो कि जल रहित सूखे सागर के समान है। इसी प्रसंग में वे कहती हैं—

१ पद ४११२।

२ पद ४११३।

३ इहिं अन्तर मधुकर इक आयौ।

निज स्वभाव अनुसार निकट ह्वै सुन्दर शब्द सुनायौ।
पूछन लागीं ताहि गोपिका कुबिजा तोहि पठायौ।
कीधौ सूर स्याम सुन्दर कौ हमें संदेसौ लायौ। ४११५

४ पद ४११३।

कहि यौ मधुप काँच के बदलें, को दे है बैरागर।
कहि-यौ मधुप संदेस सुचित दै, मधुवन स्याम उजागर॥

दूसरे पद में भी उद्धव को ही अलि कहा गया है—

याही तें लिखि पठवत अलि कर, बातें प्रेम छकों ही॥

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि 'मधुप' और 'अलि' शब्द उद्धव के लिए ही उपयुक्त हुए हैं। प्रसंग को देखते हुये इन पदों को सम्पादन क्रम की त्रुटि भी नहीं कहा जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में इन शब्दों का प्रयोग विचारणीय हो जाता है। भ्रमर आगमन के पूर्व ही उद्धव को भ्रमर क्यों कहा गया है?

मधुप, अलि के प्रयोग का कारण

उद्धव के श्याम वर्णन को देखकर वर्ण साम्य के आधार पर उद्धव को 'मधुप' या 'अलि' कहा जा सकता है किन्तु यह विचार अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ता है। बिना भ्रमर दर्शन के वर्ण साम्य की कल्पना उचित नहीं। कृष्ण का संदेश (योग) गोपियों के मन में अनेक भावनाएँ उद्दीप्त कर देता है। कुब्जा के साथ आनन्द मनाने वाले कृष्ण ने पहले उनसे ही प्रेम सम्बन्ध जोड़ा था किन्तु अब तो उन्हें जूठी पत्तल के समान ही छोड़ दिया है। कृष्ण का यह परिवर्तनशील प्रेम व्यापार फूलों का रस लेने वाले भ्रमर के समान ही है। भ्रमर वृत्ति के कारण कृष्ण का रसलौलुप स्वरूप उनके सामने आ जाता है। इस प्रकार स्वार्थी कृष्ण के संदेशवाहक उद्धव में भी उन्हें स्वार्थ की ही झलक दिखाई पड़ती है। रूप की समानता तो दोनों में है ही। अतः कृष्ण के अभाव में उद्धव पर ही वे अपने भाव प्रकट करती हैं। अतः यह सम्भव है कि 'मधुप' और 'अलि' का प्रयोग भ्रमर की रसलोलुप स्वार्थ वृत्ति को ही ध्यान में रखकर किया गया हो जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध उद्धव से जान पड़ता है किन्तु परोक्ष रूप से इसका तात्पर्य कृष्ण से ही है। इन शब्द प्रयोग के मूल में गोपियों का तात्पर्य उद्धव पर न होकर पत्र भेजने वाले श्याम वर्ण रसिक कृष्ण से ही है किन्तु कृष्ण के इस संदेश को लाने के कारण ही उन्हें इन शब्दों द्वारा सम्बोधित कर गोपियों ने अपनी भावनाओं का परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त यह बात ध्यान रखने योग्य है कि सूरदास श्री नाथ जी के सम्मुख कीर्तन के समय नवीन पद बना कर गाते थे। प्रबन्ध के अभाव में उनके पदों में किसी प्रकार का कथा निर्वाह ढूँढना उचित नहीं है। वे एक

भावना को लेकर पद बनाते और अनेक पदों में एक ही विचार को विभिन्न रूप में व्यक्त करते। उन्हें स्वयं इस बात का ज्ञान न था कि वे कोई कथा कह रहे हैं। भक्ति के आवेश में भगवान् के सम्मुख जो भाव आया उसे वैसे ही व्यक्त कर दिया। यही कारण है कि उद्धव के ब्रजागमन प्रसंग का कवि ने अनेक प्रकार से वर्णन किया है। उपर्युक्त दोनों पदों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है।

भ्रमरगीत का यह प्रसंग चार सौ पदों में वर्णित है। नंद, यशोदा और गोपियों के प्रेम की तन्मयता, आत्मसमर्पण और अनन्य भक्ति को देखकर उद्धव उनके भाग्य की सराहना करते हुए कहते हैं—

> धन्य नंद धनि जसुमति रानी
> धन्य ग्वाल गोपी जु खिलाए गोदहि सारंग पानी॥
> बनि ब्रज भूमि धन्य वृन्दावन जहं अविनासी आए।
> धनि धनि सूर आज हम हूँ जो तुम सब देखे पाए॥[1]

उद्धव के ब्रज जाते समय यशोदा और गोपियाँ कृष्ण के पास अनेक भावपूर्ण संदेश भेजती हैं। सूरदास ने नन्द यशोदा आदि की भेंट का वर्णन नहीं किया। उद्धव ब्रजवासियों के प्रेम की प्रशंसा कर शीघ्र ही मथुरा लौट जाते हैं। सूरदास ने उद्धव-कृष्ण वार्तालाप का प्रसंग भी विस्तार से कहा है। लगभग साठ पदों में उद्धव ने ब्रज की विरह-व्यथा का वर्णन किया है। गोपियों, राधा और यशोदा की व्यथा सुनकर कृष्ण "हा! हा! ब्रज!" कह कर शोक मग्न हो जाते हैं। कृष्ण के ब्रज-प्रेम का वर्णन भी पाँच पदों में किया गया है।

कथानक की विशेषताएँ

सूरदास के भ्रमरगीत प्रसंग के कथानक की विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूरदास ने यद्यपि भागवत को आधार माना है किन्तु कथा का विस्तार तथा भिन्नता उनकी मौलिक प्रतिभा की व्यंजक है। भागवतकार की भांति सूरदास केवल कथाकार न थे। उन्होंने जीवन की मार्मिक अनुभति ही व्यंजित की है। यही कारण है कि भागवत के कर्तव्यनिष्ठ कृष्ण का प्रेम तथा संदेश जहाँ केवल मर्यादा पालन के लिए ही है वहाँ सूरदास के कृष्ण के हृदय में ब्रज

१—पद ४७१०,

तथा व्रजवासियों से बिछुड़कर हर क्षण एक पीड़ा, एक कसक बनी रहती है। उनका प्रेम मानवेतर नहीं है। इसके साथ ही सूरसागर में उद्धव के सरस मानव हृदय का भी सुन्दर उद्घाटन है। गोपियों की विरह व्यथा से प्रभावित उद्धव व्रज दशा का इतना मर्म स्पर्शी वर्णन इसीलिए करते हैं जिससे कृष्ण उनकी पीड़ा को उन्हीं के सदृश ही अनुभव कर सकें।

भागवत तथा सूरसागर के उद्धव के विषय में एक बात और ध्यान देने की है। भागवत के उद्धव सूरसागर के उद्धव के समान अल्पभाषी नहीं हैं। भागवत में वे गोपियों से कृष्ण का विस्तृत संदेश कहते हैं और उनके प्रेम की प्रशंसा करते हैं। सूरसागर में भी मौखिक सन्देश का उल्लेख है किन्तु अपेक्षाकृत बहुत ही कम। योग का संतप्त करने वाला संदेश पत्र से ही सब को विदित होता है। अतएव उद्धव को अधिक बोलने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। पाती पढ़कर गोपियाँ बहुत ही व्यथित हो जाती हैं। भ्रमर-गीत प्रसंग के अन्तर्गत उनकी प्रेम-विह्वलता को देखकर उद्धव अवाक् हो जाते हैं। उद्धव का मुखर रूप मथुरा पहुँचने पर ही दिखाई देता है।

भ्रमरगीत का विभाजन

भ्रमरगीत के समस्त पदों का विभाजन दो विभिन्न दृष्टि-कोणों से किया जा सकता है। प्रथम कथा क्रमानुसार द्वितीय विषय वस्तु तथा रस के अनुसार।

कथा क्रमानुसार समस्त पद दो विभागों में बँट जाते हैं:—

(१) उद्धव आगमन के पद। इन्हें भ्रमरगीत की पूर्व पीठिका भी कहा जा सकता है।

(२) (क) उद्धव आगमन के पश्चात् के पद—अथवा भूमिका
(ख) भ्रमर आगमन के पश्चात् के पद।

विषय वस्तु अथवा रस के अनुसार

रस के अनुसार भ्रमरगीत के पद दो रसों के अन्तर्गत आते हैं:—

(१) अशृंगारिक—वात्सल्य तथा सख्य विप्रलंभ

(२) शृङ्गारिक—विप्रलंभ शृङ्गार का वर्णन दो स्थितियों में किया गया है—(१) जब उद्धव अथवा भ्रमर उपस्थित है। (२) जब उद्धव अथवा भ्रमर उपस्थित नहीं है।

विप्रलंभ की दोनों स्थितियों में मूल आत्मा एक है। यह विभाजन स्थूल तथा गौण है। मूलतः उन दोनों प्रकार के पदों में चाहे भ्रमर उपस्थित है अथवा नहीं कोई अन्तर नहीं है। उदाहरण-स्वरूप यहाँ कुछ पद उद्धृत किए जाते हैं। प्रथम पद उद्धव के ब्रज आने से पूर्व का है। कृष्ण विरह में गोपियाँ कृष्ण की कथा स्मरण करती हुई समस्त रात्रि जगते ही बिता देती हैं:—

हमको जागत रैनि विहानी।
कमल नैन, जग जीवन की सखि, गावत अकथ कहानी॥
विरह अथाह होत निसि हमको, बिनु हरि समुद समानी।
क्यों करि पावहिं विरहिनि पारहिं, बिनु केवट अगवानी॥
उदित सूर चकई मिलाप, निसि अलि जु मिले अरबिंदहि।
सूर हमें दिन-राति दुरुह दुख, कहा कहैं गोविंदहि॥[1]

दूसरा पद उद्धव के आने के बाद का है गोपियाँ उद्धव से ही अपनी विरह व्यथा का वर्णन करती हैं:—

हमको दुःख भई सेजें।
ऊधौ कमल नयन की बतियाँ छिदि छिदि जाति करेजें।
वृन्दावन, गोवर्धन यह बन, फिरि फिरि सुरति दिवावै॥
जिहि निसि जहाँ स्याम खेलत है, बल संग गऊ चरावें॥[2]

एक अन्य पद में मधुकर को सम्बोधित कर गोपियाँ कृष्ण के कपट प्रेम को उपालम्भ देती हुई कहती हैं:—

मधुकर तू काहें उठि धायो।
और बेर कबहूँ नहिं देख्यौ, हरि जासूसी आयो॥
हमरें कहा देखि है रे तू, अपनौ ही मन सोधौ।
स्याय स्याम तन सबै एक से, वे अंकुर तुम ऊधौ॥
तू तो बहुत पुहुप कौ लंपट, वे कुबिजा गृहवासी।
ह्यां तो उनको कछू न बिगर्‌यौ, सूर सदा हिय-वासी॥[3]

१—पद ३८८९
२—पद ४४६५
३—पद ४४६१

तथा ब्रजवासियों से बिछुड़कर हर दम एक पीड़ा, एक कसक बनी रहती है। उनका प्रेम मानवेतर नहीं है। इसके साथ ही सूरसागर में उद्धव के सरस मानव हृदय का भी सुन्दर उद्घाटन है। गोपियों की विरह व्यथा से प्रभावित उद्धव ब्रज दशा का इतना मर्म स्पर्शी वर्णन इसीलिए करते हैं जिससे कृष्ण उनकी पीड़ा को उन्हीं के सदृश ही अनुभव कर सकें।

भागवत तथा सूरसागर के उद्धव के विषय में एक बात और ध्यान देने की है। भागवत के उद्धव सूरसागर के उद्धव के समान अल्पभाषी नहीं हैं। भागवत में वे गोपियों से कृष्ण का विस्तृत संदेश कहते हैं और उनके प्रेम की प्रशंसा करते हैं। सूरसागर में भी मौखिक सन्देश का उल्लेख है किन्तु अपेक्षाकृत बहुत ही कम। योग का संतप्त करने वाला संदेश पत्र से ही सब को विदित होता है। अतएव उद्धव को अधिक बोलने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। पाती पढ़कर गोपियाँ बहुत ही व्यथित हो जाती हैं। भ्रमर-गीत प्रसंग के अन्तर्गत उनकी प्रेम-विह्वलता को देखकर उद्धव अवाक् हो जाते हैं। उद्धव का मुखर रूप मथुरा पहुँचने पर ही दिखाई देता है।

भ्रमरगीत का विभाजन

भ्रमरगीत के समस्त पदों का विभाजन दो विभिन्न दृष्टि-कोणों से किया जा सकता है। प्रथम कथा क्रमानुसार द्वितीय विषय वस्तु तथा रस के अनुसार।

कथा क्रमानुसार समस्त पद दो विभागों में बँट जाते हैं:—

(१) उद्धव आगमन के पद। इन्हें भ्रमरगीत की पूर्व पीठिका भी कहा जा सकता है।

(२) (क) उद्धव आगमन के पश्चात् के पद—अथवा भूमिका
(ख) भ्रमर आगमन के पश्चात् के पद।

विषय वस्तु अथवा रस के अनुसार

रस के अनुसार भ्रमरगीत के पद दो रसों के अन्तर्गत आते हैं:—

(१) अशृंगारिक—वात्सल्य तथा सख्य विप्रलंभ

(२) शृङ्गारिक—विप्रलंभ शृङ्गार का वर्णन दो स्थितियों में किया गया है—(१) जब उद्धव अथवा भ्रमर उपस्थित है। (२) जब उद्धव अथवा भ्रमर उपस्थित नहीं है।

विप्रलंभ की दोनों स्थितियों में मूल आत्मा एक है। यह विभाजन स्थूल तथा गौण है। मूलतः उन दोनों प्रकार के पदों में चाहे भ्रमर उपस्थित है अथवा नहीं कोई अन्तर नहीं है। उदाहरण-स्वरूप यहाँ कुछ पद उद्धृत किए जाते हैं। प्रथम पद उद्धव के ब्रज आने से पूर्व का है। कृष्ण विरह में गोपियाँ कृष्ण की कथा स्मरण करती हुई समस्त रात्रि जगते ही बिता देती हैंः—

हमको जागत रैनि बिहानी।
कमल नैन, जग जीवन की सखि, गावत अकथ कहानी॥
विरह अथाह होत निसि हमको, बिनु हरि समुद समानी।
क्यों करि पावहिं विरहिनि पारहिं, बिनु केवट अगवानी॥
उदित सूर चकई मिलाप, निसि अलि जु मिले अरबिंदहि।
सूर हमें दिन-राति दुरुह दुख, कहा कहें गोविंदहि॥[१]

दूसरा पद उद्धव के आने के बाद का है गोपियाँ उद्धव से ही अपनी विरह व्यथा का वर्णन करती हैंः—

हमको दुःख भई सेजें।
ऊधौ कमल नयन की बतियाँ छिदि छिदि जाति करेजें।
वृन्दावन, गोवर्धन यह बन, फिरि फिरि सुरति दिवावै॥
जिहि निसि जहाँ स्याम खेलत है, बल संग गऊ चरावें॥[२]

एक अन्य पद में मधुकर को सम्बोधित कर गोपियाँ कृष्ण के कपट प्रेम को उपालम्भ देती हुई कहती हैंः—

मधुकर तू काहें उठि धायो।
और बेर कबहूँ नहिं देख्यौ, हरि जासूसी आयो॥
हमरें कहा देखि है रे तू, अपनौ ही मन सोधौ।
स्याय स्याम तन सबै एक से, वे अंकुर तुम ऊधौ॥
तू तौ बहुत पुहुप कौ लंपट, वे कुबिजा गृहवासी।
ह्यां तो उनको कछू न बिगर्‌यौ, सूर सदा हिय-वासी॥[३]

१—पद ३८८९

२—पद ४४६५

३—पद ४४९१

उपर्युक्त तीनों पदों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाव व्यंजना के विचार से ये एक ही हैं। यदि द्वितीय और तृतीय पदों में से 'ऊधौ' और 'मधुकर' शब्द निकाल दिए जायँ तो भी भावाभिव्यक्ति अथवा रस परिपाक में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती। अतः उद्धव अथवा मधुकर की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति किसी प्रकार का अन्तर नहीं उत्पन्न करती। भ्रमर-गीत के सभी पद चाहें वहाँ भ्रमर अथवा उद्धव हैं या नहीं एक ही कोटि के हैं। उनके भाव-विचार तथा व्यंजना शैली एक ही है और उनकी आत्मा भी एक है।

यशोदा-नन्द-विरह

भ्रमरगीत का प्रारम्भ अश्रृंगारिक विप्रलम्भ अर्थात् वात्सल्य-विप्रलम्भ से प्रारम्भ होता है। नन्द का आगमन सुनकर कृष्ण मिलन की तीव्र उत्कण्ठा से यशोदा बाहर आती है किन्तु नन्द को अकेले देखकर अनेक घटनाएँ स्मरण हो जाती हैं। गर्ग कथा की स्मृति उन्हें घटना की सत्यता पर विश्वास करने को विवश करती है। दूसरी ओर रई के लिए झगड़ते कृष्ण की छवि हृदय को पीड़ित करती है। कृष्ण वियोग से अधीर अन्य किसी को न पाकर वे अपना समस्त क्रोध नन्द पर ही उतारती हैं। माता का सरल हृदय सोचता है यदि नन्द अकेले न आते तो कृष्ण अवश्य ही चले आते। पुत्र वियोग की विह्वलता के कारण वे बिना सोचे समझे जो मन में आता है कहने लगती हैं। उनके इस कथन में नन्द के प्रति निरादर अथवा तिरस्कार की भावना नहीं। यह पुत्र दुख से दुखी माँ के हृदय की खीज है। वे रो-रो कर नन्द से कहती हैं:—

> धिक तुम धिक ये चरन अहो पति, अध बोलत उठि धाए।
> सूर स्याम बिछुरन की हम पै देन बधाई आए॥[1]

आज वे सुअवसर की मृत्यु की कामना करती हुई दशरथ के भाग्य की सराहना करती हैं जिन्होंने रामचन्द्र के वियोग में अपने प्राण देकर प्रेम का पूर्ण निर्वाह किया था। किन्तु यशोदा का आज इतना भी सौभाग्य नहीं है। कभी वे व्याकुल होकर नन्द से पूछ बैठतीं कि वे कृष्ण को कहाँ छोड़ आए हैं? अक्रूर आगमन से

१—पद ३७५२

उनके हृदय में अनेक दुश्चिंताएँ उत्पन्न हो गई थीं। कृष्ण जीवन को संकट में जान वे प्रतिक्षण शंका से काँपती रहती थीं। वे समस्त चिन्ताएँ तो दूर हो गईं किन्तु इस अभिनव विपत्ति का तो उन्हें स्वप्न में भी ध्यान न था। किन्तु अब नन्द को अकेले देख उनके हृदय में पुत्र समाचार की उत्सुकता चढ़ जाती है वे नन्द से पूछती हैं कृष्ण ने तुमसे क्या कहा है? कभी व्यथा बढ़ जाने से वे खीज उठती हैं और झुंझला कर कहने लगतीं :—

छांड़ि सनेह चले मन्दिर कत दौरि न चरन गह्यौ।
दरकि न गई ब्रज की छाती, कत यह सूल सह्यौ॥[1]

जब इन कटु बचनों के उपरान्त भी उन्हें कुछ शान्ति न मिलती और कृष्ण की मधुर स्मृतियाँ बारंबार उनके हृदय को मथती ही रहीं तो वे दीन हो नंद के पैरों पड़कर किसी भी भांति कृष्ण को लिवा लाने की याचना करती है। यशोदा सोचती उसका कुँवर कन्हैया जो स्वभाव का ही संकोची है वह भला मथुरा में किस प्रकार सुखी रह सकता है। यशोदा के समान उसकी चिन्ता करने वाला दूसरा कौन है। यशोदा को न जाने कितने लोगों ने समझाया होगा, अनेक प्रकार से सान्त्वना दी होगी किन्तु पुत्र वियोग की जो अग्नि उनके हृदय में धधक रही है, उसे सान्त्वना के ये छींटे किस प्रकार बुझा सकते हैं। वह स्वयं ही इस बात को स्वीकार करती है :—

जदपि मन समुझावत लोग।
सूल होत नवनीत देखि मेरे मोहन के मुख जोग॥[2]

घर और ब्रज से उन्हें विरक्ति हो रही है। विरह आधिक्य के कारण एक ही काव्य में वे अनेक भाव एक साथ ही व्यक्त करती हैं :—

नंद ब्रज लीजे ठोंकि बजाइ।
देहु बिदा मिलि जाँहि मधुपुरी जहं गोकुल के राई॥[3]

१—पद ३७५३

२—पद ३७८४

३—पद ३७८६

यह एक वाक्य यशोदा की पीड़ा को व्यक्त करने में पूर्णतः समर्थ है।

नन्द को यदि इस ब्रज से अधिक प्रेम है तो वे इसे सँभालें। यशोदा तो अब वहीं जायेगी जहां गोकुल के राजा कृष्ण हैं। एक ओर तो इसमें खीज का भाव है दूसरी ओर विरक्ति, अधीरता और उत्सुकता का भी मिश्रण है। भ्रमरगीत सार की भूमिका में शुक्ल जी इसी पद के विषय में लिखते हैं "ठोंकि बजाय" में कितनी व्यंजना है। तुम अपना ब्रज अच्छी तरह संभालो, तुम्हें गहरा लोभ है मैं तो जाती हूँ। एक-एक वाक्य दो-दो तीन-तीन भावों से लदा हुआ है। श्लेष आदि कृत्रिम विधानों से युक्त ऐसा ही भाव गुरुत्व हृदय को सीधे स्पर्श करता है। इसे भाव शवलता कहें या भाव पंचामृत, क्योंकि एक ही वाक्य "नन्द ब्रज लीजै ठोंकि बजाय" में कुछ निर्वेद कुछ तिरस्कार और कुछ अमर्ष इन तीनों की मिश्र व्यंजना है—जिसे शवलता ही कहने से संतोष नहीं होता—पाई जाती है।"[1] सूर की रचना में इस प्रकार भावों की मिश्र व्यंजना अनेक पदों में मिलती है।

पुत्र दर्शन की इच्छा से यशोदा बसुदेव की दासी बनने की अभिलाषा करती हैं। प्रेम के सम्मुख मान अपमान का प्रश्न ही नहीं है। यह तो प्रेमी के हृदय की एक अकिंचन अभिलाषा है। विरह से संतप्त हृदय यदि दासी रूप में भी शान्ति पा सके तो यह अपने को धन्य समझेगी।

वियोगावस्था में सन्देश तथा पत्रों का अत्यधिक महत्व है। संदेश दुखी हृदय को आंशिक शान्तिप्रदान करता है। यशोदा भी कृष्ण के पास सन्देश भेजती हैं। पथिक से कहे गये संदेश में माता का हृदय हलका पड़ता है। दैन्य तथा विषाद भावों की मिश्र व्यंजना इसमें भी दिखई पड़ती है। कृष्ण बड़े हो गए हैं, राजा हो गए हैं, इन सब से अधिक कष्टकर यह समाचार है कि वे अब देवकी बसुदेव के पुत्र बन गए हैं। यशोदा का अधीर हृदय इसे किस भांति स्वीकार करे। जिसे उसने पयपान करा करा कर इतना बड़ा किया। जो अपनी ललित लीलाओं द्वारा उनका हृदय प्रफुल्लित

१—पृष्ठ २३ संस्करण २००४

क्रिया करते और अभी मथुरा जाने के पूर्व तक जो मैया कह कर पुकारते थे वे ही कृष्ण अब उनके नहीं रहे। यह भाग्य की विडम्बना नहीं तो और क्या है। किन्तु कृष्ण दर्शन के बिना तो यशोदा का जीवन ही असम्भव है। यशोदा को मथुरा जाकर वसुदेव की दासी बनने की अभिलाषा तो पूर्ण न हो सकी किन्तु पथिक से उन्होंने अपनी इस वेदनापूर्ण इच्छा को अवश्य ही प्रकट कर दियाः—

संदेसौ देवकी सों कहियौ।
हौं तो धाय तिहारे सुत की, मैया करत ही रहियौ ॥[1]

देवकी के समान कृष्ण को भी अब इस सम्बन्ध से अवगत होही जाना चाहिए, अतः व्यथित ही धड़कते हृदय से वे कृष्ण को भी इसी प्रकार का संदेश भेज देती हैंः—

कहियौ स्याम सों समुझाइ।
वह नातौ नहि मानत मोहन, मनौ तुम्हारी धाइ ॥[2]

यह वाक्य दीनता, व्यग्रता और विवशता का एक चित्र-सा खींच देते हैं। यशोदा के ये शब्द कितनी व्यथा और निराशा से भरे हैं। दुख के साथ ही एक विनीत आग्रह भी है जिसमें कृष्ण दर्शन की अभिलाषा के साथ मां का मग्न हृदय भी लिपटा है। यशोदा 'वह नातौ' कह कर ही रह जाती है। अब वे अपने से मां का सम्बन्ध किस प्रकार जोड़ें।

यशोद-विरह की अपेक्षा नंद-विरह के पद कम हैं। ब्रज आने पर यशोदा के मर्मभेदी तीक्ष्ण वाक्य बाणों के आघात को नंद सहन न कर मूर्च्छित होकर गिर पड़ते हैंः—

बार बार महरि कहति जनम धिक कहाए ॥
कहूँ कहति सुनी नहीं दशरथ की करनी।
यह सुनि नन्द व्याकुल ह्वै, परे मुरछि धरनी ॥[3]

नन्द भी पिता थे। उनके मन में भी पुत्र वियोग का दुख था किन्तु वे यशोदा के समान बिलख बिलखकर रो नहीं सकते। सम्भवतः उनका पुरुषत्व नारी के समान अधीर होने में हीनता का अनुभव करता था

१—पद ३७६३
२.—,, ३७६०
३—पद ३७४७

किन्तु सहनशीलता की भी एक सीमा है। आवेगों का अन्तर्मुखी हो जाना वेदना को अधिक तीव्रतर बना देता है। कृष्ण को मथुरा में छोड़कर आते समय नन्द स्वयं बड़े दुखी थे। इधर यशोदा पुत्र वियोग से उन्मत्त हो रही थी। ऐसी विषम परिस्थिति में बेचारे व्यथित नन्द धैर्यवान व्यक्ति के सदृश मौन ही रह जाते। विकल यशोदा के लिए सान्त्वना के दो शब्द भी न कह पाते। एक दिन नन्द ने कृष्ण की चर्चा चलाई। उस रात्रि वे कृष्ण की याद कर कर पछताते रहे और समदुखी दम्पत्ति ने वह सम्पूर्ण रात्रि कृष्ण चर्चा में ही व्यतीत कर दी।

गोपों की भी कृष्ण-विरह में बुरी दशा थी। जिनके साथ वे प्रतिदिन खेला करते, गउएं चराते, जो वंशी की मधुर ध्वनि सुनाकर आनन्द की मंदाकिनी बहाया करते थे, उन्हीं कृष्ण का वियोग उन्हें असह्य हो रहा था। कभी वे दुख से व्याकुल होजाते, कभी उन्हें कृष्ण की निष्ठुरता का ध्यान आता तो कभी कृष्ण के राजा बनकर इतरा जाने पर क्षुब्ध वे कह उठते—

> भए हरि मधुपुरी राजा, बड़े बंस कहाइ।
> सूत मागध बदत बिरदनि बरनि वसुधो सात॥
> राज भूषन भाजत, अहिर कहत लजात॥[1]

वात्सल्य रस का परिपाक

यशोदा तथा नन्द का यह विरह-वर्णन वात्सल्य रस के अन्तर्गत रखा जा सकता है। वात्सल्य रस के विषय में आचार्यों में बड़ा मतभेद है। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में आठ रस ही माने हैं।[2] उनके अनुसार मूल रस तो चार ही हैं—शृंगार, रौद्र, वीर और बीभत्स जिनसे क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक रसों की उत्पत्ति हुई है मम्मट, उद्भट तथा पंडित राज जगन्नाथ आदि ने शान्त रस को नवां रस मान लिया है। इस प्रकार आजकल नव रस सर्वसम्मति से मान्य हैं। कुछ विद्वान् रसों की संख्या दश मानते हैं। उनके विचार से वात्सल्य दसवां रस है। माता पिता के हृदय में संतान के प्रति जो प्रेम है वही वात्सल्य रस का स्थायी भाव है। संतान, उसकी लीला तथा क्रीड़ाएँ आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव

१—पद ३७५६

२—शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत, रौद्र, करुण, भयानक और वीभत्स।

हैं। रोमांच, हर्ष, चुम्बन, आलिंगन आदि अनुभाव तथा ३३ संचारी भावों में से अनेक संचारी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं।

पंडितराज जगन्नाथ वत्सल को भाव ही मानते हैं। किन्तु विश्वानाथ तथा भोजदेव ने इसे रस ही माना है। भोजदेव ने शृङ्गार प्रकाश नामक ग्रन्थ में लिखा है: -

शृङ्गार वीर करुणाद्भुत हास्य रौद्र वीभत्सवत्सल भयानक शांत नाम्ना।
आश्नासियुर्दशरसान् सुधियो वंदति शृङ्गार मेव रसनाद्रसमायानामः॥

अर्थात् शृङ्गार, वीर, करुण, अद्भुत, हास्य, रौद्र, वीभत्स, वत्सल, भयानक और शांत नामक दस रस बुद्धिमानों ने बताए हैं, किन्तु आस्वादन पर दृष्टि रख कर शृङ्गार ही रस माना जा सकता है।

पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने वात्सल्य को दसवां रस माना है। आपने अपने मत की पुष्टि के लिए रसकलश की भूमिका में इस पर विस्तार से विचार किया है। अधिकांश विद्वानों का झुकाव अब वात्सल्य को भी दसवां रस मान लेने की ओर ही है।

सूरदास का वात्सल्य

सूरदास ने वात्सल्य का विस्तृत वर्णन किया है। दशम् स्कन्ध पूर्वार्द्ध के आधे से अधिक पद इसी रस के अन्दर आ जाते हैं। इस निबन्ध में वात्सल्य के वियोग पत्त को ही लिया गया है। वात्सल्य रस के स्थायी भाव, विभाव तथा अनुभावों के विषय में पहले ही लिखा जा चुका है। वात्सल्य के वियोग पत्त में संतान का विरह मूल स्थायी भाव है। यह विरह प्रवास जनित ही हो सकता है। मृत्यु के कारण जो विरह होगा वह करुण रस का ही उद्रेक करेगा। शृङ्गार रस के सदृश ही वात्सल्य में भी पुत्र मिलन की आशा बनी रहती है। संतान आलम्बन विभाव, उसकी वस्तुएँ खिलौने आदि उद्दीपन विभाव, माता का दुख, अश्रुपात विकलता अनुभाव और अभिलाषा चिन्ता, ग्लानि, विषाद, अमर्ष, दैन्य, जड़ता आदि इस रस के व्यभिचारी भाव हैं।

सूरदास ने वात्सल्य के वियोग पत्त के वर्णन में भी अपनी सहृदयता का पूर्ण परिचय दिया है। यद्यपि वात्सल्य के संयोग पत्त के समान इसकी पद संख्या अधिक नहीं है किन्तु भावों की गम्भीरता और तीव्रता का अभाव भी नहीं है। यहाँ मनोभावों की व्यंजना

संचारियों में बंधकर नहीं हुई है। एक ही पद में अनेक भावों की मिश्र व्यंजना मिलती है। इन पदों में अलंकारों का विधान नहीं है—हृदय को स्पर्श करने के लिए अलंकारों को आवश्यकता भी नहीं होती। सीधे साधे हृदय से निकले भाव जितने मर्मस्पर्शी होते हैं, उतनी क्षमता अलंकारपूर्ण भावों में दुर्लभ है। मां के हृदय की आकुलता का जितना सुन्दर चित्रण सूरदास ने किया है, उतना अन्यत्र मिलना कठिन है। सूरदास ने जिन दो रसों को लिया है—वात्सल्य और शृङ्गार—उनके दोनों ही पक्षों—संयोग और वियोग—की गहराई में वे पहुँचे हैं। कृष्ण के विरह में यशोदा की उन्मत दशा है। विरह के आवेग में वह सब कुछ भूल कर नन्द से बहुत कुछ कह बैठती हैं। भावातिरेक के कारण वे यह भूल जाती हैं कि वे नन्द से यह कह रही हैं:—

> फूटि न गईं तुम्हारी चारों, कैसें मारग सूझे।
> एक तौ जरी जात बिनु देखें, अब तुम दीन्हीं फूँकि॥
> यह छतियाँ मेरे कान्ह कुंवर बिनु फटि न भईं द्वै टूक।
> धिक तुम धिक ये चरन अहौ पति, अध बोलत उठि धाए।
> सूर स्याम बिछुरन की हम पै दैन बधाई आए॥[१]

यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि सूरदास की यशोदा पुत्र दुख में इतना उन्मत्त हो जाती है कि भारतीय नारी के उच्च आदर्श को भूलकर नंद पर अनेक कटु वाक्य बाणों का प्रहार करने से नहीं चूकती। क्या नंद पिता न थे और उन्हें दुख न था फिर यशोदा का इस प्रकार कहना कहाँ तक युक्तिसंगत है? यह सत्य है कि यशोदा ने नंद से बहुत कुछ कहा है किन्तु यह यशोदा का प्रलाप ही माना जायगा। विरह की तीव्रतम वेदना से वह आत्म ज्ञान खो बैठी हैं। दूसरी बात यह भी है कि यशोदा जो कुछ कहती हैं उसके तात्विक अर्थ को ग्रहण नहीं करतीं। नंद के साथ कृष्ण गए थे अतः नंद को उन्हें ले आना था यह एक सरल और सीधी सी बात थी। उनको छोड़कर आने का दोष तो नंद पर ही है, वे ही तो उन्हें ले गये थे। नंद यशोदा के थे यही कारण है कि यशोदा उनसे जो चाहती थीं, वह कहती हैं। यह अपनत्व का अधिकार है जहाँ व्यक्ति रूठता, लड़ता-झगड़ता और फिर भी प्रेम में आबद्ध

१—पद ३७५२

रहता है। किसी साधारण सम्बन्ध के आधार पर इतने बड़े अधिकार की प्राप्ति असम्भव ही है। यशोदा के लिए पति और पुत्र दोनों ही प्रिय थे किन्तु उस क्षण दुख के आवेग और प्रवाह में वे इस प्रकार बह रही थीं कि आदर्श और कर्तव्य का किनारा बहुत दूर छूट गया था।

कृष्ण के बिना सूना घर अब उन्हें काटता-सा है कृष्ण के रहने पर यही नंद-भवन कुछ और ही लगता था। कोई भी वस्तु स्थान पर न रहती, समस्त सामान बिखरा पड़ा रहता। आज सभी वस्तुओं का एक ही स्थान पर रखा रहना भी उन्हें अप्रिय लगता है। वे अतीत की बातें स्मरण करती हैं:—

मेरे कुँवर कान्ह बिनु सब कुछ वैसहि धर्यौ रहै।
को उठि प्रात होत ले माखन, को कर नेति गहै॥
सूने भवन जसोदा सुत के, गुन गुनि सूल सहै।
दिन उठि घर घेरत ही ग्वारिनि, उरहन कोउ न कहै॥[1]

"उरहन कोउ न कहै" में कितनी व्यंजना है। जिन उलाहनों को सुन-सुन कर वे तंग आ जाती, कभी कृष्ण को डराती, धमकाती तो कभी ऊखल से बाँधती उन्हीं उलाहनों के लिए अब उनके श्रवण तरस रहे हैं।

पुत्र वियोग के कारण कभी वे खीजती, कभी दर्शन की अभिलाषा और उत्कण्ठा उन्हें चंचल बना देती और कभी दीन होकर वे पथिक से यह कह उठतीं:—

कहियो स्याम सों समुझाइ।
वह नातौ नहि मानत मोहन, मनौ तुम्हारी धाइ॥
एक बार माखन के काजें राखे मैं अटकाइ।
वाकौ बिलग न मानो मोहन, लागै मोहि बलाइ॥[2]

यशोदा की दीनता, ग्लानि और आग्रह का इसमें सुन्दर वर्णन है। मां कभी तंग आकर बच्चे से कुछ कह देती है आज वही घटना उसके हृदय में शूल बनकर गड़ रही है। वह बार-बार सोचती है क्या उसने कोई ऐसी बात कह दी है जो पुत्र को लग जाय? इसी विचार से यशोदा मथुरा जाते समय उद्धव से कहती है—

१—पद ३७९८
२—पद ३७९०

मैं नंद नंदन सों कछू न कह्यौ ।
सुनि ऊधौ हरि ऐसौ कीन्हीं, मधुपुरि बसि जु रह्यौ ॥[१]

अब तो प्रति क्षण केवल एक ही अभिलाषा है। उसी आशा में प्राण अटके हैं:—

निसि बासर छतियाँ सों लाई, बालक लीला गाऊं।
ऐसे कबहुँ भाग होंहिगे, बहुरौ गोद खिलाऊं ॥[२]

गोपी विरह

गोपियाँ कृष्ण की विवाहित पत्नी तथा अविवाहित प्रेमिकाएँ हैं। राधा कृष्ण की विवाहित पत्नी हैं। सूरदास ने राधा-कृष्ण के गन्धर्व विवाह का स्पष्ट उल्लेख किया है।

सुनि सूरदासहिं भयौ आनन्द, पूजी मन की साधिका।
श्रीलाल गिरिधर नवल दूलह, दुलहिनी श्री राधिका ॥[३]

डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने राधा "चरित्र चित्रण वर्णन" प्रसंग में उन्हें परकीया और स्वकीया दोनों ही रूपों में ग्रहण किया है। वे एक ओर भोली, चंचल, चतुर, प्रेम विवश परम सुन्दरी राधा को चतुर, गूढ़ तथा अतृप्त परकीया मानते हैं तो दूसरी ओर उन्हें राधा गूढ़, गंभीर, परम-वियोगिनी, मानवती और शालिनी स्वकीया के रूप में दिखाई पड़ती हैं।[४]

सूरसाहित्य की भूमिका में राधा को स्वकीया ही माना गया है।[५] राधा तथा गोपियों का यह प्रेम प्रत्यक्ष दर्शन तथा साहचर्य द्वारा अनुराग रूप में अंकुरित तथा विकसित होकर प्रणय को प्राप्त

१—पद ४७०१

२—पद ४७०३

३—पद १६९० दशम स्कन्ध

४—पृ० ३७५—राधा-सूरदास सं० १९५०

५- सूरदास की राधा न चंडीदास की राधा की तरह परकीया है, न विद्यापति की राधा की तरह प्रेयसी। वह न साधारण गोपी है, न असाधारण गोपी। वह कृष्ण की पत्नी है। नायिका भेद की परिभाषा में हम उन्हें स्वकीया कहेंगे।

पृ० ८७ सूरसाहित्य की भूमिका, रामरतन भटनागर
वाचस्पति त्रिपाठी, १९४५

हुआ है। कृष्ण के मथुरा प्रवास के कारण ब्रज में विरह का पारावार उमड़ पड़ा। गोपियां अवधि की सीमा में कृष्ण की प्रतीक्षा करती हैं किन्तु उद्धव का निर्गुण ज्ञान संदेश आशा के उस क्षीण तंतु को भी समूल नष्ट कर देता है। इस प्रकार गोपियों का अनन्त कालीन विरह युग-युग से प्रवाहित होता हुआ आज भी असीम अवधि की ओर चला जा रहा है। गोपियों का यह विरह काव्य शास्त्र के अनुसार विप्रलम्भ शृङ्गार के अन्तर्गत रखा जायेगा।

विप्रलम्भ शृंगार रस तथा उसके अंग

काव्य शास्त्र के अनुसार शृंगार रस का स्थायी भाव रति है। इसका वर्ण श्याम और देवता विष्णु अथवा कृष्ण हैं। शृंगार रस के दो भेद हैं—संयोग और वियोग। जब प्रेमी युग्म एक दूसरे के प्रेम में पग कर परस्पर दर्शन, स्पर्श, संलाप आदि में रत रहते हैं, तब वह संयोग शृंगार कहलाता है किन्तु जब प्रेमी युग्म में प्रेमाधिक्य होने पर भी संयोग का अभाव रहता है तब विप्रलम्भ शृंगार की उत्पत्ति होती है। जैसा कि हम इससे पूर्व विवेचन कर आये हैं। विप्रलम्भ शृंगार के चार अंग प्रायः मान्य हैं—पूर्व राग, मान, प्रवास और करुण। पूर्व राग—प्रिय मिलन के पूर्व ही प्रत्यक्ष दर्शन, चित्र दर्शन, श्रवण अथवा स्वप्न दर्शन से अनुराग उत्पन्न होता है। इसमें प्रिय के प्रत्यक्ष रहने पर भी मिलन की कठिनाइयां विरह को उत्पन्न करती हैं।

हम उपालम्भ के शास्त्रीय विवेचन के अन्तर्गत यह स्पष्ट कर चुके हैं कि कृष्ण के ब्रज छोड़कर मथुरा चले जाने के कारण गोपियों का विरह भूत प्रवास जनित है। कुब्जा प्रेम की कथा सुनने के कारण गोपी विरह में मान मिलता है। गोपियों का यह मान गुरु मान है जो कृष्ण को कुब्जा में अनुरक्त जान कर ही हुआ है। उन्हें यह समाचार मिला है कि कृष्ण ने कुब्जा को रूप सौन्दर्य से पूर्ण कर अपनी पटरानी बना लिया है।[1] अब वह 'सुहागिन' बन गई है—

कुबिजा स्याम सुहागिनी कीन्हीं, रूप अपार जात नहीं चीन्हीं।
आपु भए पति वह अरधंगी। गोपिन नाउं धर्यौ नवरंगी॥[2]

१—देखो कूबरी के काम।
आप कहावति पाटरानी, बड़े राजा स्याम

२—पद ३७६२

कुब्जा का यह प्रेम प्रसंग उन्हें विरह में डुबा देता है। वे ईर्ष्या और क्रोध से भर जाती हैं और पुनर्मिलन की आशा भी धीरे-धीरे निराशा में बदल जाती है—

> कुबिजा कौ नाम सुनत, बिरह अनल जूड़ी।
> रिसनि नारि झहरि उठीं क्रोध मध्य बूड़ी॥
> आवन की आस मिटी, अरध सब स्वासा।
> कुबिजा नृप दासी, हम सब करी निरासा॥
> लोचन जल धार अगम, विरह नदी बाढ़ी।
> सूर स्याम गुन सुमिरत, बैठी कोउ ठाढ़ी॥[1]

गोपियाँ कृष्ण-प्रवास के कारण दुखी हैं किन्तु वहाँ उन्हें कुब्जा प्रेम में बंधा सुनकर उनकी विरहाग्नि और भी तीव्र हो जाती है। प्रिय की पर-नारी अनुरक्ति जान वे क्रोध से भर कर मान प्रदर्शित करती हैं। अर्ध उच्छ्वास, नेत्र जलधारा तथा जड़ता उनके प्रेम-पीड़ा को व्यंजित करती हैं। एक ही पद में सूरदास ने विरह की कई दशाओं का वर्णन कर दिया है।

काम दशाएँ

विप्रलम्भ शृंगार में वियोग की दश-दशाएं मानी गई हैं:—अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुण कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण। काम दशाओं में प्रत्यक्ष मरण का वर्णन नहीं मिलता है। विरह की अत्यधिक कष्टप्रद स्थिति को ही मरण माना गया। परोक्ष रूप से इसका वर्णन भी मिलता है। मरण—इस नश्वर शरीर का त्याग-का प्रत्यक्ष वर्णन करुण रस का विषय है। अतः नैराश्य की चरम अवस्था को ही मरण माना गया है। कुछ कवियों ने मरण के स्थान पर मूर्च्छा का वर्णन किया। सूरदास ने मरण दशा का भी उल्लेख किया है।

> ऊधौ कही सुफेरि न कहिए।
> जौ तुम हमें जिवायौ चाहत, अनबोले ह्वै रहिए॥
> प्रान हमारे घात होत हैं, तुम्हरे भाएँ हांसी।
> या जीवन ते मरन भलौ है, करवत लैहैं कासी॥
> पूरब प्रीति संभारि हमारि, तुमको कहन पठायौ।
> हम तो जरि बरि भस्म भईं, तुम अलि मसान जगायौ॥[2]

१—पद ३७६१
२—पद ४२२५

अभिलाषा

काम दशाओं का वर्णन वेदना की गम्भीरता तथा विवृत्ति दिखाने के लिए ही होता है। सूरदास ने इन सभी दशाओं का अनेक पदों में वर्णन किया है। कृष्ण से बिछुड़कर गोपियों के मन में अनेक प्रकार की अभिलाषा उठती हैं। नील गगन में उनमुक्त पक्षी को उड़ते देख वे सोचती हैं काश उनके भी पंख होते और वे उड़कर प्रिय तक पहुँच सकतीं -

जो तन पंख होंइ सुनि सजनी, अवहि उहाँ उड़िजाऊँ ॥[१]

विरह में क्षीण होते शरीर को देखकर उन्हें लगता कहीं कृष्ण दर्शन की अभिलाषा लिए ही प्राण न छूट जायं। यही सोचकर राधा व्याकुल हो जाती। वे कृष्ण का केवल दर्शन मात्र ही चाहती हैं। यदि कृष्ण उनके बनकर नहीं आना चाहते हैं तो नन्द के अतिथि होकर ही आ जायें। प्रिय मिलन के लिए गोपियाँ सब कुछ करने को तैयार हैं। यदि योगी बनकर भस्म रमाने और शृंगी, खप्पर और मुद्रा धारण करने से वे प्रियतम को पा सकें तो वे यह स्वांग रचने को भी तत्पर हैं। उनका यह योगी वेश अलख निरंजन अथवा निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति के लिए नहीं है वे तो हरि के कारण ही गोरख को जगाने के लिए तैयार हैं—

गोपालहिं पावों धों किहि देश।
सिंगी मुद्रा कर खप्पर लै, करिहों जोगिनि भेष ॥
कंथा पहिरि विभूति लगाऊं, जटा बँधाऊँ केस।
हरि कारण गोरख हि जगाऊँ, जैसे स्वांग महेश ॥
तन मन जारों भस्म चढ़ाऊँ, विरहा के उपदेश।[३]

सूरदास ने गोपियों की अभिलाषा द्वारा भविष्य घटना का भी संकेत कर दिया है। कृष्ण विरह में व्याकुल गोपियों के लिए उद्धव योग का ही संदेश लाने वाले हैं। सीता की बनगमन इच्छा सदृश ही गोपियों की यह अभिलाषा भविष्य संदेश की पूर्व सूचना है।

चिंता तथा स्मृति

अभिलाषा के साथ ही प्रिय आगमन में विलम्ब होने से गोपियों के मन में अनेक चिंताएं उत्पन्न हो जाती हैं। प्रकृति का रम्य

१—पद ३८७१
२—पद ३८४४

वातावरण, पावस में पपीहे की पुकार, मेघों का गर्जन और सावन की फुहार उनके मन को चिन्ता से अच्छादित कर देती हैं। हृदय को किसी प्रकार सान्त्वना देने के लिए वे कृष्ण की बाल लीला का स्मरण कर उनके गुण गान करती हैं। सन्ध्या की गोधूलि में उन्हें कृष्ण के गोचारण से लौटने का दृश्य स्मरण हो आता और तब वे ठंडी सांस लेकर कह उठतीं—

इहिं बिरियां बन ते ब्रज आवत।[1]

उद्वेग

विरह की विमल अवस्था का नाम ही उद्वेग है। संयोग अवस्था की सभी वस्तुएँ इस समय दुखदायी प्रतीत होने लगती हैं। चित्त कहीं लगता ही नहीं। गोपियों की भी यही दशा है। कृष्ण के संयोग में जो चांदनी रात्रि सुखकर थी वही ज्योत्सना पूर्ण रात्रि तारे गिनते और आँसू टपकाते बीत जाती है।

प्रलाप

उद्वेग से बढ़ी हुई अवस्था का नाम प्रलाप है। दुखाधिक्य के कारण विरही अपने भावों को जिस किसी से कहने लगता है, उसे इसका विचार नहीं रहता कि कोई उसकी बातें सुन भी रहा है। प्रलाप अवस्था के कथन कुछ अहात्मक भी होते हैं। गोपियों ने चन्द्र को लक्ष्य कर इसी प्रकार के अहात्मक विचार प्रकट किए हैं।[2]

उन्माद

उन्माद अवस्था में विरही अपनी चेतना खोकर संयोगोत्सुक कार्य व्यापार में संलग्न रहता है। ब्रज की उन्मत्त दशा का वर्णन स्वयं उद्धव ने कृष्ण से किया है।[3] कृष्ण वियोग में ब्रजवासी उन्मत्त हो कृष्ण लीला में ही लीन हैं। उन्हें अपनी सत्ता का ध्यान ही नहीं। कृष्ण-प्रेम में वे अपने अस्तित्व को ही खो बैठे हैं।

व्याधि

विप्रलम्भ शृङ्गार में कवियों ने सबसे अधिक व्याधि का ही वर्णन किया है। विरह व्यथा से उत्पन्न शारीरिक कृशता, पांडुता

१—पद ३८१९

२—देखो पद—३९७१, ३९७५, ३९७७ आदि (दशम स्कन्ध)

३—पद ४७६३

आदि व्याधि का सूरदास ने स्वाभाविक वर्णन किया है। गोपियाँ प्रियतम के अभिन्न सखा उद्धव से अपनी व्यथा का वर्णन करती हैं।[1]

जड़ता तथा मूर्च्छा

विरह की तीव्रता से इद्रियों की शिथिलता तथा मन के चेष्टा-शून्य होने की अवस्था का नाम ही जड़ता है। जड़ता में विरही थकित-सा हो जाता है। वह चित्रवत् न कुछ कह पाता है और न कुछ कर ही पाता है।

गोपी की जड़ता का वर्णन उद्धव ही कृष्ण से करते हैं:—

देखी मैं लोचन चुवत अचेत।
मनहु कमल ससि त्रास ईस, कौ मुक्ता गनि गनि देत॥
कहुँ कंकन कहु गिरी मुद्रिका, कहूँ टाड़ कहुं नेत।
चेतति नहीं चित्र की पुतरी, समुझाई सौ चेत॥
द्वार खरी इक टक मग जोवति, ऊर्ध उसासनि लेत।
सूरदास कछु सुधि नहिं तन की बंधी तिहारें हेत॥[2]

जड़ता की अवस्था में चेतना बनी रहती है। केवल इन्द्रियां ही जड़वत् हो जाती हैं। किन्तु विरह व्यथा असह्य हो जाने के कारण जब विरही अपनी चेतना खो देता है। उस अवस्था को मूर्च्छा कहा गया है। तीव्र उत्कण्ठा और अटूट आशा के विपरीत यदि निराशा हो तो व्यक्ति उसे सहन करने में असमर्थ हो मूर्च्छित हो जाता है। सूरदास ने गोपियों की इस दशा का अनेक स्थलों पर वर्णन किया है। मथुरा से स्वर्ण रथ आता देख गोपियाँ कृष्ण मिलन की तीव्र उत्कण्ठा से आनन्दित हो उठीं। उनके नेत्र कृष्ण के लिए लल-कने लगे, श्रवण उनकी मधु सिक्त वाणी श्रवण करने के लिए व्यग्र हो गये। उस समय जब उनका रोम-रोम कृष्ण स्वागत के लिए आतुर हो रहा था, उन्हें अपनी आशा के विपरीत यह सुनाई पड़ा कि ये कृष्ण नहीं हैं तो वे इस आघात को सह न सकीं:—

१—पद ४६८०

२—पद ४७३३

जबहिं कह्यौ ये स्याम नहीं।
परी मुरछि धरनी ब्रज बाला, जो जहं रही सु वहीं ॥[1]

राधिका की दशा तो और भी शोचनीय है। वह कृष्ण की पूर्व स्मृतियों के स्मरण से ही व्यथित हो मूच्छित हो जाती है।[2]

स्मृतियां

विरह की दश अवस्थाओं के अतिरिक्त काव्य शास्त्र में प्रवास विरह की दस स्थितियों का भी वर्णन है। दश स्थितियां इस प्रकार हैं:—असौष्ठव, संताप, पाण्डुता, कृशता, अरुचि, अधृति, विवशता, तन्यमता, उन्माद तथा मूर्च्छा। इनमें से पाण्डुता, उन्माद, मूर्च्छा आदि कुछ स्थितियाँ तो काम दशा से मिलती जुलती हैं। सूरदास ने इन समस्त स्थितियों का वर्णन किया है।

असौष्ठव

प्रिय विरह से प्रिया की दशा अत्यन्त मलिन हो जाती है। उसे शृंगार तथा विलास के उपकरण अरुचिकर लगने लगते हैं। शरीर तथा वस्त्रों की उपेक्षा द्वारा ही यह प्रकट होती है। कृष्ण विरह से दुखी राधा की असौष्ठव स्थिति का वर्णन सूर ने निम्न पद में किया है—

अति मलीन वृषभानु कुमारी
हरि स्रम जल भीज्यो उर-अंचल तिहिं लालच न धुवावति सारी ॥
अध मुख रहति अनत नहिं चितवति, ज्यों गथ हारे थकित जुवारी।
छूटे चिकुर बदन कुम्हिलाने, ज्यों नलिनी हिमकर की मारी ॥[3]

विरह की दश काम दशाओं में से उद्वेग दशा और संताप की स्थिति एक समान ही है। प्रिय के विरह में संयोगावस्था के समस्त उपकरण इस समय विरह को प्रज्वल्लित करने वाले ही हो जाते हैं। वर्षा में काली घटाओं के घूँघट से जब कभी चाँद झाँक उठता उस रात्रि की शोभा का क्या वर्णन किया जाय। किन्तु प्रियतम कृष्ण से

१—पद ४०८६

२—एक द्यौस मेरे गृह आए, हौ ही महत दही।
रति माँगत में मैं मान कियो सखि सो हरि गुसा गही ॥
सोचति अति पछिताति राधिका, मुरछित धरनि पही।

३—पद ४६९१

बिछुड़कर वही मादक रात्रि आज कुछ और ही बन गई है। उन्हें तो वह काली नागिन के समान दिखाई पड़ती है जो डस कर उलट गई है।[1] यह कहा जाता है कि नागिन काट कर उलट जाती है और उसका श्वेत पेट दिखाई देने लगता है। सूरदास ने इसी तथ्य को लेकर काली घटाओं से युक्त रात्रि को काली नागिन और कभी-कभी चांदनी के प्रकट हो जाने को उसका डस कर उलट जाना मान कर गोपियों के संताप को कला पूर्ण ढंग से व्यक्त किया है।

पाण्डुता अथवा विवृति

विरह व्यथा के कारण शारीरिक कांति का नष्ट हो जाना, पीला पड़ जाना, विवृति की स्थिति है। कृष्ण के कुब्जा प्रणय की कथा से दुखित गोपियाँ 'योग संदेश' की 'पाती' पढ़ कर विरह ज्वाला में दग्ध हो कुछ और ही हो जाती हैं।[2]

कृशता

प्रिय प्रवास की अवधि प्रतीक्षा में अनुदिन शरीर का क्षीण होता जाना ही कृशता है। सूरदास ने आभूषणों के नाम परिवर्तन द्वारा गोपियों की कृशता का उल्लेख किया है—कर कंकन तैं भुज टाड़ भई।[3] आभूषणों के नाम परिवर्तन द्वारा सूरदास गोपी की कृशता को सुन्दर व्यंजना कर सके हैं। कृष्ण विरह में वह केवल अस्थि-पिंजर मात्र रह गई है। पाण्डुता तथा कृशता का वर्णन व्याधि नामक काम दशा के अन्तर्गत किया जाता है। वर्णन की दृष्टि से दोनों में विशेष अन्तर नहीं है।

अरुचि

अरुचि विरह की वह स्थिति है जब विरही को कोई भी पदार्थ रुचिकर नहीं लगता, कोई भी वस्तु उसे आनन्दित नहीं कर पाती। कृष्ण विरह से दुखी ब्रजवासियों की अरुचिपूर्ण स्थिति का वर्णन एक पद में सूरदास इस प्रकार करते हैं:—

१—प्रिय बिनु नागिन कारी रात
 जो कहुँ जानिनी उवति जुन्हैया, डसि उल्टी ह्वै जात ।।

२—सूरदास विरहिनी विरह जरि भई सांवरि गौरी ।।

३—पद ४६७८

आधौ भोजन सुबल करत है, सब ग्वालन उर दाहु।
नंद गोप पिछवारे डोलत नैननि नीर प्रवाहु॥
आनंद मिट्यौ मिटी सब लीला काहू मन न उछाहु॥'

विवशता

विवशता विरही की वह स्थिति है जब कि सब कुछ जानते हुए भी वह किसी भी प्रकार अपने हृदय पर अधिकार नहीं पा सकता है। उसका मन और इन्द्रियां बेबस हो जाती हैं। इच्छा रहते हुए भी वह उन्हें रोक नहीं सकता है। प्रेम की विवशता विरह की मार्मिकता, प्रेम की स्थिरता और दृढ़ता को व्यक्त करती है। सूरसागर में गोपियों की विवशता सम्बन्धी अनेक सुन्दर पद हैं। गोपियों के समस्त अंगों से आँखें ही ऐसी हैं जो विवश हो चुम्बक आकर्षणवत् कृष्ण रूप में इस प्रकार लपट गई हैं किसी भांति अलग ही नहीं होतीं। उद्धव के ज्ञान उपदेश को सुनकर गोपियां यही कहती हैं कि वे तो उनका उपदेश मानने को तैयार हैं किन्तु उनके हृदय तो उनके वश में ही नहीं हैं। वे क्या करें विवश हैं। उनके मन बिगड़ गए हैं। वे ज्ञान गीता की बात ही नहीं सुनते।[2]

उद्धव के योग और ज्ञान का खण्डन गोपियों ने तर्क प्रणाली से न कर अपनी विवशता प्रदर्शन द्वारा ही किया है। अपनी अभिव्यक्ति में वे बड़ी भोली और प्रेम में अनुभूतिमयी हैं। जब वे कहती हैं:—

ऊधौ मन न भए दस बीस।
एक हुतौ सो गयो स्याम संग, को अवराधे ईस॥[3]

तो उनकी सरलता अमिट प्रभाव छोड़ जाती है।

प्रकृति वर्णन

मानव का प्रकृति से सदैव ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है और प्रकृति भी अपनी सौन्दर्यमयी विविधता के द्वारा आदि काल से ही उसे प्रभावित करती रहती है। मानव सुख-दुख की प्रत्येक परिस्थिति

१—पद ४७०७

२—मधुकर ये मन बिगरि परे।
समुझत नहीं ज्ञान गीता को, मृदु मुसकानि अरे॥

३—पद ४३४४

में अपने दृष्टिकोण और मनोभावों के अनुरूप ही प्रकृति के साथ सम्पर्क स्थापित करता है। अपनी भावना के अनुसार ही कभी वह प्रकृति के संवेदनशील स्वरूप का दर्शन करता है तो कभी प्रकृति उसके दुख को बढ़ाने वाली बन उद्दीपन रूप में दिखाई पड़ती है। प्रकृति का एक अन्य रूप भी है। यह प्रकृति का उपेक्षाशील रूप है जबकि वह मानव के दुख सुख से अप्रभावित तटस्थ दर्शक की भांति शांत दिखाई पड़ती है। काव्य में प्रकृति के साथ सहचरण की भावना को ही प्रधानता दी गई है। अतः प्रकृति का स्वतंत्र वर्णन अर्थात् आलम्बन रूप में बहुत कम मिलता है। संयोग तथा वियोग दोनों ही स्थितियों में प्रकृति का मानव भावनाओं से अनुरंजित वर्णन ही उपलब्ध है।

भ्रमरगीत में प्रकृति वर्णन उद्दीपन रूप में ही मिलता है। कृष्ण रूप वर्णन में प्राकृतिक उपमानों का आयोजन अवश्य है किन्तु उसके मूल में भी कृष्ण के माधुर्य रूप को उद्दीप्त करना ही है। विरह व्यंजना में भावों की प्रबलता के कारण भावाभिव्यक्ति प्रधान और प्रकृति चित्रण गौण हो गया है।

उद्दीपन रूप

उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत व्रज प्रान्त तथा षड् ऋतुओं का वर्णन किया गया है। कृष्ण संयोग के समय सुखद लगने वाले समस्त प्राकृतिक उपकरण इस विरहावस्था में विरह को अधिक तीव्र बनाने वाले हैं। ब्रज प्रान्त का प्रत्येक दृश्य वन, उपवन सभी गोपियों के मन में वेदना उत्पन्न करते हैं। पीयूष वर्षी चन्द्रमा की शीतलता में भी उन्हें संदेह हो गया है:—

यह ससि सीतल काहें कहियत।[1]

प्राकृतिक उद्दीपनों में चन्द्रमा का प्रमुख स्थान है। सूरसागर चन्द्रोपालम्भ पर बहुत सुन्दर पद मिलते हैं। गोपियाँ दुखाधिक्य से खीज कर उसके जन्म तक का वर्णन करती हैं। गोपियों की उक्तियाँ कहीं कहीं पर ऊहात्मक भी हो गई हैं।

प्राकृतिक उद्दीपन का दूसरा रूप षड् ऋतु वर्णन तथा बारहमासा है। इनमें भी प्रायः बसन्त और वर्षा ऋतु का ही वर्णन प्रमुख है। वर्षा तथा बसन्त दोनों ही ऋतुओं में प्रकृति अपने पूर्ण वैभव को

१—पद ३९७०

प्राप्त करती है। साथ ही उसका सौन्दर्यशाली और मादक रूप समस्त जगत् में मधुर मादकता का प्रसार करता है। मानव ही नहीं पशु, पक्षी और जड़ जगत भी हर्षोत्फुल्ल दिखाई पड़ते हैं। विरही मानव जब समस्त संसार को इस प्रकार आनन्द और क्रीड़ा में मग्न देखता है तो उसका अभाव द्विगुणित हो जाता है। प्रकृति का मादक वातावरण उसकी प्रिय संयोग की अभिलाषा को और भी अधिक तीव्र कर देता है। सूरसागर में इस प्रकार के वर्णनों की प्रचुरता है। वर्षाऋतु की काली घटाएं, मेघों का गम्भीर घोष, बिजली की चमक पपीहे की पुकार और भौंरों का उन्मत्त नृत्य सभी कुछ उनके विरह को अधिक बढ़ाने वाला है। कृष्ण का अभाव उनके जीवन में अनेक रूपों में प्रकट हो जाता है। कभी काले मेघ उन्हें अधिक समान लगते हैं मानों कामदेव की सेना ने उन पर चढ़ाई करदी है तो कभी वर्षा आगमन पर जड़ प्रकृति के प्रेम व्यापार को देख कर वे दीन हो संदेश भेजती हैं—

ये दिन रूसिबे के नाहीं
कारी घटा पौन झक झौरे, लता तरुन लपटाहीं ॥[1]

जड़ प्रकृति का यह रूप गोपियों के हृदय में कृष्ण मिलन की तीव्र उत्कण्ठा उत्पन्न कर देता है। यह मानव स्वभाव है कि वह दूसरे को सुखी देखकर उसकी प्रभावात्मक अनुभूति तीव्रतर हो उठती है। यही गोपियों की दशा है।

वर्षा के अतिरिक्त सूरदास ने शरद् का वर्णन कुछ पदों में किया है। अन्य सभी ऋतुओं का वर्णन एक ही पद में कर दिया गया है।

प्रकृति का सहानुभूति पूर्ण रूप

प्रकृति के उद्दीपन रूप के अतिरिक्त उसके लोकोपकारी तथा सहानुपूतिपूर्ण संवेदनशील स्वरूप का वर्णन भी सूरदास ने किया है। मानव जगत की अपेक्षा यह जड़ जगत अधिक उदार और सहृदय जान पड़ता है। नियम बंधन में बंधे बादलों को देखकर गोपियों को कृष्ण की निष्ठुरता स्मरण हो आती है और वे कह उठती हैं—

बरु ए बदरौ बरषन आए।
अपनी अवधि जानि नँदनन्दन, गरजि गगन घन छाए ॥

१—पद ३९१६

कहियत हैं सुर-लोक बसत सखि, सेवक सदा पराए।
चातक पिक की पीर जानि कै, तेउ तहाँ तें धाए॥
द्रुम किए हरित हरिष बेली मिलीं, दादुर मृतक जिवाए।
साजे निबिड़ नीड़ तृन सँचि सँचि, पंछिनहूँ मन भाए॥
समुझति नहीं चूक सखि अपनी, अब बहुतै दिन हरि लाए।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, मधुबन बसि बिसराए॥[1]

इस पद की एक एक पंक्ति व्यंजनापूर्ण है। ये बादल जो जड़ हैं, वे भी अपनी अवधि पर आ ही गये किन्तु कृष्ण सहृदय मानव होकर भी अवधि व्यतीत हो जाने पर भी नहीं आए। इतना ही नहीं बादलों के सामने कितनी कठिनता है। अप्रत्यक्ष रूप से वे कृष्ण के साथ उनकी तुलना करती हुई बादलों की प्रशंसा करती हैं। ये श्यामघन कितनी दूर सुरलोक में बसते हैं और इन्द्र के सेवक होने के कारण स्वतन्त्र भी नहीं। फिर भी वे अपने आश्रित जनों के दुख दूर करने के निमित्त आ ही गए। किन्तु कृष्ण ! वे कितने कठोर हैं जो मथुरा जैसी निकट नगरी में, महाराज होकर भी प्रेमाधीन गोपियों को दर्शन देकर जीवनदान नहीं देते।

एक वह अवस्था है जब मनुष्य प्रकृति के साथ आत्मीयता स्थापित कर लेता है। उस समय उसे प्रकृति अपने दुख सुख में रोती हंसती दिखाई पड़ती है। गोपियाँ जब इस प्रकार ममत्व का सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं तब उनके प्राणों को हरने वाले पपीहे की रट भी अब सन्तोष देने वाली बन जाती है। पपीहा उन्हें समदुखी सा जान पड़ता है। उसकी पी पी की पुकार अब निरर्थक ध्वनि मात्र नहीं बल्कि वह प्रियतम के विरहाग्नि से दग्ध किसी व्याकुल नारी की करुण पुकार है।[2] आत्मा की यह एकता ही उसे पक्षी जाति से उठा कर अनुभूतिपूर्ण मानव के समकक्ष खड़ा कर देती है। अतः पपीहे को खरी खोटी सुनाने वाली गोपियां सहृदया बन कर कहती हैं—

बहुत, दिन जीवौ पपिहा प्यारौ।[3]

गोपियों का यह विरह इतना व्याप्त है कि घरों से निकल कर ब्रज प्रान्त के कण कण में व्याप्त हो गया है। पशु पक्षी तो चेतन प्राणी हैं, जड़ प्रकृति भी कृष्ण वियोग से अनुभूतिमयी बन गई है।

१—पद ३९२६
२—चातक न होइ कोउ बिरहिनि नारि। पद ३९५३
३—पद ३९५५

कदम्ब की छाया में बंशी की मधुर तान सुनाने वाले बंशीधर के विरह में कालिन्दी भी काली पड़ गई है। जड़ जगत की यह अवस्था मानव की वेदना को व्यंजित करने के लिये ही है। प्रकृति के साथ सहानुभूति-पूर्ण दृष्टिकोण हो जाने के कारण कभी वह अपने अनुरंजक रूप में भी दिखाई पड़ती है। रूप साम्य के आधार पर प्रिय की स्मृति कराने वाले ये श्याम घन भी गोपियों को बड़े भले लगते हैं।[1]

प्रकृति का तटस्थ रूप

प्रकृति अपने ही नियमों में बंधकर चलती है। किन्तु मानव स्वयं अपनी भावनाओं का आरोप कर उसे जिस रूप में चाहता है, देखता है। कभी-कभी प्रकृति का तटस्थ स्वरूप इतना स्पष्ट हो जाता है कि वह विरही को असह्य-सा लगता है। सूरदास ने प्रकृति के इस रूप का भी चित्रण किया है जब वह मनुष्य के दुख सुख से बिना प्रभावित हुए ही निश्चित रूप से अपने पथ पर चलती है।[2]

सूरदास ने अन्तर्दशा का चित्रण भी ऋतु सुलभ व्यापारों के रूप में किया है। पावस प्रसंग में इस प्रकार के अनेक सुन्दर पद हैं। गोपियों की नेत्र दशा वर्षा ऋतु के सदृश ही हो रही है। उन्होंने सावन भादों को भी जीत लिया है। नेत्रों तथा वर्षा के व्यापार साध्य को लेकर सूरसागर में कई पद मिलते हैं जो विरह व्यजंना के भी उत्कृष्ट उदाहरण हैं।[3]

संदेश तथा शकुन

प्रवास काल में प्रिय से दूर उसके हस्तलिखित कुछ शब्द अथवा मौखिक संदेश वियुक्त प्रेमी का आधार बन जाता है। संदेश का आलम्बन लेकर ही विरही वियोग के कठिन समय को बिताता है। संदेश का सम्बन्ध केवल प्रोषित छतिका से ही नहीं है। संदेश दो सहृदय प्रिय व्यक्तियों के प्रेम का आधार है। संदेश ले जाने का कार्य प्रायः दूत अथवा पथिक करता है किन्तु कभी-कभी संदेशनशील प्रकृति भी संदेशवाहक बन जाती है। काव्य में मेघ, मयूर, पवन, हंस आदि के दूतत्व की कल्पना अति प्राचीन है। संदेश दो रूपों में भेजा जाता है—पत्र रूप में अथवा मौखिक संदेश।

१—आजु घनस्याम की अनुहारि। पद—३९३३

२—मधुवन तुम क्यौं रहत हरे। पद—३८२८

३—पद ३८५२, ३८५३, ३८५४ आदि।

सूरसागर में हमें दोनों ही प्रकार के संदेश मिलते हैं। ब्रज छोड़ कर मथुरा में निवास करने वाले कृष्ण के विरह से व्यथित यशोदा और गोपियां दोनों ही संदेश भेजती हैं। यशोदा मथुरा जाने वाले पथिकों द्वारा कृष्ण तथा देवकी के पास मौखिक संदेश भेजती हैं।[1] यशोदा का संदेश वात्सल्य रस से पूर्ण पुत्र वियोग की विकलता को व्यंजित करता है।

गोपियों की कृष्ण विरह से बुरी दशा है वे तो प्रत्येक मथुरा-वासी पथिक के द्वारा संदेश भेजती हैं। उनके संदेशों से मधुवन के कूप भर गए हैं।[2] कृष्ण के पास उन्होंने अनेक लिखित तथा मौखिक संदेश भेजे किन्तु सदैव ही वे उत्तर से निराश रहीं। वर्षा आगमन पर वे पुनः एक बार विकल होकर मथुरा जाते किसी पथिक के हाथ पत्र भेजती हैं:—

> बीर बटाऊ पंथी हौ तुम, कौन देसतैं आए।
> यह पाती हमरी लै दीजौ, जहाँ साँवरे छाए॥[3]

गोपियों के पत्रों में कृष्ण दर्शन की उत्कण्ठा के साथ ही प्रिय वियोग से दुखी गोपियों के मादक भाव का भी संकेत मिलता है। प्रिय विरह के कारण वर्षा आदि प्रसुप्त काम को जगा कर उन्हें और भी व्याकुल कर रहे हैं।

सूरसागर का संदेश प्रसंग एकांगी और संक्षिप्त नहीं है। सूरदास ने संदेश का विस्तृत वर्णन किया है। यशोदा और गोपियों के अतिरिक्त देवकी, कुब्जा और कृष्ण संदेश का भी वर्णन है। कृष्ण और देवकी यशोदा के पास संदेश भेजती हैं। गोपियों को कृष्ण और कुब्जा दोनों का ही संदेश मिलता है। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि कुब्जा संदेश सूरदास की मौलिक कल्पना है। यशोदा की ममता को स्मरण कर कृष्ण अपने हाथ से आशापूर्ण संदेश भेजते हैं। यशोदा के पत्र में अनेक बाल सुलभ बातें लिखकर उनके पूर्व संदेशों का भी उत्तर दिया गया है। कृष्ण का यह संदेश व्याकुल मां को धैर्य बंधाने के लिए पर्याप्त है। किन्तु विरह वारि में डूबती

१—पद ३७८९. ३७९०, ३७९३ आदि

२—संदेसनि मधुवन कूप भरे। पद ३९१८

३—पद ४०००

गोपियों के लिए कृष्ण का संदेश एक विडम्बना बन जाता है। वे ही कृष्ण जिन्हें गोपियों ने आत्मसमर्पण किया था और जो ब्रज प्रान्त को भूल नहीं पाते थे, जो अपने हृदय भावों की अभिव्यक्ति के लिए एक अभिन्न किन्तु सहृदय मित्र के अभाव से व्याकुल हो जाते। वे उद्धव के हाथ ज्ञान और योग का संदेश भेज रहे हैं। इस संदेश के मूल में जो भाव हैं, उद्धव उससे सर्वथा अनभिज्ञ हैं।

उधर गोपियों की दीन दशा है। कृष्ण को मथुरा गए अनेक दिन बीत गए। प्रतिदिन उनकी प्रतीक्षा में नेत्र मधुवन की ओर लगे हैं।[1] किन्तु इसी भांति समय बीतता ही गया। मार्ग देखते देखते नेत्र धुंधले पड़ गए, अवधि गिनते गिनते अंगुलियों में छाले पड़ गए, नाम रटना से वाणी थक गई किन्तु कृष्ण के दर्शन न हुए। ऐसी ही करुण परिस्थिति में एक दिन शुभ शकुनों ने उनके मन को आनन्द से भर दिया।

शकुनों का हमारे जीवन से विशेष सम्बन्ध है। भावुक व्यक्ति जीवन की घटनाओं में शकुनों का प्रभाव देखता है। प्रायः परदेशी के आगमन की सूचना काग द्वारा प्राप्त होती है। यह प्रचलित सत्य है यदि कौआ बोलता है तो उस दिन अतिथि का आगमन होता अथवा जिस व्यक्ति की प्रतीक्षा की जाती है, वह आता है। आज भी घरों में कौआ उड़ाने की प्रथा है।

मथुरावासी कृष्ण ने जब गोपियों का ध्यान किया और उद्धव को संदेश लेकर भेजा तो ब्रज में अनेक शुभ शकुन होने लगे। भौंरे गोपियों के श्रवण के पास आ आकर गुंजार करने लगे। उनके हृदय में कुछ कसक और कुछ आनन्द का अनुभव होने लगा। वाम भुजाएं फड़कने लगीं, अंगियां तड़कने लगीं और ऐसा लगता मानों कोई मधुर बात सुनाने वाला है। इन शुभ शकुनों को देखकर कृष्ण दर्शन की अभिलाषा तीव्र हो उठी। उन्हें निश्चय हो गया कि अब कृष्ण दर्शन अवश्य मिलेगा। इसी अभिलाषा को लेकर गोपियां जहां कहीं काग उड़ाने लगीं किन्तु कृष्ण आगमन पर काग न उड़ते केवल कृष्ण संदेश पर ही उड़ते। इस भाँति गोपियों का हृदय विविध भावनाओं से चंचल हो उठा। फिर भी उन्हें कृष्ण दर्शन की आशा बनी ही रही। वे उनके संदेश की कल्पना मात्र से ही

१—आली देखत रहे नयन मेरे, वा मधुवन की राह। ३८०९

पुलकित हो गईं। इसी समय मथुरा से स्वर्ण रथ आता देख तीव्र उत्कंठा से वे अयुत दृगी बन रथ पर बैठे कृष्ण का दर्शन करने लगीं। किन्तु आशा के विपरीत उद्धव को देख वे ठगी सी रह गईं। सपत्नी की ईर्ष्या भावना से युक्त वे व्याकुल होकर सोचने लगीं—कहा आइ करिहैं ब्रजमोहन, मिली कूबरी नारी।[1] प्रेम विवश गोपियों की व्याकुलता देखकर उद्धव ने उन्हें सान्त्वना दे कृष्ण के पत्र की चर्चा की। पत्र की बात सुनते ही मृत-सम गोपियों में पुनः जीवन आ गया। वे पत्र को पाकर प्रेम से विह्वल हो उठीं। बिना पढ़े ही प्रिय के हाथ से लिखी पाती को वे कभी हृदय से लगातीं तो कभी आँखों से। श्याम के पत्र को देख वे हर्षोत्फुल्ल हो गईं। सूरदास ने उनके हर्ष का बहुत सुन्दर चित्र खींचा है:—

> निरखति अंक स्याम सुन्दर के बार-बार लावतिं लै छाती।
> लोचन जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गइ स्याम-स्याम जू
> की पाती॥[2]

वे पत्र को लेकर उद्धव से कृष्ण चर्चा करने लगीं। किसी ने पत्र को पढ़ा, किसी ने बिना पढ़े ही उद्धव को सुनाने के लिए पत्र लौटा दिया। किसी के हृदय में यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई क्या कृष्ण ने स्वयं अपने हाथ से पत्र लिखा है। इस प्रकार पत्र को देखकर सभी गोपियाँ आनन्दमग्न हो गईं। किन्तु पत्र-लिखित संदेश का ज्ञान होते ही वे अगाध दुख के सागर में डूबने लगीं। प्रिय कृष्ण से उन्हें इस प्रकार ज्ञान और योग के संदेश की आशा न थी। सूर-सागर का यह 'पाती' प्रसंग ही भ्रमरगीत काव्य का आधार है। इस योग संदेश को लेकर गोपियां और उद्धव में जो चर्चा होती है वह गोपियों के प्रेमी तथा पीड़ित हृदय की एकनिष्ठ भक्ति भावना और प्रेम को व्यक्त करती है।

उद्धव कृष्ण का योग संदेश लिखित तथा मौखिक दोनों ही रूपों में लाए थे। किन्तु उन्हें बोलने का बहुत कम अवसर मिलता है। गोपियां अपनी विरह व्यंजना में इतनी तल्लीन हैं कि उद्धव की ज्ञान चर्चा सुनने का उनको न अवकाश है न आवश्यकता। समस्त भ्रमरगीत प्रसंग इसी संदेश को लेकर चलता है जिसमें गोपियों ने

१—पद ४०८६
२—पद ४१०५

भंवर प्रतीक से उद्धव तथा कृष्ण पर कटूक्तियाँ, व्यंग्य तथा उपालम्भ पूर्ण वाक्य कहे हैं। उद्धव के साथ उनकी चर्चा कभी सरल साधारण भाव व्यजंनामय होती तो कभी वे कुब्जा साहचर्य के द्वारा कृष्ण का उपहास करतीं, योग संदेश लाने के कारण उद्धव को बनातीं। कभी-कभी उन्हें इस संदेश पर शंका होती और वे कहतीं—मधुकर जो हरि कह्यौ सु कहियै।[१] उन्हें इस 'योग' संदेश पर विश्वास ही नहीं होता। वे सोचतीं निश्चय ही उद्धव मार्ग भूल गए हैं। कृष्ण ने उन्हें यहाँ नहीं भेजा है:—

ऊधौ जाहु तुमहिं हम जाने।
स्याम तुमहि ह्यां कौं नहिं पठयौ तुम हौ बीच भुलाने ॥[२]

अथवा कृष्ण ने उद्धव से परिहास किया है जिसे ये समझ नहीं सके अतः अपनी शंका निवारण हेतु वे उद्धव से पूछती हैं:—

सांच कहौं तुमकौं अपनी सौं, बूझति बात निदाने।
सूर स्याम जब तुमहि पठायौ-तब नेकहुँ मुसकाने ॥[३]

गोपियों के इस कथन में सरलता और आग्रह दोनों ही हैं। वे अपनी शंका की पुष्टि चाहती हैं।

संदेश का अगला प्रकरण उद्धव के मथुरा गमन से प्रारम्भ होता है जब कि यशोदा और गोपियाँ पुनः एक बार कृष्ण के पास संदेश भेजती हैं। उनका संदेश दीनता, विकलता तथा विवशता से भरा है। गोपाल के बिना अब सुखद कुंजे बैरिन बन गई हैं। वे ही लता पुंज जो उनके संयोग कमल में शीतल जान पड़ती थीं, अब विषम ज्वाला सी लगती हैं। शीतलता देने वाले पवन, कपूर और चन्द्र किरण तक सप्त सूर्य की किरणें बन गई। कामदेव के निरन्तर आघात से वे लुंज हो गई।[४] पत्र द्वारा राधिका की दीन दशा भी वर्णन की गई है। अब उन्हें कुब्जा से ईर्ष्या नहीं। कृष्ण कुब्जा के कारण लज्जित होकर यदि यहाँ न आ रहे हों तो उन्हें यह संकोच छोड़ देना चाहिए। हम तो उन्हें एक बार यहाँ

१—पद ५११९
२—पद ४१३९
३—पद ४१३९
४—पद ४६८६

उसी सुखद और सुन्दर वेश में देखना चाहती हैं। गोपियों ने अपना संदेश मौखिक तथा लिखित दोनों ही रूपों में भेजा था किन्तु उद्धव ने मौखिक संदेश द्वारा ही व्रज दशा का मार्मिक चित्र खींचा। व्रज विरह से वे स्वयं इतना प्रभावित हैं कि अपने ज्ञान को भूल कर वे गोपियों का प्रतिनिधित्व करते हुए कृष्ण से आग्रह करते हैं:—

दस दिन घोष चलहु गोपाल।[1]

संदेश प्रसंग के अन्तर्गत भ्रमरगीत का उल्लेख किया जा चुका है। उद्धव की ज्ञान-चर्चा के बीच भ्रमर का प्रवेश गोपियों की विरह व्यंजना का साधन बन गया है। भ्रमर व्याज से गोपियाँ उद्धव संदेश को लेकर बहुत कुछ कहती हैं। भ्रमर कभी उद्धव और कभी कृष्ण का प्रतीक बनता है।

वर्णन की स्वाभाविकता और रस परिपाक

सूरदास का विरह वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक है। विरही गोपियों का चित्र उपस्थित करने में वे पूर्णतः सफल हुए हैं। विरह से व्याकुल व्यक्ति को रात्रि व्यतीत करना अति कठिन हो जाता है। जिस प्रिय का वह चिन्तन करता है उसे स्वप्न में भी देखने की उत्कण्ठा भी नींद न आने के कारण पूरी नहीं हो पाती है। गोपियों की भी यही दशा है। उनकी सम्पूर्ण रात्रि जागते ही बीत जाती है।[2] यदि कभी क्षण भर नींद आ भी गई तो स्वप्न में भी चैन नहीं। उस समय वह नींद ही शत्रु बन जाती है। अपनी ऐसी दशा का वर्णन एक गोपी करती है, जब से नँदनन्दन बिछुड़े हमें सपने में भी शोक ही रहता है। एक बार स्वप्न में प्रिय दर्शन हुआ। कृष्ण मेरे घर आए और उन्होंने ज्योंही मेरी भुजा पकड़ी कि यह बैरिन नींद नष्ट हो गई। पल भर और न ठहर कर इसने कृष्ण सहयोग का स्वप्न में सुख न उठाने दिया।

कृष्ण प्रतीक्षा में दिन बीतते जाते हैं। वर्षा प्रतीक्षा में ही बीत गई है और शरद् का आगमन हो गया। विरही गोपियाँ एक निश्वास लेकर कहती हैं—

१—पद ४०४१

२—हमको जागत रैन विहानी ।। ३८८६

सरद समै हूँ स्याम न आए।
को जाने काहे तैं सजनी, किहिं बैरिनि बिरमाए ॥[1]

समय व्यतीत होने के साथ ही निराशा भी बढ़ती जाती है। कुब्जा का ध्यान उनकी आशा को और भी नष्ट कर देता है। वे जानती हैं कि ब्रजनाथ अब दूसरे के हो गए हैं।

किन्तु कृष्ण का ध्यान उनके मन से नहीं हटता। उनकी मंद मुस्कान, वंक कटाक्ष, गोपालों के सहित आता हुआ मधुर रूप आज भी याद आ रहा है। अब दूसरे के वश में पड़ कर वे प्रेम के दुखद परिणाम को जान पाई हैं। अपनी व्यथा को देखकर वे कहती हैं, प्रीत कर किसी को सुख नहीं मिला। पतंग ने पावक से प्रीति कर अपने प्राणों को नष्ट कर दिया। भ्रमर कमल से प्रीति कर कमल कोश में बंदी बना। मृग नाद से प्रीति कर व्याध का शिकार बनता है। वैसी ही हमारी दशा है। गोपियों की सरलता और स्वाभाविकता उद्धव ज्ञान चर्चा के प्रसंग में दिखाई पड़ती है।

उद्धव अपनी ज्ञान चर्चा से गोपियों को तनिक भी प्रभावित न कर सके। कृष्ण रूप की उपासिका गोपियां उद्धव की बात मानने में पूर्णतः असमर्थ हैं। वे उद्धव का कहना मानकर किसी प्रकार मन को समझाती हैं किन्तु वह उनके हाथ नहीं। सूरदास ने इसी भाव को सुन्दरता से व्यक्त किया है।

ऊधौ जो तुम हमहिं सुनायौ
सौ हम निपट कठिनई हठ करि या मन कौ समुझायौ।
जुक्ति जतन करि जोग अगह-गहि, अपथ पंथ लौं लायौ।
भटकि फिर्यौ बोहित को खग लौं, पुनि हरि ही पै आयौ।[2]

कृष्ण का रूप उनके हृदय में इस प्रकार तिरछा होकर गड़ गया है कि उसका निकलना अब असम्भव ही है। अब तो उन्हें कृष्ण विरह ही प्रिय हो गया है। निर्गुण ब्रह्म की आराधना से तो उन्हें विरह में पागल रहना भी अधिक अच्छा लगता है फिर योग चर्चा की बात कौन सुने और वे उद्धव से बड़ी सरलतापूर्वक कह देती हैं—

१—पद ३९६१
२—पद ४३६२

मधुकर कौन मनायौ मानै।
अविनासी अति अगम तिहारौ, कहा प्रीति रस जानै॥
सिखवहु जाइ समाधि जोग रस, जै सब लोग सयाने
हम अपनै व्रज ऐसहि रहिहैं बिरह बाइ बौराने॥[1]

गोपियों ने उद्धव के निगुण ब्रह्म का कहीं भी तर्क के आधार पर खण्डन नहीं किया है बल्कि हृदय की स्वाभाविक विवशता द्वारा ही उन्होंने अपने को इसके अयोग्य ठहराया है। वे उद्धव की नीरस बातें सुनकर कहती हैं, हे उद्धव, हमारी आंखें हरि दर्शन को भूखी हैं। वे तुम्हारी इन शुष्क बातों को सुनकर कैसे रहें। समस्त अङ्गों से अधिक ये ही दुखी हैं। कृष्ण की प्रतीक्षा करते करते ये थक गई हैं। उनके दर्शन के बिना विरह वायु के भर जाने से ये निरन्तर खुली रहती हैं। इनके दुख को दूर करने के लिए स्याम-रूप-रस अंजन की आवश्यकता है। भला ज्ञान की सलाका को ये किस प्रकार सह सकेंगी। नेत्रों के सदृश उनके हृदय भी विवश हैं। फिर यह तो अपनी अपनी रुचि का प्रश्न है। उन्हें निर्गुण ब्रह्म की अपेक्षा कृष्ण का सगुण रूप ही प्रिय है। योग की कठिनता का वर्णन भी गोपियाँ स्वाभाविक ढंग से करती हैं किन्तु कृष्ण को पाने के लिए वे भोग करने को भी तैयार हैं। अन्त में वे उद्धव से कहती हैं हम तो मनुष्य हैं। कृष्ण प्रेम में तो व्रज के पशु पक्षी भी दुखी हैं। सत्य बात तो यह है कि उनके हृदय में अब स्थान ही नहीं—

मन में रह्यो नाहिंन ठौर।
नँदनंदन अछत कैसें, आनिये उर और॥[2]

ऊहात्मक वर्णन

स्वाभाविक विरह वर्णन के साथ ही विरह विधुरा गोपियों की विरह व्यंजना ऊहात्मक भी हो गई है। ये ऊहात्मक वर्णन प्रायः चन्द्रोपलम्भ सम्बन्धी पदों में मिलता है। चन्द्रमा विरही को अत्यधिक पीड़ा देने वाला माना गया है। कृष्ण वियोग से दुखी गोपी हृदय बहलाने के लिए वीणा लेकर बैठती हैं किन्तु उसकी वीणा के स्वर चन्द्र मृग को मोह लेते हैं और चन्द्रमा स्थिर हो जाता है। एक अन्य स्थान पर विरह ताप की तीव्रता प्रदर्शित करती हुई गोपी सखी से कहती है:—

१—पद ४४५८
२—पद ४३५०

काहे कौं पिय पियहिं रटति हो, पिय को प्रेम तेरो प्रान हरेगौ।
काहे कौं लेति नयन जल भरि भरि, नैन भरे कैसें सूल टरेगौ॥
काहे कौं स्वास उसास लेति हो, बैरी विरह की दवा करेगौ।
छार सुगंध सेज पुष्पावलि, हार छुवें हिय हार जरैगौ॥
बदन दुराह बैठि मन्दिर में, बहुरि निसापति, उदय करैगौ।
सूर सखी अपने इन नैननि, चन्द चितै जनि चन्द जरैगौ॥

स्वास से दावाग्नि लगना और विरह तप्त नेत्रों से चन्द्रमा को जला देने के वर्णन में कथन का चमत्कार ही प्रधान है। रीति काल में इस प्रकार के वर्णन अधिक मिलते हैं। ऊहात्मक वर्णनों में कवि की सूझ और कल्पना की प्रशंसा की जा सकती है किन्तु यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के चमत्कार प्रधान पदों में हृदय को स्पर्श करने वाली शक्ति तथा रसात्मकता का अभाव होता है। यही कारण है कि सूरकाव्य में इस प्रकार के पद अपेक्षाकृत कम हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी विचार को ध्यान में रखकर भ्रमरगीतसार की भूमिका में एक स्थान पर लिखा है—"कहीं-कहीं सूर ने कल्पना को अधिक बढ़ा कर या यों कहिए कि ऊहा का सहारा लेकर जैसा कि पीछे बिहारी आदि ने बहुत किया है—वर्णन कुछ अस्वाभाविक कर दिया है। चन्द्र की दाहकता से चिढ़ कर एक गोपी राधा से कहती है:—

कर धनु ले किन चंदहि मारि ?
तू हँसवाय जाय मन्दिर चढ़ि ससि सम्मुख दर्पन विस्तारि
याही भांति बुलाय मुकुर महि अति बल खंड-खंड
करि डारि॥

गोपियों का विरहोन्माद कितना ही बढ़ा होने पर उनकी बुद्धि बिलकुल बच्चों की-सी दिखाना स्वाभाविक नहीं जंचता। कविता में दूर की सूझ या चमत्कार ही सब कुछ नहीं है।"[1]

पाती प्रसंग में कवि ने ऊहा का सहारा लिया है। उद्धव द्वारा लाया गया पत्र ब्रज में कोई पढ़ ही नहीं पाता है। विरह के कारण गोपियों की विचित्र दशा है:—

नैन सजल कागद अति कोमल, कर अंगुरी अति ताती॥
परसे जरै विलोके भीजे, दुहुँ भांति दुख छाती॥[2]

१—पृष्ठ ४१-४२ संस्करण सं० २००४
२—पद ४१०८

यह पहले भी कहा जा चुका है कि सूर सागर में इस प्रकार के पदों की संख्या अति न्यून है। कुछ थोड़े से पदों को छोड़ कर सूरदास ने कहीं भी स्वाभाविकता का साथ नहीं छोड़ा है।

मान उपालम्भ

भ्रमरगीत उपालम्भ काव्य है। गोपियाँ कृष्ण के मथुरा वास तथा कुब्जा प्रणय के कारण उन्हें उपालम्भ देती हैं। यह उपालम्भ कहीं व्यंग्य और परिहास द्वारा व्यक्त हुआ है तो कहीं विवशता द्वारा। सुन्दरी गोपियों को अपने सौन्दर्य का गर्व था। कहाँ राधा और कहाँ कूबड़ी। राधा को छोड़ कर कुब्जा का साथ भी कैसा अनमेल है :—

जैसैं काग हंस की संगति, लहसुन संग कपूर।
जैसे कंचन कांच बराबरि, गेरु काम सिंदूर॥[1]

इसी के साथ वे एक मीठा व्यंग्य कर देती हैं—

सुनहु सूर हरि गाइ चरैया, अब भए कुबिजा नाथ॥[2]

कभी वे हंस कर कुब्जा पर रीझने के कारण स्वयं भी कुबरी बनने की बात करती हैं तो कभी कृष्ण निष्ठुरता को स्मरण कर वे कहतीं—

सखी री काके मीत अहीर॥[3]

इतना ही नहीं अब तो कृष्ण के रंग ढंग ही बदल गए हैं— अब मुरली देखकर उन्हें लज्जा आती है, मोर पंख को देखते ही दूसरी बातें करने लगते हैं, यदि कहीं हमारी चर्चा सुनते तो चुपचाप चले जाते हैं और चित्र लिखित गायों को देखकर संकुचित होते हैं। गोपियां कहती हैं जब उन्होंने ब्रज को भुला दिया है तब वे दूध दही क्यों खाते हैं। वे यदुकुल के भूषन अब ब्रज में गाय चराने क्यों आने लगे।

गोपियों की तो दशा ही विचित्र है। वे रात दिन कृष्ण की प्रतीक्षा में व्याकुल हैं किन्तु मोहन का क्या विश्वास जिन्होंने अपने माता पिता को भी छोड़ दिया है—

१—पद ३७७०

२—पद वही

३—पद ३७७४

कौन प्रतीत करें मोहन की, जिन छाँड़े निज जननी तात ॥

यह कहावत प्रसिद्ध है कि जो अपने मां बाप का नहीं हुआ दूसरे का कब हो सकता है। लोक प्रसिद्ध इसी कहावत को लेकर गोपियों ने उक्त बात कही है।

उद्धव के संदेश लाने पर भ्रमर व्याज से भी कृष्ण को उपालम्भ दिया गया है।

मधुकर काके मीत भए।
द्यौस चारि करि प्रीति सगाई, रस ले अनत गए ॥[1]

उपालम्भ के साथ ही भ्रमरगीत में मान की भावना भी मिलती है। कुब्जा रमण की कल्पना से उनके मन में मान उत्पन्न होता है। रूपवती राजा को कृष्ण कुब्जा के कारण ही भूल गए हैं। फिर वे गोपीनाथ क्यों कहलाते हैं। यदि वे हमारे हैं तो हमारे पास आवें नहीं तो कूबरीनाथ का विरद ही धारण करें—

काहे को गोपीनाथ कहावत।
जौ मधुकर वे स्याम हमारे, क्यों न इहां लौं आवत ॥[2]

× × ×

जो पै कृष्ण कूबरी रीझै, सोइ किन विरद बुलावत।

सब से अखरने वाली बात तो यह है कि नाम को तो उनके हैं किन्तु रम कहीं और ही रहे हैं—

ऐसें हम कहिवे सुनिवे कों सूर अनत विरमावत ॥[3]

उपालम्भ और मान के साथ गोपियों के मन में ईर्ष्या जाग्रत होती है—

स्याम कौ यहै परेखौ आवै।
तब वह प्रीति चरन जावक सिर, अब कुबिजा मन भावै ॥[4]

दासी के इस सौभाग्य को देखकर गोपियाँ रो-रोकर भाग्य को ही दोष देती हैं। चपल दासी आज सौभाग्यवती बनी है जिन से बचपन में बड़ी-बड़ी आशाएं थीं, वे ही कोयले के सदृश कपट रीति

१—पद ४१२५
२—पद ४२६५
३—वही
४—पद ४२७३

वाले बन गए और समय पड़ते ही अपने कुल में जा मिले। भला वे वायस की पीर को क्या समझें। किन्तु उन्हें सबसे अधिक दुख इसी बात का है कि उनको प्रेम और आत्म समर्पण का क्या फल मिल रहा है। उद्धव व्रज के प्रेम कानन को काट कर योग की बेल लगाने आए हैं—

सरवस लूटि हमारौ लीन्हौ, राज कूबरी पावै।
तापै एक सुनौ री अजगुत, लिखि लिखि जोग पठावै॥
सूर कुटिल कुबिजा के हित कौं, निर्गुन बेद सुनावै॥[1]

संचारी तथा अनुभाव

रस परिपाक में संचारी भावों का विशेष महत्व है। शृंगार रस के अन्तर्गत प्रायः समस्त संचारियों की गणना होने से ही शृंगार का रसराजत्व सिद्ध होता है। विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत प्रायः शंका, चिंता, ग्लानि, असूया, विषाद मोह, स्वप्न, स्मृति, अमर्ष, उत्सुकता, दीनता, व्याधि आदि का वर्णन किया जाता है। सूरसागर में संचारी भावों का चित्रण देखने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि सूरदास ने काव्य शास्त्र के अनुसार रचना नहीं की है। अतः उनकी कल्पना शक्ति संचारियों के उदाहरण प्रस्तुत करने में नहीं लगी तथापि भ्रमरगीत प्रसंग के अन्तर्गत संचारियों का स्वाभाविक तथा कलात्मक चित्रण मिलता है। उद्धव आगमन के पूर्व अभिलाषा, चिंता, स्वप्न आदि संचारी भावों से सम्बन्धित अनेक पद मिलते हैं। स्मृति संचारी का एक उदाहरण देखिए। कृष्ण की पूर्व लीला का स्मरण करती हुई एक गोपी कहती है—

नहिं बिसरति वह रति व्रजनाथ।
हौं जु रही हरि रूठि मौन धरि, सुख ही मैं खेलत एक साथ॥
पचिहारे मैं तऊ न मान्यौ, आपुन चरन छुए हँसि हाथ।
तब रिस धरि सोई उत मुख करि, झुकि ढांप्यौ उपरैना माथ॥
रह्यौ न परै प्रेम आतुर अति, जानी रजनी जात अकाथ।
सूर स्याम हौं ठगी महा निसि, कहति सुनाइ प्रीति की गाथ॥[2]

१—पद ४२७६

२—पद ३८२१

संयोग काल की मान की स्मृति आज गोपी के विरह को अधिक तीव्र बना रही है। उसका हृदय कृष्ण की मोर मुकुट धारी गोप छवि को देखने की अभिलाषा करता है—

कब देखौं इहिं भाँति कन्हाई।
मोरनि के चंदवा माथे पर, कांध कामरी लकुट सुहाई।
बासर के बीतैं सुरभिन सँग, आवत एक महा छवि पाई॥
कान अंगुरिया घालि निकट पुर, मोहन राग अहीरी गाई॥[1]

अवधि को व्यतीत होते देखकर गोपियों के मन चिन्तित हो उठे। वे सोचने लगीं—

कहा दिन ऐसैं ही चलि जैहैं।
सुनि सखि मदन गुपाल आँगन में, ग्वालिन संग न ऐहैं॥[2]

कृष्ण के प्रत्यक्ष दर्शन के अभाव में वे स्वप्न में ही उनका दर्शन करना चाहती हैं किन्तु नींद ही नहीं पड़ती है। तो स्वप्न की कौन बात है—

सुपनैहूँ मैं देखिये, जौ नैन नींद परै॥[3]

यदि कभी वे स्वप्न में कृष्ण का दर्शन करती हैं तो वह क्षणिक मिलन वियोग को तीव्रतर बना देता है और गोपियां समस्त रात्रि तड़प-तड़प कर बिता देती हैं। स्वप्न के क्षणिक दर्शन का उल्लेख करती हुई एक गोपी अपनी व्यथा कहती है—

सुपनें हरि आए हौं किलकी।
नींद जु सौति भई रिपु हमकौं, सहि न सकी रति तिलक॥
जौ जागौं तौ कोउ नाहीं, रोके रहति न हिलकी।
तन फिरि जरनि भई नख सिख तैं, दिया बाति जनु मिलकी॥[4]

गोपियां कृष्ण की प्रतीक्षा करते करते थक गईं तब एक दिन मथुरा से स्वर्ण रथ पर कोई आता हुआ दिखाई पड़ा उस समय कृष्ण मिलन की लालसा से सभी आकर उस रथ को देखने लगे—गोपियों की उत्कंठा तथा तज्जनित अनुभावों का वर्णन देखिए—

१—पद ३८३५
२—पद ३८४१
३—पद ३८७६
४—दप ३८७९

सुने ब्रज लोग आवत स्याम।
जहं तहां तैं सबै धाईं सुनत दुर्लभ नाम॥
मनु मृगी बन जरत व्याकुल, तुरत बरष्यौ नीर।
बचन गद्‌गद् प्रेम व्याकुल, धरतिं नहिं मन धीर॥
एक एक पल जुग सबनि कौं, मिलन कौं अतुरात।
सूर तरुनी मिलि परस्पर भई हरषित गात॥[1]

कृष्ण मिलन को आतुर गोपियाँ जब कृष्ण के स्थान पर उद्धव को और मधुर संदेश के नाम पर योग का संदेश पाती है तब वे जल विहीन मीन के सदृश व्याकुल हो जाती हैं। कृष्ण मिलन की आशा टूट जाती है और वे दीन होकर उद्धव से कहती हैं। दैन्य संचारी का वर्णन देखिए—

ऊधौ अब नहिं स्याम हमारे।
मथुरा गए पलटि से लीन्हे, माधौ मधुप तुम्हारे॥[2]

सूरसागर में इस प्रकार के अनेक पद मिलते हैं। गोपियों की खीज का वर्णन सूरदास ने कई पदों में किया है। उद्धव की बारम्बार की ज्ञान-चर्चा से चिढ़कर वे कहती हैं:—

ऊधौ होउ आगे तैं न्यारे।
तुम देखत तन अधिक दहत है, अरु नैननि के तारे॥
अपनौ जोग सैंति किन राखहु, इहां देत कत डारे।
सो को जो अपने सुख खैहै, मीठे तजि फल खारे॥
हम गिरिधर के नाम गुननि बस और काहि उर धारे।
सूरदास हम सब एके मत, तुम सब खोटे कारे॥[3]

सूरदास ने अनेक ऐसे भावों का भी वर्णन किया है जिनका काव्य शास्त्र के अनुसार अभी नामकरण भी नहीं हुआ है। सूरदास का विप्रलम्भ शृंगार वर्णन इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि उन्हें प्रेम-मनोवृत्ति का विस्तृत तथा सूक्ष्म ज्ञान था। उनके वर्णन में विप्रलम्भ की किसी दशा, परिस्थिति अथवा भाव का

१—पद ४०८१
२—पद ४३५६
३—पद ४१४५

उल्लेख छूटा नहीं है। अपनी गम्भीरता और विस्तार में यह अद्वितीय है।

हास्य तथा व्यंग्य

भ्रमरगीत काव्य में उपालम्भ के साथ व्यंग्य की प्रधानता है। यही कारण है यदि उसे व्यंग्य काव्य कहा जाय तो अनुचित न होगा। समस्त भ्रमरगीत काव्य गोपियों के व्यंग्य वर्णन को लेकर ही गतिशील है।

गोपियों का व्यंग्य प्रहार कुब्जा, कृष्ण तथा उद्धव को लक्ष्य कर होता है। कुब्जा का त्रिभंगी रूप गोपियों के हास्य और व्यंग्य का साधन है।

कुब्जा के कूबड़ पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं:—

> ऊधौ यहै अचम्भौ बार
> आपु कहाँ, ब्रजराज मनोहर, कहाँ कूबरी राढ़॥
> जिहि छिन करत कलोल संग रति, गिरिधर अपनी चाढ़।
> काटत हैं परजंक ताहि छिन, कै धौं खोदत खाढ़॥
> किधौं सदा विपरीत रचत हैं, गहि-गहि आसन गाढ़।
> सूर स्याम भए हरि, बांधत, माँस खाइ, गल हाड़॥[1]

गोपियों का यह व्यंग्य उनकी ईर्ष्या जनित मनोकथा को भी प्रकट करता है। कभी वे सीधे सरल शब्दों में कृष्ण के मथुरा वास पर व्यंग्य करती हुई उनकी हंसी उड़ातीं। ऐश्वर्य पाकर व्यक्ति कैसा छैल चिकनियां बन जाता है इसका उन्हें भली भांति अनुभव है। उनके कृष्ण भी तो अब वैसे ही छैला बन गए हैं:—

> स्याम बिनोदी रे अधुबनियाँ।
> अब हरि गोकुल काहे कौं आवत, भावति नव जोबनियाँ॥[2]

गोपियों का एक-एक शब्द मधुर व्यंग्य से भरा है। इसमें वह तीखापन नहीं जो उद्धव के प्रति कटूक्तियों अथवा व्यंग्योक्तियों में मिलता है। कृष्ण के मथुरा से न जाने का यही तो कारण है कि उन्हें अब नवयुवतियां भाती हैं। "भावत नव जोबनियां" के अन्दर कुब्जा

१—पद ४२६०
२—पद ३९९५

के विकृत अंग का संकेत भी कर दिया गया है। कृष्ण की इस रूपासक्ति पर उन्हें खीज अथवा ईर्ष्या नहीं वरन् हंसी आती है कि कुब्जा को रिझाने के लिए हरि अब "चिकनियां" बन गए हैं।

कृष्ण और उद्धव के श्याम वर्णन पर भ्रमर व्याज से गोपियों ने बहुत कुछ कह कर अपने हृदय को हल्का करना चाहा है। किन्तु उद्धव की ज्ञान-चर्चा को लेकर उन्होंने उद्धव को पूरी तरह बनाने की चेष्टा की है। उद्धव के निर्गुण संदेश में अविश्वास प्रकट करती हुई कोई गोपी कहती है—हे उद्धव ! तुम पुनः जाकर सुन आओ। जो कुछ नंद कुमार ने कहा है। यह उनका संदेश नहीं हो सकता। अभी कल तो वे अपने हाथों हमारा शृंगार करते थे आज उन्हें यह निर्गुण ज्योति कहां मिल गई जो हमें भस्म लगाने का उपदेश देने लगे।[1] कभी वे उद्धव को चिढ़ाती हुई कहतीं—

ऊधौ जोग बिसरि जनि जाहु
बांधौ गाँठि छूटि परिहै कहुँ, फिरि पाछैं पछिताहु ॥[2]

गोपियों को उद्धव का ब्रज आना अब अखरता नहीं। उद्धव की अटपटी बातें उनका मनोरंजन ही करती हैं। इसीलिए वे कहती हैं-

मधुकर भली करी तुम आए।
वे बातें कहि कहि या दुख मैं ब्रज के लोग हँसाए ॥[3]

कभी नारी सुलभ भावना के वशीभूत वे सीता के पति राम से कृष्ण की तुलना करतीं जो उन्हें अधिक सहृदय जान पड़ते हैं। राम ने सीता के लिए सिन्धु को भी बीता भर का बना दिया और लंका जलाकर प्रियतमा को प्राप्त किया और एक कृष्ण हैं—गोपियों के पति जो दूत के हाथ मधुर संदेश के स्थान पर योग-ज्ञान का संदेश भेजते हैं। उनका भरोसा ही क्या किया जाय जो अब कुब्जा के मित्र बन गए हैं।

गोपियों का हास्य, व्यंग्य और उपालम्भ उनकी विरह व्यथा को और भी अधिक तीव्र और प्रगाढ़ बना देते हैं। विरह-व्यथा की तीव्रता के कारण ही वे सीधे रूप में कुछ न कहकर व्यंग्य द्वारा भावों को प्रकट करना चाहती हैं। किन्तु इस से भाव-व्यंजना के साथ-साथ

१—पद ४४२६
२—पद ४४२७
३—पद ४५०४

उनका कृष्ण-प्रेम बढ़ता ही जाता है और वियोग से कातर हो वे कृष्ण के पास व्यंजनापूर्ण यह संदेश भेजती हैं —

कर कंकन तैं भुज टाड़ भई ।[१]

करुण विरह

कुछ आचार्यों ने विप्रलम्भ का चतुर्थ भेद करुण विप्रलम्भ भी माना है । शाप वश जब प्रिय की मृत्यु हो जाती है किन्तु पुनः जीवन की आशा भी बनी रहती है उस परिस्थिति में उसे करुण विप्रलम्भ माना गया है । शास्त्र के अनुसार विरह के इस रूप में मृत्यु आवश्यक है । करुण विरह की एक अन्य स्थिति भी है । प्रिय के जीवित रहने पर भी जब उसके मिलन की आशा पूर्णतः नष्ट हो जाती है उस समय करुण विप्रलम्भ माना जा सकता है ।

सूरसागर में इस प्रकार के कुछ पद हैं । उन्हें शास्त्र रूढ़ि के अनुसार तो करुण विप्रलम्भ के अन्तर्गत रखा नहीं जा सकता किन्तु करुण विप्रलम्भ के विश्लेषण से इनको इस श्रेणी में स्थान दिया जा सकता है । सूरसागर के करुण विप्रलम्भ के पद कथा के अनुसार उस समय के हैं जबकि गोपियों को कृष्ण मिलन की आशा पूर्णतः नष्ट हो जाती है । जब तक कृष्ण मथुरा में थे गोपियों को कृष्ण दर्शन की आशा बनी थी । उद्धव के योग और ज्ञान का संदेश उनके पुनर्मिलन के विश्वास को डिगा न सका किन्तु उद्धव के जाने के पश्चात् कृष्ण ने उनके पास कोई भी संदेश नहीं भेजा । एक दिन मथुरा से आते हुए पथिकों द्वारा उन्हें कृष्ण के द्वारिका गमन का मर्मवेधी समाचार मिला । इस नवीन ज्ञान ने उनकी शेष आशा को भी समूल नष्ट कर दिया । वे व्याकुल होकर कहने लगीं—

नैना भए अनाथ हमारे ।
मदन गुपाल उहां तैं सजनी सुनियत दूरि सिधारे ॥
वै समुद्र हम मीन बापुरी, कैसें जीवें न्यारे ।
हम चातक वै जलद स्याम-घन, पियतिं सुधा रस प्यारे ।
मथुरा बसत आस दरसन की, जोइ नैन मग हारे ।
सूरदास हमकौं उलटी विधि मृतकहुँ तैं पुनि मारे ॥[२]

१—पद ४६७८
२—पद ४८७०

स्थान की दूरी ने उन्हें अधिक चिन्तित कर दिया है। द्वारिका जैसी दूर नगरी में संदेश भी भेजना और प्राप्त करना कठिन है—

उती दूर तैं को आवै री ।
जासौं कहि संदेस पठाऊँ सो कहि कहन कहा पावै री ॥[1]

अब तो कृष्ण के पास पहुँचने का केवल एक मात्र यही उपाय है:—

यह तन सौंपि सूर के प्रभु कौं और जनम धरि जाउँ ।[2]

दार्शनिक विचार—भारतीय दर्शनों में ज्ञान तथा योग का स्थान

आत्मा संसारा के दुःख तथा बंधनों से छूट कर परम सुख की प्राप्ति किस प्रकार कर सकती है इसी तत्व की खोज में ही समस्त भारतीय दर्शनों की सृष्टि हुई। दुःख से छुटकारा पाना ही मोक्ष है। इस दुःख का मूल कारण अज्ञान है। अज्ञानवश ही आत्मा अपने अपने आनन्दस्वरूप परब्रह्म से अलग हो गई है। उस शुद्ध, सत्य स्वरूप का ज्ञान ही आनन्दप्रद है। किन्तु इस सत्य स्वरूप का ज्ञान अत्यन्त कठिन है। न्याय और वैशेषिक दर्शन अज्ञान को दुख का कारण मानते हैं। उनका विचार है कि तत्व ज्ञान द्वारा ही मोक्ष प्राप्ति हो सकती है। सांख्य और योग दर्शन का विचार भी मिलता जुलता है। सांख्य के अनुसार विवेक ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त हो सकता है। योग के अनुसार विवेक ज्ञान के लिए योगाभ्यास की आवश्यकता है। मनुष्य का मलिन चित्त योगाभ्यास द्वारा ही स्वच्छ हो सकता है। अन्तःकरण की शुद्धि के पश्चात् ही मनुष्य विवेक-ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। यह विवेक ज्ञान—आत्मा तथा शरीर भिन्न है—शारीरिक और मानसिक वृत्तियों को वशीभूत किए बिना नहीं प्राप्त हो सकता। इस प्रकार जहाँ सांख्य ज्ञान पर अधिक जोर देता है वहाँ योग, साधना पर अधिक विश्वास करता है।

योग का अर्थ है चित्त वृत्तियों का दमन। इस दमन के लिए कठिन साधना और योगाभ्यास की आवश्यकता है। इसमें योग के

१—४८७२ पद

२—पद ४८७१

आठ अंग—यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि पर विशेष बल दिया जाता है। इस भांति सांख्य ज्ञान प्रधान और योग साधना प्रधान है। पूर्व और उत्तर मीमांसा क्रमशः कर्म और ज्ञान को ही प्रधानता देते हैं।

आगे चलकर योग के तीन प्रमुख मार्ग हो गये- ज्ञान-योग, भक्ति-योग और कर्म-योग।[1]

आचार्य वल्लभ का दृष्टिकोण

सूरदास के पूर्व भारतवर्ष में ये समस्त दार्शनिक विचार शुद्ध तथा मिश्रित रूप में प्रचलित थे किन्तु आचार्य वल्लभ के शिष्य होने के कारण उन्होंने पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन किया है। आचार्य वल्लभ ने ज्ञान-कर्म तथा योग में विश्वास करते हुए भी भक्ति-मार्ग को ही प्रधानता दी है। मनुष्य की दुर्बलता और सांसारिक आकर्षण को जानते हुए आचार्य वल्लभ यह भली भांति समझ गए थे कि सांसारिक सुख भोग से चित्त को रोकना अत्यन्त कठिन है। मनुष्य न तो अब पहले जैसी कठिन योग साधना, मर्यादित कर्ममय जीवन व्यतीत कर सकता है और न संसार से मुख मोड़कर तत्व-ज्ञान प्राप्ति में ही लीन हो सकता है। अतएव उन्होंने सरस तथा सरल भक्ति मार्ग का प्रतिपादन किया जिसके द्वारा दुःखी जीव भव बंधन से छुटकारा पा सकें। आचार्य वल्भव ने ज्ञान तथा कर्म का कहीं खंडन नहीं किया और न मोद वाद को प्रोत्साहन दिया है। वे कहते थे कि ईश्वर को सभी भावों से भजा जा सकता है। इस प्रकार मनुष्य की अनुरागमयी वृत्ति का दमन न कर उसे भगवान कृष्ण की ओर मोड़ देने में अधिक सरलता होती है। इस भांति परब्रह्म कृष्ण का किसी भी रूप में भजन किया जा सकता है। क्योंकि जब हमारी लौकिक भावनाएँ ईश्वरोन्मुख हो जाती हैं तब उनकी कलुषता स्वतः ही नष्ट हो जाती है। आचार्य वल्लभ तथा अन्य वैष्णव आचार्यों ने इसी प्रवृत्ति मार्गीय भक्ति-भावना को ही मोक्ष का सरलतम साधन स्वीकार किया है।

आचार्य वल्लभ के अनुसार भक्ति द्वारा जीव परब्रह्म को जो कि रस रूप है, प्राप्त होता है। ज्ञानी अक्षर ब्रह्म और योगी ब्रह्म

१—भारतीय दर्शन चटर्जी दत्त हिन्दी रूपकार का और मिश्र पुस्तक भंडार, पटना। पृष्ठ ३१३

के अन्तर्यामी स्वरूप को प्राप्त होता है। पुरुषोत्तम या परब्रह्म की—जोकि रस रूप है—प्राप्ति केवल अनन्य भक्ति से ही सम्भव है। भक्ति को प्रधान साधन मानने के कारण आचार्य वल्लभ ने परब्रह्म के सगुण स्वरूप को ग्रहण किया है। यद्यपि निर्गुण स्वरूप को भी वे अस्वीकार नहीं करते। भगवान कृष्ण रसरूप परब्रह्म का ही पूर्णावतार हैं जो गोकुल वृन्दावन में यशोदा तथा गोपियों को अपनी लीला द्वारा आनन्दित करते हैं। परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम अपने लीला धाम (अक्षर धाम) तथा आनन्द प्रसारिणी शक्तियों द्वारा संसार में अवतार लेते हैं।

सूरदास और दर्शन

भ्रमरगीत प्रसंग में मोक्ष सम्बन्धी दार्शनिक विचार अधिक स्पष्ट होगया है, किन्तु भ्रमरगीत प्रसंग में दार्शनिक सिद्धान्तों की खोज करने के पूर्व यह जान लेना अधिक उचित होगा कि सूरदास दर्शन शास्त्र के आचार्य न थे और न पुष्टि मार्ग (वल्लभ सम्प्रदाय) के सिद्धान्तों को प्रतिपादित करना ही उनका लक्ष्य था। वे उच्च कोटि के भक्त तथा संगीतज्ञ थे। भक्ति की अनन्यता में वल्लभ सम्प्रदाय के सिद्धान्त स्वतः ही आगए हैं। दर्शन की उलझी गुत्थियों को सुलझाने के लिए तो उस समय स्वयं आचार्य वल्लभ और उनके पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ उपस्थित ही थे। सूरदास ने जो कुछ कहा है उसमें दर्शन की अपेक्षा काव्य अधिक है। फिर भी दार्शनिक विचार धारा सर्वथा लुप्त नहीं है। इसलिये वल्लभ सम्प्रदाय के प्रवृत्ति मार्गीय दृष्टिकोण का पूर्ण प्रतिपादन उद्धव-गोपी संवाद में मिलता है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है तत्कालीन समाज में ज्ञान तथा योग दोनों ही मार्गों का प्रचार था। वेदान्ती अन्तःकरण की शुद्धि तथा जप, तप, व्रत, उपवास आदि पर जोर देते थे। सहजयानी तथा नाथपंथी योग साधनाओं को ही प्रधान मान कर चल रहे थे। इस भांति निवृत्ति मार्ग तथा ईश्वर के निराकार निर्गुण स्वरूप का ही विशेष प्रचार था। उद्धव इन्हीं ज्ञानी तथा योगी भक्तों के प्रतीक हैं। गोपियां अनन्य भक्त के रूप में आती हैं। इस प्रकार भ्रमरगीत में निवृत्ति तथा प्रवृत्ति मार्ग की टक्कर है।

उद्धव के ज्ञान सम्बन्धी विचार

उद्धव सांख्य के जिज्ञासु भक्त के रूप में हमारे सामने आते हैं संसार के दुख का मूल कारण अज्ञान है। जिसे वे ज्ञान के द्वारा दूर करना चाहते हैं। इसी विचार को वे गोपियों से इस प्रकार कहते हैं:—

तत्व भजैं वैसी ह्वै जैहौ, पारस परसें लोहु।
मेरो बचन सत्य करि मानौ, छांड़ौ सबकौ मोहु ॥[1]

तत्वज्ञान परम आवश्यक है। बिना विवेक-ज्ञान के सुख दुर्लभ है।

ज्ञान बिना कहुँवे सुख नाहीं ॥[2]

गोपियों को समझाते हुए उद्धव कहते हैं। परब्रह्म सांसारिक सम्बन्ध से रहित है। उसके न माता है न पिता और न नारी। वह सुख-दुख से रहित है। इस विषयी संसार को छोड़ कर उसी को जानों क्योंकि बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं हो सकती। यही कृष्ण का संदेश है—

गोपी सुनहु हरि संदेस।
कह्यौ पूरन ब्रह्म ध्यावहु, त्रिगुन मिथ्या भेष ॥
मैं कहौं सो सत्य मानहु, सगुन डारहु नाखि।
पंच त्रय-गुन सकल देही, जगत ऐसो भाषि ॥
ज्ञान बिनु नर-मुक्ति नाहीं, यह विषय संसार।
रूप रेख, न नाम जल थल, बरन अबरन सार ॥
मातु पितु कोउ नाहिं नारी, जगत मिथ्या लाइ।
सूर सुख दुख नहीं जाकें, भजौ ताकौं जाइ ॥[3]

कृष्ण परब्रह्म, अच्युत और अविनाशी हैं। तीनों गुणों से रहित वे किसी भी दासी अथवा कुलीना को ग्रहण नहीं करते। उस सर्व व्यापी ब्रह्म का तुम हृदय में ध्यान करो—

१—पद ४१५७
२—पद ४२२४
३—पद ४३०३

पारब्रह्म अच्युत अविनासी। त्रिगुन रहित प्रभु बर न दासी ॥
नहिं दासी ठाकुराइनि कोई। जहं देखौ तहं ब्रह्म है सोई ॥
उर में आनौ ब्रह्महिं जानौं। ब्रह्म बिना दूजौ नहिं मानौ ॥[1]

ब्रह्म के जो सहज प्रकाशित ज्योतिर्मय स्वरूप को जीव अज्ञानवश नहीं देख पाता—

माया नित्यहि अंध, ताहि द्वै लोचन जैसे।
ज्ञानी नैन अनंत ताहि सूझत नहि कैसे ॥
बूझहु निगम बुलाइ कै, कहै भेद समुझाइ।
आदि अंत जानौ नहीं कौन पिता को भाइ ॥[2]

गोपी प्रत्युत्तर

उद्धव के इस ज्ञान उपदेश का गोपियों पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। वे भक्ति की सुन्दर बातों को छोड़कर ज्ञान की खोह में रहना कैसे स्वीकार करें।[3] उद्धव को इस तत्व ज्ञान को कि पारस के स्पर्श से लौह भी स्वर्ण बन जाता है, वे स्वीकार कर बड़ी सरलता से पूछती हैं—

सोहत लौह परसि पारस कौं, ज्यौं सुबरन बर बानि।
पुनि वह कहा चारु चुंबक सौं, लटपटाइ लपटानि ॥[4]

उद्धव जिन गोपियों को लौह समझते हैं, वे तो कृष्ण पारस के स्पर्श से न जाने कब की स्वर्ण बन गई हैं। फिर स्वर्ण और ज्ञान रूपी चुम्बक का कैसा प्रेम ? गोपियों के इस सरल उत्तर में एक तीखा व्यंग्य भी छिपा है। इस ज्ञान चुम्बक से सम्पर्क स्थापित करने वाले उद्धव ही अभी तक भक्ति-पारस के अभाव में उससे बंचित हैं गोपियां तो कृष्ण-साहचर्य से कभी की कांचनमयी हो गई हैं। वे तो अब कृष्ण की ही प्रतीक्षा में दिन रात्रि व्यतीत करती हैं। उनका

१—पद ४७१२

२—पद ४७१३

३—सूर सुवस्ती छाड़ि परम सुख, हमैं बतावत खोह—४१५७

४—पद ४१५९

मार्ग देखते देखते आँखें विकल हो चुकी हैं। जहाँ कृष्ण दर्शन की लालसा है वहाँ ज्ञान किस काम का ? रूप दर्शन का पान करने वाले नयन ही दर्शन के अभाव में सबसे अधिक दुखी हैं। यह ज्ञान उपदेश उनके लिये व्यर्थ ही है।

और सकल अंगनि तें ऊधौ अँखियाँ अधिक दुखारी।
अतिहिं पिराति सिराति न कबहूँ, बहुत जतन करि हारी॥
मग जोवत पलकौ नहिं लावति बिरह बिकल भईं भारी।
ते अलि अब ये ज्ञान सलाकें क्यों सहि सकतिं तिहारी॥[1]

उद्धव की ज्ञान गाथा में उन्हें कोई रस नहीं आता। वे तो यही चाहती हैं कि उनसे प्राण प्रिय कृष्ण की ही चर्चा की जाय, उन्हीं की बातें सुनाई जायँ किन्तु उद्धव गोपियों की इस भावना को समझने में असफल रहे। अन्त में ऊब कर गोपियाँ स्वतः ही खीझ तथा आग्रह से कहती हैं—

हमको हरि की कथा सुनाउ।
ये अपनी ज्ञान गाथा अलि मथुरा ही ले जाउ।
नागरि नारि भलें समझेंजी, तेरो बचन बनाउ॥[2]

उद्धव के इस उपदेश में भी उन्हें बनावटीपन जान पड़ता है। गाँव की ग्वालिनें इस बचन विदग्धता को नागरी नारियों के ही उपयुक्त समझती हैं। उनका यह कथन उनके हृदय की ईर्ष्या को भली भाँति व्यक्त कर देता है। वे नारी सुलभ सरलता से उद्धव की इस अप्रासंगिक चर्चा की विडम्बना पर परस्पर कहती हैं—

सुनियत ज्ञान कथा अलि गावत।
जिहिं सुख सुधा बेनु रस पूरत, यह व्रत तिनहिं सुनावत॥[3]

किन्तु उद्धव इस भाँति सरलता से परास्त होने वाले न थे। गोपियों की विकलता और विह्वलता देखकर एक बार उन्हें पुनः सत्य मार्ग का परिचय कराने के लिये वे कहने लगे—

१—,, ४१८८
२—,, ४२३६
३—,, ४३३०

जब लगि ज्ञान हृदै नहिं आवै।
तब लगि कोटि जतन कर कोउ, बिनु विवेक नहि पावै ॥[1]

परन्तु गोपियों पर उद्धव के प्रबोधन का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा वे तो पूर्ववत् कृष्ण प्रेम में अनुरक्त यही कहती रहीं—

हम तौ नंद घोष के वासी।
नाम गुपाल जाति कुल गोपक, गोप, गुपाल उपासी।
गिरिवर धारी गोधन चारी वृन्दावन अभिलाषी ॥[2]

योग साधन

ज्ञान और साधना के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है। ज्ञान का व्यवहारिक रूप साधना में ही दिखाई पड़ता है। बिना साधना के ज्ञान प्राप्ति दुर्लभ है। साधना का सम्बन्ध अनेक प्रकार की मानसिक तथा शारीरिक क्रियाओं से है। उद्धव भी अब यह देखते हैं कि केवल ज्ञान उपदेश से गोपियाँ सत्य मार्ग पर नहीं चल पातीं। तब वे साधना पद्धति का विस्तृत वर्णन कर योग साधना द्वारा परब्रह्म प्राप्ति का उपदेश देते हैं। ज्ञान की अपेक्षा साधना तथा तत्सम्बन्धी साधनों का उल्लेख अधिक विस्तृत रूप में मिलता है। उद्धव तथा गोपियाँ दोनों इसका बार बार उल्लेख करते हैं—

योग साधना का वर्णन दो रूपों में मिलता है। मानसिक साधना तथा शारीरिक साधना। मानसिक साधना के अन्तर्गत मन की चितवृत्ति को कृष्ण के लौकिक रूप से हटाकर निर्गुण ब्रह्म में लगाने का उपदेश है और शारीरिक साधना में योग के अष्टांगों तथा योगी वेश का वर्णन है। मानसिक साधना कठिन और दुःसाध्य है। अतः पहले शारीरिक साधना पर ही विशेष बल दिया जाता है। उद्धव भी गोपियों से मानसिक तथा शारीरिक साधना का वर्णन करते हुए कृष्ण का संदेश सुनाते हैं—

करि समाधि अन्तर गति ध्यावहु यह उनकौ उपदेस ॥[3]

१—पद ४४०६
२—,, ४५४५
३—,, ४१२०

यौगिक क्रियाओं के वर्णन द्वारा उद्धव गोपियों से योग साधना द्वारा विरह दुःख से दूर होने की युक्ति बताते हैं—

यह संदेश कह्यौ है माधौ। करि विचार जिय साधन साधौ॥
इडा, पिंगला सुषमन नारी। सुन्य सहज मैं बसत मुरारी॥
ब्रह्म-भाव करि सबमैं देखौ। अलख निरंजन ही कौं लेखौ॥
पद्मासन इक चित मन ल्यावौ। नैन मूँदि अंतरगति ध्यावौ॥
हृदै-कमल में ज्योति प्रकासी। सोइ अच्युत अविगत अविनासी॥
इहि उपाइ बिरहा तुम तरिहौ। जोग-पंथ क्रम-क्रम अनुसरिहौ॥[1]

यदि गोपियाँ कृष्ण से मिलना ही चाहती हैं तो कृष्ण मिलन का एक मात्र साधन भी यही है—

आसन बैसन ध्यान धारना, मन आरोहन कीजै।
षटदल अठ द्वादस दस निरमल, अपजा जाप जपाली।
त्रिकुटी संगम ब्रह्म द्वार भिदि, यौं मिलि हैं बनमाली॥[2]

उद्धव की यह योग चर्चा गोपियों के लिए एक विडम्बना बन गई। प्रथम तो उन्हें इस संदेश पर विश्वास ही नहीं हुआ। वे उद्धव से कहने लगीं—

मधुकर कहा करन ब्रज आए।
जोग ज्ञान हमकों परमोधन, हरितों नहीं पठाए॥[3]

कृष्ण की पूर्व लीलाओं को स्मरण कर वे इस पर विश्वास भी कैसे करतीं—

जिहिं मुख मुरली धरि अद्भुत सुर, गान बजाइ रिझाए।
तिहिं मुख स्याम कहैंगे ऐसे; यह तौ तुमहिं बनाए॥
अंग-अंग आभूषन अपने, कर करि हमहिं बनाए।
सूरदास प्रभु कैसें तुम कर, कंथा जोरि पठाए॥[4]

कभी उन्हें संदेह होता यह योग संदेश परिहास मात्र तो नहीं है—

१—पद ४६६७
२—पद ४४८४
३—पद ४४९०
४—पद वही

ऊधौ जोग किधौं यह हाँसी ।[१]

कभी वे सोचतीं उद्धव ही भूल कर रहे हैं। कृष्ण ने उन्हें ब्रज वासियों के पास नहीं भेजा है—

ऊधौ जाहु तुमहिं हम जाने ।
स्याम तुमहिं ह्यां कौं नहिं पठयौ, तुम हौ बीच भुलाने ॥[२]

गोपियां तो योगी के काल्पनिक वेष मात्र से लज्जित हो जाती हैं। वे तो कृष्ण प्रेम में डूबी उन्हीं में अनुरक्त रहेंगी। उनके तन, मन, प्राण में कृष्ण ही समाए हैं। योग के लिए स्थान ही कहाँ है। किन्तु उद्धव से बारम्बार इसे सुन कर वे योग साधन की कठिनाइयों का वर्णन करती हुई कहती हैं—

जुवतिनि सौं कहि कथा जोग की, सामग्री कहं पाऊँ ।
ऊधौ कहं सृंगी अरु सेली, केती भस्म जराऊँ ॥
सोलह सहस सुन्दरी काजैं, मृगछाला कहँ पाऊँ ॥[३]

फिर अबलाओं से जो वर की दासी हैं, योग चर्चा करते सुन कर हंसी ही आ जाती। अबला और योग का कैसा सम्बन्ध जो इसके योग्य हो उन्हीं को इसका उपदेश देना उचित है। जो कृष्ण के वियोग में जल रही हैं। उन्हें योग से कैसे शान्ति मिल सकती है ?

आए हैं ब्रज के हित ऊधौ, जुवतिनि कौ लै जोग।
आसन, ध्यान, नैन मूँदै सखि, कैसे कढ़ै वियोग ॥[४]

उद्धव का 'योग' गोपियों के किसी काम का भी नहीं। वे योग को लेकर करेंगी भी क्या—

ऊधौ जोग कहा है कीजतु ।
ओढ़ियत है कि बिछैयत है, किधौं खैयत है किधौं पीजत ॥
कीधौं कछू खिलौना सुन्दर, की कछु भूषन नीकौ ।
हमरे नंद नंदन जौ चहियतु मोहन जीवन जी कौ ॥[५]

१—पद ४३२५

२—पद ४१३६

३—पद ४१५६

४—पद ४२०८

५—पद ४५८४

यौगिक क्रियाओं के वर्णन द्वारा उद्धव गोपियों से योग साधना द्वारा विरह दुःख से दूर होने की युक्ति बताते हैं—

यह संदेश कह्यौ है माधौ। करि विचार जिय साधन साधौ॥
इडा, पिंगला सुषमन नारी। सुन्य सहज मैं बसत मुरारी॥
ब्रह्म-भाव करि सबमैं देखौ। अलख निरंजन ही कौं लेखौ॥
पद्मासन इक चित मन ल्यावौ। नैन मूँदि अंतरगति ध्यावौ॥
हृदै-कमल में ज्योति प्रकासी। सोइ अच्युत अविगत अविनासी॥
इहि उपाइ बिरहा तुम तरिहौ। जोग-पंथ क्रम-क्रम अनुसरिहौ॥[1]

यदि गोपियाँ कृष्ण से मिलना ही चाहती हैं तो कृष्ण मिलन का एक मात्र साधन भी यही है—

आसन बैसन ध्यान धारना, मन आरोहन कीजै।
षटदल अठ द्वादस दस निरमल, अपजा जाप जपाली।
त्रिकुटी संगम ब्रह्म द्वार भिदि, यौं मिलि हैं बनमाली॥[2]

उद्धव की यह योग चर्चा गोपियों के लिए एक विडम्बना बन गई। प्रथम तो उन्हें इस संदेश पर विश्वास ही नहीं हुआ। वे उद्धव से कहने लगीं—

मधुकर कहा करन ब्रज आए।
जोग ज्ञान हमकों परमोधन, हरितों नहीं पठाए॥[3]

कृष्ण की पूर्व लीलाओं को स्मरण कर वे इस पर विश्वास भी कैसे करतीं—

जिहिं मुख मुरली धरि अद्भुत सुर, गान बजाइ रिझाए।
तिहिं मुख स्याम कहैंगे ऐसे; यह तौ तुमहिं बनाए॥
अंग-अंग आभूषन अपने, कर करि हमहिं बनाए।
सूरदास प्रभु कैसें तुम कर, कंथा जोरि पठाए॥[4]

कभी उन्हें संदेह होता यह योग संदेश परिहास मात्र तो नहीं है—

१—पद ४६६७
२—पद ४४८४
३—पद ४४९०
४—पद वही

ऊधौ जोग किधौं यह हाँसी ।[१]

कभी वे सोचतीं उद्धव ही भूल कर रहे हैं। कृष्ण ने उन्हें ब्रज वासियों के पास नहीं भेजा है—

ऊधौ जाहु तुमहिं हम जाने ।
स्याम तुमहिं ह्यां कौं नहिं पठयौ, तुम हौ बीच भुलाने ॥[२]

गोपियां तो योगी के काल्पनिक वेष मात्र से लज्जित हो जाती हैं। वे तो कृष्ण प्रेम में डूबी उन्हीं में अनुरक्त रहेंगी। उनके तन, मन, प्राण में कृष्ण ही समाए हैं। योग के लिए स्थान ही कहाँ है। किन्तु उद्धव से बारम्बार इसे सुन कर वे योग साधन की कठिनाइयों का वर्णन करती हुई कहती हैं—

जुवतिनि सौं कहि कथा जोग की, सामग्री कहं पाऊँ।
ऊधौ कहं सृंगी अरु सेली, केती भस्म जराऊँ ॥
सोलह सहस सुन्दरी काजैं, मृगछाला कहँ पाऊँ ॥[३]

फिर अबलाओं से जो वर की दासी हैं, योग चर्चा करते सुन कर हंसी ही आ जाती। अबला और योग का कैसा सम्बन्ध जो इसके योग्य हो उन्हीं को इसका उपदेश देना उचित है। जो कृष्ण के वियोग में जल रही हैं। उन्हें योग से कैसे शान्ति मिल सकती है ?

आए हैं ब्रज के हित ऊधौ, जुवतिनि कौ लै जोग।
आसन, ध्यान, नैन मूँदै सखि, कैसे कढ़ै वियोग ॥[४]

उद्धव का 'योग' गोपियों के किसी काम का भी नहीं। वे योग को लेकर करेंगी भी क्या—

ऊधौ जोग कहा है कीजतु ।
ओढ़ियत है कि बिछैयत है, किधौं खैयत है किधौं पीजत ॥
कीधौं कछू खिलौना सुन्दर, की कछु भूषन नीकौ।
हमरे नंद नंदन जौ चहियतु मोहन जीवन जी कौ ॥[५]

१—पद ४३२५
२—पद ४१३६
३—पद ४१५६
४—पद ४२०८
५—पद ४५८४

वे तो समस्त प्रयत्न या साधन केवल कृष्ण प्राप्ति के लिए ही कर सकती हैं। यदि उद्धव की योग साधना उन्हें मनमोहन कृष्ण का दर्शन करा सके तो इस कठिन योग के लिए भी प्रस्तुत हैं —

ऊधौ तौ हम जोग करैं।
जौ हरि बेगि मिलैं अब हमकौं, वैसे वेष धरैं ॥[1]

यदि उद्धव योग सिखाना ही चाहते हैं तो गोपियाँ कृष्ण के पास मथुरा जाकर योग सीख लें। यह अधिक उचित होगा। यह योग संदेश बिना गुरु के संदेशों द्वारा पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं हो सकता—

बिन गुरु निकट संदेसनि कैसे, यह अवगाह्यो जाइ।
हम जो करत देखिहैं कुबजहिं, तेई करब उपाइ ॥
श्रद्धा सहित ध्यान एकहिं संग, कहत जाहिं जदुराइ ॥[2]

इसमें गोपियाँ कुब्जा प्रणय का व्यंग्यपूर्ण संकेत करती हैं। उद्धव की इस योग चर्चा में अब उन्हें आनन्द आने लगा है। उद्धव की ये अटपटी बातें दुखी ब्रजवासियों को हँसाने के लिए पर्याप्त हैं। उद्धव से परिहास करती हुई कभी वे कहतीं कि अपने जोग ठगौरी को सँभाल कर रख लो यहाँ वह बिकने की नहीं, कभी कहतीं इसे तुम जहाँ से लाए हो वहीं भेज दो आवश्यकता पड़ने पर मँगा ली जायेगी—

यह लै देहु सूर के प्रभु कौ, आयौ जोग जहाँ तौ।
जब चहिहैं तब माँगि पठैहैं, जो कोउ आवत जातौ ॥[3]

उद्धव उन्हें योग का संदेश व्यर्थ ही दे रहे हैं। गोपियाँ तो कृष्ण विरह में स्वयं ही योगिनी हो रही हैं किन्तु अहंकारवश उद्धव उनके इस वेश को देखने में असमर्थ हैं। गोपियाँ अपनी योगावस्था का वर्णन करती हैं—

ऊधौ करि रहीं हम जोग।
कहा एतौ बाद ठान्यौ, देखि गोपी भोग ॥
सीस सेली-केस, मुद्रा, कान-बीरी बीर।
बिरह भस्म चढ़ाइ बैठीं, सहज कंथा चीर ॥

---

१ पद ४४१३
२ पद ४३२८
३ पद ४३२४

हृदय सिंगी टेर मुरली, नैन खप्पर हाथ।
चाहतीं हरि दरस भिच्छा, देहिं दीनानाथ॥
जोग की गति जुगति हम पै, सूर देखौ जोइ।
कहत हमसौं करन जोग, सु जोग कैसो होइ॥[१]

उद्धव के वांछित योग के लिए तो उनके मन ही उनके हाथ में नहीं हैं अन्यथा वे उद्धव की बात अवश्य मान लेतीं किन्तु वे क्या करें विवश जो ठहरीं। उनका मन तो कृष्ण अपने साथ मथुरा ले गए और अब 'जोग' भेज रहे हैं। यदि वे आज भी अपना मन पा लें तो इतनी रुचिपूर्वक लाए गए योग को वे अवश्य स्वीकार कर लेतीं।[२] उद्धव के इस योग चर्चा के विरोध में गोपियों ने अपनी सरस वाचालता द्वारा बहुत कुछ कह दिया है। उद्धव और कृष्ण पर व्यंग्य तथा उपालम्भ वे अपने उद्गारों को तो प्रकट कर सकीं किन्तु इस परिहास पूर्ण वार्तालाप से उनका विरही हृदय और भी व्याकुल हो उठा, पीड़ा तीव्रतम हो गई। उन्हें यह विश्वास होने लगा कि कृष्ण अब उनसे दूर बहुत दूर चले गए हैं। उन्होंने गोपियों को हृदय से भुला दिया है। कृष्ण सम्बन्ध की यह भावना हृदय को विदीर्ण करने के लिए पर्याप्त है वे विकल होकर उद्धव से कहने लगीं—

ऊधौ अब नहिं स्याम हमारे।
मथुरा गए पलटि से लीन्हें, माधौ मधुप तुम्हारे॥[३]

कृष्ण के इस भाँति दूर हो जाने का कारण भी वे भलीभाँति जानती हैं—

ऊधौ प्रीति नई नित मीठी।
अपुन जाइ मधुपुरी छाए, हमको जोग बसीठी॥[४]

किन्तु वे उदार हृदया, अनन्य प्रेमिका इसी विश्वास को लेकर जीवित हैं—

ब्याहौ बीस धरौ दस कुबिजा, अन्तहु स्याम हमारे।[५]

---

१ पद ४३१२
२ पद ४३३७
३ पद ४३६५
४ पद ४२९०
५ पद ४५८५

वे तो समस्त प्रयत्न या साधन केवल कृष्ण प्राप्ति के लिए ही कर सकती हैं। यदि उद्धव की योग साधना उन्हें मनमोहन कृष्ण का दर्शन करा सके तो इस कठिन योग के लिए भी प्रस्तुत हैं —

ऊधौ तौ हम जोग करैं।
जौ हरि बेगि मिलैं अब हमकौं, वैसे वेष धरैं ॥[1]

यदि उद्धव योग सिखाना ही चाहते हैं तो गोपियाँ कृष्ण के पास मथुरा जाकर योग सीख लें। यह अधिक उचित होगा। यह योग संदेश बिना गुरु के संदेशों द्वारा पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं हो सकता—

बिन गुरु निकट संदेसनि कैसे, यह अवगाह्यो जाइ।
हम जो करत देखिहैं कुबजहिं, तेई करब उपाइ ॥
श्रद्धा सहित ध्यान एकहिं संग, कहत जाहिं जदुराई ॥[2]

इसमें गोपियाँ कुब्जा प्रणय का व्यंग्यपूर्ण संकेत करती हैं। उद्धव की इस योग चर्चा में अब उन्हें आनन्द आने लगा है। उद्धव की ये अटपटी बातें दुखी ब्रजवासियों को हँसाने के लिए पर्याप्त हैं। उद्धव से परिहास करती हुई कभी वे कहतीं कि अपने जोग ठगौरी को सँभाल कर रख लो यहाँ वह बिकने की नहीं, कभी कहतीं इसे तुम जहाँ से लाए हो वहीं भेज दो आवश्यकता पड़ने पर मँगा ली जायेगी—

यह लै देहु सूर के प्रभु कौं, आयौ जोग जहाँ तौ।
जब चहि हैं तब माँगि पठैहैं, जो कोउ आवत जातौ ॥[3]

उद्धव उन्हें योग का संदेश व्यर्थ ही दे रहे हैं। गोपियाँ तो कृष्ण विरह में स्वयं ही योगिनी हो रही हैं किन्तु अहंकारवश उद्धव उनके इस वेश को देखने में असमर्थ हैं। गोपियाँ अपनी योगावस्था का वर्णन करती हैं—

ऊधौ करि रहीं हम जोग।
कहा एतौ बाद ठान्यौ, देखि गोपी भोग ॥
सीस सेली-केस, मुद्रा, कान-बीरी बीर।
बिरह भस्म चढ़ाइ बैठीं, सहज कंथा चीर ॥

---

१ पद ४४१३
२ पद ४३२८
३ पद ४३२४

हृदय सिंगी टेर मुरली, नैन खप्पर हाथ।
चाहतीं हरि दरस भिच्छा, देहिं दीनानाथ॥
जोग की गति जुगति हम पै, सूर देखौ जोइ।
कहत हमसौं करन जोग, सु जोग कैसो होइ॥[1]

उद्धव के वांछित योग के लिए तो उनके मन ही उनके हाथ में नहीं हैं अन्यथा वे उद्धव की बात अवश्य मान लेतीं किन्तु वे क्या करें विवश जो ठहरीं। उनका मन तो कृष्ण अपने साथ मथुरा ले गए और अब 'जोग' भेज रहे हैं। यदि वे आज भी अपना मन पा लें तो इतनी रुचिपूर्वक लाए गए योग को वे अवश्य स्वीकार कर लेतीं।[2] उद्धव के इस योग चर्चा के विरोध में गोपियों ने अपनी सरस वाचालता द्वारा बहुत कुछ कह दिया है। उद्धव और कृष्ण पर व्यंग्य तथा उपालम्भ वे अपने उद्‌गारों को तो प्रकट कर सकीं किन्तु इस परिहास पूर्ण वार्तालाप से उनका विरही हृदय और भी व्याकुल हो उठा, पीड़ा तीव्रतम हो गई। उन्हें यह विश्वास होने लगा कि कृष्ण अब उनसे दूर बहुत दूर चले गए हैं। उन्होंने गोपियों को हृदय से भुला दिया है। कृष्ण सम्बन्ध की यह भावना हृदय को विदीर्ण करने के लिए पर्याप्त है वे विकल होकर उद्धव से कहने लगीं—

ऊधौ अब नहिं स्याम हमारे।
मथुरा गए पलटि से लीन्हें, माधौ मधुप तुम्हारे॥[3]

कृष्ण के इस भाँति दूर हो जाने का कारण भी वे भलीभाँति जानती हैं—

ऊधौ प्रीति नई नित मीठी।
अपुन जाइ मधुपुरी छाए, हमको जोग बसीठी॥[4]

किन्तु वे उदार हृदया, अनन्य प्रेमिका इसी विश्वास को लेकर जीवित हैं—

ब्याहौ बीस धरौ दस कुबिजा, अन्तहु स्याम हमारे।[5]

---

१ पद ४३१२
२ पद ४३३७
३ पद ४३६५
४ पद ४२६०
५ पद ४५८५

जहाँ हृदय में इतना अटल विश्वास है जो मनसा कर्मणा श्यामसुन्दर से ही हेत की दृढ़ प्रतिज्ञा पर ही अचल है जिनका चित्त इतना एकाग्र है उनके लिए उद्धव की योग साधना का मूल्य ही क्या है। मन मोहन कृष्ण के पुनर्मिलन की आशा से स्थिर चित्त हो जिस कठिन प्रेम योग को उन्होंने ग्रहण किया है उद्धव को उसका अनुमान भी नहीं है। अपनी कठिन योग साधना का उल्लेख करती हुई वे उद्धव से कहती हैं—

हम अलि गोकुल नाथ अराध्यौ।
मन, क्रम, वच हरि सौं धरि पतिव्रत प्रेम-योग तप साध्यौ॥
मातु पिता हित, प्रीति निगम पथ तजि, दुख सुख भ्रम नाख्यौ।
मानऽपमान परम परितोषी, सुस्थल थिति मन राख्यौ॥
सकुचासन कुल सील करषि, करि, जगत बंध करि वंदन।
मौनऽपवाद पवन आराधन, हित-क्रम काम निकंदन॥
गुरुजन कानि अगिनि चहुँ दिसि, नभ तरनि ताप बिनु देखे।
पिवत धूम उपहास जहाँ तहँ, अपजस स्रवन अलेखे॥
सहज समाधि सारि बपु बानक निरखि, निमेष न लागत।
परम ज्योति प्रति अङ्ग माधुरी, धरतिं यहै निसि जागत॥
त्रिकुटी संग भ्रूभंग तराटक, नैन नैन लगि लागैं।
हंसनि प्रकास सुमुख कुण्डल, मिलि चन्द सूर अनुरागैं॥
मुरली अधर स्रवन धुनि सो सुनि, सबद अनाहद कानैं।
बरषत रस रुचि बचन संग सुख, पद आनन्द समानैं॥
मंत्र दियो मन जात भजन लगि ज्ञान ध्यान हरि ही की।
सूर कहौ गुरु कौन करै अलि, कौन सुनै मत फीकी॥[1]

गोपियाँ कहती हैं— हे उद्धव ! हमारा प्रेम योग तुम्हारे योग से किसी प्रकार कम नहीं है। योग साधन की समस्त प्रक्रिया तथा साधनों का स्थान हमारे प्रेम योग में भी है। हमने श्रीकृष्ण को मन बचन कम से पति मान लिया है। अतः अब हम पतिव्रत धर्म का पालन करती हुई प्रेम-योग तथा तप की साधना कर रही हैं। हमारे प्रेम योग का मार्ग अत्यन्त कठिन है। हमने माता पिता का प्रेम तथा वेद विहित मार्ग त्याग दिया है। सुख-दुख और मान-अपमान को सहन करते हुए इस चंचल चित्त को एकाग्र कर रखा है। जगद्वंद्य भगवान कृष्ण

१—पद ४१४८

की ही हम वंदना करती हैं। मान अपमान को सहन करना ही प्राणायाम है और प्रेम का क्रम ही काम-संयम की साधना है। गुरु जन की लज्जा रूपी पंचाग्नि से वे घिरी हैं, उपहास रूपी धूम्र का पान करती हैं। तन वदन की सुधि बुधि भूल कर अपलक नेत्रों से कृष्ण प्रतीक्षा ही सहज समाधि की एकाग्रता है। अहर्निशि जागती हुई हम कृष्ण की अंग माधुरी में ही परम ज्योति का दर्शन करती हैं। कृष्ण के नेत्रों की ओर हमारे नेत्र लगे हैं यही त्रिकुटी और त्राटक की साधना है। कृष्ण की हास्य छवि तथा कुंडल की शोभा ही चन्द्र और सूर्य हैं। उनकी मुरली का मधुर स्वर ही अनहद नाद है। उनके बचनों की रुचि ही रस वर्षा है और उनका सान्ध्यि सुख ही परमानन्द की अवस्था है। भजन के लिए हमें प्रेम का मंत्र प्राप्त है। हम अब श्रीकृष्ण का ही भजन और ध्यान करेंगी। तुम्हारे इस नीरस मत को कौन सुने और तुम्हें कौन गुरु बनावे।

गोपियों के इस कथन द्वारा योग विषयक सूरदास के विचार पूर्णतः स्पष्ट हो जाते हैं। सूरदास ने कष्ट साध्य योग साधना को कभी भी स्वीकार नहीं किया। भगवान् कृष्ण के भजन कीर्तन में जो सुख आनन्द तथा सरसता है वह इस योग साधना में कहां। साथ ही इस पद में सूर ने जो योग की नीरसता का उपहास किया है वह भी ध्वनित होता है। समय के साथ ही हमारे विचार बदलते हैं। सूरदास के युग में योग के इस रूप को स्वीकार करने में जनता असमर्थ थी। वह कठिन आत्म संयम की अपेक्षा भगवत्भजन को सरलता से स्वीकार कर सकती थी। अतः सूरदास ने भक्ति का वह सरस मार्ग ही प्रस्तुत किया जिस पर सभी लोग सरलता से चल सकते थे यद्यपि इसमें भी चित्त की एकाग्रता आवश्यक है।

निर्गुण ब्रह्म

उपनिषदों में ब्रह्म के दो स्वरूपों का वर्णन है। सविशेष अथवा सगुण रूप और निर्विशेष अथवा निर्गुण रूप। इन्हीं को क्रमशः अपर ब्रह्म और परब्रह्म भी कहा गया है।[1] निर्गुण ब्रह्म गुण, लक्षण तथा विशेषणों की सीमा से परे है। उसे किसी साधन द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। सगुण ब्रह्म गुण, विशेषणों तथा लक्षणों द्वारा हृदयंगम किया जा सकता है।

१—पृष्ठ ७५ भारतीय दर्शन बल्देव उपाध्याय १९४८।

आत्मा ब्रह्म का ही अंश है। आत्मा और ब्रह्म का यह ऐक्य भी उपनिषदों में सर्वमान्य है। ब्रह्म अंश होने के फलस्वरूप ब्रह्म प्राप्ति के लिए आत्मा को पहचनाना तथा उसका सम्यक् ज्ञान परमावश्यक है। आत्मज्ञान तथा आत्म साक्षात्कार ब्रह्म प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है। आत्मा को जानने के लिए ज्ञान और ज्ञान के लिए साधन (योग) आवश्यक है। इस भांति ब्रह्म ज्ञान के साथ इन सभी वस्तुओं का विशेष सम्बन्ध है। शंकराचार्य ने ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप को ही उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय माना है। अतः ब्रह्म प्राप्ति के लिए वे ज्ञान को परम आवश्यक मानते हैं।

सूरदास के पूर्व कबीर आदि सन्त कवि भी निर्गुण ब्रह्म का ही उपदेश देते थे। भ्रमरगीत के उद्धव मूलतः निर्गुण ब्रह्म के ही उपासक हैं। अभी तक उन्होंने गोपियों को जो ज्ञान और योग का उपदेश दिया वह वस्तुतः निर्गुण प्राप्ति की भूमिका मात्र थी। इनका मूल उद्देश्य तो सगुण ब्रह्म की अपेक्षा निर्गुण ब्रह्म की ही स्थापना करना है। निर्गुण ब्रह्म ज्ञान ही गोपियों को कृष्ण विरह से छुड़ा सकता है। कृष्ण विरह में व्याकुल गोपियों के लिए शान्ति का एकमात्र मार्ग निर्गुण ब्रह्म की उपासना है। पोपियों को विरह व्यथा से छुड़ाने के लिए उद्धव उन्हें निर्गुण ब्रह्म का उदेश देते हैं—"ब्रह्म अविगत अविनाशी है। रूप, वर्ण से रहित ज्योति स्वरूप ब्रह्म ही आदि निरंजन है। उसी का ध्यान करो। तुम सगुण की उपासना के कारण ही दुख उठा रही हो। इस दुख तथा भवजाल से छूटने का एकमात्र साधन निर्गुण ब्रह्म का ध्यान है। उसी से जीवन मुक्त हो सकता है। निर्गुण ब्रह्म ध्यान के निमित्त नियमन की आवश्यकता है। एकाग्र चित्त से ही उसका ध्यान हो सकता है—

> करि समाधि अंतर गति ध्यावहु, यह उनको उपदेस।
> वै अविगत अविनासी पूरन, सब-घट रहे समाइ॥
> तत्व ज्ञान बिनु मुक्ति नहीं है, बेद पुराननि गाइ।
> सगुन रूप तजि निरगुन ध्यावहु, इक चित इक मन लाइ॥
> वह उपाइ करि बिरह तरौ तुम, मिलै ब्रह्म तब आइ॥[1]

१—पद ४१२०

गोपी प्रत्युत्तर

अहर्निशि कृष्ण का ही ध्यान करने वाली गोपियाँ उद्धव के इस उपदेश से व्यथित होगईं। उनके नयनों में तो कृष्ण का रूप समाया है। वे प्रति क्षण उन्हीं की प्रतीक्षा करती हैं। प्रिय कृष्ण के अतिरिक्त किसी अन्य के विषय में सोच भी कैसे सकतीं। अभी तक तो उद्धव का उपदेश वे सुनती रहीं। ज्ञान और योग की शिक्षा ग्रहण करने में उन्होंने अपनी पूर्ण असमर्थता और विवशता प्रकट की किन्तु यह निर्गुण ब्रह्म का उपदेश तो उनके विरह को और भी तीव्र करने वाला ही सिद्ध हुआ। गांव की भोली भाली गोपियां उद्धव के सदृश ज्ञानी न थीं। अतः तर्क न कर वे केवल अपने हृदय की विवशता ही प्रकट करती रहीं। जहाँ कहीं भी उन्होंने तर्क का आंचल पकड़ा भी है वहाँ भी वे भावुकता से अपना पीछा नहीं छुड़ा पाई हैं। कभी वे अपने प्रेम की एक निष्ठा प्रकट करती हुई कहतीं कि उन्होंने तो अपने तन मन सभी कृष्ण को अर्पण कर दिये हैं। निर्गुण ब्रह्म के लिए अन्य शरीर और हृदय कहाँ से लाएँ ?

> ऊधौ मन न भए दस बीस।
> एक हुतौ सौ गयौ स्याम सँग, को अवराधै ईस ॥[1]

निर्गुण ब्रह्म की कठिनता

हृदय की विवशता के अतिरिक्त निर्गुण ब्रह्म को ग्रहण करने में सबसे बड़ी कठिनता उसकी अनिर्बचनीयता है। अगम्य, अगोचर ब्रह्म का ध्यान किस प्रकार सम्भव है? चंचल चित्त वाली अबला नारियां इस मार्ग के सर्वथा अयोग्य हैं—

> यह तो बेद उपनिषद मत है, महा पुरुष व्रत धारी।
> हम अबला अहीर ब्रज-वासिनि, नाहीं परत संभारी।[2]

उद्धव के कहने सुनने से यदि वे निर्गुण ब्रह्म से प्रेम करना भी चाहें तो उसका निरन्तर निर्वाह न कर सकेंगी क्योंकि—

१—पद ४३४४

२—पद ४५१९

अति अगाध स्रुति वचन अगोचर, मनसा तहाँ न जाई।
जाकैं रूप न रेख बरन् बपु संग न सखा सहाई।
ता निरगुन सौं नेह निरंतर क्यों निबहै री माई ॥[१]

निर्गुण ब्रह्म की आराधना सरल कार्य नहीं। बड़े-बड़े ऋषि मुनि और देवता उसे नहीं पा सके। फिर ये तो बेचारी साधारण गोपियां हैं। अतः वे उद्धव से कहती हैं—

ऊधौ निरगुनहिं कहत तुमहीं सो लेहु।
सगुन मूरति नंदनंदन, हमहिं आनि देहु॥
अगम पंथ परम कठिन, गौन तहां नाहिं।
सनकादिक भूलि फिरे, अबला कहं जाहिं ॥[२]

सगुण स्वरूप

जहाँ तक ब्रह्म स्वरूप का सम्बन्ध है गोपियां ब्रह्म के दोनों स्वरूपों को स्वीकार करती हैं। उनके विचार से सगुण भक्ति का मार्ग तो राज पथ है। युवतियों के लिए सरल तथा आकर्षक। अतः भक्ति तथा उपासना के लिए कंटकित बीहड़ निर्गुण, पथ की अपेक्षा उन्हें सगुण स्वरूप ही अधिक प्रिय है। वेदों द्वारा 'नेति-नेति' कहा गया ब्रह्म स्वरूप अबलाओं को किस प्रकार रुचिकर हो सकता है। वे जानती हैं कि कृष्ण ही परब्रह्म है, वे ही ज्ञानी तथा गोपियां के आराध्य हैं—प्रेमवश वे ही यशोदा के बंधन में बंधे हैं—

जोगी जोग अपार सिंधु मैं, ढूंढेहु नहिं पावत।
ह्याँ हरि प्रगट प्रेम जसुमति कैं ऊखल आपु बंधावत ॥[३]

कृष्ण ही निर्गुण ब्रह्म है, भक्तों के लिए उन्होंने यह सगुण रूप धारण किया है—

सूर नंद-सुत दयाल, लीला-बपु-धारी।
निरगुन तैं सगुन भए, संतन हितकारी ॥[४]

१—पद ४५४६
२—पद ४५१७
३—पद ४३२६
४—पद ४५१५

गोपियों को उसी निर्गुण ब्रह्म का साहचर्य प्राप्त है। वेद जिसकी नकारात्मक रूप में व्याख्या करते हैं, देवता जिनका ध्यान करते हैं, वे ही ब्रह्म सगुण रूप धारण कर हमारे साथ खेल करते हैं। उनके दर्शन से जीवन सफल हो जाता है। अतएव उनकी दर्शन लालसा हम कैसे छोड़ सकती हैं—

तुम निरगुन नित कहत निरंतर, निगम बखानत नेति।
प्रगट रूप-मद-मत्त नैन क्यौं, छांड़ैं दरसन प्रीति॥
सिव बिरंचि सनकादिक मुनि जन सुनियत जाकौ ध्यावत।
सूर सोइ प्रभु ग्वाल-सुतनि संग, गोधन वृंद चरावत॥[1]

अव्यक्त अगोचर ब्रह्म का यह व्यक्त और गोचर स्वरूप है। जिसे पाकर गोपियों ने आत्म समर्पण कर दिया है। उनके प्रेम और ध्यान में गोपियों के चित्त स्थिर होकर अचल हो गए हैं। जब हृदय एकाग्र हो गया तब क्या निर्गुण और क्या सगुण दोनों ही ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग हैं। जब एक पर चल कर वे लक्ष्य तक पहुँच गईं तो फिर दूसरे पथ की आवश्यकता ही क्या। उन्होंने जिस सगुण ज्योति का दर्शन किया उससे उद्धव सर्वथा वंचित हैं। सगुण दीप के प्रकाश में तो उद्धव की दयनीय स्थिति और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। ज्ञान-अन्धकार और दुर्वासना शलभ को नष्ट करने वाले, ब्रज में निरन्तर प्रकाशित इस सगुण दीप की ज्योति का दर्शन वे उद्धव को भी कराती हैं—

इहिं ब्रज सरगुन दीप प्रकास्यौ।
सुनि ऊधौ त्रिकुटी त्रिवेद पर, निसि दिन प्रगट अभास्यौ॥
सबके उर सरवास नेह भरि, सुमन तिली कौ बास्यौ।
गुन अनेक ते गुनि कपूर सम, परिमल बारह मास्यौ॥
बिरह अगिनि अंगनि सबकैं, नहिं बुझति परे चौमास्यौ।
साधन भोग निरंजन तेरे, अन्धकार तम नास्यौ॥
वा दिन भयौ तिहारौ आवन, बोलत हौ उपहास्यौ।
रहि न सके तुम सींक रूप ह्वै, निरगुन काज उकास्यौ॥
बाढ़ी जोति सुकेस देस लौं, टूट्यौ ज्ञान मवास्यौ।
दुर्वासना सलभ सब जारे जे, छै रह्यौ अकास्यौ॥[2]

१—पद ४५२४

२—पद १६२, परिशिष्ट १ पृ० ५३

ब्रज में निरंतर प्रकाशित यह सगुण दीप भी कितना अपूर्व है। गोपियों के हृदय रूपी दीप में सुमन रूपी तिल का स्नेह भरा है। कृष्ण की गुण रूपी बत्ती पड़ी है जो कपूर के सदृश सुगन्ध युत है, किन्तु इसकी सुगन्ध क्षणिक नहीं है वरन् बारहों मास में निरन्तर बढ़ती रहती है। हमारी बिरहाग्नि के कारण ही चौमासे में भी प्रज्वलित ही रहता है। जब इस दीप की साधना में तुम्हारा निरंजन एवं ज्ञान अंधकार नष्ट हो गया उस समय तुमने ब्रज में आकर पुनः ब्रज ज्ञान का उपदेश देकर अपने को उपहास का पात्र ही बनाया है। तुमने सींक रूप होकर इस सगुण दीप की बत्ती को अधिक उकसा दिया है। फलस्वरूप अब तो उसकी ज्योति और भी तेज हो गई है। यह प्रकाश समस्त अंगों तथा दिशाओं में व्याप्त हो गया है जिससे ज्ञान अंधकार एवं दुर्वासना शलभ नष्ट हो चुके हैं।

गोपियों के इस कथन से सूरदास का सगुण निर्गुण विषयक मत स्पष्ट हो जाता है। जिस प्रकार ज्ञान और योग के सम्मुख वे भक्ति को प्रधानता देते हैं उसी भाँति भव सागर से पार होने के लिए सगुण तथा निर्गुण मार्ग को स्वीकार करते हुए भी वे सगुण भक्ति पथ को ही महत्व देते हैं। इस सगुण मार्ग पर जो अग्रसर है उसे मुक्ति की भी चिन्ता नहीं।

मुक्ति

संसार के दुखों से छूट कर आनन्द प्राप्ति की अवस्था को ही मुक्ति अवस्था माना गया है। मुक्ति की चार अवस्थायें होती हैं—सालोक्य, सामीप्य, सारुप्य और सायुज्य। ज्ञानी तथा योगी इन्हीं में से किसी एक प्रकार की मुक्ति के अधिकारी होते है। कर्मानुसार नियमित अवधि के पश्चात् पुनः संसार के चक्र में पड़ जाते हैं। वल्लभाचाय ने संसार बंधन से छूटने के साधन में ज्ञान तथा योग को स्वीकार करते हुए भी भक्ति को ही प्रधानता दी है। वल्लभाचार्य के अनुसार पुष्टिमार्गीय भक्त भगवत् कृपा से जीवन्मुक्त हो पूर्ण पुरुषोत्तम की लीला में प्रविष्ट हो उस लीला का अलौकिक आनन्द प्राप्त करता है। अतः वल्लभाचार्य ने मुक्ति की चार अवस्थाओं के अतिरिक्त एक और सायुज्य अनुरूपा मुक्ति अवस्था भी मानी है। भक्त के विचार से यही सर्वश्रेष्ठ है। इस अवस्था में जीव ब्रह्म भाव

प्राप्त करके भी उसमें लय नहीं हो जाता। भेद के कारण ही जीव ब्रह्म साहचर्य का आनन्द प्राप्त करता है। अतएव पुष्टि मार्गी भक्त प्रवेशात्मक सायुज्य मुक्ति को प्राप्त होते हैं और ज्ञानी भक्त तथात्मक सायुज्य मुक्ति को प्राप्त कर निर्गुण ब्रह्म में अपने को लय कर देते हैं। ऐसी अवस्था में जीव की पृथक् सत्ता नहीं रहती है। गोपियाँ पुष्टि मार्गी भक्त हैं जिन्होंने सगुण स्वरूप कृष्ण को ही सर्व भाव से भजा है। ये गोपियाँ ज्ञानी तथा योगियों से कहीं ऊँची उठ गई हैं। स्वयं भगवान् कृष्ण गोपियों के विषय में उद्धव से कहते हैं—

रैनि दिन मम भक्ति उनकें, कछू करत न आन।
और सरबस मोहिं अर्प्यौ, तरुनि तन धन प्रान॥
व्याज में ये रतन दीन्हे, वृथा गोप-कुमारि।
सालोकता, समीपता, सारूपता, भुज चारि॥
इक रही सायुज्यता सो, सिद्धि सिद्ध नहिं बिनु ज्ञान।
सोह तुम उपदेसियौ, जिहिं लहै पद निर्वान॥[1]

किन्तु गोपियां उद्धव द्वारा वर्णित निर्वाण पद की तनिक भी इच्छुक नहीं। वे तो कृष्ण साहचर्य के सम्मुख सब कुछ तुच्छ समझती हैं।

कोटि स्वर्ग सम सुख अनुमानत, हरि समीप समता नहिं पावत।[2]

कृष्ण लीला तथा भजन के सुख और आनन्द को ब्रह्मानन्द भी नहीं पा सकता है। अतः भक्त गोपियों को नवधा भक्ति ही अधिक रुचिकर है—

"जोगी होइ सो जोग बखानै। नवधा भक्ति दास रति मानै।
भजनानंद हमें अलि प्यारौ। ब्रह्मानंद सुख कौन विचारौ॥"[3]

समस्त जप तप, योग साधन तथा ज्ञान, ध्यान का फल निर्गुण ब्रह्म प्राप्ति नहीं है वरन् ब्रह्म के सगुण स्वरूप का दर्शन करना ही है। गोपियों को यह स्वतः ही प्राप्त है—

१—पद ४०४६

२—पद ४३४०

३—पद ४७१२

जोग जुगति साधन तप, जोगि जुग सिरायौ।
ताकौ फल सगुन मूर्ति, प्रगट दरस पायौ ॥[1]

कृष्ण के साथ रास लीला का आनन्द उठाने वाली गोपियाँ अब मुक्ति को भी तुच्छ समझती हैं—

निगम ज्ञान मुनि ध्यान अगोचर, ते भए घोष निवासी।
ता ऊपर अब कहौ कौन धौं, मुक्ति कौन की दासी।[2]

सत्य बात तो यह है कि कृष्ण प्रेम से ही उन्हें चारों प्रकार की मुक्ति सुलभ हो गई हैं—

निरगुन कहौ कहा कहियत है, तुम निरगुन अति भारी।
सेवत सुलभ स्याम सुन्दर कौं, मुक्ति लही हम चारी ॥
हम सालोक्य, सारूप, सायुज्यौ रहति समीप सदाई।
सो तजि कहत और की औरे, तुम अलि बड़े अदाई ॥[3]

निष्कर्ष

भ्रमरगीत के दार्शनिक पक्ष पर विचार करने से यह स्पष्ट हो गया है कि निर्गुण-सगुण ब्रह्म की चर्चा केवल दर्शन का विषय मात्र बनकर हुई। जैसा कि पहले कहा जा चुका है इसमें दार्शनिक तथ्य विश्लेषण की अपेक्षा काव्यानुभूति ही अधिक है। निर्गुण ब्रह्म प्रतिपादन के पक्ष में उद्धव बहुत ही कम बोलते हैं। गोपियाँ ही ज्ञान, योग तथा निर्गुण ब्रह्म की अगम्यता तथा अगोचरता का उल्लेख करती हुई अपनी असमर्थता प्रकट करती हैं—

यह कहा जा सकता है कि भ्रमरगीत का दार्शनिक पक्ष तत्कालीन समाज के धार्मिक स्वरूप का एक व्यंग्य चित्र उपस्थित करने में पूर्ण सफल हुआ है। इसमें अलख निरंजन की पुकार लगाने वाले और निर्गुण ब्रह्म के नाम पर ब्रह्म के सगुण स्वरूप की हँसी उड़ाने वाले ठग साधुओं का उपहास कर जनता को अपने गृहस्थ जीवन में ही प्रेमपूर्ण विधान द्वारा ही भगवत् प्राप्ति का सरल तथा सरस साधन बताया गया है। साथ ही यह भी ध्वनित होता है कि

१—पद ४३१८
२—पद ४४३४
३—पद ४५१८

तत्कालीन समाज में केवल शुष्क उपदेश से जनता कितना ऊब गई थी। उसे किसी सरस भक्ति पथ की बांछा थी। केवल मात्र विचारों की एकांगिता की निरर्थकता भी भली भाँति समझाई गई है। जीवन में भक्ति और ज्ञान, हृदय और मस्तिष्क दोनों का एक ही स्थान है। यदि मस्तिष्क अथवा ज्ञान अपनी सीमा का अतिक्रमण कर दे तो जीवन में नीरसता, शुष्कता और खोखलेपन के अतिरिक्त रह ही क्या जायेगा? जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए श्रद्धा और विश्वास, प्रेम तथा भक्ति की भी आवश्यकता है। जीवन का वास्तविक सुख अहम् को त्याग कर अनन्य भाव से भगवान् की शरण में जाने पर ही प्राप्त होता है। ज्ञानी इस अहम् से छुटकारा पाने में असमर्थ है। गोपियाँ इसी अनन्य प्रेम की प्रतीक हैं।

यद्यपि निर्गुण सगुण का यह विवाद भ्रमरगीत में महत्वपूर्ण जान पड़ता है तथापि निर्गुण ब्रह्म का खंडन और सगुण ब्रह्म का प्रतिपादन सूरदास का लक्ष्य नहीं है। गोपियाँ तो स्वयं ब्रह्म के निर्गुण सगुण दोनों ही स्वरूपों में विश्वास करती हैं और वे अपनी स्थिति से भी पूर्णतः परिचित है—

यह गोकुल गोपाल उपासी
जे ग्राहक निरगुन के ऊधौ, ते सब बसत ईसपुर कासी ॥[१]

अतः गोपियों ने जहाँ कहीं भी उद्धव का विरोध किया है, वहाँ ज्ञानियों के शुष्क तर्क की अपेक्षा हृदय का ही आश्रय ग्रहण किया है। उनके तर्क, तर्क न होकर भावाभिव्यक्ति मात्र हैं। वे प्रेम और भक्ति के सरल पथ के आगे ज्ञान-योग और निर्गुण मार्ग को, कठिनता तथा अपनी अयोग्यता और असमर्थता के कारण ही व्यर्थ बताती हैं। भक्ति पथ वह विस्तृत तथा सरल राज-पथ है जिस पर जीव स्वतः ही चलकर भगवान् का अनुग्रह प्राप्त कर सकता है।

भ्रमरगीत के अधिकांश पदों में गोपियों की विरहाकुलता का ही चित्रण है। जहाँ दार्शनिक चर्चा है वहाँ भी गोपियाँ भावुकता-पूर्ण हैं। दर्शन के इस प्रसंग में भी उनकी विरह व्यंजना मर्म-स्पर्शिणी है। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि

१—पद ४५४६

दार्शनिक प्रसंग रूपक नहीं है। इसके साथ ही इसके अस्तित्व को पूर्णतः अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता। दर्शन की यह अन्तर्धारा गोपियों की विरह-गंगा में सरस्वती के सदृश व्याप्त है।

कला पक्ष-अलंकार

भावों के सुन्दर एवं प्रभावशाली चित्रण के लिये कवि अप्रस्तुत दृश्य अथवा कार्य व्यापार की सृष्टि करता है। इस सृष्टि में ही उसकी कुशलता अन्तर्निहित है। भ्रमरगीत प्रसंग में कथा के संकोच के कारण अप्रस्तुत विधान की प्रचुरता द्वारा ही इस कमी को पूरा किया गया है। गोपियों के मनोवेगों और विचारों को स्पष्ट तथा सुग्राह्य बनाने के लिये कवि ने विविध प्रकार से अप्रस्तुत-विधानों का प्रयोग किया है। प्रस्तुत के लिए अप्रस्तुत का प्रयोग ही अलंकार है। कवि अप्रस्तुत-योजना विविध प्रकार से करते हैं। ये विविध योजनायें ही विविध अलंकारों का रूप धारण कर लेती हैं। ये अलंकार विभिन्न वर्ग में विभाजित हैं यथा साम्य या सादृश्यमूलक, विरोधमूलक, शृंखलामूलक, न्याय मूलक तथा गूढ़ार्थ प्रतीति मूलक।[1] सूरदास ने गोपियों के मानसिक भावों को व्यक्त करने के लिये समस्त वर्गों के अलंकारों का प्रयोग किया है। किन्तु भ्रमरगीत में सादृश्यमूलक एवं गूढ़ार्थप्रतीति मूलक अलंकार ही विशेष रूप से प्रयुक्त हुए हैं। साम्यमूलक अलंकारों में भी उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, दृष्टान्त, अप्रस्तुत प्रशंसा आदि का ही प्रचुर प्रयोग हुआ है। अत्युक्ति, अतिशयोक्ति, विषम, संदेह, पर्यायोक्ति और अन्योक्ति, रूपकातियोक्ति, समासोक्ति आदि अलंकार भी स्वाभाविक रूप से आ गए हैं। शब्दालंकारों में काकुवक्रोक्ति अनुप्रास और श्लेष का प्रयोग मिलता है।

भ्रमरगीत की कोमल कान्त पदावली के निमित्त सूरदास ने अनुप्रास का प्रयोग किया है। सानुप्रास भाषा के लिए कवि को विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ा। अनुप्रास योजना अस्वाभाविक एवं नीरस न होकर भाव लालित्य की सहायक ही है। निम्न पद में छेकानुप्रास की छटा दर्शनीय है—

१—पृ० १२० अलंकार प्रकाश

बस ए बदरौ बरषन आए।
अपनी अवधि जानि नंद नंदन गरजि गगन घन छाए॥
कहियत हैं सुर-लोक बसत हैं सखि सेवक सदा पराए।
चातक पिक की पीर जानि कै, तेउ तहां हैं धाए।
द्रुम किए हरित हरषि बेली मिलीं, दादुर मृतक जिवाए।
साजे निबिड़ नीड़ तृन संचि संचि, पंछिनहूँ मन भाए॥[1]

यहाँ प्रथम तृतीय पंक्ति में वृत्यानुप्रास तथा अन्य पंक्तियों में छेकानुप्रास है। अनुप्रास के लिए सूरदास के अनेक पद उद्धृत किए जा सकते हैं।[2]

सूरदास ने "पुनरुक्ति प्रकाश" का भी प्रयोग किया है। "पुनरुक्ति प्रकाश" में अर्थ की रुचिरता को बढ़ाने के लिए शब्दों की बार-बार आवृत्ति होती है। गोपी विरह वर्णन में पुनरुक्ति प्रकाश का प्रयोग विरह व्यंजना के निमित्त हुआ है—

नैन सलौने स्याम, बहुरि कब आवहिंगे।
वै जौ देखत राते-राते, फूलनि फूली डार॥
हरि बिनु फूल झरी सी लागत, झरि-झरि परत अंगार।[3]

+ + + +

जब मैं पनघट जाऊँ सखी री, वा जमुना कैं तीर।
भरि भरि जमुना उमड़ि चलति हैं, इन नैननि कैं नीर॥[4]

शब्दालंकारों के अन्तर्गत 'श्लेष' तथा 'यमक' का प्रयोग कवि के चमत्कारपूर्ण रूप एवं बौद्धिक चातुर्य का परिचायक है।

हरि मौकों हरि-भख कहि जु गयौ।
हरि दरसत हरि मुदित उदित हरि, हरि ब्रज हरि जु लयौ॥
हरि रिपु ता रिपु ता पति कौ सुत, हरि बिनु प्रजरि दहै।
हरि को तात परस उर अन्तर, हरि बिनु अधिक बहै॥
हरि–तनया सुधि तहाँ बदति हरि, हरि अभिमान न ठायौ।
अब हरि दवन दिवा कुबिजा कौ, सूरदास मन भायौ॥[5]

१—पद ३६२६
२—पद ४१४८, ३६५०, ३६६१, ३६६३
३—पद ३८६३
४—पद वही
५—पद ४००७

उद्धव पर व्यंग्य करने एवं उनके उपहास के लिए वक्रोक्ति का प्रचुर प्रयोग हुआ है। गोपियाँ काकु वक्रोक्ति द्वारा उद्धव से बहुत कुछ कह देती हैं। उद्धव योग का संदेश लेकर आए उस समय गोपियां कहती हैं—

साँच कहौ तुमकों अपनी सौं बूझति बात निदाने।
सूर श्याम जब तुमहिं पठायो तब नैकहु मुसकाने ॥[1]

यहाँ गोपियाँ यही कहना चाहती हैं कि कृष्ण ने तुम्हें मूर्ख बनाया है। उद्धव ने इस दौड़ धूप में जो परिश्रम किया है उसी पर व्यंग्य करती हुई एक गोपी कहती है—

कहा करहि कहँ जाहिं सखी री, हरि बिनु कछु न सुहाए।
जनम सुफल सूरज तिनकौं, जे काज पराए धाए ॥[2]

भ्रमरगीत का अधिकांश वक्रोक्ति पूर्ण है। परन्तु यह वक्रोक्ति सदा रूढ़ वक्रीकृता उक्ति न होकर व्यापक वक्रतायुक्त कथन की ही पर्याय है। अर्थात् यहाँ शब्दालंकार का रूढ़ प्रयोग मात्र न होकर वक्रता का व्यापक प्रयोग ही किया गया है। व्यंग्य, उपहास को साधारण भाषा द्वारा प्रकट करना अनुचित समझ कर गोपियाँ काकु द्वारा अपनी इच्छा पूर्ण करती हैं।

अर्थालंकार

अर्थालंकारों में कवि ने उपमा का प्रचुर एवं सुन्दर प्रयोग किया है। रूप वर्णन, विरह व्यंजना, उद्धव-व्यंग्य आदि प्रसंग में उपमा का प्रयोग भावाभिव्यक्ति को अधिक तीव्र रूप प्रदान करने के लिये ही हुआ है। कुब्जा अपनी कुरूपता और भगवान् कृष्ण के अनुग्रह की अभिव्यंजना के लिए क्रमशः कड़वी, तूमड़ी और जंत्री के उपमानों का प्रयोग करती हैं—

फलनि माँझ ज्यौं करुइ तोमरी, रहत घुरे पर डारी।
अब तौ हाथ परी जंत्री के, बाजत राग दुलारी।[3]

१—पद ४०६२
२—पद ४१२८
३—पद ४०६२

कृष्ण विरह में अहर्निशि तड़पती आँखों के लिए कवि परम्परागत अनेक उपमानों का प्रयोग करता है किन्तु जल भरे नेत्रों की तुलना में केवल झरने और मीन को छोड़कर सभी अयोग्य सिद्ध होते हैं।[1] उनके नेत्रों में तो श्याम सुन्दर का मनमोहन स्वरूप समाया है। कृष्ण रूप चित्रण कवि ने उत्प्रेक्षा द्वारा किया है—

रत्न जटित कुण्डल स्रवननि वर परति कपोलनि झाईं।
मनु दिनकर प्रतिबिम्ब मुकुर महँ ढूँढ़त यह छवि पाई॥
मुरली अधर बिकट भौंहैं करि, ठाढ़ौ होन त्रिभंग।
मुक्त माल उर नील-सिखर तैं, धँसी धरनि जनु गंग॥[2]

उद्धव की बारम्बार ज्ञान चर्चा से ऊब कर गोपियाँ उनके स्वभाव की अपरिवर्तनशीलता का वर्णन मालोपमा द्वारा करती हैं—

स्वान पूँछ कोउ कोटिक लागै, सूधी कहुँ न करी।
जैसे काग भच्छ नहिं छाड़ै, जनमत जौन घरी॥
धोए रंग जात नहिं कैसैहुँ, ज्यों कारी कमरी।
ज्यौं अहि डसत उदर नहिं पूरत, ऐसी धरनि धरी॥
सूर होइ सो होइ सोच नहिं तैसेइ एऊ री॥[3]

उद्धव के स्वभाव के लिए कवि ने उपमानों की एक माला सी प्रस्तुत करदी है।

सांग रूपक चित्रण की ओर सूरदास की विशेष रुचि जान पड़ती है। विरहावस्था में प्रकृति के उद्दीपन स्वरूप का कवि ने सांग रूपक द्वारा वर्णन किया है। उद्धव के योग संदेश के विरोध में गोपियाँ जिस प्रेम-विरह की साधना कर रही हैं, उसका चित्रण भी रूपक द्वारा ही हुआ है। निर्गुण-सगुण ब्रह्म निरूपण के अवसर पर भी कवि ने साँग रूपक का ही आश्रय लिया है। उद्धव का उपहास करते समय भी गोपियों की उक्ति रूपक द्वारा ही चमत्कृत हो सकती है—

१—पद ४१८९

२—पद ४१७८

३—पद ४१४४

आयो घोष बड़ो व्यापारी।
खेप लादि गुरु ज्ञान जोग की, ब्रज में आनि उतारी ॥[1]

भावों की तीव्रता के लिए अतिशयोक्ति एवं अत्युक्ति अलंकारों का प्रयोग किया गया—

संदेसनि मधुवन कूप भरे।[2]

और

कर कंचन तें भुज टाड़ भई।[3]

उद्धव की ज्ञान चर्चा को लेकर उदाहरणमाला और दृष्टान्त द्वारा गोपियाँ उनके उपदेश की निरर्थकता सिद्ध करती हैं।

समस्त भ्रमरगीत अन्योक्ति रूप में ही लिखा गया है। भ्रमर के स्वार्थी स्वभाव, कपट प्रीति और नव-रस-लोलुपता का वर्णन कर कृष्ण की कपट प्रीति पर भ्रमर के श्याम वर्णन के द्वारा उद्धव और कृष्ण के श्याम मन पर कटाक्ष किया गया है। उद्धव की योग चर्चा से ऊब कर भ्रमर-व्याज से (अन्योक्ति द्वारा) गोपियाँ उद्धव के निर्गुण ब्रह्म पर व्यंग्य करती हैं—

मधुप कहि जानत नाहीं बात।
फूँकि फूँकि हियरो सुलगावत, उठि न इहाँ तें जात ॥
जिहिं उर बसत जसोदा-नंदन, निरगुन कहाँ समात।
कत भटकत डोलत पुहुपनि कौं, पान करत किन पात ॥
जदपि सकल बेली बन बिहरत, बसत जाइ जल जात।
सूरदास ब्रज मिलवन आए, दासी की कुसलात ॥[4]

सूर के काव्य की—भ्रमरगीत की—प्रमुख विशेषता इसकी वक्रता अर्थात् व्यंग्य है। कवि ने लाक्षणिक प्रयोग द्वारा इस व्यंग्य को निखार दिया है। सूर की गोपियों का एक-एक कथन लाक्षणिक प्रयोग का सुन्दर उदाहरण है। वे किसी भी बात को सीधे ढंग से न

१—पद ४५८३

२—पद ३९१८

३—पद ४६७८

४—पद ४१६३

कहकर घुमा-फिराकर ही कहती हैं। उद्धव जैसे प्रकाण्ड ब्रह्मज्ञानी एवं योगी का उपहास साधारण शब्दों द्वारा सम्भव भी न था। दूसरी बात यह है कि उपालम्भ के लिए बचन वक्रता अति आवश्यक है। मानिनी गोपियाँ कृष्ण के कुब्जा प्रणय से दुखी होकर उन्हें जो उपालम्भ देती हैं, उसकी यथार्थ अभिव्यक्ति के लिए ही भ्रमरगीत में वक्रता की प्रधानता दिखाई पड़ती है।

शब्द-क्रीड़ा

भाषा के आलंकारिक प्रयोग के अतिरिक्त सूर में शब्द-क्रीड़ा की रुचि भी दिखाई पड़ती है। एक ही शब्द द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने की प्रतिभा सूर में वर्तमान है। सूर ने शब्द और अक्षर दोनों के साथ ही क्रीड़ा की है। सूर की शब्द क्रीड़ा का एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। कवि ने एक शब्द के प्रयोग से ही चमत्कार उत्पन्न कर दिया है।

बैसी सारंग करहिं लिए।
सारंग कहत सुनत वे सारंग, सारंग मनहिं दिए॥
सारंग व्यथित बैठि वह सारंग, सारंग विकल हिए।
सारंग धुकि, सारंग पर सारंग, सारंग क्रोध किए॥
सारंग है भुज करनि बिराजत, सारंग रूप किए।
सूरदास मिलहीं ने सारंग, तौ पै सुफल जिए॥[1]

प्रतीक एवं उपमान

सूरदास ने अपने काव्य में जिन प्रतीकों और उपमानों का प्रयोग किया है, उन्हें दो विभागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम परम्परागत अर्थात् रूढ़ उपमान जिनका कवियों ने निरन्तर प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त सूरदास ने जीवन के अनुभव के आधार पर अनेक उपमानों का प्रयोग किया है। इस प्रकार कवि की रचना में अधिक सरलता, सुबोधता एवं व्यंजकता का समावेश हो गया है। कुब्जा की कुरूपता के वर्णन में कवि ने जिस कड़वी-तूमड़ी और जंत्री का उपमान प्रस्तुत किया है, वह परम्परागत न होता हुआ भी भाव-व्यंजना की दृष्टि से अति उपयुक्त है। इसी प्रकार विरह व्यंजना में गोपियों का यह कथन—

१—पद ३९८३

तुम्हरी प्रीति हरि पूरब जनम की, अब जु भए मेरे जियहु के गरजी।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन बिनु, तन भयौ ब्यौंत विरह भयौ दरजी ॥[1]

जीवन के अनुभव पर ही आधारित है। जिस प्रकार दर्जी कपड़े को काटने छाँटने का ब्यौंत करता है, उसी प्रकार विरह रूपी दर्जी गोपियों के तन के व्यौंत में लगा है। उद्धव परिहास के अवसर पर व्यापारी के रूपक वर्णन तथा अन्य प्रसंगों पर सूरदास ने परम्परागत उपमानों के अतिरिक्त जीवन सम्बन्धी नवीन उपमानों द्वारा काव्य को अधिक सरस एवं हृदयग्राही बना दिया है।

भाषा (शब्द भंडार)

किसी कवि की भाषा पटुता के लिए सर्वप्रथम उसके शब्द भंडार का निरीक्षण अति आवश्यक एवं अनिवार्य है। शब्द भंडार की दृष्टि से सूर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने ब्रज भाषा के चलते स्वरूपों के अतिरिक्त संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव दोनों ही रूपों को ग्रहण किया है। द्रुम, लता, नृपति, मधुप, प्रीति, पतंग, ज्वाला आदि तत्सम शब्दों के साथ ही माँझ, बिलमि, बिथा, संदेश आदि तद्भव रूपों का भी प्रचुर प्रयोग किया है। वस्तुतः हिन्दी भाषा का प्राण उसका तद्भव शब्द भंडार ही है। इन शब्दों के अतिरिक्त सूरदास ने ब्रज के ठेठ शब्दों का भी प्रयोग किया है।

किसी भी भाषा को व्यापक बनाने के लिए भाषा में विभिन्न भाषाओं के शब्दों को आत्मसात करने की शक्ति होना अनिवार्य है। जो भाषा सहयोगिनी भाषाओं के शब्दों को ग्रहण नहीं कर सकती उसका रूप अधिक व्यापक नहीं हो पाता। हिन्दी के सभी श्रेष्ठ कवियों ने अन्य भाषा के शब्दों को निज रूप में रंग कर अपनी भाषा का ही अंग बना लिया है। सूरदास की भाषा में भी अन्य भाषाओं के शब्द समूह घुल मिल गए हैं। सूरदास की भाषा में फारसी, अवधी और पंजाबी, गुजराती भाषा के शब्द ढूँढे जा सकते हैं। अरबी फारसी के तद्भव रूप तो सूर काव्य की अपनी सम्पत्ति हैं। मुगल राज्य होने के कारण फारसी भाषा का प्रचलन अत्यधिक था। वह शासक की भाषा थी। अतएव जनता ने शीघ्र ही उसे ग्रहण

१—पद ४०१९

कर लिया। अन्य भाषाओं में भी फारसी का तद्भव रूप प्रचुरता से प्रयुक्त होने लगा। सूरदास ने भी गरजी, बेशरम संदेसों आदि का प्रयोग भ्रमरगीत प्रसंग में किया है।

व्याकरण

काव्यगत अनेक नियमों के होते हुये भी कवि निरंकुश कहा गया है। वह कविता में तुक तथा लय के लिये शब्दों को तोड़ने मरोड़ने में स्वतन्त्र है। सूरदास ने भी इस स्वतन्त्रता का लाभ उठाया है किन्तु उतनी ही दूर तक जहाँ तक काव्य सौन्दर्य न नष्ट हो और भाव दुर्बोध न बन जाय। अतएव सूर के विकृत शब्द अपने पूर्व रूप से एकदम भिन्न नहीं हो जाते। उन्हें पढ़कर हम उनके पूर्व रूप तक सरलता से पहुँच जाते हैं। यथा—

(१) तुम कारे, सुफल वसुत कारे, कारे मधुप भंवारे
(२) सूरदास तीन्हों नहिं उपजत धनिया, धान, कुम्हाड़े

इन स्थलों पर शब्द का विकृत रूप भंवारे तथा कुम्हाड़े क्रमशः भ्रमर तथा कुम्हड़ा से बहुत दूर नहीं है। कवि ने तुक मिलाने के लिए ही यह रूप परिवर्तन किया है। सूर की भाषा की आलोचना करते समय लाला भगवान दीन ने लिखा है—कहीं कहीं व्याकरण की अशुद्धियाँ भी मिलती हैं और वे खटकने वाली हैं।[1] इस विषय में केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भ्रमरगीत प्रसंग में इस प्रकार का दोष नगण्य है। लाला भगवान दीन ने इसी विषय पर आगे लिखा है—'सूरदास जी की कविता में 'सु' 'जु' का प्रयोग भी कम नहीं है, इसका कारण यह है कि वे नित्य बहुत से पद बनाया करते थे। दो चार में 'सु' 'जु' की भरती किये बिना काम नहीं चल सकता था।" + + "सूर ने कुछ नए प्रयोग भी किये हैं। इन्हें हम विचित्र प्रयोगों से भिन्न मानते हैं क्योंकि ऐसी प्रयोग नई परिपाटी चलाना है। हिन्दी साहित्य में 'सचु' शब्द जिसका अर्थ सुख, आनन्द संतोष आदि होता है, पाना क्रिया के साथ ही प्रयुक्त हुआ है। सूर ने इसका प्रयोग स्वतन्त्र रूप से 'मानत' क्रिया के साथ भी किया है।

१—पृ० ६७—सूर पंचरत्न।

काव्य गुण

काव्य गुण की दृष्टि से सूर की भाषा का प्रमुख स्थान है। सूरदास की समस्त रचना ब्रज भाषा में ही हुई है। यद्यपि सूरदास ब्रज भाषा के प्रथम कवि माने जाते हैं किन्तु इनकी भाषा काव्य गुणों से युक्त सुष्ठ, परिमार्जित एवं परिष्कृत है। सूरदास ने ब्रज भाषा को साहित्यिक रूप प्रदान किया है। विप्रलम्भ शृंगार के वर्णन के लिये कवि ने कोमल शब्दों का चयन कर भाव एवं भाषा में पूर्ण सामंजस्य स्थापित कर दिया है। सूर की ब्रज भाषा प्रसाद एवं माधुर्य गुण पूर्ण है। प्रसाद गुण के बिना कविता मस्तिष्क की क्रीड़ा मात्र बन जाती है। विप्रलम्भ शृंगार के लिए माधुर्य गुण अति आवश्यक है। माधुर्य गुण के लिए रचना में टवर्ग वर्ण तथा 'र' के संयोग से बने शब्द एवं समासयुक्त शब्दावली परिहार की आवश्यकता है। ऐसी रचना हृदय को द्रवित करने में समर्थ होती है। भ्रमरगीत की रचना में कवि ने इस बात का विशेष ध्यान रखा है।

सहजता

भ्रमरगीत की भाषा का सबसे बड़ा गुण उसकी सजीवता एवं सहजता है। सहजता के कारण ही सूर की भाषा में एक प्रवाह है। पाठक उस प्रवाह धारा में स्वयं ही बह जाता है। भाषा को प्रवाह पूर्ण एवं सजीव बनाने के लिए सूरदास ने प्रचलित शब्दावली तथा काव्य गुणों के अतिरिक्त मुहावरे और कहावतों का भी समुचित प्रयोग किया है। मुहावरों के प्रयोग से भाषा में अधिक चुस्ती आ गई है और वह कोमल तथा मधुर भावों को व्यक्त करने में पूर्ण समर्थ है। लाक्षणिक प्रयोग द्वारा भाषा का सुष्ठ एवं सुसंस्कृत रूप निखर उठा है। उपालम्भ काव्य होने के कारण भ्रमरगीत में व्यंग्य और लाक्षणिक प्रयोग की प्रचुरता है। अर्थ गम्भीरता, मार्मिकता तथा व्यापकता की दृष्टि से ही कवि ने मुहावरों तथा लोकोक्तियों का प्रयोग किया है। भ्रमरगीत में प्रयुक्त कुछ मुहावरे यहाँ उद्धृत किए जा रहे हैं—

बधाई देना, लाज बेचना, पैर पड़ना, दस दिन की बात, सिन्धु के खग, दृगन की सम्पत्ति, बिना दाम की चेरी, मीन जल की

प्रीति, चाम के दाम, अंगार चुनना, यज्ञ का पशु, जोड़ी मिलाना आदि।

सूरदास ने लौकोक्तियों का प्रयोग इस प्रसंग में प्रायः किया है, यथा—

१—प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ।

२—स्वान पूँछ कोटिक लागै सूधी कहुं न करी।

३—प्रीति नई नित मीठी।

४—कर कंकन तैं भुज टाड़ भई।

५—एक आँधारौ, हिय की फूटी, दौरत पहिर खराऊँ।

६—मिले मन जाहि-जाहि सों ताकौ कहा करै काजी।

७—जाहिं लगै सोई पै जाने विरह पीर अति भारी।

८—जनु हीरा हरि लियौ हाथ तैं ढोल बजाइ ठगी।

मुहावरे तथा लौकोक्तियों के प्रयोग में सूर ने कुछ परम्परागत मुहावरों तथा लोकोक्तियों का प्रयोग किया है। कुछ नवीन मुहावरे तथा लोकोक्तियाँ भी उन्होंने बनाई हैं।

शैली

भ्रमरगीत गीतकाव्य है। यह पद शैली में लिखा गया है। कथानक के विचार से कुछ पद कथा प्रधान तथा कूछ भाव प्रधान हैं। कथा प्रधान अंश वर्णनात्मक शैली में लिखा गया है। भावात्मक अथवा आत्माभिव्यंजक पद गेयपद तथा मुक्तक रूप में उपलब्ध हैं।

संक्षिप्त भ्रमरगीत भागवत की वर्णनात्मक शैली में लिखा गया है। इसमें गेयपदों की अधिक द्रुतगामिता है। इसकी भाषा सरल तथा साधारण है। कवि ने इसमें भावों तथा मनोवेगों के चित्रण की ओर पूर्ण ध्यान न देकर केवल संकेत मात्र कर दिया है। इसमें कथा का पूर्ण निर्वाह पाया जाता है। भागवत की कथा का अनुसरण करने पर भी कवि ने अपनी शैली में नाटकीयता, संभाषण तथा परिवर्तन द्वारा मौलिकता का परिचय दिया है।

छंद

सूरदास के भ्रमरगीत सम्बन्धी पद निम्न राग-रागनियों में उपलब्ध हैं—

(१) सोरठ
(२) कल्याण
(३) सारंग
(४) मलार
(५) नट
(६) भैरव
(७) विहागरौ
(८) रामकली
(९) कैदारौ
(१०) गोरी
(११) धनाश्री
(१२) बिलाबल
(१३) जैत श्री
(१४) गौड़ मल्हार
(१५) असावरी
(१६) ईमन
(१७) देसकार
(१८) सानुत
(१९) धमार
(२०) काफी
(२१) देव गंधार
(२२) मारु
(२३) सूही
(२४) सकरामरन
(२५) षटपदी
(२६) राग कर्नाटी
(२७) भैरवी
(२८) भैरव

इनमें से कुछ पद लम्बे तथा कुछ छोटे हैं। इस पद शैली का साहित्य में प्रयोग विद्यापति और कबीर आदि संत कवियों की रचनाओं में मिलता है। पद शैली सूर की अपनी मौखिक विशेषता नहीं है प्रत्युत परम्परा से प्राप्त गीत शैली है जिसका प्रयोग सूरदास ने कुशलता से किया है। विद्यापति अपनी कोमल कान्त पदावली के कारण ही अभिनव जयदेव की उपाधि से विभूषित किए गए। उनके पदों की मधुरिमा ने उन्हें मैथिल कोकिल के नाम से सम्मानित किया। सन्त कवियों के पद इसी शैली में लिखे गए जो आध्यात्मिकता और रहस्य भावना के कारण साहित्य की अक्षय निधि बनें। सूरदास के भ्रमरगीतों में विद्यापति का भाषा सौन्दय, संगीत तथा संत कवियों की आध्यात्मिकता दोनों ही उपलब्ध हैं। ब्रज भाषा के जिस कोमल, सुसंस्कृत और परिमार्जित स्वरूप का इसमें दर्शन मिलता है सूर के पूर्व की रचनाओं में वह सर्वथा दुर्लभ है। विभिन्न राग रागनियों में प्रयुक्त होकर संगीत की कसौटी पर भी यह काव्य

खरा उतरता है। इस प्रकार विद्यापति और संत कवियों की विशेषता एक ही स्थान पर भ्रमरगीतों में उपलब्ध है।

भ्रमरगीतों में सूरदास ने विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया है। गेयपदों के कारण कवि ने सभी पदों में कुछ मात्राओं की टेक जोड़ कर पद प्रारम्भ किया है। संगीत के विचार से टेक का विशेष महत्व है। रोचकता तथा प्रभाव के लिए भी टेक का प्रयोग होता है। सूरसागर में अधिकतर चौबोला, चौपाई और चौपाई छन्दों का प्रयोग हुआ है। दो छन्दों के मिश्रण से कहीं कहीं कवि ने नवीन छन्द भी बनाया है। भावात्मक पदों में सार छंद का भी प्रयोग मिलता है।[१]

मधुकर कहा प्रवीन सयाने।
जानत तीन लोक की महिमा, अबलनि काज अयाने॥[२]

कथानक प्रसंगों में छन्दों का सीधा प्रयोग मिलता है। प्रथम संक्षिप्त भ्रमरगीत दो लम्बे पदों में है। ये क्रमशः आसावरी और भैरव राग में गाए गए हैं। प्रथम पद में चौपाई और सार छन्द का प्रयोग हुआ है—

कहौ ऊधौ तुम क्यों ब्रज आए।
तब हँसि कह्यौ हम कृष्न पठाए॥
कृष्न पठाए हम ब्रज आए कहत मनोहर बानी।
सुनौ संदेसौ तजौ अंदेसौ तुम हौ चतुर सयानी॥[3]

द्वितीय पद में केवल चौपाई छन्द ही प्रयुक्त हुआ है—

मैं तुम पै ब्रजनाथ पठायौ। आतम ज्ञान सिखावन आयौ॥[४]

द्वितीय भ्रमरगीत एक लम्बे पद के रूप में मिलता है। यह जै श्री राग में है। इस भ्रमरगीत में दोहा और रोला के संयुक्त रूप का प्रयोग किया गया है।

१—सार १६, १२ के विराम से २८ मात्राओं का छन्द है। अन्त में दो गुरु होते हैं। सार छन्द के अन्त में एक गुरु अथवा दो लघु अथवा लघु गुरु का भी प्रयोग होता है। —छन्द प्रभाकर सप्तम संस्करण पृ० ६९

२—पद ४४३३

३—पद ४७११

४—पद ४७१२

तुलसीदास

यद्यपि तुलसीदास के पूर्व राम भक्ति का प्रचार आरम्भ हो गया था तथापि जनता तक राम भक्ति का पावन संदेश पहुँचाने का श्रेय तुलसीदास को ही है। आपने भाषा द्वारा राम भक्ति का प्रचार ही नहीं किया वरन् हिन्दी साहित्य भांडार को भी समृद्धिशाली बनाया। राम भक्त होते हुए भी तुलसीदास ने समस्त वैष्णव देवी देवताओं की प्रार्थना कर अपने समन्वयवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया है। तत्कालीन समाज में प्रचलित शैव और वैष्णव विरोध को दूर करने का प्रयत्न रामचरित मानस में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। धार्मिक समन्वय की यही भावना सम्भवतः श्रीकृष्ण गीतावली की रचना के मूल में भी थी। श्रीकृष्ण गीतावली की रचना संकीर्ण साम्प्रदायिक भावना से परे तुलसीदास की विशाल हृदयता तथा उदारता को प्रकट करने के लिए पर्याप्त है। श्रीकृष्ण गीतावली के अतिरिक्त भ्रमरगीत सम्बन्धी दो पद कवितावली में भी उपलब्ध हैं।

श्रीकृष्ण गीतावली ६१ पदों की लघु रचना है। यह एक संग्रह ग्रन्थ है। कवि ने इसका रचना काल नहीं दिया है। बेनी माधवदास के अनुसार इसका रचना काल संवत १६२८ है। डा० रामकुमार वर्मा ने हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास में इसका उल्लेख किया है।[1] डा० माता प्रसाद गुप्त इसका रचना संवत् १६५८ के लगभग मानते हैं।

श्रीकृष्ण गीतावली का विषय

इस रचना में श्रीकृष्ण का चरित्र विभिन्न राग रागनियों में उपलब्ध है। कवि ने कृष्ण जीवन के कुछ रुचिकर प्रसंगों को ही चुना है। कृष्ण बाल लीला–यशोदा आनन्द ग्वालिन उपालम्भ, यशोदा प्रत्युत्तर, ऊखल बंधन, गोवर्धन लीला, रूप वर्णन तथा भ्रमरगीत (गोपी विरह तथा गोपी-उद्धव संवाद) प्रसंगों का ही वर्णन है, अन्य प्रसंग पूर्णतः छोड़ दिये गए हैं। ग्रन्थाकार को देखते हुए भ्रमर-गीत की मार्मिकता से प्रभावित हुए बिना न रह सके। इसका मूल कारण यही है कि तुलसीदास तथा कृष्ण भक्त दोनों ही प्रेम-भक्ति

१—पृष्ठ ५५० सन् १६४८

तथा साकार उपासना को प्रधानता देते हैं। ज्ञान और भक्ति दोनों ही ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग हैं। सांसारिक दुख दूर करने के इन साधनों में कोई अन्तर नहीं है—

ज्ञानहि भगतिहिं नहिं कछु भेदा।
उभय हरहिं भव संभव खेदा॥

किन्तु तुलसी ज्ञान-मार्ग की अव्यावहारिकता तथा दुरूहता से पूर्णतः परिचित थे।

"ग्यान पंथ कृपान की धारा"

अतः वे भक्ति के सरल और सुसाध्य मार्ग को लेकर ही जनता के सम्मुख आये।

भ्रमरगीत प्रसंग इसी सिद्धान्त का प्रतिपादक है। अतः सगुण भक्त कवियों ने इसे विशेष रुचि से अपनाया है। तुलसीदास ने भी श्रीकृष्ण गीतावली के ६१ पदों में से ३ पदों में भ्रमरगीत का वर्णन किया है। २ पदों में गोपी विरह वर्णन है।

भ्रमरगीत की कथावस्तु

भ्रमरगीत का प्रारम्भ चौवीसवें पद —गोपी विरह वर्णन—से होता है। कृष्ण के मथुरा-गमन से दुखी गोपियाँ कभी भाग्य को दोष देती हैं, कभी नेत्रों को और कभी अपनी विवशता में विकल हो उठती हैं। ३३वें पद से उद्धव गोपी वार्तालाप प्रारम्भ हो जाता है। सूरसागर के अल्पभाषी उद्धव श्रीकृष्ण गीतावली में पूर्ण मौन धारण कर लेते हैं। गोपियों के कथन से ही उनके योग तथा निर्गुण संदेश की कल्पना की जा सकती है। ऐसा ज्ञात होता है कि उद्धव की ज्ञान तथा योग चर्चा सुनकर गोपियाँ प्रत्युत्तर दे रही हैं। उद्धव-उपदेश का रचना में कहीं भी उल्लेख नहीं है। उद्धव की उपस्थिति भी गोपियों के ऊधौ, मधुप आदि सम्बोधनों से ज्ञात होती है। सम्भवतः राम-चरित-मानस में ज्ञान की विस्तृत चर्चा के उपरान्त तुलसीदास ने इस नीरस चर्चा को पुनः उठाना रुचिकर न समझा हो। अतः उद्धव मौन ही दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार उद्धव-संदेश की सूचना भी गोपियों द्वारा ही प्राप्त होती है—

ऊधौ या ब्रज की दशा विचारौ।
ता पाछे यह सिद्धि आपनी जोग कथा विस्तारौ ॥३३॥

श्रीकृष्ण गीतावली में भ्रमरगीत का अति संक्षिप्त रूप—उद्धव-गोपी-संवाद मात्र ही मिलता है।

पूर्ववर्ती भ्रमरगीत से तुलना

यह पहले कहा जा चुका है कि श्रीकृष्ण गीतावली में भ्रमर-गीत का अत्यन्त संक्षिप्त रूप मिलता है। तुलसीदास ने कथावस्तु में विशेष परिवर्तन अथवा नवीनता लाने का प्रयत्न नहीं किया है। इनका भ्रमरगीत गोपी कथन मात्र ही है। सूर के सदृश न तो इसमें ज्ञान, योग आदि का वर्णन है और न पाती प्रसंग की ओर ही कवि का ध्यान गया है। उद्धव के योग संदेश तथा निर्गुण ब्रह्म के विरोध में गोपियाँ केवल अपने भावुक हृदय को ही उन्मुक्त कर देती हैं। वे उद्धव से ज्ञान की चर्चा करने में असमर्थ हैं। ग्रामवासिनी ग्वालिनें योग की बातें क्या समझें वे सूर की गोपियों के समान चतुर नहीं जो कि कृष्ण-वियोग में प्रेम-योग की साधना करती हैं अथवा जो उद्धव को उनके निराकार, निर्गुण ब्रह्म तथा ज्ञान की अव्यावहारिकता स्पष्ट रूप से समझा सकी हैं। अतः तुलसी के भ्रमरगीत में तर्कयुक्त दार्शनिक पक्ष का सवथा अभाव ही है।

विरह व्यंजना तथा भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से दोनों भ्रमर-गीतों में पर्याप्त साम्य है। कई स्थलों पर तुलसीदास की मौलिक कल्पना तथा अप्रस्तुत विधान ने इसे काव्य सौष्ठव प्रदान किया है।

पद साम्य

वर्णन के विचार से श्रीकृष्ण गीतावली के कुछ पद तो सूरसागर में ज्यों के त्यों मिलते हैं। भाव तथा विचार ही नहीं बल्कि पद योजना भी दोनों में एक सी है। अन्तर केवल कुछ पाठ-भेद तथा नाम की छाप में ही है। यहाँ इस प्रकार के पद दिये जाते हैं।

ऊधौ या ब्रज की दशा विचारौ,
ता पाछे यह सिद्धि आपनी जोग कथा विस्तारौ।
जाकारन पठये तुम माधव सो सोचहु मन माहीं,
कैतिक बीच विरह परमारथ जानत हौ किधौं नाहीं।
परम चतुर निज दास स्याम के संतत निकट रहत हौ,
जल बूढ़त अवलंब फैनकौ फिरि फिरि कहा कहत हौ।
वह अति ललित मनोहर आनन कौने जतन बिसारौं,
जोग जुगुति अरु मुकुति विविध विधि बा मुरली पद वारौं।
जैहि उर बसत स्याम सुन्दर घन तेहि निगुन बस आवै
तुलसीदास सो भजन बहानौ जाहि दूसरौ भावै॥
श्रीकृष्ण गीतावली—पद ३३

यह पद कुछ पाठ भेद से सूरसागर में प्राप्त है। सूरसागर के पद ४२३६ से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जायेगा।

इसी प्रकार श्रीकृष्ण गीतावली के निम्न पद भी सूरसागर में कुछ पाठ भेद से उपलब्ध हैं—

(क) मधुकर कहछु कहन जो पारौ।
नाहिन बलि, अपराध रावरौ, सकुच साधि जनि मारौ॥
श्रीकृष्ण गीतावली—पद ३४

ऊधौ कहौ कहन जौ पारौ।
नाही बलि कछु दोष तिहारौ, सकुचि साथ जनि मारौ॥
सूरसागर—पद ४१३७

(ख) ताकी सिख ब्रज न सुनेगौ कोउ मोरे।
जाकी कहनि रहनि अनमिल, अलि सुनत समुझियत थोरे॥
श्रीकृष्ण गीतावली—पद ४४

याकी सीख सुनै ब्रज को रे।
जाकी रहनि कहनि अनमिल अलि, कहत समुझियत थोरे॥
सूरसागर—पद ४२१८

सूरदास तथा तुलसी के पदों का यह साम्य आश्चर्य का विषय है। विषय साम्य, वर्णन को एकरूपता दे सकता है किन्तु शब्द योजना

की यह समानता इस बात को सिद्ध करती है कि सूर तथा तुलसी दोनों की प्रतिभा एक सदृश ही थी। यदि वे एक ही विषय पर काव्य रचना करते तो वे एक ही प्रकार की होती और उनको पहचान सकना साधारण व्यक्ति की शक्ति के बाहर ही होता। डा० राजकुमार वर्मा इन्हें सूरदास कृत ही मानते हैं जोकि बाद को तुलसीदास के शिष्यों द्वारा उनकी रचना में कुछ परिवर्तन के साथ ही मिला दिए गए होंगे।

कृष्ण गीतावली[1] के कुछ पद सूरसागर में मिलते हैं। इसका कारण सम्भवतः यह हो कि तुलसीदास की रचनाओं में मिलने वाले सूरदास के इन पदों को तुलसीदास जी ने गाने के लिए ही पसन्द किया होगा और तुलसीदास जी को प्रिय होने के कारण आगे चलकर उनके शिष्यों ने उचित परिवर्तन के साथ उन्हें उनकी रचनाओं में मिला दिया होगा।

भाव पक्ष

भ्रमरगीत उपालम्भ काव्य है। उपालम्भ का कारण कृष्ण का मथुरा निवास ही नहीं वरन् कुब्जा प्रणय तथा योग और निर्गुण ब्रह्म का संदेश है। भ्रमरगीत के आलम्बन श्रीकृष्ण साधारण नायक नहीं बल्कि रस रूप परब्रह्म हैं जो ब्रज के रास रंग को छोड़ अब मथुरापति बन गए। गोपियाँ अवधि आशा से उनकी प्रतीक्षा में पलकें बिछाए बैठी रहीं किन्तु कृष्ण न आए। इधर गोपियाँ विरह व्यथा से कराहने लगीं। ब्रज से दूर मथुरा में बसने वाले मनमोहन अब प्रतिक्षण उनके नेत्रों में ही झूलने लगे—

लागियै रहति नयननि आगे तैं।
न टरति मोहन मूरति। श्रीकृष्ण० पद २८

विरह को उद्दीप्त करने वाले प्राकृतिक विधानों में चन्द्रमा के ताप का सभी कवियों ने वर्णन किया है। तुलसी की गोपियाँ भी कृष्ण विरह से दुखी होकर कहती हैं—

ससि तैं सीतल मोकों लागे माई री तरनि।
याके उए बरति अधिक अङ्ग अङ्ग दव,
वाके उए मिटति रजनि जनित जरनि॥ श्रीकृ० पद ३०

१—पृ० ५५२—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास

सूरदास ने चन्द्रोपालम्भ सम्बन्धी अनेक पदों की रचना की है। उनकी गोपियाँ चन्द्र ताप से दुखी होकर कभी ऊहात्मक कल्पना भी कर बैठती हैं। चन्द्र के जन्म तक की खबर लेती हैं। यहाँ चन्द्र जन्म के विषय में तुलसी की एक गोपी की कल्पना कितनी नवीन है—

जद्यपि है दारुन बड़वानल राख्यौ
है जलधि गम्भीर धीरतर।
ताहू तैं परम कठिन जान्यौ ससि
तज्यौ पिता तब भयौ व्योमचर ॥ श्रीकृ० पद ३१

यह लोक प्रसिद्ध उक्ति है कि माता पिता कुपुत्र का भी त्याग नहीं करते हैं। इसी उक्ति के आधार पर यहाँ गोपियाँ चन्द्रमा की कठोरता की व्यंजना करती हैं। चन्द्रमा का जन्म समुद्र से ही हुआ है और समुद्र के अन्दर निरन्तर बड़वाग्नि प्रज्वलित रहती है। चंद्रमा तो उस बड़वाग्नि से भी अधिक तीव्र हो गया है तभी विवश होकर पिता ने इसे तज दिया है। वही दुष्ट चन्द्रमा गोपियों को सता रहा है। जब से कृष्ण ब्रज से गए हैं, ब्रज की दशा ही बदल गई है। वर्षा के सुन्दर अप्रस्तुत विधान द्वारा गोपियों का विरह वर्णन किया गया है—

जब तैं ब्रज तजि गए कन्हाई।
तब तैं विरह रवि उदित एक रस सखि बिछुरनि वृष पाई॥
घटत न तेज चलत नाहिन रथ, रह्यो उर नभ छाई।
इन्द्रिय रूप रासि सोचहि सुठि, सुधि सब की बिसराई॥
भयो सोकमय-कोक कोकनद भ्रम भ्रमरनि सुखदाई।
चित चकोर, मनमोर, कुमुद मुद सकल विकल अधिकाई॥
तनु-तड़ाग बल बारि सूखन लाग्यौ परी कुरूपता काई।
प्रान मीन दिन दिन दूबरे, दसा दुरुह अब आई॥
तुलसीदास मनोरथ मन मृग भरत जहाँ तहँ धाई।
राम स्याम सावन भादों बिनु जिय की जरनि न जाई॥
श्रीकृ०—पद २६

विरह सूर्य से तप्त मन मृग की तृष्णा घनश्याम की फुहार से शान्त न हो सकेगी। उसके लिए तो राम स्याम रूपी सावन भादों

की अविरल झड़ी की ही आवश्यकता बताकर गोपियाँ कृष्ण के पुनः ब्रजवास की इच्छा प्रकट करती हैं। ऐसे ही समय में निर्गुण ब्रह्म तथा योग साधना का उपदेश लेकर उद्धव उपस्थित होते हैं। मानों तृषित चातक की आशा पर तुषारपात हो गया। कृष्ण के स्थान पर उद्धव आये तो वे भी योग का सन्देश लेकर। भोली गोपियाँ भला इस ज्ञान को क्या समझें। वे इस ज्ञान-चर्चा को समझ सकती हैं अथवा नहीं इसे भी वे उद्धव के ऊपर ही छोड़ देती हैं—

> स्याम वियोगी ब्रज के लोगनि, जोग जोग जो जानौ।
> तौ संकोच परिहरि पालागों, परमारथहि बखानौं॥

श्रीकृ० पद ३५

वे सोचती हैं ज्ञानी उद्धव पात्र अपात्र का विचार तो कर ही सकते हैं। किन्तु उद्धव को चुप न होते देखकर ही सम्भवतः वे कहती हैं—

> नहिं तुम ब्रज बसि नंदलाल को बाल विनोद निहारौ।
> नाहिन रास रसिक रस चाख्यौ, तातैं डेल सो मारौ॥

कृ० पद ३४

बेचारे उद्धव का भी क्या दोष है। गोपियों के समान उन्होंने कृष्ण लीला रसामृत का आस्वादन किया होता तो वे इस प्रकार न कहते। अतः उदार हृदया गोपियाँ उद्धव को अपनी बात कह लेने का अवसर देती हैं—

> मधुकर कहहु कहन जो पारो।
> नाहिन बलि, अपराध रावरो, सकुचि साध जनि मारौ॥

श्रीकृ० पद १४

उद्धव के प्रति उनके मन में क्रोध की अपेक्षा सहानुभूति ही अधिक है। अनुभूति के अभाव में ही उद्धव इस प्रकार की चर्चा की साध लेकर आए हैं। वे यह भी समझती हैं कि उद्धव जो कुछ कह रहे हैं वह कृष्ण का संदेश नहीं है। गोपी वल्लभ कृष्ण इस प्रकार का उल्टा संदेश किस प्रकार भेज सकते हैं—

मधुकर कान्ह कहा ते न हो हीं ॥ श्रीकृ० पद ४१

ये बातें निश्चय ही कुब्जा की हो सकती हैं जिसने ज्ञान गठरी देकर रूप लिया और ठग कृष्ण को भी ठग लिया किन्तु गोपियां इतनी अज्ञानी नहीं कि उसे ग्रहण कर लें। वे अपनी परिस्थिति को भली भांति समझती हैं। अतः देख सुनकर ही वे निर्गुण सारी को लौटा रही हैं—

है निर्गुण सारी बारिक, बलि, धरी करौ, हम ओहि।
तुलसी ये नागरिन्ह जोग पट जिन्हहि आज सब सोहि॥

श्रीकृ० पद ४१

इस लौटाने में भी उनकी चतुरता और सरलता स्पष्ट दिखाई पड़ती है। सुन्दर निर्गुण सारी नागरी नारियों के ही उपयुक्त है, वे ग्राम-गोपिकाएँ तो उसे देखकर धर ही सकती हैं उसका व्यवहार उनके लिए कठिन है। इस निर्गुण चर्चा के पश्चात् वे पुनः उद्धव से आग्रह करती हैं—

मधुप तुम्ह कान्ह ही की कहि क्यों न कही है।
यह बतकहि चपल चेरी की निपट चरे रीये रही हैं॥

श्रीकृ० पद ४२

उद्धव के निर्गुण ब्रह्म का विरोध वे उसकी अव्यावहारिकता की अपेक्षा अपनी अयोग्यता तथा असमर्थता को प्रकट करके करती हैं। चारों आश्रमों में विभाजित जीवन में यद्यपि योग का, संयम और नियम का स्थान है किन्तु यह अवसर तथा व्यक्ति के अनुकूल ही होना चाहिये। इसीलिए गोपियां कहती हैं—

मिलहि जोगी जरठ तिन्हहि दिखाउ निरगुन खानि॥ श्रीकृ० पद ५२

गाँव की नवयुवतियाँ जिनके हृदय में अनेक कामनाएँ तरंगित हो रही हैं, वे इस निर्गुण को किस प्रकार ग्रहण कर सकती हैं। यहाँ ब्रज में इस को स्वीकार करने वाला कोई नहीं—

ज्ञान ग्राहक नाहि नै मधुप अनत सिधारि।
जुगति धूम बघारिवे की समुझि है न गंवारि।
जोगि जन मुनि मंडली यों जाइ कि रीति ढारि॥

श्रीकृ० पद ५३

व्यंग्य

भ्रमरगीत में व्यंग्य का प्रमुख स्थान है। कृष्ण की अनुपस्थिति में उद्धव ही व्यंग्य का लक्ष्य बनते हैं। उद्धव जब गोपियों की सरल तथा सीधी बातें सुनकर भी अपना राग अलापना बन्द नहीं करते तब गोपियाँ व्यंग्य का आश्रय लेती हैं। तुलसी की गोपियाँ अपने व्यंग्य में भी बड़ी भोली हैं। वे उद्धव का उपहास करती हैं किंतु उनका व्यंग्य सूर की गोपियों के समान कटूक्तिपूर्ण नहीं है। व्यावहारिक जीवन का यह एक नियम है कि अर्थोपार्जन करने वाला पुत्र अपनी प्रथम कमाई में से माता पिता को कुछ धन देता है। इसी साधारण विचार को लेकर गोपियाँ कृष्ण पर सुन्दर व्यंग्य करती हैं—

जननी जनक जरठ जाने जन परिजन लोगु न छीजै।
दै पठयौ पहिलौ बिढ़तौ ब्रज सादर सिर धरि लीजै॥
श्रीकृ० पद

वृद्ध माता पिता तथा स्वजनों के परितोष के लिए ही मथुरा की प्रथम कमाई, निर्गुण-योग-साधना कृष्ण ने यहाँ भेज दी है।

विवशता

प्रेम अनुभूति कराने में समस्त इन्द्रियों की अपेक्षा नेत्र ही सर्व-प्रथम आते हैं। नेत्रों द्वारा रूप रस पान कर स्वच्छन्द चित्त बुद्धि का साथ छोड़ मनमाना दौड़ने लगता है। संयोगावस्था तक तो सभी प्रसन्न रहते हैं किन्तु प्रिय के वियुक्त होते ही सौन्दर्य मधु में फँसे विवश नयन पछताते रहते हैं। परवश हृदय भी पराधीनता से विवश हो जाता है। कृष्ण विरह में दुखी गोपियों की भी यही दशा है। उद्धव पर व्यंग्य करने वाली मुखर गोपियाँ अपनी इन्द्रिय परवशता में विकल तथा विवश हैं। प्रेम की इस परवशता का मूल कारण सौंदर्य वाहक नेत्र ही हैं। सूरदास ने नेत्र पर अनेक सुन्दर पद रचे हैं। तुलसीदास की गोपियाँ भी नेत्रों को ही दोष देती हैं—

काहे को करति रोष, देहि धौं कौन के दोष।
निज नयननि कौ बयो सब सुनिये॥ श्रीकृ० पद ३७

प्रेम के कठिन परिणाम को समझती हुई भी वे उसमें पीछे नहीं हट सकतीं। प्रेम करके कोई सुखी नहीं रह सका है। सूर की गोपियों के —

प्रीतिकर काहू सुख न लह्यौ।

के स्वर में स्वर मिलाकर तुलसी की गोपियाँ भी इसी तथ्य को प्रकट करती हैं—

ऊधौ प्रीति करि निरमोहियन सों को न भयौ दुख दीन।
सुनत समुझत कहत हम सब भई अति अप्रवीन॥
अहि कुरंग पतंग पंकज चारु चातक मीन।
बैठि इनकी पाँति अब सुख चहत मति हीन॥

श्रीकृ० पद ५५

जीवन की सबसे विषम विडम्बना यह है कि न तो कृष्ण मिल कर दुखी जीवन में सुख वर्षा करते हैं और न उनके वियोग में प्राण ही निकल पाते हैं। जीवन मृत्यु के बीच पड़ी गोपियों की परिस्थिति भी कितनी दयनीय है—

सुनत कुलिस सम बचन तिहारे।
चित दै मधुप सुनहु सोइ कारन जाते जात न प्रान हमारे॥
ज्ञान कृपान समान लगत उर,
बिहरत छिन छिन होत निनारे,
अवधि जरा जोरति हठि पुनि पुनि
याते तनु रहत सहत दुख भारे॥
पावक बिरह समीर स्वास तनु
तूल मिले तुम्ह जारनि हारे।
तिन्हहि निदरि अपने हित कारन
राखत नयन निपुन रखवारे॥ श्री कृ० पद ५६

प्रिय वियोग में मृत्यु की कल्पना भी सुखद होती है। किन्तु गोपियों का इतना भी सौभाग्य नहीं। मृत्यु की कामना करने वाली वे इच्छा होते हुए भी मर नहीं पातीं और जीवन तो मृत्यु तुल्य है ही। न वे जीकर सुख उठा सकती हैं न मर कर ही दुख से छुटकारा पा सकतीं। इस समस्त दुख का कारण नयनों की अतृप्त लालसा ही है जिसकी आशा में वे प्राणों को बरबस रोके हैं—

मोकों अब नयन भये रिपु माई।
हरि वियोग तनु तजेहि। परम सुख ए राखहि सोइ है बारिआई॥

बस मन कियो बहुत हित मेरो
बारहि वार काम दबलाई।
बरषि नीर ये तबहि बुझावहि
स्वारथ निपुन अधिक चतुराई ॥ श्री कृ० पद ५८

दार्शनिक सिद्धान्त

श्रीकृष्ण गीतावली में दार्शनिक सिद्धान्तों का स्पष्ट तथा विस्तृत विवेचन नहीं मिलता है। उद्धव के मौन रहने के कारण यहाँ निर्गुण ब्रह्म तथा उसकी प्राप्ति के साधन ज्ञान और योग के विषय में कुछ विशेष नहीं कहा गया है। गोपियाँ ही जिस रूप में उसका विरोध करती हैं उससे निर्गुण ब्रह्म की एक धुंधली रेखा खींची जा सकती है। उद्धव के मौन के कारण निर्गुण ब्रह्म स्वरूप वर्णन उसकी अगाधता, गम्भीरता आदि का वर्णन नहीं किया गया है। गोपियाँ निर्गुण, ज्ञान तथा योग शब्दों को ही पकड़ सकी हैं। वे बार बार उद्धव से ज्ञान का उपदेश न देने का ही आग्रह करती हैं। एक दो स्थानों पर सगुण निर्गुण का तुलनात्मक विवेचन अवश्य मिल जाता है। सगुण मार्ग की सरलता और सुलभता का उल्लेख करती हुई गोपियाँ कहती हैं—

सरल सुलभ हरि भगति-सुधाकर निगम पुराननि गाई।
तजि सोइ सुधा मनोरथ करि करि को मरिहै री माई॥
श्री कृ० पद ५१

एक अन्य स्थान पर निर्गुण सगुण की चर्चा करती हुई गोपियाँ सुन्दर उपमान द्वारा सगुण की महत्ता स्थापित करती हैं—

सगुन छीर निधि तीर बसत ब्रज तिहुँ पुर विदित बड़ाई।
आक दुहन तुम्ह कह्यो सो परि हरि हम यह मति नहिं पाई ॥५१

तुलसीदास की गोपियाँ दार्शनिक विवेचन से सर्वथा दूर ही रही हैं। किन्तु उनका उक्त कथन यह स्पष्ट कर देता है कि ज्ञान योग को न समझने वाली गोपियाँ सगुण महत्व से पूर्ण परिचित हैं—

प्रेम-भक्ति को मानने वाली गोपियाँ प्रेम के प्रतीक मृग, पतंग, मीन, चातक आदि उपमानों द्वारा ही अपनी बिरह व्यथा व्यक्त करती हुई प्रेम की दृढ़ता का भी संकेत करती हैं।

वे यह समझती हैं कि निर्गुण ज्ञान छूंछा पछोरन है। इसको ग्रहण कर आनन्द प्राप्ति की आशा तो जल को मथकर घी निकालने के समान ही व्यर्थ है। अतः वे तो कृष्ण के स्वरूप पर ही मुग्ध रहेंगी। प्रेम के इस मार्ग से उन्हें कोई हटा नहीं सकता। वे अडिग आत्म-विश्वास के साथ कहती हैं—

गये कर तें, घर तें, आंगन तें. ब्रज हूँ तें ब्रजनाथ।
तुलसी प्रभु गयौ चहत मनहुं तें सो तो है हमारे हाथ॥

यह प्रेम की वह उच्च अवस्था है जब भक्त हृदय में ही भगवान का दर्शन कर तन्मय रहता है। इस प्रकार गोपियाँ विरहासक्ति तथा तन्मयासक्ति द्वारा रस रूप, परब्रह्म श्रीकृष्ण की उपासना का मार्ग ही अपनाती हैं जो सगुण-भक्तों को प्रिय और सरल तथा सुलभ है।

कला पक्ष

पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य के दो स्वरूपों का उल्लेख किया है—प्रकृत तथा प्रगति। प्रकृत अनुकृत स्वरूप है। इसमें जीवन के मार्मिक पक्षों का उद्घाटन ही पाठक को भावमग्न कर देता है। यह जीवन की वास्तवकिता से पूर्ण समस्त प्राणियों की अनुभूति वस्तु बन जाता है। प्रगति काव्य का द्वितीय स्वरूप है अर्थात् अतिरंजित रूप है जिसमें भाव-व्यंजना के निमित्त कवि अनेक मधुर कल्पनाओं की सृष्टि तथा व्यापारों की योजना प्रस्तुत करता है। साहित्य में दोनों ही स्वरूपों का प्रयोग मिलता है। भाव व्यंजना की उपयुक्तता की दृष्टि से प्रथम स्वरूप प्रबन्ध काव्य के अधिक उपयुक्त है जबकि प्रगति को मुक्तक काव्य में ही विशेष रूप से अपनाया गया है। तुलसीदास ने विनय पत्रिका, कवितावली तथा गीतावली आदि मुक्तक काव्य लिखे हैं किन्तु उनका झुकाव काव्य के प्रथम स्वरूप की ओर ही अधिक रहा है। श्रीकृष्ण गीतावली में भी भाव व्यंजना स्वाभाविक व्यापार योजना द्वारा ही की गई है। अतिरंजित वर्णन अत्यधिक अल्प हैं यद्यपि उनका पूर्ण अभाव नहीं माना जा सकता है।

तुलसीदास भक्ति-युग के सिद्धस्त कवि थे। उन्हें तत्कालीन साहित्यिक समाज में प्रचलित समस्त शैलियों तथा काव्य जगत् की

दोनों भाषाओं—ब्रज तथा अवधी—पर पूर्ण अधिकार प्राप्त था। प्रेमाख्यानक काव्यों के सदृश दोहे चौपाई की शैली में उन्होंने राम-चरित-मानस की रचना की जोकि अवधी में रची गई है। इस श्रेष्ठ प्रबन्ध काव्य के अतिरिक्त जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है उन्होंने कई मुक्तक काव्य भी लिखे हैं। इन समस्त रचनाओं की भाषा ब्रज है। तुलसीदास ने ब्रज के दो स्वरूपों को अपनाया है, एक स्वरूप तो विनय पत्रिका के पूर्वार्द्ध में दिखाई पड़ता है जिसमें संस्कृत तत्सम शब्दों की बहुलता है। दूसरा सरल स्वाभाविक रूप श्रीकृष्ण गीतावली में दिखाई पड़ता है।

मुक्तक रचना होने के कारण श्रीकृष्ण गीतावली के पद विभिन्न रागनियों में मिलते हैं। भ्रमरगीत सम्बन्धी पद धनाश्री, मलार, सोरठ, बिलावल, कान्हरा, केदारा, तथा गौरी रागों में उपलब्ध हैं। यद्यपि ये समस्त पद गेय हैं तथापि सूरदास के पदों की लोकप्रियता के सम्मुख ठहर नहीं पाते। लोकप्रियता के विचार से तुलसीदास की विनय पत्रिका के पश्चात् मुक्तक काव्यों में कवितावली का ही स्थान है। किन्तु श्रीकृष्ण गीतावली का अपना ही महत्व है। कृष्ण चरित्र पर तुलसी द्वारा रचित यही एक ग्रन्थ है जो उन्हें भ्रमरगीत परम्परा के अन्तर्गत स्थान दिलाने के लिए पर्याप्त है। तुलसी की इस रचना द्वारा यह स्वतः ही सिद्ध हो जाता है कि उस समय तक भ्रमरगीत प्रसंग कितना लोकप्रिय हो गया होगा। कृष्ण के मोहक आकर्षण से जिस प्रकार कोई भी ब्रजबाला अछूती न बच सकी उसी भाँति भ्रमरगीत के इस आकर्षण से तुलसीदास भी अपने को न बचा सके।

नंददास

भ्रमरगीत परम्परा के अन्तर्गत सूरदास के पश्चात् नंददास का ही मुख्य स्थान है। भंवरगीत इनकी श्रेष्ठ रचनाओं में से है। इसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में पिछले अध्याय में विचार किया जा चुका है। भाषा की प्रौढ़ता तथा काव्यमय भाव-व्यंजना को देखकर यह कहा जा सकता है कि भंवरगीत नंददास के उत्तर काल की रचना है। डा० दीनदयाल गुप्त इसे नंददास की अन्तिम रचना 'सिद्धान्त पंचध्यायी' के पूर्व मानते हैं।

कथानक

भंवरगीत की कथा का प्रारम्भ उद्धव उपदेश से हुआ है। उद्धव ब्रज-नारियों के रूप, गुण, शील की प्रशंसा करते हुये अपने ब्रज आने का कारण बताते हुए कहते हैं--हे ब्रज नारियो ! मैं श्याम का संदेश लेकर आया हूँ किन्तु उचित अवसर न मिल सकने के कारण अभी तक मैं उसे कह न सका। मैं शीघ्र ही उनका संदेश कह कर मधुपुरी लौट जाना चाहता हूँ। प्रियतम श्याम के संदेशवाहक उद्धव का गोपियों ने उचित सत्कार कर कृष्ण और बलराम का समाचार पूछा। उद्धव ने उत्तर दिया—राम और श्याम कुशलपूर्वक हैं। मैं तुम्हारी कुशलता पूछने ही आया हूँ। तुम अधीर मत हो, कृष्ण थोड़े ही दिनों में मिलेंगे। मनमोहन कृष्ण के इस संदेश को सुनकर उन्हें कृष्ण का मधुर स्वरूप स्मरण हो आया। प्रेमावेग और अधीरता के कारण वे मूर्च्छित होकर गिर पड़ीं। गोपियों की ऐसी दशा देख उद्धव जल के छींटे देकर उन्हें प्रबोधने लगे। उद्धव के प्रबोधन के साथ ही उद्धव-गोपी वार्तालाप प्रारम्भ हो जाता है। उद्धव गोपियों को निराकार ब्रह्म ज्ञान का उपदेश देते हुये कहते हैं—हे गोपियो ! कृष्ण तुमसे दूर नहीं हैं। तुम ज्ञान की आँखों से देखो, वे सर्वव्यापी भगवान् समस्त चर अचर सृष्टि में व्याप्त हैं। अखिल ब्रह्माण्ड के उत्पन्न करने वाले भगवान् के न कोई पिता हैं न माता, वे तो निर्विकार तथा निर्लेप तीनों गुणों से परे ज्योति स्वरूप हैं। वेद 'नेति नेति' कहकर उनका वर्णन करते हैं। तुम जिस सगुण सोपाधि रूप में उनका ध्यान करती हो वह ब्रह्म का वास्तविक रूप नहीं है। संसार में जो कुछ मायावश दृष्टिगत है, ब्रह्म इन समस्त पदार्थों से परे है। अतः उसके सत्य स्वरूप—निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति ही जीव का परम कर्त्तव्य है। किन्तु यह प्राप्ति केवल ज्ञान योग और कर्म द्वारा ही सम्भव है। संयम नियम द्वारा ज्ञान तथा योग मार्ग का अनुसरण कर जीव सायुज्य मुक्ति का अधिकारी बन जाता है। अतः यदि तुम पर ब्रह्म कृष्ण का संयोग चाहती हो तो ज्ञान प्राप्त कर योग तथा कर्म द्वारा निर्गुण ब्रह्म की ज्योति में अपनी आत्मा को लीन करो।

उद्धव के इस उपदेश को सुनकर गोपियों ने इस प्रकार कहा—हे उद्धव ! तुम किस ब्रह्म ज्योति की चर्चा कर रहे हो ? किसे

यह ज्ञान उपदेश दे रहे हो ? हम तो उन्हीं मनमोहन कृष्ण से, जिन्होंने प्रेम की ठगौरी लगाकर हमारी समस्त चेतना हर ली, प्रेम करती हैं। हमारा यह प्रेम का मार्ग अत्यन्त सरस तथा सरल है। लीलाधारी कृष्ण हमारे तन, मन और नयनों में समाये हैं। उनकी लीलाओं का रसपान करने वाली गोपियाँ अब उन्हें निर्गुण निराकार किस प्रकार मान लें ? उनके गुणों के सम्मुख तुम्हारा निर्गुण कैसे ठहर सकता है ? कहीं अमृत और धूल की भी समता है। तुम्हारा यह योग-उपदेश किसी योगी के ही उपयुक्त है। हम तो किसी प्रकार के धर्म, कर्म को नहीं जानतीं। यह तो धर्माधिकारियों के जानने की ही बात है। हम तो केवल उतना ही समझती हैं कि जब तक हृदय में हरि का निवास नहीं तभी तक कर्म बन्धनों का प्रभाव है। फिर सभी प्रकार के कर्म चाहे वे शुभ हों या अशुभ बन्धन ही हैं। पाप कर्म यदि लौह शृंखला है तो पुण्य कर्म स्वर्ण शृंखला। प्रेम के बिना सभी व्यर्थ है। हम कृष्ण से प्रेम कर अपने घर में ही ब्रह्म की आराधना करती हैं। योगी यती जिस भांति निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करते हैं वह तो ऐसा ही है कि घर आए नाग की पूजा न कर बाँबी पूजने जाया जाय। कृष्ण ही परब्रह्म है, यह सृष्टि उन्हीं का प्रतिबिम्ब है जो माया रूपी दर्पण पर दिखाई पड़ता है। परब्रह्म के निर्मल स्वरूप का दर्शन प्रेम की दिव्य दृष्टि से ही सम्भव है। जिस प्रकार ज्योति स्वरूप सूर्य अपने ही प्रकाश में छिपा हुआ दिखाई नहीं पड़ता है उसी भांति कर्म-कूप में पड़े व्यक्ति ब्रह्म के प्रकट सगुण स्वरूप का दर्शन करने में असमर्थ हैं। हम तो कृष्ण के अन्दर ही करोड़ों ब्रह्म का दर्शन करती हैं।

इस भांति उद्धव से वार्तालाप करते समय नंदलाल कृष्ण की पीताम्बर धारी मधुर मूर्ति उनके नेत्रों के सम्मुख आ गई। वे उद्धव की ओर से मुख मोड़कर बैठि गईं और अपने भाव जगत् में मानसिक मिलन द्वारा कृष्ण से वार्तालाप करने लगीं। उनको वाक्पटुता और तर्क अब समाप्त हो गया था। प्रियतम कृष्ण को देखकर वे दीन होकर उनसे कहने लगीं, हे रमानाथ ! यदुनाथ गुसाईं ! तुम्हारे बिना ये समस्त गउएँ इधर उधर फिर रही हैं। तुम कृपाल होकर गो ग्वालों की सुधि क्यों नहीं लेते। हम विरह सागर में डूब

रही हैं। हमें बाँह पकड़ कर सहारा क्यों नहीं देते। निष्ठुर बनकर कहाँ छिपे हो ?

एक अन्य गोपी जल बिना मीन के सदृश अपनी स्थिति को बताती है, तो दूसरी कहती है, 'मथुरा का ऐश्वर्य पाकर श्याम इतरा गए हैं ?' कोई कृष्ण को पूर्वकृपा का स्मरण करा कर इस विरह अनल से बचाने की प्रार्थना करती तो कोई उनके निष्ठुर रूप का वर्णन करती हुई कहती, "ये तो जन्म जन्म से ही निष्ठुर हैं। पूतना का वध इन्हीं ने किया था। रामावतार के समय ताड़का को इन्हीं ने मारा था। छल कपट द्वारा राजा बलि का राज्य हरण करने ये ही गये थे। प्रह्लाद के सहायक बन निर्दोष हिरण्यकश्यपु का बध भी इन्हीं ने किया। इनकी निष्ठुरता का वर्णन कहाँ तक किया जाय। परशुराम रूप में माता रोहिणी की हत्या इन्हीं ने की और क्षत्रियों के रक्त से कुण्ड भर दिये। इनकी निष्ठुरता का क्या बुरा मानना, ये तो जन्म जन्मान्तरों से ऐसे ही चले आ रहे हैं। भला बेचारे शिशुपाल ने इनका क्या बिगाड़ा था किन्तु एक ये थे कि उसकी दुलहन को ही हर ले आए।" इस प्रकार कृष्ण प्रेम में रंगी गोपियां अनेक प्रकार से कृष्ण चरित्र का वर्णन करने लगीं। उनके इस प्रेम प्रवाह में उद्धव का ज्ञान 'नेम' बह गया। उस प्रेम-सागर में मज्जन करने से उद्धव की भाव-धारा बदल गई। वे सोचने लगे, 'ये गोपियाँ बन्दना योग्य हैं; मैं तो इनकी चरण रज के स्पर्श मात्र से ही धन्य हो जाऊँगा। कभी कृष्ण की प्रेमा भक्ति की कामना से वे उन्हें कृष्ण का गुणगान कर प्रसन्न करने की आकांक्षा करते जिससे द्विविधा ज्ञान नष्ट हो सके।

उद्धव के इस विचार के साथ ही वहाँ पर एक भ्रमर उड़ता हुआ आया। गुंजार करता हुआ वह भ्रमर गोपियों के चरण कमलों पर बैठने लगा। मानों उद्धव का मन ही मधुकर बनकर पहले ही प्रकट हो गया।

भ्रमर को देखकर गोपियों को भ्रमर सदृश रसिक श्याम वर्ण कृष्ण की स्मृति हो आई और उनका प्रणय आवेग उपालम्भ तथा व्यंग्य में प्रवाहित हो चला। भ्रमर के वर्ण तथा स्वभाव साम्य के

यह ज्ञान उपदेश दे रहे हो ? हम तो उन्हीं मनमोहन कृष्ण से, जिन्होंने प्रेम की ठगौरी लगाकर हमारी समस्त चेतना हर ली, प्रेम करती हैं। हमारा यह प्रेम का मार्ग अत्यन्त सरस तथा सरल है। लीलाधारी कृष्ण हमारे तन, मन और नयनों में समाये हैं। उनकी लीलाओं का रसपान करने वाली गोपियाँ अब उन्हें निर्गुण निराकार किस प्रकार मान लें ? उनके गुणों के सम्मुख तुम्हारा निर्गुण कैसे ठहर सकता है ? कहीं अमृत और धूल की भी समता है। तुम्हारा यह योग-उपदेश किसी योगी के ही उपयुक्त है। हम तो किसी प्रकार के धर्म, कर्म को नहीं जानतीं। यह तो धर्माधिकारियों के जानने की ही बात है। हम तो केवल उतना ही समझती हैं कि जब तक हृदय में हरि का निवास नहीं तभी तक कर्म बन्धनों का प्रभाव है। फिर सभी प्रकार के कर्म चाहे वे शुभ हों या अशुभ बन्धन ही हैं। पाप कर्म यदि लौह शृंखला है तो पुण्य कर्म स्वर्ण शृंखला। प्रेम के बिना सभी व्यर्थ है। हम कृष्ण से प्रेम कर अपने घर में ही ब्रह्म की आराधना करती हैं। योगी यती जिस भांति निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करते हैं वह तो ऐसा ही है कि घर आए नाग की पूजा न कर बाँबी पूजने जाया जाय। कृष्ण ही परब्रह्म है, यह सृष्टि उन्हीं का प्रतिबिम्ब है जो माया रूपी दर्पण पर दिखाई पड़ता है। परब्रह्म के निर्मल स्वरूप का दर्शन प्रेम की दिव्य दृष्टि से ही सम्भव है। जिस प्रकार ज्योति स्वरूप सूर्य अपने ही प्रकाश में छिपा हुआ दिखाई नहीं पड़ता है उसी भांति कर्म-कूप में पड़े व्यक्ति ब्रह्म के प्रकट सगुण स्वरूप का दर्शन करने में असमर्थ हैं। हम तो कृष्ण के अन्दर ही करोड़ों ब्रह्म का दर्शन करती हैं।

इस भांति उद्धव से वार्तालाप करते समय नंदलाल कृष्ण की पीताम्बर धारी मधुर मूर्ति उनके नेत्रों के सम्मुख आ गई। वे उद्धव की ओर से मुख मोड़कर बैठि गईं और अपने भाव जगत में मानसिक मिलन द्वारा कृष्ण से वार्तालाप करने लगीं। उनकी वाक्पटुता और तर्क अब समाप्त हो गया था। प्रियतम कृष्ण को देखकर वे दीन होकर उनसे कहने लगीं, हे रमानाथ ! यदुनाथ गुसाईं ! तुम्हारे बिना ये समस्त गउएँ इधर उधर फिर रही हैं। तुम कृपाल होकर गो ग्वालों की सुधि क्यों नहीं लेते। हम विरह सागर में डूब

रही हैं। हमें बाँह पकड़ कर सहारा क्यों नहीं देते। निष्ठुर बनकर कहाँ छिपे हो ?

एक अन्य गोपी जल बिना मीन के सदृश अपनी स्थिति को बताती है, तो दूसरी कहती है, 'मथुरा का ऐश्वर्य पाकर श्याम इतरा गए हैं ?' कोई कृष्ण को पूर्वकृपा का स्मरण करा कर इस विरह अनल से बचाने की प्रार्थना करती तो कोई उनके निष्ठुर रूप का वर्णन करती हुई कहती, "ये तो जन्म जन्म से ही निष्ठुर हैं। पूतना का वध इन्हीं ने किया था। रामावतार के समय ताड़का को इन्हीं ने मारा था। छल कपट द्वारा राजा बलि का राज्य हरण करने ये ही गये थे। प्रह्लाद के सहायक बन निर्दोष हिरण्यकश्यपु का बध भी इन्हीं ने किया। इनकी निष्ठुरता का वर्णन कहाँ तक किया जाय। परशुराम रूप में माता रोहिणी की हत्या इन्हीं ने की और क्षत्रियों के रक्त से कुण्ड भर दिये। इनकी निष्ठुरता का क्या बुरा मानना, ये तो जन्म जन्मान्तरों से ऐसे ही चले आ रहे हैं। भला बेचारे शिशुपाल ने इनका क्या बिगाड़ा था किन्तु एक ये थे कि उसकी दुलहन को ही हर ले आए।" इस प्रकार कृष्ण प्रेम में रंगी गोपियां अनेक प्रकार से कृष्ण चरित्र का वर्णन करने लगीं। उनके इस प्रेम प्रवाह में उद्धव का ज्ञान 'नेम' बह गया। उस प्रेम-सागर में मज्जन करने से उद्धव की भाव-धारा बदल गई। वे सोचने लगे, 'ये गोपियाँ बन्दना योग्य हैं; मैं तो इनकी चरण रज के स्पर्श मात्र से ही धन्य हो जाऊँगा। कभी कृष्ण की प्रेमा भक्ति की कामना से वे उन्हें कृष्ण का गुणगान कर प्रसन्न करने की आकांक्षा करते जिससे द्विविधा ज्ञान नष्ट हो सके।

उद्धव के इस विचार के साथ ही वहाँ पर एक भ्रमर उड़ता हुआ आया। गुंजार करता हुआ वह भ्रमर गोपियों के चरण कमलों पर बैठने लगा। मानों उद्धव का मन ही मधुकर बनकर पहले ही प्रकट हो गया।

भ्रमर को देखकर गोपियों को भ्रमर सदृश रसिक श्याम वर्ण कृष्ण की स्मृति हो आई और उनका प्रणय आवेग उपालम्भ तथा व्यंग्य में प्रवाहित हो चला। भ्रमर के वर्ण तथा स्वभाव साम्य के

आधार पर वे कभी कृष्ण के कुब्जा प्रणय पर व्यंग्य करतीं तो कभी उद्धव के निर्गुण ब्रह्म की हंसी उड़ाती। किन्तु यह परिहास उनकी पीड़ा को और भी अधिक उद्दीप्त कर देता है और वे एक साथ ही दीन हीन हो, 'हा करुणामय नाथ, केशव, कृष्ण, मुरारि' कह कर विलाप करने लगीं। उनके नयन जल धार से मुख, कंचुकी और हार भीग गए। इस प्रेम पारावार में उद्धव स्वतः ही बह चले। वे कृष्ण प्रेम में इस प्रकार अनुरक्त गोपियों के दर्शन से कृतकृत्य हो अपने सौभाग्य की सराहना करने लगे। गोपियों की प्रेम गंगा में स्नान कर उद्धव, ब्रज के तृन, लता अथवा गुल्म बनने की अभिलाषा करते हुए मथुरा लौट आए। अब वे कृष्ण के गुण भूल गोपियों का ही गुण गाने लगे। गोपियों के प्रेम से प्रभावित वे कृष्ण-दर्शन होने पर अद्वैत ब्रह्मज्ञान के स्थान पर गोपियों के सदृश ही उनकी निष्ठुरता के कारण उन्हें उपालम्भ देकर शीघ्र ही वृन्दावन जाने का आग्रह करते हैं। भावमग्न उद्धव के इस आवेश तथा विह्वलता को देखकर कृष्ण उन्हें समझाते हैं कि वे गोपियों से पृथक् नहीं वरन् जल तरंग-वत् एक हैं। इस प्रकार वे उद्धव के माया भ्रम को दूर करते हैं।

ग्रन्थ का मूल आधार—भागवत

सूरदास के सदृश नंददास ने भी भागवत को आधार मानकर भँवरगीत की रचना की है किन्तु भागवत पर आधारित होते हुए भी यह उसका अनुवाद मात्र नहीं कही जा सकती। कवि ने अपनी रुचि अनुकूल कथा प्रसंग तथा क्रम में कुछ परिवर्तन किया है। फलस्वरूप कुछ प्रसंग पूर्णतः छोड़ दिये गये हैं और कुछ नवीन प्रसंगों की कल्पना भी की गई है। नंददास ने भागवत के 'अध्याय ४६' में से छियालिसवें अध्याय की कथा को स्पर्श ही नहीं किया। इस प्रकार 'भँवरगीत' में उद्धव-कृष्ण संवाद, उद्धव नंद यशोदा मिलन तथा उद्धव का नंद यशोदा को कृष्ण संदेश तथा उपदेश आदि प्रसंग नहीं मिलते हैं। भागवत में कृष्ण नन्द, यशोदा और गोपियों के विरह जनित संताप को दूर करने के लिये उद्धव को भेजते हैं किन्तु 'भँवर-गीत' में उद्धव के ब्रज आने का प्रयोजन स्वयं उद्धव द्वारा ही बताया जाता है। उद्धव के ब्रज आने का एकमात्र कारण ज्ञान, कर्म तथा योग द्वारा गोपियों को निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देना है। उद्धव का मुख्य प्रयोजन गोपियों से मिलना ही है। अतः 'भँवरगीत' का प्रारंभ

उद्धव गोपी संवाद रूप में ही प्रारम्भ होता है। भागवत में उद्धव सर्वप्रथम नंद के गृह जाते हैं। दूसरे दिन नंद द्वार पर स्वर्ण-रथ देख कर गोपियाँ अक्रूर आगमन की कल्पना करती हुई तर्क वितर्क करती हैं। उसी समय गंगा स्नानादि से निवृत होकर आते हुए उद्धव के उन्हें दर्शन होते हैं। गोपियाँ स्वयं ही उन्हें कृष्ण का पार्षद जान आदर सत्कार कर उनके ब्रज आने का कारण पूछती हैं किन्तु उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही वे कृष्ण की भ्रमर-वृत्ति की आलोचना करती हुई उनकी स्मृति में तन्मय हो जाती हैं। उसी क्षण एक उड़ते हुए भ्रमर को देखकर वे भ्रमर व्याज से कृष्ण तथा उद्धव को उपालम्भ देती हुई व्यंग्य बाणों की वर्षा करती हैं।

नंददास ने 'भँवरगीत' का कथा-क्रम कुछ बदल दिया है। आरम्भ में ही उद्धव के द्वारा श्याम का नाम सुनते ही गोपियाँ आनन्द मग्न हो उनका उचित आदर सत्कार कर कृष्ण का कुशल समाचार पूछती हैं। उद्धव भी कृष्ण बलराम का कुशलक्षेम बताकर अपने आगमन का कारण बताते हुए संदेश सुनाते हैं।

प्रियतम का नाम सुनते ही गोपियों को मनमोहन कृष्ण का रूप स्मरण हो आया और वे व्याकुल होकर मूर्च्छित हो गईं। उस समय उद्धव जल के छींटे देकर उन्हें प्रबोधने लगे। भागवत की गोपियाँ भी इसी प्रकार कृष्ण लीलाओं को स्मरण कर आत्म-विस्मृत हो फूट-फूटकर रोने लगीं। इस विलाप के पश्चात् ही भ्रमर-आगमन से गोपियाँ अपने विरहजनित उद्गारों को उपालम्भ और व्यंग्य द्वारा प्रकट करती हैं। 'भँवरगीत' में आरम्भ से ही निर्गुण सगुण ब्रह्म को लेकर उद्धव-गोपी वाद-विवाद प्रारम्भ हो जाता है। डा० दीनदयाल गुप्त ने भँवरगीत की कथावस्तु को पूर्वार्द्ध—दार्शनिक पक्ष तथा उत्तरार्द्ध—भाव पक्ष में विभाजित कर दिया है। यद्यपि पूर्वार्द्ध में दार्शनिक विवेचन अधिक है किन्तु इस प्रकार के विभाजन की विशेष आवश्य- नहीं। समस्त भ्रमर गीतकार निर्गुण सगुण को लेकर ही चले। नंददास में यह वर्णन अत्यधिक स्पष्ट तथा क्रमबद्ध रूप में मिलता है। उद्धव के निर्गुण [illegible] तथा ज्ञान-योग को गोपियाँ तर्क द्वारा अव्यावहारिक तथा अग्राह्य बताती हुई अस्वीकार करती हैं। भागवत में ज्ञान-भक्ति के मध्य इस प्रकार का कोई झगड़ा नहीं है। उद्धव स्वयं यह जानते हैं कि "भगवान् कृष्ण के प्रति प्रेम भक्ति प्राप्त होना

अत्यन्त कठिन है। यह मुनियों तक को दुर्लभ है। दान, व्रत, तप, होम, जप, वेदाध्ययन, ध्यान, धारणा समाधि आदि के द्वारा जो भक्ति प्राप्त की जाती है वही प्रेमा-भक्ति गोपियों को प्राप्त है।"

भागवत में भगवान् कृष्ण का सन्देश—उनका सर्वव्यापी, निराकार, निर्लेप स्वरूप केवल वर्णन रूप में ही व्यक्त किया गया है। उसे स्वीकृत कराने का आग्रह उद्धव में नहीं है। कृष्ण-गोपी विरह के मूल में जो रहस्य है उसका उल्लेख भी कृष्ण संदेश में किया गया है—कृष्ण गोपियों से दूर इसीलिए हैं जिससे प्रिय-वियोग उनके प्रेम को तीव्रतम परिस्थिति में पहुँचा दे और वे संसार में सब कुछ भूलकर नित्य निरन्तर उन्हीं का ध्यान करती हुई उन्हें सदा के लिए पा सकें। 'भँवरगीत' में गोपियों द्वारा निर्गुण ब्रह्म, ज्ञान तथा योग का खण्डन तत्कालीन परिस्थिति जन्य अनुरोध का ही परिणाम है। यही कारण है कि समस्त भ्रमरगीत के कवियों ने इस प्रसंग को विशेष रुचि से अपनाया है।

'भँवरगीत' में निर्गुण ब्रह्म की नीरस चर्चा सुनते ही गोपियाँ संदेश-प्रेषक रसिक शिरोमणि कृष्ण का भाव जगत् में दर्शन कर वार्तालाप करती हैं जिसमें उनकी दीनता, हीनता और विवशता ही व्यंजित है। भागवत में भ्रमरगीत प्रसंग के अन्तर्गत कृष्ण के अन्य अवतारों तथा कृष्ण निष्ठुरता का जो उल्लेख है नंददास के 'भँवरगीत' में वही प्रसंग भ्रमर आगमन के पूर्व वर्णित है। गोपियों के प्रेममय उद्गारों को सुनकर ज्योंही उद्धव का भाव परिवर्तित होता है उसी क्षण भ्रमर प्रवेश का उल्लेख किया गया है। यहां भ्रमर वेश में उद्धव के 'मन मधुकर' की कल्पना नंददास की मौलिक कल्पना है।

नंददास ने भागवत के सदृश ही भ्रमर को उपालम्भ का आधार बनाया है। भागवत में कुब्जा का उल्लेख नहीं है, परन्तु नंददास ने सूरदास के समान ही कुब्जा का भी वर्णन किया है। भागवत के उद्धव गोपियों के प्रेम की प्रशंसा कर उनके विरह संताप को दूर करने के लिए कुछ महीने व्रज में ही निवास करते हैं। उन्हें कृष्ण संदेश सुनाकर न तो कभी पश्चाताप हुआ और न हीनता का ही अनुभव हुआ। वास्तविक बात तो यह है कि भागवत के उद्धव अभिमान से दूर रहने वाले ज्ञानी भक्त हैं किन्तु 'भँवरगीत' के

उद्धव निर्गुण ब्रह्म की योग मुक्ति से ही प्राप्ति में विश्वास करने वाले अभिमानी योगी हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नंददास ने भागवत के कथा-क्रम में पर्याप्त अन्तर कर भँवरगीत को अधिक मार्मिक तथा प्रभावपूर्ण बना दिया है।

सूरदास के भ्रमरगीतों तथा नन्ददास के भंवरगीत के कथानकों की तुलना

यह पहले ही कहा जा चुका है कि सूरदास ने तीन भ्रमरगीत लिखे हैं। बृहत् भ्रमरगीत की कथा अत्यधिक विस्तृत है। उसमें भागवत् के सूक्ष्मतम प्रसंग को भी विस्तार से कहा गया है। साथ ही एक ही प्रसंग सूक्ष्म परिवर्तन द्वारा अनेक रूपों में वर्णित है। मुक्तक रचना होने के कारण इस प्रकार की विभिन्नता तथा विस्तार असंगत नहीं जान पड़ते। प्रबन्ध काव्य में इस प्रकार का वर्णन असम्भव है अन्य दोनों संक्षिप्त भ्रमरगीतों में प्रबन्धात्मकता तथा कथा-संकोच दोनों ही उपलब्ध हैं। नंददास कृत 'भँमरगीत' का प्रारम्भ सूरदास के दोहा-रोला के मिश्रित छन्द वाले भ्रमरगीत के समान ही होता है। दोनों ही स्थानों पर कथा का प्रारम्भ उद्धव-संदेश से होता है—

(क) ऊधौ कौ उपदेश सुनौ किन कान दे।

— सूरदास

(ख) ऊधौ कों उपदेस सुनौ व्रजनागरी॥

—नंददास

सूरदास के उद्धव 'हरि निर्गुन संदेस पठायौ आन दे' कह कर मौन हो जाते हैं। वे नंददास के उद्धव से अधिक सहृदय और सहानुभूति पूर्ण हैं। गोपियों का प्रेम उन्हें कृष्ण संदेश की निष्ठुरता तथा व्यर्थता का अनुमान कराता है। अतः वे कुछ न कहकर पत्र ही दे देते हैं। पत्र पढ़ने के पश्चात् गोपियों की विह्वलता स्थिति उद्धव के शेष ज्ञान-गर्व को नष्ट कर देती है -

देखि प्रेम गोपनि को ज्ञान गरव गयौ दूरि।

अत्यन्त कठिन है। यह मुनियों तक को दुर्लभ है। दान, व्रत, तप, होम, जप, वेदाध्ययन, ध्यान, धारणा समाधि आदि के द्वारा जो भक्ति प्राप्त की जाती है वही प्रेमा-भक्ति गोपियों को प्राप्त है।"

भागवत में भगवान् कृष्ण का सन्देश—उनका सर्वव्यापी, निराकार, निर्लेप स्वरूप केवल वर्णन रूप में ही व्यक्त किया गया है। उसे स्वीकृत कराने का आग्रह उद्धव में नहीं है। कृष्ण-गोपी विरह के मूल में जो रहस्य है उसका उल्लेख भी कृष्ण संदेश में किया गया है—कृष्ण गोपियों से दूर इसीलिए हैं जिससे प्रिय-वियोग उनके प्रेम को तीव्रतम परिस्थिति में पहुँचा दे और वे संसार में सब कुछ भूलकर नित्य निरन्तर उन्हीं का ध्यान करती हुई उन्हें सदा के लिए पा सकें। 'भँवरगीत' में गोपियों द्वारा निर्गुण ब्रह्म, ज्ञान तथा योग का खण्डन तत्कालीन परिस्थिति जन्य अनुरोध का ही परिणाम है। यही कारण है कि समस्त भ्रमरगीत के कवियों ने इस प्रसंग को विशेष रुचि से अपनाया है।

'भँवरगीत' में निर्गुण ब्रह्म की नीरस चर्चा सुनते ही गोपियाँ संदेश-प्रेषक रसिक शिरोमणि कृष्ण का भाव जगत् में दर्शन कर वार्तालाप करती हैं जिसमें उनकी दीनता, हीनता और विवशता ही व्यंजित है। भागवत में भ्रमरगीत प्रसंग के अन्तर्गत कृष्ण के अन्य अवतारों तथा कृष्ण निष्ठुरता का जो उल्लेख है नंददास के 'भँवरगीत' में वही प्रसंग भ्रमर आगमन के पूर्व वर्णित है। गोपियों के प्रेममय उद्गारों को सुनकर ज्योंही उद्धव का भाव परिवर्तित होता है उसी क्षण भ्रमर प्रवेश का उल्लेख किया गया है। यहां भ्रमर वेश में उद्धव के 'मन मधुकर' की कल्पना नंददास की मौलिक कल्पना है।

नंददास ने भागवत के सदृश ही भ्रमर को उपालम्भ का आधार बनाया है। भागवत में कुब्जा का उल्लेख नहीं है, परन्तु नंददास ने सूरदास के समान ही कुब्जा का भी वर्णन किया है। भागवत के उद्धव गोपियों के प्रेम की प्रशंसा कर उनके विरह संताप को दूर करने के लिए कुछ महीने ब्रज में ही निवास करते हैं। उन्हें कृष्ण संदेश सुनाकर न तो कभी पश्चाताप हुआ और न हीनता का ही अनुभव हुआ। वास्तविक बात तो यह है कि भागवत के उद्धव अभिमान से दूर रहने वाले ज्ञानी भक्त हैं किन्तु 'भँवरगीत' के

उद्धव निर्गुण ब्रह्म की योग मुक्ति से ही प्राप्ति में विश्वास करने वाले अभिमानी योगी हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नंददास ने भागवत के कथा-क्रम में पर्याप्त अन्तर कर भँवरगीत को अधिक मार्मिक तथा प्रभावपूर्ण बना दिया है।

सूरदास के भ्रमरगीतों तथा नन्ददास के भंवरगीत के कथानकों की तुलना

यह पहले ही कहा जा चुका है कि सूरदास ने तीन भ्रमरगीत लिखे हैं। बृहत् भ्रमरगीत की कथा अत्यधिक विस्तृत है। उसमें भागवत् के सूक्ष्मतम प्रसंग को भी विस्तार से कहा गया है। साथ ही एक ही प्रसंग सूक्ष्म परिवर्तन द्वारा अनेक रूपों में वर्णित है। मुक्तक रचना होने के कारण इस प्रकार की विभिन्नता तथा विस्तार असंगत नहीं जान पड़ते। प्रबन्ध काव्य में इस प्रकार का वर्णन असम्भव है अन्य दोनों संक्षिप्त भ्रमरगीतों में प्रबन्धात्मकता तथा कथा-संकोच दोनों ही उपलब्ध हैं। नंददास कृत 'भँमरगीत' का प्रारम्भ सूरदास के दोहा-रोला के मिश्रित छन्द वाले भ्रमरगीत के समान ही होता है। दोनों ही स्थानों पर कथा का प्रारम्भ उद्धव-संदेश से होता है—

(क) ऊधौ कौ उपदेश सुनौ किन कान दे।

— सूरदास

(ख) ऊधौ कों उपदेस सुनौ ब्रजनागरी ॥

—नंददास

सूरदास के उद्धव 'हरि निर्गुन संदेस पठायौ आन दे' कह कर मौन हो जाते हैं। वे नंददास के उद्धव से अधिक सहृदय और सहानुभूति पूर्ण हैं। गोपियों का प्रेम उन्हें कृष्ण संदेश की निष्ठुरता तथा व्यर्थता का अनुमान कराता है। अतः वे कुछ न कहकर पत्र ही दे देते हैं। पत्र पढ़ने के पश्चात् गोपियों की विह्वलता स्थिति उद्धव के शेष ज्ञान-गर्व को नष्ट कर देती है –

देखि प्रेम गोपनि को ज्ञान गरब गयौ दूरि।

किन्तु कृष्ण का संदेश तो कहना ही था अतः वे निर्गुण निराकार ब्रह्म का संदेश सुना ही देते हैं।

नंददास के उद्धव इतने सहृदय तथा सरलता से परास्त होने वाले नहीं हैं। वे अहंकारी शास्त्रार्थी के सदृश गोपियों से दर्शन के जटिल प्रश्नों पर वाद विवाद करते हैं। नंददास की गोपियाँ भी भोली ग्रामीण बालिकाएँ नहीं। वे दर्शन के उच्च धरातल पर पहुँच कर निर्गुण सगुण-ब्रह्म विवाद में तर्क द्वारा ही उद्धव को परास्त करती हैं। भ्रमरगीत का यह दार्शनिक प्रसंग पर्याप्त विस्तृत भी है। इस शुष्क विवाद के पश्चात् गोपियों के भावुक हृदय का भी उद्घाटन होता है। गोपियों की प्रेम विह्वलता को देखकर उद्धव में परिवर्तन दिखाई पड़ता है। वे मन ही मन लज्जित होते हैं—

देखत उनको प्रेम, नेम ऊधौ को भाज्यौ।
तिमिर भाउ आवेस, बहुत अपने मन लाज्यौ॥ भं० गी० ४३

लज्जित होने की भावना ही इस बात की ओर संकेत करती है कि उद्धव श्रद्धा से गोपियों की ओर आकर्षित नहीं हुए बल्कि शास्त्रार्थ में परास्त पंडित के समान उन्होंने दूसरे पक्ष (गोपियों) के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया है।

नंददास ने सूरदास के पत्र-प्रसंग को भी छोड़ दिया है। सम्भवतः ज्ञानी तथा तर्कशील उद्धव को अपनी विद्वत्ता पर पूर्ण विश्वास था। अतः वे गोपियों के पास मौखिक संदेश लेकर ही चल पड़े।

सूरदास के "भ्रमरगीत" में राधा तथा कुब्जा दोनों का ही उल्लेख है। नंददास के "भँवरगीत" में राधा का कहीं भी नाम नहीं है किन्तु कुब्जा का उल्लेख अवश्य मिलता है।

कथा का अन्त दोनों में भिन्न रूप से मिलता है किन्तु मुख्य उद्देश्य सगुण भक्ति की प्रतिष्ठा—दोनों में ही वर्तमान है। सूरदास के प्रेम रस में छके उद्धव कृष्ण से केवल इतना ही कहते हैं—

एक बेर ब्रज जाहु देहु गोपिनि दिखराई।
वृन्दावन सुख छाँड़ि कै कहाँ बसे हो आइ॥ सूर० पद ४७१३

इससे अधिक वे कुछ कह नहीं पाते और प्रेम से विह्वल होकर कृष्ण चरणों में गिर पड़ते हैं। कृष्ण भी उन्हें हृदय से लगाकर सरस उपहास तथा मधुर व्यंग्य पूर्ण शब्दों में कहते हैं—

"भले आए जोग सिखाइ।"

"भँवरगीत" के उद्धव अधिक मुखर हैं। वे ज्ञानी से भक्त बन कर पूर्णतः बदल गए हैं। कृष्ण की निष्ठुरता का वर्णन कर वे अनेक प्रकार से उपालम्भ देते हैं। तार्किक उद्धव के कृष्ण का सरल परिहास ही पर्याप्त नहीं है। इसके लिए तो भगवान् को अपने स्वरूप का दर्शन कराना पड़ा है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि नंददास और सूरदास के भ्रमरगीतों में कथावस्तु की दृष्टि से साम्य होते हुए भी पर्याप्त अन्तर है। नंददास ने संक्षिप्त कथावस्तु को लेकर भी काव्य सौष्ठव उत्पन्न करने के लिए अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है।

प्रसंग विधान

उत्तम काव्य के लिए प्रसंग विधान का विचार अत्यधिक आवश्यक है। सभी प्रसंग रसपूर्ण व्यंजना के उपयुक्त नहीं होते। भ्रमरगीत प्रसंग में रस मग्नता के लिए पर्याप्त स्थान है। कथावस्तु घटना प्रधान न होते हुए भी दार्शनिक विवेचन व्यंग्य तथा उपालम्भ द्वारा यह गतिवान बनाया गया है। इसकी सरसता तथा रुचिरता घटना वर्णन में नही वरन् भाव व्यंजना में ही है। विषय की सरसता तो इस विषय पर प्राप्त रचनाओं से स्वतः सिद्ध है। लगभग पाँच शताब्दियों से यह प्रसंग काव्य का विषय है। आधुनिक वैज्ञानिक तथा भौतिकवादी युग में भी इसका आकर्षण अक्षुण्ण है।

रस व्यंजना

भ्रमरगीत का प्रसंग परम्परागत कृष्ण गोपी विरह को लेकर ही अग्रसर होता है। गोपियों के इस प्रवास जनित विरह की व्यंजना परिस्थिति तथा कार्य व्यापार द्वारा अनुभावादि में की गई है। किसी भी रस-व्यंजना के लिये उसके स्थायी भाव की व्यंजना आवश्यक होती है। भाव-व्यंजना के अन्तर्गत आलम्बन का चित्रण तथा आश्रय की चेष्टाओं का वर्णन रहता है। काव्य शास्त्र के अनुसार इन्हें क्रमशः

विभाव तथा अनुभाव की संज्ञा प्रदान की गई है। आलम्बन विभाव वह भाव है जो आश्रय के मन में प्रसुप्त स्थायी भाव को जाग्रत करे। इन जाग्रत भावों को उद्दीप्त करने वाले साधन उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। उद्दीपन विभाव आलम्बन से सम्बन्धित होने के साथ ही परिस्थिति जन्य अर्थात् वातावरण सम्बन्धित भी होते हैं। अनुभावों का सम्बन्ध आश्रय की शारीरिक चेष्टाओं से होता है। भावों के पीछे आने के कारण ही इन्हें अनुभाव कहा गया है। इनमें सात्विक अनुभाव आठ प्रकार के माने गए हैं। स्तम्भ, स्वेद रोमांच, स्वर भंग, वैपुथ (कम्प), वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय। सात्विक भाव आत्मज होते हैं। अर्थात् इन पर आश्रय का कोई भी वश नहीं चलता। ये स्वतन्त्र हैं। कायिक अनुभाव आश्रय की इच्छा के अधीन हैं। यह पहले कहा जा चुका है कि भ्रमरगीत विरह काव्य है। इसके आलम्बन रस रूप परब्रह्म श्रीकृष्ण हैं। उनका मथुरा प्रवास ही व्रजांगना विरह का कारण है। उद्धव का व्रजागमन तथा निर्गुण ब्रह्म और योग संदेश उद्दीपन विभाव हैं। नंददास ने रति स्थायी भाव की व्यंजना अनुभावों द्वारा ही प्रस्तुत की है। भाव स्वयं ही व्यंग्य हैं। उसकी व्यंजना के लिये कवि की विस्तृत तथा गम्भीर अनुभूति वांछनीय है। जब तक कवि स्वयं उस परिस्थिति में पड़कर उसे आत्मसात न करले तब तक उसका वर्णन स्वाभाविक तथा सजीव नहीं हो सकता। नंददास प्रतिभाशाली कवि होने के अतिरिक्त स्वयं रसिक भी थे। उन्हें सौन्दर्य और विरह का व्यक्तिगत अनुभव था। अतः इनके वर्णन स्वरसपूर्ण हैं। उद्धव के मुख से कृष्ण का नाम सुनकर गोपियों के हृदय का रति-भाव उद्दीप्त हो जाता है सात्विक अनुभावों द्वारा कवि ने इसका एक चित्र उपस्थित कर दिया है—

सुनत स्याम को नाम, ग्राम गृह की सुधि भूली।
भरि आनन्द-रस हृदय, प्रेम-बेली द्रुम फूली॥
पुलकि रोम सब अंग भये, भरि आये जल नैन।
कंठ घुटे गदगद गिरा बोले जात न बैन॥
विवस्था प्रेम की। भं० गी० ३

प्रेम की इस परिस्थिति को पूर्णतः व्यक्त करने के लिये ही रोमांच स्वर भंग तथा अश्रु का वर्णन किया गया है। प्रियतम का नाम सुनकर ही वे वैसी भाव विभोर हो गईं। उल्लास हृदय में न समाकर अश्रु

बन नयन मार्ग से बह निकला, हर्षावेग से वे रोमांचित हो गईं। प्रेमाधिक्य के कारण कंठ रुँध गया। किन्तु मनमोहन का विषम संदेश सुनते ही आशा जनित वह उल्लास नष्ट हो गया। उन्हें कृष्ण का रूप स्मरण हो आया। भावना के प्रबल वेग को सँभालने में असमर्थ वे मूर्च्छित हो गईं। उद्धव का कृष्ण-संदेश उनकी विरह भावना को उद्दीपन करने के लिये पर्याप्त है। स्मृति, असूया और दैन्य आदि संचारी, रस परिपाक में सहायक, भावों द्वारा इसकी व्यंजना की गई है।

उद्धव का तर्कपूर्ण विवाद उन्हें शिथिल कर देता है। वीहित के काग सदृश उनका मन उद्धव के विवाद से भटक कर पुनः कृष्ण रूप नौका का अवलम्बन ग्रहण करता है। काम की एकादश दशाओं के अन्तर्गत विरह में संयोग का अनुभव करती हुई वे भाव जगत में मानसिक मिलन द्वारा कृष्ण को उपालम्भ देने लगीं किन्तु यह व्यंग्य और उपालम्भ पूर्ण उद्गार उनकी विरह वेदना को कम करने की अपेक्षा तीव्रतम बनाने में ही सहायक हुए। अन्त में विवश गोपियाँ 'हा करुनामय नाथ हो, कृष्न, मुरारि' कह कर रोने लगीं। नंददास ने विरह की अतिशयता का वर्णन भी व्यंग्य रूप में ही किया है—

उमग्यौ जो कोउ सलिल, नैन असुवन की धारहिं।
भीजत अंबुज नीर, कंचुकी बहुगुन हारहिं ॥भं० गी० ६१

यह वर्णन अश्रुमुखी गोपियों का चित्र उपस्थित करने में समर्थ है। गोपियों के प्रेम से प्रभावित उद्धव पूर्ण भक्त बनकर मथुरा लौट रहे हैं। उद्धव का यह रूप कवि ने एक ही पंक्ति में अंकित कर दिया है।

गोपी गुन गावन लग्यौ, मोहन-गुन गयौ भूलि। भं० गी० ६६

उद्दीपन विभाव

उद्दीपन रूप में कृष्ण के स्थान पर उद्धव आगमन, ज्ञान-चर्चा तथा भ्रमर-प्रवेश का प्रसंग है। ये समस्त उद्दीपन, आलम्बन श्रीकृष्ण से पृथक् परिस्थिति जन्य हैं। ज्ञान-भक्ति का विवाद बुद्धि प्रधान है। इसमें गोपियों को तर्क का आश्रय लेना पड़ा है किन्तु भ्रमर-प्रवेश

विभाव तथा अनुभाव की संज्ञा प्रदान की गई है। आलम्बन विभाव वह भाव है जो आश्रय के मन में प्रसुप्त स्थायी भाव को जाग्रत करे। इन जाग्रत भावों को उद्दीप्त करने वाले साधन उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। उद्दीपन विभाव आलम्बन से सम्बन्धित होने के साथ ही परिस्थिति जन्य अर्थात् वातावरण सम्बन्धित भी होते हैं। अनुभावों का सम्बन्ध आश्रय की शारीरिक चेष्टाओं से होता है। भावों के पीछे आने के कारण ही इन्हें अनुभाव कहा गया है। इनमें सात्विक अनुभाव आठ प्रकार के माने गए हैं। स्तम्भ, स्वेद रोमांच, स्वर भंग, वैपुथ (कम्प), वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय। सात्विक भाव आत्मज होते हैं। अर्थात् इन पर आश्रय का कोई भी वश नहीं चलता। ये स्वतन्त्र हैं। कायिक अनुभाव आश्रय की इच्छा के अधीन हैं। यह पहले कहा जा चुका है कि भ्रमरगीत विरह काव्य है। इसके आलम्बन रस रूप परब्रह्म श्रीकृष्ण हैं। उनका मथुरा प्रवास ही ब्रजांगना विरह का कारण है। उद्धव का ब्रजागमन तथा निर्गुण ब्रह्म और योग संदेश उद्दीपन विभाव हैं। नंददास ने रति स्थायी भाव की व्यंजना अनुभावों द्वारा ही प्रस्तुत की है। भाव स्वयं ही व्यंग्य हैं। उसकी व्यंजना के लिये कवि की विस्तृत तथा गम्भीर अनुभूति वांछतीय है। जब तक कवि स्वयं उस परिस्थिति में पड़कर उसे आत्मसात न करले तब तक उसका वर्णन स्वाभाविक तथा सजीव नहीं हो सकता। नंददास प्रतिभाशाली कवि होने के अतिरिक्त स्वयं रसिक भी थे। उन्हें सौन्दर्य और विरह का व्यक्तिगत अनुभव था। अतः इनके वर्णन स्वरसपूर्ण हैं। उद्धव के मुख से कृष्ण का नाम सुनकर गोपियों के हृदय का रति-भाव उद्दीप्त हो जाता है सात्विक अनुभावों द्वारा कवि ने इसका एक चित्र उपस्थित कर दिया है—

सुनत स्याम को नाम, ग्राम गृह की सुधि भूली।
भरि आनन्द-रस हृदय, प्रेम-बेली द्रुम फूली॥
पुलकि रोम सब अंग भये, भरि आये जल नैन।
कंठ घुटै गदगद गिरा बोले जात न बैन॥

विवस्था प्रेम की। भं० गी० ३

प्रेम की इस परिस्थिति को पूर्णतः व्यक्त करने के लिये ही रोमांच स्वर भंग तथा अश्रु का वर्णन किया गया है। प्रियतम का नाम सुनकर ही वे वैसी भाव विभोर हो गईं। उल्लास हृदय में न समाकर अश्रु

बन नयन मार्ग से बह निकला, हर्षावेग से वे रोमांचित हो गईं। प्रेमाधिक्य के कारण कंठ रुँध गया। किन्तु मनमोहन का विषम संदेश सुनते ही आशा जनित वह उल्लास नष्ट हो गया। उन्हें कृष्ण का रूप स्मरण हो आया। भावना के प्रबल वेग को सँभालने में असमर्थ वे मूर्च्छित हो गईं। उद्धव का कृष्ण-संदेश उनकी विरह भावना को उद्दीपन करने के लिये पर्याप्त है। स्मृति, असूया और दैन्य आदि संचारी, रस परिपाक में सहायक, भावों द्वारा इसकी व्यंजना की गई है।

उद्धव का तर्कपूर्ण विवाद उन्हें शिथिल कर देता है। बोहित के काग सदृश उनका मन उद्धव के विवाद से भटक कर पुनः कृष्ण रूप नौका का अवलम्बन ग्रहण करता है। काम की एकादश दशाओं के अन्तर्गत विरह में संयोग का अनुभव करती हुई वे भाव जगत में मानसिक मिलन द्वारा कृष्ण को उपालम्भ देने लगीं किन्तु यह व्यंग्य और उपालम्भ पूर्ण उद्‌गार उनकी विरह वेदना को कम करने की अपेक्षा तीव्रतम बनाने में ही सहायक हुए। अन्त में विवश गोपियाँ 'हा करुनामय नाथ हो, कृष्न, मुरारि' कह कर रोने लगीं। नंददास ने विरह की अतिशयता का वर्णन भी व्यंग्य रूप में ही किया है—

उमग्यौ जो कोउ सलिल, नैन असुवन की धारहिं।
भीजत अंबुज नीर, कंचुकी बहुगुन हारहिं ॥भं० गी० ६१

यह वर्णन अश्रुमुखी गोपियों का चित्र उपस्थित करने में समर्थ है। गोपियों के प्रेम से प्रभावित उद्धव पूर्ण भक्त बनकर मथुरा लौट रहे हैं। उद्धव का यह रूप कवि ने एक ही पंक्ति में अंकित कर दिया है।

गोपी गुन गावन लग्यौ, मोहन-गुन गयौ भूलि। भं० गी० ६६

उद्दीपन विभाव

उद्दीपन रूप में कृष्ण के स्थान पर उद्धव आगमन, ज्ञान-चर्चा तथा भ्रमर-प्रवेश का प्रसंग है। ये समस्त उद्दीपन, आलम्बन श्रीकृष्ण से पृथक् परिस्थिति जन्य हैं। ज्ञान-भक्ति का विवाद बुद्धि प्रधान है। इसमें गोपियों को तर्क का आश्रय लेना पड़ा है किन्तु भ्रमर-प्रवेश

प्रसंग भावात्मक है। रूप तथा व्यापार साम्य के आधार पर ही भ्रमर उद्दीपन बन जाता है। रसिक भ्रमर को देखकर उन्हें कपटी कुब्जा प्रणयी कृष्ण की स्मृति हो आती है। यह स्मृति पीड़ा को अधिक तीव्र कर देती है।

संचारी

रस परिपाक में संचारी भावों का वर्णन भी काव्य शास्त्र में किया गया है। भंवर दूत में भी अनेक संचारियों का वर्णन है। ऊपर स्मृति संचारी की चर्चा की जा चुकी है। निम्न पद में दैन्य संचारी का वर्णन किस स्वाभाविकता से किया गया है—

हमकौं पिय तुम एक हो, तुम कौं हमसी कोरि।
बहुत पाइ कै रावरे, प्रीति न डारो तोरि॥
एक ही बार जी॥ भ० गी० ३१

इन दो पंक्तियों में ही सत्य उद्घाटन के साथ ही अनेक भावों की व्यंजना है। एक ओर तो गोपियां सकारण अपनी दीनता प्रकट करती हैं। दूसरी ओर उनका आग्रह भी कितना स्वाभाविक है। यह सत्य है कि कृष्ण को बहुत कुछ प्राप्त हो गया है और उन्हें गोपी सदृश करोड़ों नारियाँ मिल सकती हैं किन्तु गोपियों के लिए तो केवल वे ही हैं। उनकी दशा जल बिना तड़पती मीन तुल्य है। वे रस अधीन हैं, इसीलिए यह दैन्य प्रदर्शन है। साथ ही वे प्रीति डोर को एक ही झटके में न तोड़ डालने की प्रार्थना करती हैं। धीरे-धीरे कृष्ण का विराग स्वाभाविक बन सकता है किन्तु एक बार ही दिया हुआ यह आघात सहन करने में वे असमर्थ हैं।

विरह-व्यंजना का एक अन्य रूप भी है जिसमें व्यक्ति पशु पक्षी आदि की विकलता का वर्णन कर अपने दुख को व्यंजित करता है। विरह-व्यंजना की यह शैली काव्य में अति प्रिय रही है। भंवर-गीत की गोपियाँ भी कृष्ण-विरह में व्याकुल गाऊओं का वर्णन कर अपने दुख दूर करने की प्रार्थना करती हैं—

अहो नाथ, अहो रमानाथ, जदुनाथ गुसाईं।
नन्द नन्दन बिडराति फिरति तुम बिन बन गाईं॥
काहे न फेरि कृपाल है गौ ग्वालन सुधि लेहु।
दुख जलनिधि हम बूड़ही, कर अवलम्बन देहु॥
निठुर हुये कहाँ रहे॥ भँ० गी० ३०

'बिडराति फिरत तुम बिन बन गाईं' द्वारा कवि ने पशु-जगत की मूक व्यथा को मुखर कर दिया है। वाणी हीन पशु भाषा के अभाव में अपने भावों को शब्द रूप में व्यक्त करने में असमर्थ हो केवल शारीरिक क्रिया द्वारा ही अपनी व्यथा प्रकट करती हैं। वे कृष्ण के साथ जहाँ चरने जाती थीं उन्हीं स्थानों पर फिरती हैं मानों कृष्ण को ढूँढ़ने का असफल प्रयत्न करती हों। गऊओं की दयनीय दशा का वर्णन कर सूर की गोपियाँ भी अपनी पीड़ा का संकेत करती हैं—

ऊधौ इतनी कहियौ जाइ।
अति कृश गात भईं ये तुम बिनु परम दुखारी गाइ॥
जल समूह बरषति दोउ अँखियाँ, हूँकति लीन्हें नाऊँ।
जहाँ जहाँ गो दोहन कीन्हौ, सूँघति सोइ ठाऊँ॥
परतिं पछार खाइ छिन ही छिन अति आतुर ह्वै दीन।
मानहु सूर काढ़ि डारी हैं बारि मध्य तैं मीन।

सूर पद० ४६७०

सूर का यह वर्णन परम्परागत जल-मीन के उपमान को लेकर चला है किन्तु इसके साथ ही जो स्वाभाविक वर्णन है वह इसे केवल लीक पीटना मात्र ही नहीं रहने देता।

उपालम्भ तथा व्यंग्य

आत्मनिवेदन तथा दैन्य प्रदर्शन से प्रिय को सदय न होते देखकर गोपियां खीज उठती हैं। प्रेम की तीव्रता सीधे साधे शब्दों के स्थान पर व्यंग्य और उपालम्भ का रूप धारण कर लेती हैं। यह उपालम्भ दो रूपों में मिलता है। एक तो मथुरावासी कृष्ण के प्रति दूसरा विष्णु के अन्य अवतारों से सम्बन्धित कृष्ण रूप में। मथुरा की राज्य प्राप्ति को लक्ष्य कर वे कृष्ण पर मधुर व्यंग्य करती हैं—

कोउ कहै अहो श्याम, कहा इतराइ गये हौ।
मथुरा कौ अधिकार पाइ, महाराज भये हौ॥ मं० गी० ३३

'इतराइ गये हौ' कह कर नंददास ने वैभव पाकर मानव स्वभाव के स्वाभाविक परिवर्तन की ओर संकेत किया है। महाराज हो जाने से ही वे अभिमानवश पूर्व सम्बन्ध को भुला बैठे हैं। इतराने में एक अन्य ध्वनि भी निकलती है कि गोपियों का प्रेम इस भाँति मदांध

होकर भुला देना उचित नहीं। वैभव की चमक उन्हें सच्चे प्रेम की परख ही नहीं करने देती है। आज परिस्थिति बदल गई है। उन्हें उन घटनाओं की स्मृति हो आती है जब गोवर्धन उठाकर इन्द्र क्रोध से कृष्ण ने रक्षा की थी, अनेक राक्षसों का संहार कर उनके दुख और भय का विनाश किया था, दावाग्नि पान कर उन्हें विषम ज्वाला में भस्म हो जाने से बचाया था। जब उन्हें इस भाँति विरहाग्नि में तड़पा-तड़पा कर मारना था तो पहले ही क्यों रक्षा की थी। इसी समय उनकी विचारधारा बदल जाती है। कृष्ण के सहृदय और रक्षक स्वरूप के स्थान पर उनका निष्ठुर रूप आ जाता है। गोपियाँ कृष्ण की निष्ठुरता की चर्चा करती हुई परस्पर सान्त्वना देती हैं। कृष्ण की यह निर्ममता नवीन नहीं है। वे तो सदा से ही हृदयहीन रहे हैं। किसी के उपकार अथवा अपकार का विचार किए बिना ही वे सदैव ही अपनी हृदयहीनता का परिचय देते रहे हैं। जो जन्म-जन्मान्तर से निष्ठुर हैं, उससे क्या आशा की जाय, उनकी तो प्रकृति ही ऐसी है। उसका बुरा क्या मानना—

इनके निर्दय रूप में, नाहिन कोउ चित्र
विलग कहा मानिये ॥ भं० गी० ४०

भ्रमर प्रवेश के पश्चात् का उपालम्भ केवल कृष्ण तक ही सीमित नहीं है। अब योग संदेश लाने वाले श्याम उद्धव भी व्यंग्य तथा उपालम्भ के लक्ष्य बन जाते हैं। भ्रमर-प्रवेश का प्रसंग भी नंद-दास ने विशेष कुशलता से प्रस्तुत किया है। प्रेम-रंग में रंगी गोपियों की प्रेमावस्था देखकर उद्धव मन ही मन उनके चरण रज की कामना करने लगे। इसी समय एक भ्रमर गोपियों के पास आकर गुनगुनाने लगा। यहाँ भ्रमर के विषय में नन्ददास ने एक नवीन कल्पना को जन्म दिया। भागवत तथा सूरसागर में भ्रमर कृष्ण दूत का प्रतीक माना गया है। किन्तु भँवरगीत में उद्धव का मन ही मधुकर बन गया है—

मन मधुकर ऊधौ भयौ, प्रथमहि प्रगट्यौ आनि ॥
मधुप को भेष धरि ॥ भं० गी० ४५

नंददास की इस कल्पना ने प्रसंग में एक नवीनता और सजीवता उत्पन्न कर दी। भ्रमर यहाँ स्पष्टतः कृष्ण रूप धारी उद्धव का प्रतीक

बन गया है। उद्धव के रूप के विषय में पहले ही लिखा जा चुका है कि कृष्ण ने उन्हें अपने अनुरूप सजाकर भेजा था जिससे दूर से गोपियों को कृष्ण का भ्रम हो गया था। भ्रमर-प्रवेश के पूर्व कृष्ण उपालम्भ में केवल उनके निष्ठुर रूप को ही लक्ष्य बनाया गया था। उद्धव अभी तक व्यंग्य वाणों से सुरक्षित थे किन्तु भ्रमर-आगमन के पश्चात् उपालम्भ और व्यंग्य का विषय विस्तृत हो गया। कृष्ण की निष्ठुरता के साथ ही उनकी रस लोलुप वृत्ति, उद्धव का अवांछित निर्गुण ब्रह्मज्ञान तथा योग संदेश भी व्यंग्य का विषय बना। श्याम वर्ण पर भी अनेक उद्भावनाएँ की गईं।

भ्रमर के चरण-स्पर्श के विरोध की भावना में भागवत तथा भंवरगीत की गोपियों में अन्तर है। भागवत की गोपियों के समान भंवरगीत की गोपियाँ केवल इसीलिए भ्रमर को चरण स्पर्श से वंचित नहीं करतीं कि उसकी मूंछों में सौतों के वक्षस्थल के स्पर्श से मसली बनमाला का पीला कुंकुम लगा हुआ है। सपत्नी की ईर्ष्या अन्य भावना उनमें इतनी तीव्र नहीं है। श्याम वर्ण भ्रमर को देखकर उन्हें स्याम सुन्दर की स्मृति हो आई। लोक प्रसिद्ध उक्ति 'तन मन से काले' के आधार पर मनमोहन कृष्ण की कुटिलता स्मरण कर ही वे भ्रमर को चरण स्पर्श करने से रोकती हैं—

जिनि परसौ मम पाउँ रै, तुम आनन्द-रस-चोर।
तुम ही सों कपटी हुतौ, मोहन नंद किसोर॥
इहाँ ते दूरि हो॥ भं० गी० ४६

स्याम वर्ण पर चुटकी लेती हुई एक गोपी कहती है —

कोउ कहै री विस्व मांझ जेते हैं कारे।
कपटी, कुटिल, कठोर परम मानस मसि हारे॥ भं० गी० ४७

उनका यह विचार अनुभवजन्य है। अक्रूर, कृष्ण, उद्धव और यह भ्रमर सभी तो इसी लक्ष्य का उद्घाटन कर रहे हैं। "दूध का जला मट्ठे को भी फूँक फूँक कर पीता है" गोपियों की भी वैसी दशा है। कृष्ण वियोग ने उन्हें अधिक सचेत बना दिया है। पूर्व अनुभव के आधार पर वे कहती हैं—

एक स्याम तन परसि कै, जरत आज लौं अंग।
ता पाछे फिरि मधुप यह लायौ जोग-भुजंग॥
कहा इनको दया॥ भं० गी० ४७

इन पंक्तियों में एक साथ ही कृष्ण, उद्धव तथा भ्रमर सभी की व्यंग्य का विषय बनाया गया है। 'भुजंग' द्वारा मधुप के जार भाव की ओर भी संकेत किया है। श्याम वर्ण वाले सभी व्यक्ति दुखदायी ही हैं। श्याम सुन्दर कृष्ण के शरीर स्पर्श के कारण वे विरह व्यथा से संतप्त हो रही हैं। स्याम सखा उद्धव का यह "जोग संदेश" उनकी पीड़ा को कम करने की अपेक्षा तीव्रतर ही बनाता है। उस पर यह काला भंवरा जो उद्धव के योग संदेश को ही प्रति-ध्वनित करता जान पड़ता है उन्हें अत्यधिक व्यथित कर रहा है। वर्ण साम्य से कृष्ण, उद्धव और भ्रमर एक ही श्रेणी में आ बैठते हैं। उनके कठोर कर्मों को स्मरण करती हुई गोपियाँ भ्रमर के अवगुणों का उल्लेख करती हुई कहती हैं—हे मधुप तुम्हारा मधुकर नाम तो सार्थक नहीं है क्योंकि तुम प्रेमी जनों के वध हेतु जोग-गांठ को लिए फिरते हो। तुम गठकटे चोर और पुष्पों का रुधिर पान करने वाले हो। 'रुधिर पान कियौ बहुत कै अधर अरुन रंग रात' द्वारा कवि एक ओर तो भ्रमर की क्रूरता का उल्लेख किया दूसरी ओर प्रकृति का मानवीकरण कर दिया है। इस पंक्ति की व्याख्या डा० दीनदयाल गुप्त ने अष्टछाप में की है—"रुधिर पान कियौ बहुत कै"— इस कथन में कवि ने भौंरे के द्वारा पुष्पों का रस चूसे जाने का भाव बताया है। पर इस रुधिर पान शब्दों का प्रयोग पुष्पों को बनस्पति जगत् से उठाकर मानस जगत में ले आता है। शब्दों के ऐसे भाव-भरे प्रयोगों से नंददास की उर्वरा कल्पना शक्ति का तथा प्रकृति संवेदना का परिचय मिलता है।[1]

उपालम्भ व्यंग्यार्थ प्रधान होता है। इसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ ही चमत्कारपूर्ण होता है। इसीलिए जो भाव साधारण वार्तालाप द्वारा नहीं व्यक्त किए जा सकते वे ही उपालम्भ तथा व्यंग्य के द्वारा बड़ी सरलता से प्रकट हो जाते हैं। गोपियाँ भी उद्धव के उथले ज्ञान की हँसी उड़ाकर कृष्ण तथा उद्धव के सम्बन्ध पर

१—पृ० १३७—नंददास।

व्यंग्य करती हैं। कुब्जा भी इस समय उनके व्यंग्य का लक्ष्य बनती है—

> कोउ कहै अहो मधुप, स्याम जोगी तुम चेला।
> कुब्जा तीरथ जाइ, करौ इन्द्रिन कौ मेला॥
> मधुबन सिधि फैलाइ कै आये गोकुल मांहि।
> इत सब प्रेमी लोग हैं, गाहक तुमरौ नाहिं
> पधारौ रस राबरे॥ भं० गो० ५७

ज्ञानी गुरु और चेलाओं के जीवन-रहस्य को प्रकट कर यहाँ उद्धव के ज्ञान-संदेश की उपेक्षा की गई है। जो गुरु उपदेश के अनुसार अपना चरित्र निर्माण नहीं करता उसके कथन का क्या प्रभाव हो सकता है इसकी भी एक झलक गोपियों के उपयुक्त कथन में मिलती है। मथुरा में कृष्ण कुब्जा के साथ आनन्दोपभोग में लगे हैं और यहाँ गोपियों के लिये योग का संदेश भेज रहे हैं। इस प्रकार के संदेश भेजने वाले गुरु और संदेशवाहक चेले दोनों का अभिवादन इसी प्रकार किया जाता है। इसीलिये समस्त तथ्यों से परिचित गोपियाँ कहती हैं—

> कोउ कहै अहो मधुप, साधु मधुबन के ऐसै।
> और तहाँ के सिद्ध लोग, ह्वै हैं धौं कैसे॥
> औगुन गुन गहि लेत हैं, गुन कौ डारत मेटि।
> मोहन निर्गुन क्यों न होई, तुम साधुन कों मेंटि॥
> गाठि की खोइ कै। भँ० गी० ५८

उद्धव कृष्ण को निर्गुण बताते हुए योग द्वारा उनकी प्राप्ति का उपदेश देते हैं। गोपियाँ उद्धव के इस संदेश से कृष्ण के निर्गुण रूप हो जाने के विषय में कल्पना करती हैं। उनके विचार से उद्धव जैसे साधुओं के संसर्ग में आकर अपने समस्त गुणों को खोकर ही कृष्ण निर्गुण बन गए हैं। निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी नंददास की इस मौलिक कल्पना को पढ़कर हमें सूर का निर्गुण रूप-विचार स्मरण हो आता है। उद्धव के निराकार ब्रह्म के संदेश को सुनकर एक गोपी राधा से कहती है—

> मोहन माग्यौं अपनौ रूप।
> इहिं ब्रज बसत अँचै तुम बैठी, ता बिन उहाँ निरूप।
> सूर ४३८८

कृष्ण के निरूप होने की यह कल्पना अत्यन्त सरस तथा मधुर है। नंददास की कल्पना बुद्धि प्रधान है। सूर की भाव प्रधान। नंददास कथन का पाखंडी साधुओं पर व्यंग्य है तो सूरदास की कल्पना अपूर्व प्रेम की व्यंजक है।

कृष्ण और कुब्जा के विडम्बनापूर्ण संयोग पर भी वे एक एक मीठी चुटकी लेना नहीं भूलतीं। कुबड़ी कुब्जा पर इस अनुग्रह का कारण भी कितना व्यंग्यपूर्ण है—

> गोकुल में जोरी. पाई नांहि मुरारि।
> मदन त्रिभंगी आप हैं, करी त्रिभंगी नारि॥
> रूप गुन सीस की॥ भँ० गी० ५६

उद्धव पर गोपी प्रभाव वर्णन

उद्धव गोपी वार्तालाप तथा गोपियों की प्रेम-भक्ति से उद्धव बहुत प्रभावित हुए। नंददास ने इस प्रभाव का वर्णन उद्धव-अभिलाषा तथा उद्धव के मथुरागमन प्रसंग में किया है। उद्धव गोपियों के अनन्य प्रेम तथा तन्मयता को देखकर चकित हो गए। उनके प्रेम पयोधि की पावन जलधारा में वह स्वतः ही मग्न हो गए। उनका हृदय गोपियों को सुलभ-प्रेमरस के आस्वादन के लिए आतुर हो गया। वे ब्रजभूषण कृष्ण की जन्मभूमि ब्रज के लता गुल्म आदि बन जाने की मधुर कल्पना करते हुए मथुरा पहुँचे। ज्ञानी उद्धव अब पूर्ण भक्त बन गए थे। बौद्धिक ज्ञान को दूर छोड़ कर गोपियों के मनोभावों के साथ उनके हृदय का एकीकरण हो गया। कृष्ण के संदेशवाहक, ज्ञान के प्रचारक और योग समर्थक उद्धव गोपी भाव से अभिभूत हो कृष्ण के पास मथुरा पहुँचते हैं। नंददास ने उद्धव के इस परिवर्तन की व्यंजना भाव-चित्र द्वारा की है। भक्त उद्धव अब गोपियों के अत्यधिक निकट पहुँच चुके थे। उनका तन मन गोपी भाव को प्राप्त हो चुका था। इसीलिए कृष्ण-दर्शन मिलने पर वे गोपियों के सदृश ही उनकी निर्ममता पर उपालम्भ देते हैं। उद्धव की उपालम्भ पूर्ण मुद्रा का एक चित्र देखिए—

> कुछ निर्दयता स्याम की, करि क्रोधित दोउ नैन।
> कछु ब्रज बनिता प्रेम की, बोलत रस भरे बैन
> सुनौ नंद लाडिले॥ भँ० गी० ७०

सूरदास के द्वितीय संक्षिप्त भ्रमरगीत में उद्धव की प्रेम विह्वलता का चित्रण है। उद्धव की व्याकुलता को देखकर कृष्ण स्वयं अपने पीताम्बर से उनके अश्रु पोंछकर कहते हैं—"भले आए जोग सिखाइ"। कृष्ण के इस कथन में मधुर परिहास के साथ ही अपार संतोष ही भावना भी निहित दिखाई पड़ती है। नंददास के कृष्ण सूरदास के कृष्ण के समान धीर गम्भीर नहीं हैं। उद्धव का ब्रज-विरह-वर्णन उनको बेसुध कर देने के लिए पर्याप्त है किन्तु अपनी सहज परिहास भावना को वे यहाँ भी नहीं भुला सके। क्षणिक आवेश के पश्चात् तुरन्त ही स्वस्थ होकर वे कहने लगे—

\+ \+ \+ भलौ सखा पठ्यौ सुधि ल्यावन
अवगुन हमरे आनि तहाँ तैं लगे बतावन।

कृष्ण का परिहास व्यथित उद्धव को शान्त करने में असमर्थ ही रहा और तार्किक उद्धव के पूर्ण संतोष तथा भ्रम निवारण के लिए उन्हें अपने स्वरूप का दर्शन देना अनिवार्य हो गया।

दार्शनिक विचार

नंददास ने भँवरगीत के पूर्व-पक्ष में ही अपने दार्शनिक विचारों की विवेचना की है यह अंश विचार प्रधान है। निर्गुण ब्रह्म, ज्ञान, कर्म, मोक्ष आदि की विस्तृत विवेचना एक ही स्थान पर उपलब्ध हो जाती है। भँवरगीत का प्रारम्भ ही उद्धव गोपी संवाद रूप में होता है जिसका विषय निर्गुण ब्रह्मज्ञान, योग तथा भक्ति है। यहाँ ब्रह्म के निर्गुण निराकार स्वरूप का खंडन कर सगुण साकार रूप की प्रतिष्ठा की गई है। साथ ही ज्ञान, योग आदि के स्थान पर भक्ति को ही ब्रह्म प्राप्ति का एकमात्र सर्वसुलभ साधन माना गया है। उद्धव निर्गुण ब्रह्म के उपासक हैं और गोपियाँ प्रेम भक्ति में तल्लीन मुक्ति को भी तुच्छ समझने वाली भगवान् कृष्ण के सगुण रूप की अनन्य उपासिका हैं। उद्धव सर्वप्रथम ज्योति स्वरूप परब्रह्म का ज्ञान द्वारा दर्शन करने का उपदेश देते हैं—

वे तुम तैं नहिं दूर ग्यान की आखिन देखौ।
अखिल विश्व भर पूरि, ब्रह्म सब रूप विसेखौ॥
लौह, दारु, पाषान में, जल थल माँहि अकास
सचर अचर बरतत सबै, जोति ब्रह्म परकास॥ भँ० गी० ७

ज्ञान-मार्ग में ब्रह्म का दर्शन ज्योति रूप में ही किया जाता है तथा योगी परब्रह्म के अन्तर्यामिन स्वरूप का ही आत्मा में साक्षात्कार करते हैं। उद्धव भी ब्रह्म की सर्व व्यापकता का उल्लेख कर समस्त सृष्टि में उनके दर्शन करने को कहते हैं।

कृष्ण-सखा उद्धव के प्रथम सम्भाषण को सुन कर गोपियाँ अबोध की भांति पूछ बैठती हैं—

कौन ब्रह्म की जोति ? ग्यान कासौं कहौ ऊधौ ?
हमरे सुन्दर स्याम, प्रेम को मारग सूधौ ॥ भं० गी० ८

सूर की गोपियाँ भी इसी भांति उद्धव से प्रश्न करती हैं—

ह्याँ तुम कहत कौन की बातैं।
अहो मधुप हम समुझति नाहीं फिरि बूझति हैं तातैं ॥

सूर ४२४४

उद्धव द्वारा प्रतिपादित निर्गुण ब्रह्म को गोपियाँ स्वीकार नहीं कर पातीं। कृष्ण की सगुण-लीला-सुख का अनुभव करने वाली गोपियाँ उद्धव की इस अटपटी बात पर विश्वास ही नहीं कर पातीं। निराकार ब्रह्म के स्वरूप पर अविश्वास करने का सप्रमाण कारण है। वे उद्धव से पूछती हैं—

जौ मुख नाहिन हुतौ, कहौ किन माखन खायौ ?
पायन बिन गोसंग, कहो को बन बन धायौ ?
आंखिन में अंजन दियौ, गोवर्धन दियौ हाथ।
नंद जसोदा पूत ह्वै कुवर कान्ह ब्रज नाथ।
सखा सुनि स्याम के ॥ भं० गी० १०

सूर की गोपियाँ भी निर्गुण ब्रह्म का परिचय जानना चाहतीहैं। वे नंददास की गोपियों की भांति चकित होकर प्रश्न ही नही करतीं. किन्तु अपने भोलेपन में सब कुछ कह जाती हैं। उनका आश्चर्य उनकी स्वाभाविक सरलता में पूर्णतः बिलीन हो जाता है। वे हठ करती हुई नहीं जान पड़तीं। अपनी जिज्ञासा में भी वे भावनामयी गोपियाँ अति भोली हैं—

निरगुन कौन देश को बासी ?
मधुकर कहि समुझाइ सौंह दै बूझति साँच न हाँसी।
कोहै जनक कौन है जननी, कौन नारि को दासी।
कैसे बरन, भेष है कैसौ, किहि रस में अभिलाषी ॥ सूर ४२४९

अव्यक्त ब्रह्म को ग्रहण करना साधारण ग्रामीण गोपिकाओं का काम नहीं, इसको तो सुयोग्य व्यक्ति ही समझ सकता है। ज्ञान द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति सहज नहीं। ज्ञान मार्ग की कठिनाई का उल्लेख तो आदि काल से ही होता आ रहा है। ज्ञान का पंथ कृपाण की तीक्ष्ण धार है जिस पर चल सकना अत्यन्त कठिन है। स्वाभाविक अनुरागमयी नारियों के लिए तो इस पर चलना असम्भव ही है। अपनी इस असमर्थता को समझकर ही गोपियाँ कहती हैं—

ताहि बतावहु जोग, जोग ऊधौ जेहि पावौ ॥ भँ० गी० १२

किन्तु उद्धव इस पर ध्यान दिये बिना ही अपने ही मत प्रतिपादन में दत्तचित्त हैं। उनकी इस 'अपनी ढफली और अपना राग' से खीज कर सगुण तथा निर्गुण की तुलना करती हुई गोपियाँ कहती हैं—

प्रेम पियूषै छांडि के, कौन समेटे धूरि ॥ भँ० गी० १२

परन्तु उद्धव इतनी सरलता से पराजित होने वाले व्यक्ति न थे। वे 'धूरि' लेकर 'धूरि क्षेत्र' और 'कर्म बंधन' की मीमांसा में लग गए। अभी तक गोपियाँ स्वाभाविक सरलता द्वारा ही अपनी असमर्थता प्रकट कर रही थीं किन्तु उद्धव की कर्म-मीमांसा सुनकर अब वे भी तर्क द्वारा ही प्रेम-भक्ति और सगुण ब्रह्म के समक्ष उद्धव के ज्ञान-मार्ग और निराकार ब्रह्म की अनुपादेयता सिद्ध करने के लिए कटि-बद्ध हो गईं। इस वाद-विवाद में गोपियाँ भी दर्शन के उच्च स्तर पर पहुँच कर ही उत्तर प्रत्युत्तर देती हैं। सूर की गोपियाँ कभी भी इस प्रकार के दार्शनिक विवादों में सक्रिय भाग नहीं लेती हैं। नंद-दास ने अपनी गोपियों को केवल मात्र ग्रामीण भक्त-रूप ही नहीं दिया है। वे दर्शन के जटिल सिद्धान्तों को समझने वालीपूर्ण पंडिता हैं। अपने विवाद द्वारा वे पुष्टि-मार्ग के दार्शनिक सिद्धान्तों का ही प्रति-पादन करती हैं। सूरदास में वल्लभाचार्य के सिद्धान्त ढूँढने में मिल जाएँगे। सूर काव्य में भावप्रधान तथा दर्शन गौण है। नंद-

ज्ञान-मार्ग में ब्रह्म का दर्शन ज्योति रूप में ही किया जाता है तथा योगी परब्रह्म के अन्तर्यामिन स्वरूप का ही आत्मा में साक्षात्कार करते हैं। उद्धव भी ब्रह्म की सर्व व्यापकता का उल्लेख कर समस्त सृष्टि में उनके दर्शन करने को कहते हैं।

कृष्ण-सखा उद्धव के प्रथम सम्भाषण को सुन कर गोपियाँ अबोध की भांति पूछ बैठती हैं—

कौन ब्रह्म की जोति ? ग्यान कासौं कहौ ऊधौ ?
हमरे सुन्दर स्याम, प्रेम को मारग सूधौ॥ भं० गी० ८

सूर की गोपियाँ भी इसी भांति उद्धव से प्रश्न करती हैं—

ह्याँ तुम कहत कौन की बातैं।
अहो मधुप हम समुझति नाहीं फिरि बूझति हैं तातैं॥

सूर ४२४४

उद्धव द्वारा प्रतिपादित निर्गुण ब्रह्म को गोपियाँ स्वीकार नहीं कर पातीं। कृष्ण की सगुण-लीला-सुख का अनुभव करने वाली गोपियाँ उद्धव की इस अटपटी बात पर विश्वास ही नहीं कर पातीं। निराकार ब्रह्म के स्वरूप पर अविश्वास करने का सप्रमाण कारण है। वे उद्धव से पूछती हैं—

जौ मुख नाहिन हुतौ, कहौ किन माखन खायौ ?
पायन बिन गोसंग, कहो को बन बन धायौ ?
आंखिन में अंजन दियौ, गोवर्धन दियौ हाथ।
नंद जसोदा पूत है कुवर कान्ह ब्रज नाथ।

सखा सुनि स्याम के॥ भं० गी० १०

सूर की गोपियाँ भी निर्गुण ब्रह्म का परिचय जानना चाहती हैं। वे नंददास की गोपियों की भांति चकित होकर प्रश्न ही नही करतीं. किन्तु अपने भोलेपन में सब कुछ कह जाती हैं। उनका आश्चर्य उनकी स्वाभाविक सरलता में पूर्णतः बिलीन हो जाता है। वे हठ करती हुई नहीं जान पड़तीं। अपनी जिज्ञासा में भी वे भावनामयी गोपियाँ अति भोली हैं—

निरगुन कौन देश को बासी ?
मधुकर कहि समुझाइ सौंह दै बूझति साँच न हाँसी।
कोहै जनक कौन है जननी, कौन नारि को दासी।
कैसे बरन, भेष है कैसौ, किहि रस में अभिलाषी॥ सूर ४२४९

अव्यक्त ब्रह्म को ग्रहण करना साधारण ग्रामीण गोपिकाओं का काम नहीं, इसको तो सुयोग्य व्यक्ति ही समझ सकता है। ज्ञान द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति सहज नहीं। ज्ञान मार्ग की कठिनाई का उल्लेख तो आदि काल से ही होता आ रहा है। ज्ञान का पंथ कृपाण की तीक्ष्ण धार है जिस पर चल सकना अत्यन्त कठिन है। स्वाभाविक अनुरागमयी नारियों के लिए तो इस पर चलना असम्भव ही है। अपनी इस असमर्थता को समझकर ही गोपियाँ कहती हैं—

ताहि बतावहु जोग, जोग ऊधौ जेहि पावौ॥ भँ० गी० १२

किन्तु उद्धव इस पर ध्यान दिये बिना ही अपने ही मत प्रतिपादन में दत्तचित्त हैं। उनकी इस 'अपनी ढफली और अपना राग' से खीज कर सगुण तथा निर्गुण की तुलना करती हुई गोपियाँ कहती हैं—

प्रेम पियूषै छांडि के, कौन समेटे धूरि॥ भँ० गी० १२

परन्तु उद्धव इतनी सरलता से पराजित होने वाले व्यक्ति न थे। वे 'धूरि' लेकर 'धूरि क्षेत्र' और 'कर्म बंधन' की मीमांसा में लग गए। अभी तक गोपियाँ स्वाभाविक सरलता द्वारा ही अपनी असमर्थता प्रकट कर रही थीं किन्तु उद्धव की कर्म-मीमांसा सुनकर अब वे भी तर्क द्वारा ही प्रेम-भक्ति और सगुण ब्रह्म के समक्ष उद्धव के ज्ञान-मार्ग और निराकार ब्रह्म की अनुपादेयता सिद्ध करने के लिए कटि-बद्ध हो गईं। इस वाद-विवाद में गोपियाँ भी दर्शन के उच्च स्तर पर पहुँच कर ही उत्तर प्रत्युत्तर देती हैं। सूर की गोपियाँ कभी भी इस प्रकार के दार्शनिक विवादों में सक्रिय भाग नहीं लेती हैं। नंद-दास ने अपनी गोपियों को केवल मात्र ग्रामीण भक्त-रूप ही नहीं दिया है। वे दर्शन के जटिल सिद्धान्तों को समझने वालीपूर्ण पंडिता हैं। अपने विवाद द्वारा वे पुष्टि-मार्ग के दार्शनिक सिद्धान्तों का ही प्रति-पादन करती हैं। सूरदास में वल्लभाचार्य के सिद्धान्त ढूँढने में मिल जाएँगे। सूर काव्य में भावप्रधान तथा दर्शन गौण है। नंद-

दास के भँवरगीत में भावना तथा विचार दोनों का ही संतुलन है। भँवरगीत में दार्शनिक विचारों की प्रधानता का प्रारम्भ नंददास के भँवरगीत से ही माना जा सकता है। सूरदास, परमानन्ददास तथा तुलसीदास ने अपने भ्रमरगीतों में दार्शनिक विवेचन को अप्रधान ही रखा है।

भँवरगीत तथा पुष्टिमार्ग-ब्रह्म

पुष्टि मार्ग के अनुसार श्रीकृष्ण ही पूर्णानन्द स्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म हैं।[1] वे रस रूप हैं। यद्यपि नंददास ब्रह्म को अजन्मा, अनन्त और ज्योति स्वरूप मानकर योग मर्यादा और ज्ञान योग पर चलकर ज्योति रूप ब्रह्म का ध्यान करते हुये क्रमशः सालोक्य सामीप्य, सारुप्य और सायुज्य मुक्ति प्राप्त में विश्वास करते हैं तथापि वे रस रूप परब्रह्म के ही उपासक हैं। भगवान् का यह रूप प्रेम-मय तथा नित्य है। भक्त रस रूप, परब्रह्म का ध्यान करते हुये उनकी लीला-गान में तन्मय रहते हैं। गोपियाँ इसी भाव को व्यक्त करती हैं—

> जोगी ज्योति भजै, भक्त निज रूपहि जानै।
> प्रेम पियूषे प्रगट स्याम सुन्दर उर आनै॥ भं० गी० १८

ब्रह्म प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन भक्ति ही है। शरीर-धारण के पश्चात् जीव संसार में भटकता रहता है। वह अति कठिनता से ज्ञान प्राप्त कर शुभ कर्मों की ओर अग्रसर हो क्रमशः मुक्ति प्राप्त करता है। क्रमशः मुक्ति का यह पथ अत्यन्त दुष्कर है। ज्ञानी माया ममतामय संसार में किसी भी क्षण पथ-भ्रष्ट हो सकता है, किन्तु भक्त अपने को भगवान् के अनुग्रह पर छोड़ देता है। ईश्वर की कृपा से भक्त के समस्त कर्म (संचित प्रारब्ध और क्रियमाण) अनायास ही नष्ट हो जाते हैं और उसे सद्यः मुक्ति प्राप्त हो जाती है। भक्त का साध्य मोक्ष नहीं होता। जीवन मुक्त भक्त मोक्ष की अभिलाषा ही नहीं करते वे तो भगवान् की प्रेमा-भक्ति पाकर ही कृतार्थ हो जाते हैं। उन्हें शुभ अशुभ कार्यों की चिन्ता नहीं रहती। प्रेम के बिना किया गया कोई भी कर्म व्यर्थ है। वह जीव

१—पृ० ४०३—अष्ट छाप

को बन्धन मुक्त करने में असफल है। कर्मयोग की अपेक्षा भक्ति योग (प्रेमयोग) का प्रतिपादन करती हुई गोपियाँ कहती हैं—

कर्म पाप अरु पुन्य लौह सोने की बेरी।
पायन बन्धन दोउ, कोउ मानौ बहुतेरी॥
ऊँच कर्म तें स्वर्ग है, नीच कर्म तें भोग।
प्रेम बिना सब पचि मरे विषय-वासना रोग॥
सखा सुनि स्याम के॥ भं० गी० १६

जगत तथा माया

जगत के विषय में नन्ददास पुष्टि मार्ग के अविकृत परिणाम वाद ही मानते हैं। ब्रह्म के सत् अंश से ही जगत् उत्पन्न हुआ है। इसमें चित और आनन्दांश का तिरोभाव है। ब्रह्म के सत् अंश से उत्पन्न होने के कारण यह सत्य और नित्य है। पुष्टि-मार्ग का जगत 'शंकर' के जगत् के समान माया जनित भ्रम नहीं है। ब्रह्म के सगुण स्वरूप की अभिव्यक्ति ही जगत् है। नंददास ने माया के दर्पण में प्रतिबिम्ब का सुन्दर वर्णन किया है। जिस प्रकार दर्पण और छाया का अस्तित्व है उसी भाँति माया के अस्तित्व की सत्यता को स्वीकार किया गया है—

जो उनके गुन नाहि और गुन भए कहाँ ते।
बीज बिना तरु जमें मोहि तुम कहौ कहाँ ते॥
वा गुन की परछाँह री माया दर्पन बीच।
गुन ते गुन न्यारे भये अमल वारि मिलि कीच॥
सखा सुन स्याम के॥ भं० गी० १६

नंददास ने यहाँ ब्रह्म के सगुण रूप के साथ ही माया के दोनों स्वरूपों विद्या माया जो शुद्ध स्वरूपा है और भगवान् की ओर प्रेरित करती है तथा अविद्या माया जो जीव को भ्रम में डालकर संसार चक्र में घुमाती हैं—का वर्णन कर पुष्टि-मार्ग में ग्रहीत सिद्धान्त को ही प्रस्तुत किया है।

मोक्ष

संसार के दुखों से छुटकारा पाना ही मोक्ष माना जाता है इस मोक्ष-प्राप्ति की दो अवस्थायें हैं—प्रथम दुख का अभाव द्वितीय

नित्य सुख की प्राप्ति। मोक्ष की चार अवस्थायें मानी गई हैं। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। वल्लभ सम्प्रदाय में सायुज्य की दो अवस्थायें—लयात्मक सायुज्य मुक्ति तथा प्रवेशात्मक सायुज्य मुक्ति को स्वीकार किया है। ज्ञानी, भक्त, ज्ञान, कर्म और योग द्वारा संसार दुख से छुटकारा पाता है। यह वैधी भक्ति कष्ट साध्य है। इससे क्रम मुक्ति द्वारा लयात्मक मुक्ति ही प्राप्त होती है। यह जीव कृति तथा साधन प्रधान है। मुक्ति-प्राप्ति के लिये जीव ही सतत सचेष्ट तथा प्रयत्नशील रहता है। पुष्ट भक्त प्रभु के अनुग्रह से पुष्टि-भक्ति द्वारा सद्योमुक्ति प्राप्त करता है। मुक्ति का यह पथ अति सरस तथा सर्वसुलभ है। पुष्टि भक्ति द्वारा भक्त सालोक्य, सामीप्य, सारुप्य और सायुज्य में से किसी एक को प्राप्त करता है।

भँवरगीत में नंददास के मोक्ष सम्बन्धी विचारों पर भी प्रकाश पड़ता है। प्रेम भक्ति में विरहासक्त गोपियों की सामीप्य अवस्था का वर्णन तन्मयासक्ति में मिलता है। वे भाव-जगत में कृष्ण मिलन का अनुभव करती हैं—

ऐसे में नंदलाल रूप नैनन के आगे।
आइ गये छवि छाइ, बने बीरे अरु वागे॥
ऊधौ सों मुख मोरि के, तिन ही सौं कहे बात।
प्रेम अमृत मुख ते चुवत अंबुज-नैन चुचात॥ भं० गी० २६

गोपियों की प्रेमा भक्ति उद्धव के हृदय में लयात्मक मोक्ष की कामना जाग्रत कर देती है। वे कृष्ण के लीला धाम ब्रज के मार्ग की धूल, अथवा गुल्म, लता आदि बन जाने की अभिलाषा करते हैं—

अब ह्वै रहौं ब्रज भूमि की, मारग में की धूरि॥ भं० गी० ६७

× × ×

कै हो ह्वै रहौं गुल्म लता, वेली बन माहीं॥ भं० गी० ६८

अद्वैत भावना

जीव ब्रह्म की अद्वैतता भारतीय दर्शन का मूल है। भंवरगीत में ब्रह्म जीव के इस एकीकरण का भी उल्लेख है। जीवन मुक्त जीव परब्रह्म में लय हो जाता है। जल-तरंग वत वे भिन्न होते हुये भी

मूल रूप में एक ही हैं। कृष्ण और गोपी भी दूर रहते हुये भी एक ही हैं—

मो में उन में अंतरौ एकौ छिन भरि नाहिं।
ज्यौं देखी मो मांझ वे; त्यों मैं उन मांहिं॥
तरंगनि वारि ज्यौं॥ भं० गी० ७४

पूर्ण भक्ति पाकर तो भक्त भगवान् के रोम-रोम में लय हो जाता है। लयात्मक मुक्ति का यह स्वरूप निम्न पंक्तियों में स्पष्ट है—

रोम रोम प्रति गोपिका, ह्वै रही सांवरे गात।
कल्प तरोवर सांवरो, ब्रज बनिता भईं पात॥
उमहि अंग अंग तें॥ भं० गी० ७२

समस्त लोक की मर्यादा को मिटाकर अनन्य भाव से श्रीकृष्ण को भजने वाली गोपियों के विवाद के पश्चात्—

ब्रह्म अग्नि जरि शुद्ध ह्वै, सिद्धि समाधि लगाइ।
लीन होइ सायुज्य में जोतिहि जोति समाइ॥
भं० गी० १७

के सिद्धान्त में विश्वास करने वाले उद्धव को ज्ञान योग की निस्सारता स्पष्ट ही दृष्टिगोचर हो गई। वे अपनी बुद्धि विषमता पर स्वयं ही पश्चात्ताप करने लगे—

जो ऐसौ मरजाद मैटि, मोहन कौ धावै।
क्यों नहिं परमानन्द, प्रेम पदवी कौ पावै॥
ग्यान जोग सब कर्म तें, प्रेम परे है साँच।
हौं नहिं पततर देत हौं हीरा आगे काँच॥
विषमता बुद्धि की॥ भं० गी० ६४

ब्रज से लौट कर सूरसागर के उद्धव को भी ऐसी ही अनुभूति हुई। माया ममता में डूबी जिन गोपियों को वे निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देने गये थे वे उद्धव से कितनी महान् हैं। इसका अनुभव गोपियों से मिलने पर ही हो सका। मथुरा आकर अपनी इस अयोग्यता को वे स्वयं ही कृष्ण के सामने सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं—

एक आँधरौ, हिय की फूटी, दौरत पहिरि खराऊँ ।
सूर सकल षट् दरसन वै, हौं बारहखरी पढ़ाऊँ ॥ सूर ४७४४

इस भाँति भंवरगीत का मूल उद्देश्य सिद्ध होता है। गोपियों की पारस-संगति के प्रभाव से उद्धव का लौह-हृदय कंचन बन गया। प्रेमरस से उनका द्विधा ज्ञान नष्ट हो गया वे 'ऊधौ तें मधुकर' बन गये।

उपर्युक्त विवेचन से नंददास के दार्शनिक विचारों की स्पष्ट रूपरेखा सम्मुख आ जाती है। दर्शन से जटिल तथा शुष्क विषय को भी नंददास ने काव्य-कौशल द्वारा इतनी चतुरता से व्यक्त किया है कि भंवरगीत का यह प्रसंग विचार-प्रधान होते हुये भी नीरस होने से बच गया है।

कला-पक्ष-भाषा

भावों की अभिव्यंजना का सरलतम साधन भाषा है। भाषा के माध्यम से भावाभिव्यक्ति अत्यन्त सहज तथा स्वाभाविक हो जाती है। भाषा जितनी ही प्रौढ़ तथा पूर्ण होगी भावों के वहन करने में उतनी ही समर्थ हो सकेगी। भक्ति काल में ब्रज-भाषा भावाभिव्यक्ति का साधन थी। ब्रज प्रान्त की बोल-चाल की भाषा होने के अतिरिक्त वह काव्य-जगत की भी भाषा थी। कृपाराम ने उसे साहित्यिक माध्यम के रूप में ग्रहण कर १५९८ में हित तरंगिणी की रचना की थी। वल्लभ सम्प्रदाय की उत्तर भारत में स्थापना होने के पश्चात् ब्रज भाषा कृष्ण चरित्र का माध्यम बनी। नन्ददास के पूर्व सूरदास परमानन्ददास आदि ब्रज भाषा में कृष्ण-काव्य की सुन्दर रचना प्रस्तुत कर चुके थे। अतः नन्ददास को ब्रज-भाषा अपने समृद्ध रूप में ही प्राप्त हुई जिसे नन्ददास ने और भी अधिक परिष्कृत तथा माधुर्यपूर्ण बना दिया। यों तो ब्रज-भाषा अपनी व्यापकता, सौष्ठव माधुय तथा कोमलता के लिए प्रसिद्ध ही थी किन्तु कृष्ण-भक्त कवियों ने इसे और भी अधिक लचीला, व्यापक तथा समृद्धिशाली रूप प्रदान किया।

नंददास की समस्त रचनाएँ ब्रजभाषा में ही हैं। भँवरगीत जैसा कि पूर्व ही लिखा जा चुका है, नंददास की अन्तिम रचनाओं में से है। अतः भँवरगीत की रचना तक कवि की भाषा प्रौढ़ और प्रांजल

हो चुकी थी। भाषा में पूर्ण निखार आ गया था। सरल शब्दों में हृदयगत सूक्ष्म भावों की अभिव्यंजना कला में नंददास पूर्ण निपुण थे। शृंगार रस की रचना होने के फलस्वरूप इसमें प्रसाद तथा माधुर्य गुणों का समावेश हुआ है। कर्ण कटु टवर्ग, लम्बे समास युक्त पदों तथा संयुक्त व्यंजनों से भाषा को बचाए रखने में कवि सर्वत्र प्रयत्नशील है। भावों की सुकुमारता के अनुसार ही भाषा भी सुकुमार है।

भँवरगीत के पूर्व-पक्ष में दार्शनिक विवेचन की ही प्रधानता है। दार्शनिक विचारों की विवेचना प्रौढ़ तथा पांडित्य-पूर्ण भाषा में हुई है किन्तु जहाँ गोपियाँ तर्क से हटकर भावमयी बन जाती हैं वहाँ सुकुमार भावों की अभिव्यक्ति सरल शब्दावली तथा भाषा के लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा ही की गई है। उद्धव के इस कथन में भाषा का माधुर्य तथा परिस्थिति का चित्रण स्पष्ट दिखाई पड़ता है—

> और काम सब छाँड़ि कै, उन लोगन सुख देहु।
> नातरु टूट्यौ जात अब ही नेह सनेहु।
> करौगे तौ कहा॥ भँ० गी० ७२

भँवरगीत में संस्कृत के तत्सम रूपों का प्रयोग नहीं मिलता है। संस्कृत के तत्सम शब्द घिस घिसाकर ब्रज भाषा के अपने साँचे में ढल गए हैं। इस प्रकार ब्रजभाषा में तद्भव रूपों का प्रयोग ही प्रचुरता से मिलता है। भँवरगीत में भी ऐसे ही शब्दों का प्रयोग मिलता है जो ब्रजभाषा की ठेठ शब्दावली के अन्तर्गत आ जाते हैं। प्रेम ध्वजा—प्रेम धुजा। परिक्रमा—परिकर्मा। स्मरण—सुमिरन। ज्योति—जोति आदि। इसमें 'ज्ञ' के स्थान पर 'ग्या' और 'ण' के स्थान पर 'न' का प्रयोग मिलता है जिसका प्रयोग अधिक मधुर है। तालव्य 'श' के स्थान पर दन्त्य 'स' का प्रयोग भी ब्रजभाषा की अपनी विशेषता है जो भँवरगीत में भी स्पष्ट लक्षित होती है। ग्यान—ज्ञान। लावण्य—लावन्य। विश्व—विस्व। श्याम—स्याम। नाश—नास। कुशल—कुसल।

पूर्वी हिन्दी के शब्द

नंददास की भाषा में इतर प्रान्तीय शब्दों का बहिष्कार भी

एक आँधरौ, हिय की फूटी, दौरत पहिरि खराऊँ ।
सूर सकल षट दरसन वै, हों बारहखरी पढ़ाऊँ ॥ सूर ४७४४

इस भाँति भंवरगीत का मूल उद्देश्य सिद्ध होता है। गोपियों की पारस-संगति के प्रभाव से उद्धव का लौह-हृदय कंचन बन गया। प्रेमरस से उनका द्विधा ज्ञान नष्ट हो गया वे 'ऊधौ तें मधुकर' बन गये।

उपर्युक्त विवेचन से नंददास के दार्शनिक विचारों की स्पष्ट रूपरेखा सम्मुख आ जाती है। दर्शन से जटिल तथा शुष्क विषय को भी नंददास ने काव्य-कौशल द्वारा इतनी चतुरता से व्यक्त किया है कि भंवरगीत का यह प्रसंग विचार-प्रधान होते हुये भी नीरस होने से बच गया है।

कला-पक्ष-भाषा

भावों की अभिव्यंजना का सरलतम साधन भाषा है। भाषा के माध्यम से भावाभिव्यक्ति अत्यन्त सहज तथा स्वाभाविक हो जाती है। भाषा जितनी ही प्रौढ़ तथा पूर्ण होगी भावों के वहन करने में उतनी ही समर्थ हो सकेगी। भक्ति काल में ब्रज-भाषा भावाभिव्यक्ति का साधन थी। ब्रज प्रान्त की बोल-चाल की भाषा होने के अतिरिक्त वह काव्य-जगत की भी भाषा थी। कृपाराम ने उसे साहित्यिक माध्यम के रूप में ग्रहण कर १५६८ में हित तरंगिणी की रचना की थी। वल्लभ सम्प्रदाय की उत्तर भारत में स्थापना होने के पश्चात् ब्रज भाषा कृष्ण चरित्र का माध्यम बनी। नन्ददास के पूर्व सूरदास परमानन्ददास आदि ब्रज भाषा में कृष्ण-काव्य की सुन्दर रचना प्रस्तुत कर चुके थे। अतः नन्ददास को ब्रज-भाषा अपने समृद्ध रूप में ही प्राप्त हुई जिसे नन्ददास ने और भी अधिक परिष्कृत तथा माधुर्यपूर्ण बना दिया। यों तो ब्रज-भाषा अपनी व्यापकता, सौष्ठव माधुय तथा कोमलता के लिए प्रसिद्ध ही थी किन्तु कृष्ण-भक्त कवियों ने इसे और भी अधिक लचीला, व्यापक तथा समृद्धिशाली रूप प्रदान किया।

नंददास की समस्त रचनाएँ ब्रजभाषा में ही हैं। भँवरगीत जैसा कि पूर्व ही लिखा जा चुका है, नंददास की अन्तिम रचनाओं में से है। अतः भँवरगीत की रचना तक कवि की भाषा प्रौढ़ और प्रांजल

हो चुकी थी। भाषा में पूर्ण निखार आ गया था। सरल शब्दों में हृदयगत सूक्ष्म भावों की अभिव्यंजना कला में नंददास पूर्ण निपुण थे। श्रृंगार रस की रचना होने के फलस्वरूप इसमें प्रसाद तथा माधुर्य गुणों का समावेश हुआ है। कर्ण कटु टवर्ग, लम्बे समास युक्त पदों तथा संयुक्त व्यंजनों से भाषा को बचाए रखने में कवि सर्वत्र प्रयत्नशील है। भावों की सुकुमारता के अनुसार ही भाषा भी सुकुमार है।

भँवरगीत के पूर्व-पक्ष में दार्शनिक विवेचन की ही प्रधानता है। दार्शनिक विचारों की विवेचना प्रौढ़ तथा पांडित्य-पूर्ण भाषा में हुई है किन्तु जहाँ गोपियाँ तर्क से हटकर भावमयी बन जाती हैं वहाँ सुकुमार भावों की अभिव्यक्ति सरल शब्दावली तथा भाषा के लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा ही की गई है। उद्धव के इस कथन में भाषा का माधुर्य तथा परिस्थिति का चित्रण स्पष्ट दिखाई पड़ता है—

और काम सब छाँड़ि कै, उन लोगन सुख देहु।
नातरु टूट्यौ जात अब ही नेह सनेहु।
करौगे तौ कहा॥ भँ० गी० ७२

भँवरगीत में संस्कृत के तत्सम रूपों का प्रयोग नहीं मिलता है। संस्कृत के तत्सम शब्द घिस घिसाकर ब्रज भाषा के अपने साँचे में ढल गए हैं। इस प्रकार ब्रजभाषा में तद्भव रूपों का प्रयोग ही प्रचुरता से मिलता है। भँवरगीत में भी ऐसे ही शब्दों का प्रयोग मिलता है जो ब्रजभाषा की ठेठ शब्दावली के अन्तर्गत आ जाते हैं। प्रेम ध्वजा—प्रेम धुजा। परिक्रमा— परिकर्मा। स्मरण—सुमिरन। ज्योति—जोति आदि। इसमें 'ज्ञ' के स्थान पर 'ग्या' और 'ण' के स्थान पर 'न' का प्रयोग मिलता है जिसका प्रयोग अधिक मधुर है। तालव्य 'श' के स्थान पर दन्त्य 'स' का प्रयोग भी ब्रजभाषा की अपनी विशेषता है जो भँवरगीत में भी स्पष्ट लक्षित होती है। ग्यान—ज्ञान। लावण्य—लावन्य। विश्व—विस्व। श्याम—स्याम। नाश—नास। कुशल—कुसल।

पूर्वी हिन्दी के शब्द

नंददास की भाषा में इतर प्रान्तीय शब्दों का बहिष्कार भी

किया गया है। पूर्वी हिन्दी के कुछ रूपों का प्रयोग अवश्य मि.। जाता है—

नीके हैं बलबीर जू बोलति बचन रसाल ।[1]
बहुत पाइ कै रावरे प्रीत न डारो तोरि ।[2]
इनके निर्दय रूप में नाहिन कोउ चित्र ।[3]

विदेशी शब्द

अरबी फारसी के विदेशी शब्दों का प्रयोग अपवाद-रूप में ही मिलता है। नंददास की भाषा के विषय में नंददास की ग्रन्थावली की भूमिका में शुक्ल जी लिखते हैं—"नंददास की भाषा में विदेशी शब्दावली का एक प्रकार से पूर्ण बहिष्कार मिलता है। फारसी तथा अरबी के बहुत ही थोड़े तद्भव शब्द प्रयत्नपूर्वक खोजने पर ही कवि की कृतियों में निकाले जा सकते हैं और वे भी ऐसे रूप में प्रयुक्त हुए हैं कि उनकी व्युत्पत्ति से अपरिचित साधारण पाठक को उनके विदेशी होने का भान भी नहीं होता।[4] इस प्रकार कवि ने भाषा की शुद्धता का पूर्ण विचार रखा है। उसने ब्रज बोली के प्रचलित तथा घरेलू शब्दों के प्रयोग से भाषा को सप्राण तथा सरस बनाया है। भाषा का अथक परिश्रम से निर्मित रूप भँवरगीत में नहीं दिखाई पड़ता। भावावेश के समय बोलचाल की सरल भाषा तथा लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा ही भाव प्रकट किए गए हैं। व्यंग्य प्रधान होने के कारण सूरदास के समान ही नंददास ने व्यंजना का आश्रय ग्रहण किया है। अतः नंददास ने पद-योजना पर भी विशेष ध्यान दिया है। एक एक पद ढूँढ़ ढूँढ़ कर इस प्रकार जड़ दिया गया है जिससे यह सरल तथा निरलंकारिक भाषा हृदय के सूक्ष्मतम भावों को व्यक्त करने में पूर्ण समर्थ हो सकी है।

मुहावरे तथा लोकोक्तियाँ

मुहावरे तथा कहावतों का प्रयोग भाषा को अधिक लोचदार बनाता है। लाक्षणिक अभिव्यंजना के लिए यह अति आवश्यक है।

१—पंक्ति १८ नंददास—शुक्ल जी
२— ,, १५४ ,, ,,
३— ,, १७३ ,, ,,
४—पृ० ११३—नंददास ग्रन्थावली—प्रथम संस्करण १९४३

भँवरगीत में मुहावरों तथा कथावतों का प्रयोग भावना की तीव्रता को प्रकट करने के लिए ही हुआ है—

प्रेम पियूषे छाड़ि कै कौन समेटै धूरि[1]
दुरि दुरि बन और, कहा हिय लौन लगावौ[2]
छुधित ग्रास मुखकाढ़ि[3]
फाटि हियरौ चल्यौ[4]
जबहिं लौं बाँधी मूठी[5]
घर आयौ नाग न पूजहीं बाँबी पूजन जाहिं ।[6]

अलंकार

काव्य में अलंकारों का प्रयोग दो दृष्टिकोणों से होता है। प्रथम भाव-व्यंजना के निमित्त, द्वितीय चमत्कार प्रदर्शन के निमित्त। कुशल कवि अधिकांश रूप में अलंकारों का प्रयोग प्रथम विचार से ही करता है। अलंकारों के चमत्कारिक प्रयोग की रुचि रीतिकाल में ही अधिक दिखाई पड़ती है। नंददास ने अलंकारों का प्रयोग भाषा तथा भाव दोनों को ही उत्कर्ष प्रदान करने के लिये किया है। नंददास ने शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों का ही प्रयोग किया है। शब्दालंकारों में पुनरुक्ति प्रकाश तथा अनुप्रास का सुन्दर प्रयोग मिलता है। छेकानुप्रास की छटा स्थान-स्थान पर दिखाई पड़ती है। अनुप्रास के सरल, स्वाभाविक प्रयोग से भाषा के नाद सौन्दर्य में भी वृद्धि हुई है।

अर्थालंकारों के अन्तर्गत कवि ने साम्यमूलक उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, संदेह, स्मरण, प्रतीप आदि अलंकारों का ही अधिक प्रयोग किया है। भँवरगीत में अलंकारों का प्रयोग अपेक्षाकृत कम हुआ है। यहाँ भाव व्यंजना पर ही विशेष ध्यान दिया गया है। भँवरगीत का मुख्य अलंकार रूपक है जो स्वतः ही स्थान स्थान पर आ गया है—

१—पंक्ति ५८
२— ,, १५२
३— ,, २०३
४— ,, ३००
५— ,, ३५२
६— ,, ८६

प्रेम पियूषै छाड़ि के कौन समैहैं धूरि[1]
वा गुन की परछाँह री माया-दर्पन बीच[2]
प्रेम-अमृत मुख वें श्रवत, अंबुज-नैन चुचात[3]
दुख-जल निधि हम बूड़ही कर अवलबन देहु[4]
तापाछे फिरि मधुप यह लायौ जोग-भुजंग[5]
दुविधा-रस उपजाइ कै, दुखित प्रेम आनन्द[6]
जोग-चटसार में[7]
कुब्जा तीरथ जाइ, करो इन्द्रिन कौ मेला[8]

छन्द

"भ्रमरगीत की रचना मिश्रित छन्दों में हुई है। पहले छन्द में त्रिलोकी और दोहे का सम्मिश्रण है और अन्त में दश मात्राओं की टेक है। शेष छन्दों में रोला के दो चरणों के पीछे एक दोहा है और अन्त में दश मात्राओं की टेक है।"[9] भँवरगीत में प्रयुक्त दोहा रोला और दश मात्रा के टेक वाले छन्द के विषय में विद्वानों में मतभेद है। भँवरगीत की भूमिका में श्री विश्वम्भरनाथ ने इसे नंददास का मौखिक प्रयोग माना है।[10] डा० दीनदयाल गुप्त के विचार से इसी छन्द का प्रयोग सर्वप्रथम सूरदास ने दान लीला वर्णन में किया है।[11] श्री उमाशंकर शुक्ल, डा० दीनदयाल गुप्त से पूर्ण सहमत हैं। नंददास ग्रन्थावली में वे लिखते हैं, 'कदाचित् इस अपूर्व छन्द का प्रयोग सर्वप्रथम सूरसागर में हुआ है और उसी के अनुकरण में कवि ने इस छन्द की रचना की। किन्तु यह कहना पड़ेगा

१—पंक्ति ५८
२— ,, ९८
३— ,, १४३
४— ,, १४८
५— ,, २३३
६— ,, २४८
७— ,, २७०
८— ,, २८२
९—पृ० ३४-३५ भंवरगीत की भूमिका—विश्वम्भरनाथ मेहरोत्रा, १९३६
१०—पृ० ३५
११—पृ० ८८६ अष्टछाप

कि उसके प्रयोग में भी उसने रोले के समान ही अद्वितीय सफलता पाई है। इस छन्द के अन्त में आने वाली दस मात्राओं की भिन्नार्थी टेक बड़ा ही महत्वपूर्ण कार्य संपादित करती है। उसमें कवि दोहे और रोले के भावों का निचोड़ रख देता है।[1] उपयुक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भंवरगीत में प्रयुक्त छन्द नंददास का यद्यपि मौखिक प्रयोग नहीं है किन्तु छन्द की ख्याति और लोकप्रियता का श्रेय नंददास को ही दिया जायेगा।

संगीतात्मकता

अष्टछाप के समस्त कवियों ने कृष्ण-कीर्तन को प्रमुख रूप से ग्रहण किया है। इनकी रचनाएँ कृष्ण मंदिर में होने के कारण राग रागनियों में बंधी हैं। नंददास भी सूरदास की भांति कृष्ण-मूर्ति के सम्मुख कीर्तन किया करते थे। गान विद्या में निपुण होने के कारण ये भाषा को श्रुतिमधुर, प्रवाहपूर्ण और संगीतमय बनाने में सफल हुए हैं। मुक्तक पदों में संगीत द्वारा भाव-व्यंजना अति मनोरम हो जाती है। नंददास ने शब्द चयन में इन बातों का विशेष ध्यान रखा है। पद-रचना के सौष्ठव के कारण ही 'नंददास जड़िया' कहलाते हैं। यद्यपि इनका यह स्वरूप रासपंचाध्यायी से अधिक प्रखर है।

पद-रचना के सौष्ठव के कारण

नंददास के पूर्व हिन्दी साहित्य में सूरदास, परमानन्ददास तथा तुलसीदास की भ्रमरगीत सम्बन्धी रचनाएँ उपलब्ध थीं। सूरदास तथा नंददास के भ्रमरगीतों के कथानकों का विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन भी पीछे किया जा चुका है। परमानन्ददास ने भ्रमरगीत पर न दो स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा है न सूरदास के सदृश विस्तृत वर्णन ही प्रस्तुत किया है। परमानंददास के भ्रगरगीत सम्बन्धी पदों में दार्शनिक तत्वों का भी अधिक विवेचन नहीं है। उनकी गोपियाँ भाव-मग्ना विरहिणी हैं। तुलसीदास की गोपियों के विषय में भी यही कहा जा सकता है। अतः काव्यगत तुलना के लिए भी सूरदास का संक्षिप्त भ्रमरगीत ही लिया जा सकता है। सूरदास के संक्षिप्त भ्रमरगीतों में नंददास के भ्रमरगीतों के समान न तो कथा का ही विस्तार है और न भावात्मक स्थलों का सम्यक् चित्रण है। प्रबन्धा-

१—पृ० ११४—नंददास ग्रन्थावली।

रमकता यद्यपि दोनों में है किन्तु भँवरगीत में जितना प्रवाह है उतना सूरदास की रचना (संक्षिप्त भ्रमरगीतों में) में नहीं मिलता। दार्शनिक विचारों का प्राधान्य दोनों ही में है किन्तु नंददास में अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत तथा व्यवस्थित रूप में मिलता है। नंददास ने दर्शन के शुष्क तथा नीरस सिद्धान्तों का निरूपण काव्यमय सरसता तथा रोचकता से किया है। भावों की अभिव्यक्ति में सूरदास की अपेक्षा नंददास की गोपियाँ अधिक चतुर हैं। उनमें हृदय के सदृश बुद्धि-पक्ष भी प्रधान है। फिर भी यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि दार्शनिक विवाद की प्रेरणा सूरदास से ही नंददास ने ग्रहण की है। सूरदास की विरह व्यंजना यद्यपि परम्परागत उपमानों तथा प्रतीकों से युक्त है किन्तु उनकी व्यंजना शैली विदेशी प्रभाव से सर्वथा अछूती है किन्तु नन्ददास के विरह-वर्णन में सूफी प्रभाव की झलक दिखाई पड़ती है—

कोउ कहे रे मधुप, कौन तुम कहै मधुकारी।
लिये फिरत मुख जोग गाँठि प्रेमी वधुकारी॥
रुधिर पान कियौ बहुत कै, अधर अरुन रंग रात।
अब ब्रज में आये कहा, करन कौन कौ घात॥
जात किन पातकी॥ भं० गी० ५२

यह पद काव्य कौशल के विचार से कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो किन्तु शृङ्गार रस के अन्तर्गत रुधिर पान की भावना विदेशी प्रभाव ही माना जायेगा। भारतीय पद्धति इस प्रकार के वर्णन को प्रोत्साहन नहीं देती। भँवरगीत में इस प्रकार का वर्णन अपवाद मात्र ही समझा जायेगा।

सूरदास ने गोपियों की विरह व्यथा का विस्तार से वर्णन किया उनके विरह-वर्णन में जो गम्भीरता और संवेदनात्मक कसक भरी है वह नंददास के भंवरगीत में दुर्लभ है। सूरदास ने विरह की एक दशा तथा विप्रलम्भ के संचारी भावों पर अनेक सुन्दर पद लिखे हैं। सूरदास का भ्रमरगीत विरह का एक अथाह सागर है जिसमें गोपियों के अन्तराल की अनन्य पीड़ा तरंगित हो रही है। भविष्य के कवियों में सूर से इसी भावुकता को ग्रहण किया है जबकि नन्ददास ने उन्हें तर्कपूर्ण दार्शनिक विवाद का मार्ग दिखाया।

भविष्य में इन्हीं आधारों पर कुछ भ्रमरगीत भाव प्रधान तथा कुछ दर्शन प्रधान हो गये हैं।

भंवरगीत का स्थान

भाव, भाषा, रचना विस्तार तथा विभिन्न भावों की काव्यमयी अभिव्यक्ति के विचार से सूरदास का भ्रमरगीत (सम्पूर्ण) नन्ददास के भंवरगीत से अधिक उच्च कोटि का है किन्तु केवल पद-लालित्य और भाषा माधुर्य की दृष्टि से नन्ददास का स्थान सूर से ऊँचा हो जाता है। नन्ददास के भँवरगीत को अपनी विशेषताओं के कारण काव्य-जगत में एक उच्च स्थान प्राप्त है।

हरिराय

हरिराय जी को भ्रमरगीत परम्परा के अन्तर्गत मानने का मुख्य कारण उनकी रचना 'सनेह लीला'[1] है। यह १२३ दोहों की लघु रचना है। कथानक के विचार से हरिराय सूरसागर की अपेक्षा भागवत से अधिक प्रभावित हैं। उन्होंने उद्धव-नन्द यशोदा भेंट का भी विशेष वर्णन किया है। उद्धव नंद यशोदा के समक्ष ही कृष्ण का संदेश सुनाते हैं। गोपियों के सम्मुख उद्धव अत्यधिक अल्पभाषी बन जाते हैं। उद्धव के संदेश में ज्ञान योग की विस्तृत चर्चा नहीं मिलती। पूर्ण ब्रह्म को साधना द्वारा भजने का संकेत मात्र है। किन्तु हरिराय की गोपियाँ सूरदास की गोपियों के सदृश ही मुखर हैं। उद्धव के अद्वैतवाद की ओट में वे उन्हें खूब बनाती हैं—

पठए आये कौन के कौन मित्र को जानि।
इहाँ तुम्हारी कौन सो कहो कौन पहिचान ॥ ६४ ॥

सनेह लीला में यद्यपि भ्रमर-प्रवेश का उल्लेख नहीं है किन्तु भ्रमर व्याज से उद्धव तथा कृष्ण पर व्यंग्य करने से गोपियाँ चूकती नहीं हैं। भ्रमर रूप तथा कार्य सादृश्य से उद्धव तथा अप्रत्यक्ष रूप से कृष्ण पर व्यंग्य करती हुई कहती हैं—

तन कारो मन साँवरो कपटी परम पुनीत।
मधुकर लुबधे वास के निमख एक के मीत ॥ ६६ ॥

१—ना० प्र० सभा

त्मकता यद्यपि दोनों में है किन्तु भँवरगीत में जितना प्रवाह है उतना सूरदास की रचना (संक्षिप्त भ्रमरगीतों में) में नहीं मिलता। दार्शनिक विचारों का प्राधान्य दोनों ही में है किन्तु नंददास में अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत तथा व्यवस्थित रूप में मिलता है। नंद-दास ने दर्शन के शुष्क तथा नीरस सिद्धान्तों का निरूपण काव्यमय सरसता तथा रोचकता से किया है। भावों की अभिव्यक्ति में सूरदास की अपेक्षा नंददास की गोपियाँ अधिक चतुर हैं। उनमें हृदय के सदृश बुद्धि-पक्ष भी प्रधान है। फिर भी यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि दार्शनिक विवाद की प्रेरणा सूरदास से ही नंददास ने ग्रहण की है। सूरदास की विरह व्यंजना यद्यपि परम्परागत उपमानों तथा प्रतीकों से युक्त है किन्तु उनकी व्यंजना शैली विदेशी प्रभाव से सर्वथा अछूती है किन्तु नन्ददास के विरह-वर्णन में सूफी प्रभाव की झलक दिखाई पड़ती है—

कोउ कहे रे मधुप, कौन तुम कहै मधुकारी।
लिये फिरत मुख जोग गाँठि प्रेमी वधुकारी॥
रुधिर पान कियौ बहुत कै, अधर अरुन रंग रात।
अब ब्रज में आये कहा, करन कौन की घात॥
जात किन पातकी॥ भं० गी० ५२

यह पद काव्य कौशल के विचार से कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो किन्तु शृङ्गार रस के अन्तर्गत रुधिर पान की भावना विदेशी प्रभाव ही माना जायेगा। भारतीय पद्धति इस प्रकार के वर्णन को प्रोत्साहन नहीं देती। भँवरगीत में इस प्रकार का वर्णन अपवाद मात्र ही समझा जायेगा।

सूरदास ने गोपियों की विरह व्यथा का विस्तार से वर्णन किया उनके विरह-वर्णन में जो गम्भीरता और संवेदनात्मक कसक भरी है वह नंददास के भंवरगीत में दुर्लभ है। सूरदास ने विरह की एक दशा तथा विप्रलम्भ के संचारी भावों पर अनेक सुन्दर पद लिखे हैं। सूरदास का भ्रमरगीत विरह का एक अथाह सागर है जिसमें गोपियों के अन्तराल की अनन्य पीड़ा तरंगित हो रही है। भविष्य के कवियों में सूर से इसी भावुकता को ग्रहण किया है जबकि नन्ददास ने उन्हें तर्कपूर्ण दार्शनिक विवाद का मार्ग दिखाया।

भविष्य में इन्हीं आधारों पर कुछ भ्रमरगीत भाव प्रधान तथा कुछ दर्शन प्रधान हो गये हैं।

भंवरगीत का स्थान

भाव, भाषा, रचना विस्तार तथा विभिन्न भावों की काव्यमयी अभिव्यक्ति के विचार से सूरदास का भ्रमरगीत (सम्पूर्ण) नन्ददास के भंवरगीत से अधिक उच्च कोटि का है किन्तु केवल पद-लालित्य और भाषा माधुर्य की दृष्टि से नन्ददास का स्थान सूर से ऊँचा हो जाता है। नन्ददास के भँवरगीत को अपनी विशेषताओं के कारण काव्य-जगत में एक उच्च स्थान प्राप्त है।

हरिराय

हरिराय जी को भ्रमरगीत परम्परा के अन्तर्गत मानने का मुख्य कारण उनकी रचना 'सनेह लीला'[1] है। यह १२३ दोहों की लघु रचना है। कथानक के विचार से हरिराय सूरसागर की अपेक्षा भागवत से अधिक प्रभावित हैं। उन्होंने उद्धव-नन्द यशोदा भेंट का भी विशेष वर्णन किया है। उद्धव नंद यशोदा के समक्ष ही कृष्ण का संदेश सुनाते हैं। गोपियों के सम्मुख उद्धव अत्यधिक अल्पभाषी बन जाते हैं। उद्धव के संदेश में ज्ञान योग की विस्तृत चर्चा नहीं मिलती। पूर्ण ब्रह्म को साधना द्वारा भजने का संकेत मात्र है। किन्तु हरिराय की गोपियाँ सूरदास की गोपियों के सदृश ही मुखर हैं। उद्धव के अद्वैतवाद की ओट में वे उन्हें खूब बनाती हैं—

पठए आये कौन के कौन मित्र को जानि।
इहाँ तुम्हारी कौन सो कहो कौन पहिचान॥ ६४॥

सनेह लीला में यद्यपि भ्रमर-प्रवेश का उल्लेख नहीं है किन्तु भ्रमर व्याज से उद्धव तथा कृष्ण पर व्यंग्य करने से गोपियाँ चूकती नहीं हैं। भ्रमर रूप तथा कार्य सादृश्य से उद्धव तथा अप्रत्यक्ष रूप से कृष्ण पर व्यंग्य करती हुई कहती हैं—

तन कारो मन साँवरो कपटी परम पुनीत।
मधुकर लुबधे वास के निमख एक के मीत॥ ६६॥

१—ना० प्र० सभा

अन्य भक्त कवियों के सदृश हरिराय जी ने भी अन्त में सगुण भक्त का ही प्रतिपादन किया है। कृष्ण स्वयं गोपी-प्रेम को ही भक्ति की सच्ची कसौटी मानते हैं। अन्तिम छन्द १२३ में रचना को महत्व प्रदान करने के निमित्त ही उद्धव गोपी कथा महिमा कही गई है।

सनेह लीला भावना प्रधान रचना है। इसमें तर्क को स्थान नहीं। गोपियाँ उद्धव के उपदेश को अस्वीकृत करने के लिए किसी भाँति के तर्क जाल में नहीं फँसतीं। सनेह लीला की अन्य विशेषता इसकी प्रबन्धात्मकता है। कथा-क्रम का निर्वाह इसमें सुचारु रूप से मिलता है। रचना का कलात्मक स्वरूप महत्वपूर्ण नहीं है। समस्त दृष्टिकोणों से रचना साधारण कोटि की ही मानी जा सकती है।

गौण कवि

परमानन्ददास

आचार्य वल्लभ के शिष्य परमानन्ददास ने सूरदास की भाँति ही कृष्ण चरित सम्बन्धी अनेक पद रचे हैं। इनकी रचना 'परमानंद सागर' का उल्लेख हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने भी किया है। डा० दीनदयाल गुप्त ने परमानन्द के काव्य का विशेष रूप से मार्मिक अध्ययन कर इनके वर्ण्य विषय एवं विभिन्न प्रसंगों की एक सूची प्रकाशित की है। काव्य परिमाण के अनुसार उन्हें सूर तथा नन्ददास के पश्चात् इनका स्थान निर्धारित किया है और काव्यकला की दृष्टि से वे इन्हें द्वितीय स्थान देते हैं। डा० गुप्त के अनुसार परमानन्दास ने भँवरगीत सम्बन्धी अनेक सुन्दर पद लिखे हैं। भ्रमरगीत के पद विरह वर्णन के अन्तर्गत आते हैं। इसका विवेचन करते हुये उन्होंने लिखा है, परमानन्ददास ने कृष्ण चरित्र के कथानक भाग को नहीं लिया है। इसीलिये उनके विरह के पद सूरसागर के क्रम के अनुसार नहीं है। वैसे परस्पर गोपी वार्तालाप तथा गोपी उद्धव संवाद को प्रगट करने वाले अनेक पद उनके काव्य में हैं जिनमें व्रजजनों की विकल वेदना का चित्रण है।[1]

परमानन्द सागर अप्रकाशित रचना है। इसी कारण इसके अध्ययन का सम्यक् अवसर नहीं मिल सका, न सहृदय परमानन्द

१—अष्ट छाप

के काव्य का उचित रूप में आस्वादन ही कर सका। डा० गुप्त की रचना अष्टछाप द्वारा ही परमानन्द के काव्य पर विशेष प्रकाश डाला गया है। डा० गुप्त ने वियोग शृंगार के अन्तर्गत परमानन्द के तीस पदों को उद्धृत किया है। इनमें से कुछ विरह व्यंजना उद्धव आगमन के पूर्व से सम्बन्धित हैं। अन्य का सम्बन्ध गोपी-उद्धव-संम्वाद से है। पूर्ण रचना सम्मुख न होने के कारण परमानंद के भँवरगीत सम्बन्धी पदों का यथा तथ्य विवेचन असम्भव है। किन्तु जो पद अष्टछाप में उद्धृत किये गए हैं उनके अनुसार यह कहा जा सकता है कि परमानन्ददास ने विरह की समस्त दशाओं एवं प्रवास विरह की दश स्थितियों का मार्मिक वर्णन किया है। परमानन्ददास की भाव-व्यंजना और कल्पना सूरदास से होड़ करती जान पड़ती है। विरह विकल गोपी की चिन्ता एवं मूर्च्छा—दो विरह दशाओं का चित्रण परमानन्ददास ने निम्न पद में किया है—

> रैनि पपीहा बोल्यो री माई,
> नींद गई चिंता चित बाढ़ी सुरति स्याम की आई।
> सावन मास देखि बरषा रितु हौं उठि आंगन धाई।
> गरजत गगन दामिनी दमकत तामें जीउ उड़ाई।
> राग मलार कियो जब काहू मुरली मधुर बजाई,
> बिरहिन विकल दास परमानन्द धरनि पड़ी मुरझाई।[1]

गोपियों की इन्हीं दो दशाओं का चित्रण सूर ने लगभग इसी रूप में किया है—

> बहुरि पपीहा बोल्यो माई
> नीद गई चिंता चित बाढ़ी, सुरति स्याम की आई।
> सावन मास मेघ की बरषा, हौं उठि आंगन धाई।
> चहुँ दिसि गगन दामिनी कौंधित तिहि जिय अधिक डराई
> काहूँ राग मलार अलाप्यौ, मुरलि मधुर सुरगाई।
> सूरदास विरहिनि भइ व्याकुल धरनि पड़ी मुरझाई॥[2]

कृष्ण-विरह में व्याकुल गोपियाँ प्रति क्षण कृष्ण का ही ध्यान करतीं उनकी ही चर्चा में समय बितातीं किन्तु जब धीरे-धीरे भुवन

१—पृ० ७२४—अष्ट छाप

२—पद ३९५०—सूरसागर

भास्कर पश्चिम में अपना मुँह छुपा लेते और ग्वाल बाल गोचारण से लौटने लगते उनके हृदय में अतीत के वे दिन झूम उठते जब कृष्ण इसी समय मुरली बजाते आया करते थे—गोपियों को वे सुखद क्षण स्मरण हो आते और वे कह उठतीं—

यह बिरियाँ बनतें आवते
दूरहि तें बर वेनु अधर धर बारम्बार बजावते
कबहुक केहु भाँति चतुर चित अति ऊँचे सुर गावते।
कबहुक लै लै नाऊँ मनोहर धोरी धेनु बुलावते।
यह मिस नाउँ सुनाय श्याम घन मुरछे मनहि जगावते।
आगम सुख उपचार बिरह जुर बासर अंतर नसावते।
रुचि रुचि प्रेम पिया सैन दे क्रम क्रम बलिहि बढ़ावते।
परमानन्द प्रभु गुन निधि दरसनु पुनि पथ प्रगट करावते।[1]

संध्या का मनोरम दृश्य सूर की गोपियों में भी इस प्रकार की भावना जाग्रत करता है। वे भी परस्पर यही कहती हैं—

इहिं बिरियाँ बन तें ब्रज आवत।
दूरहिं तैं वह बेनु अधर धरि, बारम्बार बजावत॥
कबहुंक काहूँ भाँति चतुर चित अति ऊँचे सुर गावत।
कबहुँक लै लै नाम मनोहर, धौरी धेनु बुलावत॥
इहिं विधि बचन सुनाइ स्याम घन मुरछे मदन जगावत।
आगम सुख उपचार बिरह जुर, वासर अंत नसावत॥
रुचि रुचि प्रेम पियासे नैननि क्रम क्रम बलहि बढ़ावत।
सूर सकल रसविधि सुन्दर घन, आनंद प्रगट करावत॥[2]

डा० दीनदयाल गुप्त ने यह पद गुण कथन के उदाहरण स्वरूप उद्धृत किया है। मेरे विचार से यह स्मृति जाग्रत कर देता है और स्मृति स्वरूप हो वे प्रिय के गुणगान करने लगती हैं। स्मृति रूप में डा० गुप्त ने दो पद उद्धृत किए हैं। प्रथम की टेक है—

हरि तेरी लीला की सुधि आवति।

दूसरे पद में अवसर विशेष-घटना विशेष का उल्लेख है—

१—पृ० ७२४—अष्ट छाप
२—पद ३८१९—सूरसागर

मोहन वह क्यों प्रीति विसारी।
कहत सुनत समुझत उर अंतर दुख लागत है भारी।
एक दिवस खेलत वन भीतर बेनी सुहना संवारी।
बीनत फूल गयौ चुभि कंटक ऐसी विथा बिथारी।
हम पर कठिन हृदय अब कीनों लाल गोबरधन धारी,
परमानन्द बलबीर बिना हम मरत विरह की जारी।[१]

सूरदास ने भी स्मृति रूप में अनेक पद लिखे हैं। कृष्ण की एक एक लीलायें आज विरहिणियों का जीवन प्राण हैं।[२]

विरह दशाओं के अतिरिक्त परमानन्ददास तथा सूरदास के विरह की स्थितियों के वर्णन में भी अपूर्व साम्य दिखाई पड़ता है। बिरह की एक वह अवस्था जब विरहिणी को ऐसा जान पड़ता है मानो वह अग्नि में भस्म हुई जा रही है। काव्यशास्त्र में इसे 'संताप' की संज्ञा दी गई है। परमानन्ददास की गोपियाँ इसी स्थिति में हैं—

हरि बिनु वैरनि रैनि बढ़ी।
हम अपराधिनि निठुर बिधाता काहे को संवारि गढ़ी।
तन मन जोबन वृथा जातु है विरहा अनल डढ़ी,
नंद नंदन को रूप विचारत निसि घर होरि चढ़ी।
जिहिं गोपाल मेरे बस होते सो विद्या न पढ़ी,
परमानंद स्वामी न मिले तो घरते भली मढ़ी।[३]

सूरदास की गोपियाँ भी संताप की इसी विषम स्थिति में पड़ी तड़प रही हैं—

हरि बिनु बैरिनि नींद बढ़ी।
हौं अपराधिनि चतुर बिधाता, काहैं बनाइ गढ़ी॥
तन मन धन जोवत सुख संपति बिरहा अनल डढ़ी।
नंदनंदन कौ रूप निहारति, अह-निसि अटा चढ़ी॥
जिहिं गुपाल मेरैं बस होते, सो विद्या न पढ़ी।
सूरदास प्रभु हरि न मिलें तौ, घर तैं भली मढ़ी॥[४]

१—पृ० ७२५—अष्टछाप
२—पद ३८२१, ३८२२
३—पृ० ७२८ अष्टछाप
४—पद ३८८७ सूरसागर

संताप, असौष्ठव, कृशता आदि स्थितियों के अतिरिक्त प्रकृत चित्रण आदि में भी परमानंद और सूरदास एक ही सदृश दिखाई पड़ते हैं। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि भाव व्यंजना में परमानंददास सूर से पीछे नहीं हैं। इस साम्य के अतिरिक्त दोनों की अपनी विशेषता है। परमानंद सागर के प्रकाशित हो जाने पर परमानन्द के व्यक्तित्व का पूर्ण दर्शन सम्भव है और तब परमानंददास निश्चय ही प्रमुख एवं श्रेष्ठ भ्रमर गीतकारों में स्थान पा सकेंगे।

रहीम

रहीम ने भ्रमरगीत पर स्वतन्त्र रचना नहीं की है। कुछ स्फुट छन्द ही रचे हैं। रहीम रत्नावली में इस प्रसंग के कुछ बरवै उपलब्ध हैं। मुक्तक तथा अत्यन्त अल्प होने के कारण इसमें कथानक का विकास, साम्प्रदायिक सिद्धान्त तथा दार्शनिक विचारों—योग तथा भक्ति के निमित्त तर्क आदि का अभाव पूर्णतः स्वाभाविक ही है। रहीम के इन बरवै में गोपियों की मनोभावना का सरल तथा सुन्दर चित्रण मिलता है। समस्त बरवै गोपी कथन रूप में ही उपलब्ध हैं। उद्धव की उपस्थिति का ज्ञान गोपियों के वार्तालाप से ही होता है। गोपियाँ कृष्ण के मित्र उद्धव से कहती हैं—हम तो कृष्ण को स्वप्न में भी नहीं भुला सकतीं फिर तुम झूठा विश्वास देकर उन्हें हमारे हृदय से क्यों निकालना चाहते हो। उद्धव के संदेश में कितना कपट है उसे वे भलीभाँति जानती हैं। वे समझती हैं कि उद्धव जो कुछ कह रहे हैं उसमें सत्यता का अंश नहीं, निर्गुण ब्रह्म द्वारा उन्हें सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती और न उनकी विरह व्यथा ही शान्त हो सकती है। अपने अनन्य प्रेम की दुहाई देती हुई वे कहती हैं—

> कहा छलत हो ऊधौ दै परतीति।
> सपनेहू नहिं बिसरै, मोहनि मीति ॥ (रहीम रत्नावली ४३)

कृष्ण प्रेम के अटपटे मार्ग को अपना कर वे पहले ही लोक मर्यादा तथा जीवन की व्यावहारिकता को छोड़ चुकी थीं। इस समय तो कृष्ण-प्रेम में अनुरक्त गोपियों के पास उनका हृदय भी नहीं जिसे वे व्यवहार के नाते ही कुछ दिनों के लिए कृष्णस्वरूप निर्गुण ब्रह्म के पास भेज दें। अतः वे उद्धव में उपदेश को व्यावहारिक रूप देने पूर्णतः असमर्थ हैं। वे कृष्ण की निर्ममता को भी समझती हैं। श्याम

कितने निर्मोही और झूठे हैं किन्तु वे विवश हैं। अपनी निष्ठुरता में भी कृष्ण उनके हृदय में ही निवास करते हैं—

निरमोही अति झूठौ साँवर गात।
चुभ्यौ रहत चित कौधौ जानि न जात ॥५३

प्रियतम की कठोरता उसे प्रिया के हृदय से खींचकर दूर करने में असफल ही रहती है। उसकी स्मृति हृदय में एक टीस उत्पन्न करती है। स्मृति में अतीत साकार बन उठता है। रहीम की गोपियों की भी यही दशा है। आज उन्हें अतीत चलचित्र सा दिखाई पड़ रहा है। निर्मोही कृष्ण से प्रेम सम्बन्ध जोड़ने के निमित्त उन्हें कितना कुछ सहना पड़ा। कुल की मर्यादा और लोक लज्जा का त्याग, स्वजनों का क्रोध जिसके लिए हँसते हँसते स्वीकार किया वही मनमोहन अब हाथ छुड़ा कर अलग हो गए—

सास ननद गुरु पुरजन रहे रिसाय।
मोहन हू अस निसरे हे सखि हाय ॥ ७५

जीवन की इतनी विडम्बनापूर्ण पराजय में उन्हें कृष्ण का स्वार्थी रूप ही दिखाई देता है। यह स्वार्थवृत्ति मानव में ही नहीं पशु पक्षियों में भी है। मंजुलकंठी कोकिला और कृष्ण के व्यवहार में कितना साम्य है। मुरली की मधुर तान सुनाकर सुध बुध हर लेने वाले मनमोहन का कपट व्यवहार कोयल के सदृश ही है। बेचारा भोला काग अपने अण्डों के भ्रम से मोहवश कोयल के अण्डों को सेता है किन्तु निर्मोही कोकिल-बाल कब उसके प्रेम को समझ सके हैं—कृष्ण भी तो ऐसे ही हैं उनका क्या विश्वास किया जाय—

समुझि मधुप कोकिल की यह रस रीति।
सुनहु स्याम की सजनी का परतीति ॥ ८८

इस एक बरवै में रहीम ने अनेक भावों को भर दिया है। कृष्ण का पालन पोषण नंद यशोदा ने अपना ही पुत्र समझ कर किया था किन्तु बड़े होने पर वे बसुदेव देवकी के पुत्र बन व्रज से सम्बन्ध ही तोड़ बैठे। माता-पिता के साथ जिनका यह व्यवहार है वे गोपियों के साथ क्या करेंगे? उनका विश्वास ही क्या? इसमें एक ओर

संताप, असौष्ठव, कृशता आदि स्थितियों के अतिरिक्त प्रकृत चित्रण आदि में भी परमानंद और सूरदास एक ही सदृश दिखाई पड़ते हैं। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि भाव व्यंजना में परमानंददास सूर से पीछे नहीं हैं। इस साम्य के अतिरिक्त दोनों की अपनी विशेषता है। परमानंद सागर के प्रकाशित हो जाने पर परमानन्द के व्यक्तित्व का पूर्ण दर्शन सम्भव है और तब परमानंददास निश्चय ही प्रमुख एवं श्रेष्ठ भ्रमर गीतकारों में स्थान पा सकेंगे।

रहीम

रहीम ने भ्रमरगीत पर स्वतन्त्र रचना नहीं की है। कुछ स्फुट छन्द ही रचे हैं। रहीम रत्नावली में इस प्रसंग के कुछ बरवै उपलब्ध हैं। मुक्तक तथा अत्यन्त अल्प होने के कारण इसमें कथानक का विकास, साम्प्रदायिक सिद्धान्त तथा दार्शनिक विचारों—योग तथा भक्ति के निमित्त तर्क आदि का अभाव पूर्णतः स्वाभाविक ही है। रहीम के इन बरवै में गोपियों की मनोभावना का सरल तथा सुन्दर चित्रण मिलता है। समस्त बरवै गोपी कथन रूप में ही उपलब्ध हैं। उद्धव की उपस्थिति का ज्ञान गोपियों के वार्तालाप से ही होता है। गोपियाँ कृष्ण के मित्र उद्धव से कहती हैं—हम तो कृष्ण को स्वप्न में भी नहीं भुला सकतीं फिर तुम झूठा विश्वास देकर उन्हें हमारे हृदय से क्यों निकालना चाहते हो। उद्धव के संदेश में कितना कपट है उसे वे भलीभाँति जानती हैं। वे समझती हैं कि उद्धव जो कुछ कह रहे हैं उसमें सत्यता का अंश नहीं, निर्गुण ब्रह्म द्वारा उन्हें सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती और न उनकी बिरह व्यथा ही शान्त हो सकती है। अपने अनन्य प्रेम की दुहाई देती हुई वे कहती हैं—

कहा छलत हो ऊधौ दै परतीति।
सपनेहू नहिं बिसरै, मोहनि मीति॥ (रहीम रत्नावली ४२)

कृष्ण प्रेम के अटपटे मार्ग को अपना कर वे पहले ही लोक मर्यादा तथा जीवन की व्यावहारिकता को छोड़ चुकी थीं। इस समय तो कृष्ण-प्रेम में अनुरक्त गोपियों के पास उनका हृदय भी नहीं जिसे वे व्यवहार के नाते ही कुछ दिनों के लिए कृष्णस्वरूप निर्गुण ब्रह्म के पास भेज दें। अतः वे उद्धव में उपदेश को व्यावहारिक रूप देने पूर्णतः असमर्थ हैं। वे कृष्ण की निर्ममता को भी समझती हैं। श्याम

कितने निर्मोही और झूठे हैं किन्तु वे विवश हैं। अपनी निष्ठुरता में भी कृष्ण उनके हृदय में ही निवास करते हैं—

निरमोही अति झूठौ साँवर गात।
चुभ्यौ रहत चित कौधौ जानि न जात ॥५२

प्रियतम की कठोरता उसे प्रिया के हृदय से खींचकर दूर करने में असफल ही रहती है। उसकी स्मृति हृदय में एक टीस उत्पन्न करती है। स्मृति में अतीत साकार बन उठता है। रहीम की गोपियों की भी यही दशा है। आज उन्हें अतीत चलचित्र सा दिखाई पड़ रहा है। निर्मोही कृष्ण से प्रेम सम्बन्ध जोड़ने के निमित्त उन्हें कितना कुछ सहना पड़ा। कुल की मर्यादा और लोक लज्जा का त्याग, स्वजनों का क्रोध जिसके लिए हँसते हँसते स्वीकार किया वही मनमोहन अब हाथ छुड़ा कर अलग हो गए—

सास ननद गुरु पुरजन रहे रिसाय।
मोहन हू अस निसरे हे सखि हाय ॥ ७५

जीवन की इतनी विडम्बनापूर्ण पराजय में उन्हें कृष्ण का स्वार्थी रूप ही दिखाई देता है। यह स्वार्थवृत्ति मानव में ही नहीं पशु पक्षियों में भी है। मंजुलकंठी कोकिला और कृष्ण के व्यवहार में कितना साम्य है। मुरली की मधुर तान सुनाकर सुध बुध हर लेने वाले मनमोहन का कपट व्यवहार कोयल के सदृश ही है। बेचारा भोला काग अपने अण्डों के भ्रम से मोहवश कोयल के अण्डों को सेता है किन्तु निर्मोही कोकिल-बाल कब उसके प्रेम को समझ सके हैं—कृष्ण भी तो ऐसे ही हैं उनका क्या विश्वास किया जाय—

समुझि मधुप कोकिल की यह रस रीति।
सुनहु स्याम की सजनी का परतीति ॥ ८८

इस एक बरवै में रहीम ने अनेक भावों को भर दिया है। कृष्ण का पालन पोषण नंद यशोदा ने अपना ही पुत्र समझ कर किया था किन्तु बड़े होने पर वे बसुदेव देवकी के पुत्र बन व्रज से सम्बन्ध ही तोड़ बैठे। माता-पिता के साथ जिनका यह व्यवहार है वे गोपियों के साथ क्या करेंगे? उनका विश्वास ही क्या? इसमें एक ओर

तो कृष्ण की स्वार्थ-वृत्ति पर व्यंग्य किया गया है और दूसरी ओर गोपियों की निपट निराशा की स्थिति दिखाई पड़ती है जहाँ पहुँच कर व्यक्ति कुछ कह सकने में पूर्ण असमर्थ हो जाता है। वह अपना दुख भी ऐसे व्यक्ति के सम्मुख नहीं व्यक्त करना चाहता जो उसे समझ न सके। जहाँ सान्त्वना के दो कोमल शब्द भी न मिल सकें। वहाँ हृदय की पीड़ा का उद्घाटन कष्ट को बढ़ाने वाला ही होता है। गोपियाँ भी अन्त में यही कहती हैं—

विरहिन सब भाखत अब जनि रोय।
पीर पराई जनै तब कहु कोय॥ ७६॥

इसी भाव से मिलता हुआ एक अन्य दोहा भी रहीम ने कहा है—

रहिमन निज मन की व्यथा मन ही राखो गोय।
सुनि अठलैहैं लोग सब बांटि न लेहैं कोय॥

उद्धव के प्रति भी कुछ इसी प्रकार अठलाने का भाव गोपियों को दिखाई पड़ता है। जहाँ सहानुभूति का अभाव हो वहाँ दुख का वर्णन व्यर्थ है। जो दूसरे की पीड़ा को समझता ही नहीं, वहां हृदय की बात कहना भी मूर्खता ही है। गोपियाँ इस तथ्य से भली भाँति परिचित हैं।

सूरदास तथा तुलसी आदि आदि के सदृश रहीम ने भी रूप रस पान करने वाले नयनों की विकलता का वर्णन कई बरवै में किया है।[1] कृष्ण से बिछुड़ कर नेत्र अति विकल हैं—वे उझक-उझक कर द्वार ही पर जा लगते हैं -

उझकि उझकि चित दिन दिन हेरत द्वार।
जब ते बिछुरे सजनी नंद कुमार॥ ६७॥

विरह व्यथा के अन्तर्गत उद्दीपन विभाव का वर्णन भी इन बरवै में मिलता है। वसंत का आगमन विरहिणी गोपियों की पीड़ा को

१—योहि मीत बिन देखे छिन न सुहात।
पल पल भरि भरि उलझत दृग जल जात॥ ५७॥

× × ×

जब ते बिछुरे मिलवा कहु कस चैन।
रहत मरयौ हिय साँसन अंसुवन नैन॥ ५८॥

और भी तीव्र बना देता है। प्रकृति का मनमोहक रूप—शीतल मंद सुगन्ध समीर—तथा दिशाओं को मुखरित करती हुई कोयल की मंजुल कूक उनके हृदय की हूक बन जाती है—

दिस विदसान करत ज्यों कोयल कूक।
चतुर उठत है त्यों त्यों हिय में हूक ॥ ६५ ॥

यहाँ 'चतुर' सम्बोधन द्वारा वे उद्धव को अपनी पीड़ा की अनुभुति कराना चाहती है। जो मूर्ख है वह दूसरे की पीड़ा को क्या समझ सकेगा किन्तु जो चतुर है वह विरहिणी-व्यथा की कल्पना तो कर ही सकता है।

संसार का नियम है, व्यक्ति आता और चला जाता है, और जीवन का व्यवहार पूर्ववत चलता ही रहता है किन्तु उनमें वह उल्लास और आनन्द नहीं होता जो प्रियतम के निकट होने पर सुलभ है। बसंत आगमन के साथ ही होली का मादक त्यौहार आ जाता है। घर-घर ढोल और मंजीरे बज उठते हैं, सुहागिनें नवीन उल्लास में भर जाती हैं किन्तु ब्रज की दशा ही भिन्न है। केशर और अबीर की धूल उड़ाने तथा रंग से गलियों को भर देने वाले कृष्ण के अभाव में होली की पवित्र अग्नि दावाग्नि के सदृश कष्टकर तथा भयंकर जान पड़ती है। प्रति पर्व पर गोपियाँ आठ आठ आँसू रोती हैं। किन्तु कृष्ण पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उन्हें सबसे अधिक दुख तो इसी बात का है कि इतने निकट रह कर भी वे दर्शन से वंचित हैं।

'हरि न मिलत बसि मेरे यह अफसोस' ॥६८॥

सूरदास तथा नन्ददास आदि की गोपियों के समान ही रहीम की गोपियाँ भी इस विरह के मूल में कुब्जा प्रणय को ही पाती हैं। इसीलिए वे कृष्ण से कुछ नहीं कहना चाहतीं। उपालम्भ भी तो उसे ही दिया जाता है जिस पर अपना स्वत्व हो। जब कृष्ण अपने रहे ही नहीं तब उपालम्भ का मूल्य ही कितना? और वह दिया भी किसे जाय—

काह कान्ह ते कहनौ सब जग साखि।
कौन होत काहु के, कुबरी राखि ॥ ८४ ॥

परिस्थिति को समझते हुये भी इस ओर निराशा में गोपियों को आशा की एक क्षीण किरण दिखाई पड़ती थी। कुब्जा के साथ ही सही कभी तो कृष्ण दर्शन की अभिलाषा पूर्ण हो सकेगी किन्तु उद्धव का कटु संदेश तो उनके हृदय को खंड खंड कर देता है—

मिलनि न बनि हैं भाखत इन इक टूक।
भए सुनत ही हीय के अगनित टूक ॥६१॥

कृष्ण संदेश सुनाकर उद्धव मथुरा लौट जाना चाहते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि उद्धव के इस संदेश को सुनकर गोपियाँ प्रियतम कृष्ण के मित्र उद्धव से ही पुनः दर्शन देने की प्रार्थना करती हैं—उद्धव के पुनः दर्शन द्वारा वे कृष्ण के कुशल समाचार को ठीक से जान सकेंगी और उद्धव उन्हें कुछ अवधि बता देते हैं जिसे सुन कर गोपियों को कृष्ण की दी हुई अवधि स्मरण हो आती है—

जान कहत हौ ऊधौ अवधि बताइ।
अवधि-अवधि लौं दुस्तर परत लखाइ ॥६०॥

उद्धव की बताई अवधि भी कृष्ण-कथन के सदृश ही दुस्तर जान पड़ती है। सम्भवतः उद्धव के पुनः आगमन के आग्रह से वे अपने हृदय को प्रिय संदेश द्वारा ही सान्त्वना देना चाहती हैं किन्तु 'अवधि' शब्द उन्हें पुनः कृष्ण की स्मृति दिला कर विकल कर देता है। अतः मथुरागमन के अवसर पर गोपियाँ एक लघु संदेश देकर ही अपनी भावनाओं को व्यक्त करती हैं—

ब्रजबासिन के मोहन जीवन प्रान।
ऊधौ यह संदिसवा अकह कहान ॥५६॥

इस अल्प संदेश में गोपियों ने अपनी समस्त पीड़ा को भर दिया है। जो कथा अपनी गम्भीरता और तीव्रता में अकथनीय है उसे उद्धव से कहकर कथनीय कैसे बनाया जा सकता है। अनुभूति अनुभव की वस्तु है, वर्णन की नहीं। उनके तो कृष्ण ही जीवन प्राण हैं जिनके बिना वे निर्जीव देह का भार ही लिए विचरती हैं।

रहीम ने भ्रमरगीत प्रसंग के लिए बरवै जैसा छोटा छन्द चुना है जो शृंगार रस के लिए पूर्ण उपयुक्त है। ये लघु छन्द भी

भाव व्यंजना में अपूर्व हैं। रहीम ने जो कुछ इनमें कह दिया है किसी बड़े छन्द में यह सम्भवतः इतना प्रभावोत्पादक न बन पड़ता।

रहीम की भाषा अवधी होते हुए भी रामचरित मानस की भाषा से भिन्न है। तुलसीदास ने जिस साहित्यिक तथा प्रांजल अवधी का प्रयोग किया रहीम की ग्रामीण गोपियाँ उसमें अपने भावों को किस प्रकार व्यक्त कर सकती थीं। रहीम का झुकाव जायसी की पद्मावत में प्रयुक्त अवधी की ओर ही है। संस्कृत के तत्सम शब्दों के अभाव में भी रहीम की भाषा भाव-भार वहन करने के लिए पर्याप्त प्रौढ़ है। इनकी भाषा का विशेष गुण उसकी सरलता तथा स्वाभाविकता है। यह कृत्रिम अलंकार से रहित अपने स्वाभाविक रूप में ही प्रभावशाली है। रहीम ने अनुप्रास के अतिरिक्त अन्य अलंकारों की ओर रुचि नहीं दिखाई है। फिर भी पाठक गोपियों के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकने में समर्थ हैं।

रसखान

रसखान गोसाईं विट्ठलनाथ के शिष्य थे जो कृष्ण-प्रेम की अनुभूति से रसखानि बन गए। कृष्ण-भक्ति सरिता हिन्दू मुसलमान का भेद नहीं मानती, यह वह पावन गंगा है जिसमें स्नान कर सभी नवजीवन, नव स्फूर्ति को प्राप्त करते हैं। रसखान की आत्मा ने भी इस भक्ति-गंगा में स्नान किया था और तज्जनित आनन्दानुभूति को व्यक्त करने का प्रयत्न किया था। रसखान भक्त थे गायक नहीं। अतः इन्होंने अपने उद्गारों को पद रूप में न रख कर कवित्त सवैयों का ही परिधान पहनाया। संगीत के अभाव में मार्मिक भावों की व्यंजना के लिए कवित्त सवैया ही उपयुक्त है। सम्भवतः रीतिकाल में इसकी लोकप्रियता का यही कारण हो। कृष्ण भक्तों के समान रसखान ने भी भ्रमरगीत प्रसंग पर कुछ स्फुट कवित्त सवैये रचे हैं। यद्यपि इसकी संख्या अत्यल्प है किन्तु अपनी भाव-व्यंजना में ये अपूर्व हैं। उद्धव के योग संदेश को अस्वीकार करती हुई गोपियों का यह कथन उद्धव के प्रति उपहासपूर्ण होने के साथ ही सरस तथा मार्मिक भी है।

लाज के लेप चढ़ाय के अंग पची सब सीख को मंत्र सुनाइ के।
गारुड़ है ब्रज लोग थक्यो करि औषधि बासुक सौंह दिवाइ के।

ऊधो सों को रसखानि कहै जिन चित्त धर्‍यौ तुम एते उपाइ के।
कारे बिसारे को चाहें उतार्‍यौ अरी बिस बावरी राख लगाय के।
॥३२॥[1]

मलूकदास

नागरी प्रचारिणी सभा की सन १६४१ की अप्रकाशित खोज रिपोर्ट में मलूकदास कृत ऊधो पचीसी का उल्लेख मिलता है। इसका रचना-काल तथा लिपि-काल अज्ञात है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने मलूकदास का जन्म संवत् १६३१ माना है। डा० रामकुमार वर्मा ने भी हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास में मलूकदास का यही जन्म संवत् तथा जाति खत्री मानी है। डा० रामकुमार वर्मा ने मलूकदास की रचनाओं के अन्तर्गत 'रामावतार लीला' को भी माना है। किन्तु श्री परशुराम चतुर्वेदी ने 'उत्तरी भारत की संत परम्परा' के अन्तर्गत मलूकदास नाम के कई व्यक्तियों को स्वीकार किया है। उनके विचार से—

अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।
दास मलूका कहि गहै सबके दाताराम।

कहने वाले मलूकदास संत मलूकदास से भिन्न व्यक्ति हैं। साथ ही वे 'रामावतार लीला' नामक रचना भी किसी अन्य मलूकदास की मानते हैं।

'रामावतार लीला' के सदृश ही 'ऊधो पचीसी' के विषय में भी शंका उठना स्वाभाविक है। पहली परिस्थिति में तो यह किसी अन्य मलूकदास की जिन्होंने सम्भवतः 'रामावतार लीला' की रचना की होगी, मानी जा सकती है। दूसरे विचार से यह संत मलूकदास की ही रचना हो सकती है। सम्भवतः यह उन्होंने पूर्वकाल में लिखी हो। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने 'उत्तरी भारत की संत परम्परा' में मलूकदास के ईश्वर तत्व का स्वरूप बताते हुये एक स्थान पर लिखा है—"......यह एक स्थिति है जिसे संत मलूकदास ने 'अनुभव पद' का नाम दिया है और जिसे अन्य संतों की भाँति चौथा पद भी कहा है। वे कहते हैं कि पहले पद व प्रथम स्थिति में देवी देवताओं का पूजन महत्व रखता है, दूसरे पद में

१—सूक्ति सरोवर—पृ० ४२

नियम एवं आचार-विचार का पालन किया जाता है, तीसरे पद में सभी प्रकार का शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी मौलिक भ्राँति तब भी रह जाती है और उस अनिर्वचनीय चौथे पद को पाने पर ही जाती है।"[१] मलूकदास के इन विचारों को पढ़कर यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि उन्हें किसी भी देवी देवता से विरोध न था। अतः बहुत सम्भव है कि अपने प्रारम्भिक गृहस्थ जीवन में उन्होंने इस प्रकार की रचना की हो।

खोज रिपोर्ट में ऊधौ पचीसी के केवल तीन छन्द दिये गए हैं। पूर्ण रचना के अभाव में इस पर कुछ विचार प्रकट करना अत्यधिक कठिन है। प्राप्त छन्दों के आधार पर गोपियों की उद्धव को बनाने तथा संदेश की सत्यता को अस्वीकार करने की ही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। मथुराधीश कृष्ण स्वयं तो कुब्जा तथा अन्य रानियों के साथ ऐश्वर्यमय जीवन का उपभोग कर रहे हैं और गोपियों को योग का उपदेश भेजा है "कथनी और करनी" के वैषम्य को देखकर संदेश की सत्यता में अविश्वास होना स्वाभाविक ही है। बहुत सम्भव है कि यह उद्धव की कार्य कुशलता ही हो। अपने संदेह निवारण के निमित्त वे प्रश्न करती हैं—

"आप ही झूँठ ले जोरत किधों स्याम ने आप कही सुकहा त्यों।"[२]

उद्धव कहीं सत्य के उद्घाटन में किसी प्रकार का विचार न कर बैठें इसीलिए वे इस ओर भी संकेत कर देती हैं कि झूँठ सबसे बड़ा पाप है। उद्धव कहीं इसी पाप के भागी न बन जायं।

"बीच दिये तिन सौंह दिवावति सांचि कहौ मति पाप लगे ज्यौं।"[३]

इन कथनों में गोपियों की सरलता तथा स्पष्टवादिता की झलक दिखाई पड़ती है। उनकी बिरहानुभूति तथा बिकलता का चित्रण नहीं है।

ऊधौ पचीसी का काव्य पक्ष नगण्य ही है। छन्दों का क्रम भी सर्वत्र एक सा नहीं है। केवल तीन छन्दों के आधार पर रचना का मूल्यांकन कवि के प्रति पूर्ण न्याय करने में असमर्थ है।

१—पृ० ५११—संस्करण २००८
२—कवित्त १८—खोज रिपोर्ट—१९४१
३—वही

ऊधो सो को रसखानि कहै जिन चित्त धर्‍यौ तुम एते उपाइ के।
कारे बिसारे को चाहैं उतार्‍यौ अरी बिस बावरी राख लगाय के।
॥३२॥[1]

मलूकदास

नागरी प्रचारिणी सभा की सन १९४१ की अप्रकाशित खोज रिपोर्ट में मलूकदास कृत ऊधो पचीसी का उल्लेख मिलता है। इसका रचना-काल तथा लिपि-काल अज्ञात है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने मलूकदास का जन्म संवत् १६३१ माना है। डा० रामकुमार वर्मा ने भी हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास में मलूकदास का यही जन्म संवत् तथा जाति खत्री मानी है। डा० रामकुमार वर्मा ने मलूकदास की रचनाओं के अन्तर्गत 'रामावतार लीला' को भी माना है। किन्तु श्री परशुराम चतुर्वेदी ने 'उत्तरी भारत की संत परम्परा' के अन्तर्गत मलूकदास नाम के कई व्यक्तियों को स्वीकार किया है। उनके विचार से—

अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।
दास मलूका कहि गहै सबके दाताराम।

कहने वाले मलूकदास संत मलूकदास से भिन्न व्यक्ति हैं। साथ ही वे 'रामावतार लीला' नामक रचना भी किसी अन्य मलूकदास की मानते हैं।

'रामावतार लीला' के सदृश ही 'ऊधो पचीसी' के विषय में भी शंका उठना स्वाभाविक है। पहली परिस्थिति में तो यह किसी अन्य मलूकदास की जिन्होंने सम्भवतः 'रामावतार लीला' की रचना की होगी, मानी जा सकती है। दूसरे विचार से यह संत मलूकदास की ही रचना हो सकती है। सम्भवतः यह उन्होंने पूर्वकाल में लिखी हो। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने 'उत्तरी भारत की संत परम्परा' में मलूकदास के ईश्वर तत्व का स्वरूप बताते हुये एक स्थान पर लिखा है—"......यह एक स्थिति है जिसे संत मलूकदास ने 'अनुभव पद' का नाम दिया है और जिसे अन्य संतों की भाँति चौथा पद भी कहा है। वे कहते हैं कि पहले पद व प्रथम स्थिति में देवी देवताओं का पूजन महत्व रखता है, दूसरे पद में

१—सूक्ति सरोवर—पृ० ४२

नियम एवं आचार-विचार का पालन किया जाता है, तीसरे पद में सभी प्रकार का शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी मौलिक भ्राँति तब भी रह जाती है और उस अनिर्वचनीय चौथे पद को पाने पर ही जाती है।"[1] मलूकदास के इन विचारों को पढ़कर यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि उन्हें किसी भी देवी देवता से विरोध न था। अतः बहुत सम्भव है कि अपने प्रारम्भिक गृहस्थ जीवन में उन्होंने इस प्रकार की रचना की हो।

खोज रिपोर्ट में ऊधौ पचीसी के केवल तीन छन्द दिये गए हैं। पूर्ण रचना के अभाव में इस पर कुछ विचार प्रकट करना अत्यधिक कठिन है। प्राप्त छन्दों के आधार पर गोपियों की उद्धव को बनाने तथा संदेश की सत्यता को अस्वीकार करने की ही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। मथुराधीश कृष्ण स्वयं तो कुब्जा तथा अन्य रानियों के साथ ऐश्वर्यमय जीवन का उपभोग कर रहे हैं और गोपियों को योग का उपदेश भेजा है "कथनी और करनी" के वैषम्य को देखकर संदेश की सत्यता में अविश्वास होना स्वाभाविक ही है। बहुत सम्भव है कि यह उद्धव की कार्य कुशलता ही हो। अपने संदेह निवारण के निमित्त वे प्रश्न करती हैं—

"आप ही झूँठ ले जोरत किधों स्याम ने आप कही सुकह्य त्यों।"[2]

उद्धव कहीं सत्य के उद्‌घाटन में किसी प्रकार का विचार न कर बैठें इसीलिए वे इस ओर भी संकेत कर देती हैं कि झूँठ सबसे बड़ा पाप है। उद्धव कहीं इसी पाप के भागी न बन जायं।

"बीच दिये तिन सौंह दिवावति सांचि कहौ मति पाप लगे ज्यौं।"[3]

इन कथनों में गोपियों की सरलता तथा स्पष्टवादिता की झलक दिखाई पड़ती है। उनकी बिरहानुभूति तथा बिकलता का चित्रण नहीं है।

ऊधौ पचीसी का काव्य पक्ष नगण्य ही है। छन्दों का क्रम भी सर्वत्र एक सा नहीं है। केवल तीन छन्दों के आधार पर रचना का मूल्यांकन कवि के प्रति पूर्ण न्याय करने में असमर्थ है।

१—पृ० ५११—संस्करण २००८
२—कवित्त १८—खोज रिपोर्ट—१९४१
३—वही

सेनापति

सेनापति अलंकार प्रिय कवि हैं। भक्तिकाल में होते हुए भी इनका झुकाव रीति काल की अलंकार-प्रियता की ओर ही अधिक है। कवित्त रत्नाकार की पहली तरंग उनकी इस विशेष रुचि का स्पष्ट प्रमाण है। इसी आलंकारिक चमत्कार के निमित्त ही सेनापति ने भ्रमरगीत सम्बन्धी कुछ कवित्तों की भी रचना की है जो श्लेष वर्णन के अन्तर्गत उपलब्ध हैं। इन कवित्तों में कथा-विकास के अभाव के साथ ही विरह अनुभूति तथा उसकी गम्भीरता का भी अभाव है। कुब्जा से अपनी तुलना करती हुई एक स्थान पर गोपियाँ कहती हैं—

कुबिजा उर लगाई हमहूँ उर लगाई॥
पी रहे दुहू तन मन वारि दीने हैं।
वे तो एक रति जोग हम एक रति जोग।
सूल करि उनके हमारे सूल कीने हैं॥
कूबरी यों कल पैहै हम इहाँ कल पैहैं।
सेनापति स्यामें समुझे यों परवीने हैं।
हम वै समान ऊधौ कहौ कौन कारन हैं।
उन सुख माने हम दुख मानि लीने हैं॥६६॥

उक्त कवित्त में कवि का ध्यान स्पष्ट रूप से श्लेष योजना की ओर ही है। गोपियों के मानसिक भावों—दुख ईर्ष्या अथवा उपालम्भ वर्णन की ओर नहीं।

सेनापति की इस श्लेषमयी आलंकारिक शैली को भ्रमरगीत परम्परा के किसी भी कवि ने नहीं अपनाया। केवल आधुनिक काल में डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने ही अपने उद्धव गोपी संवाद में इस शैली को स्वीकार किया है।

कला के विचार से सेनापति का काव्य अत्यन्त उच्च कोटि का है। इनकी ब्रज-भाषा उच्च कोटि की है जो अलंकारों द्वारा अपनी साज-सज्जा में रीति कालीन भाषा की श्रेणी में आती है। यों तो यह प्रासाद गुण से युक्त है किन्तु श्लेष वर्णन में इसका

अभाव है। भ्रमरगीत प्रसंग के कवित्तों की भाषा माधुर्य गुण पूर्ण है।

अत्यधिक अल्प रचना के कारण सेनापति भ्रमरगीत परम्परा में विशेष स्थान नहीं पा सके।

मुकुन्ददास

मुकुन्ददास कृत भँवरगीत का उल्लेख नागरी प्रचारिणी सभा की १६०६-११ की खोज रिपोर्ट में है। यह ७५ छन्दों की रचना है। खोज रिपोर्ट में केवल तीन ही छन्द उपलब्ध हैं जिनके अनुसार कथा का प्रारम्भ कृष्ण उद्धव वार्तालाप से होता है। भँमरगीत का मध्य तथा अन्त नंददास कृत भँवरगीत के सदृश ही है। दोनों भँवरगीतों का वर्णन साम्य मुकुन्ददास पर नंददास के अत्यधिक प्रभाव का ही सूचक है।

गोपियों के अनन्य प्रेम को देखकर उद्धव की दशा वर्णन करते हुए मुकुन्ददासजी लिखते हैं—

> देखत उनके प्रेम नेय उद्यव को भाजौ।
> तिम्बिर मख अभ्यास बहुत अपने मन लाजौ॥
> मन में कहे रुचि पाय के ले माथे निज धार।
> परमकृतार्थ होइ रह्यो तरौ न बहु बिधि वार॥
> बंदवै योग्य है॥ मध्य०

इस प्रसंग पर नंददास का वर्णन देना उपयुक्त होगा—

> देखत उनको प्रेम नेम ऊधौ कौ भाज्यौ।
> तिमिर भाउ आवेस. बहुत अपने मन लाज्यौ॥
> मन में कही रज धार कै, लै माथे निज धारि।
> परम कृतारथ ह्वै रह्यौ, त्रिभुवन आनन्द वारि॥
> वंदना जोग ये॥ भँ० गी० ४३

भँवरगीत का अन्तिम छन्द भी नंददास कृत भँवरगीत का प्रतिकृति रूप ही है। मुकुन्ददास कृष्ण द्वारा उद्धव के मोह हरण का वर्णन करते हैं—

गोपी रूप दिखाय अंग-अंग करि के बनवारी।
उद्धव के भरे नैन डार दई माह की जारी॥
अपने नित्त विहार की लीला बहु दुराइ।
जन मुकुन्द पावन भये हरि की लीला गाइ॥
सरन प्रभु पाय के॥७४॥

नंददास ने इसी प्रसंग को इस प्रकार कहा है—
गोपी आप दिखाइ, एक करि के बनवारी।
ऊधौ भरम निवारि, डारि माया की जारी॥
अपनौ रूप दिखाइ कै, लीनौ बहुरि दुराइ।
नंददास पावन भयौ, सुम यह लीला गाइ॥
प्रेम रस पुंजिनी॥ भँ० गी० ७५

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुकुन्ददास ने नंददास कृत भँवरगीत के अनुकरण पर ही अपनी रचना की है। यह अनुकरण, भाव, शैली तथा छन्दों में पूर्ण रूप से दिखाई पड़ता है। किन्तु नंददास का ब्रज-भाषा पर जितना अधिकार था मुकुन्ददास में उसका नितान्त अभाव है। अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा है। इसके द्वारा ही कवि की रचना का सौष्ठव प्रकट होता है। नंददास के पूर्ण अनुकरण पर रचा गया यह भँवरगीत अपनी भाषा द्वारा ही किसी अन्य कवि की रचना जान पड़ती है। नंददास के भाषा सौष्ठव, शब्द चयन तथा पद लालित्य के सम्मुख यह रचना अत्यन्त हीन कोटि की ही सिद्ध होती है।

मुकुन्ददास कृत भँवरगीत इस बात का प्रमाण है कि सूरदास के सदृश ही नंददास के भँवरगीत का अनुकरण भी हिन्दी साहित्य में हो रहा था। यह अनुकरण शैली की दृष्टि से ही अधिक महत्वपूर्ण है। प्रबन्धात्मक होने के कारण कथा निर्वाह के लिए सूरदास की पद शैली से यह अधिक उपयुक्त तथा समीचन है। आधुनिक युग में सत्यनारायण कवि ने भी इसी शैली को स्वीकार किया है।

घासीराम

घासीराम के स्फुट छन्दों (कवित्त सवैयों) में भ्रमरगीत प्रसंग के अन्तर्गत पाती-प्रसंग पर कुछ छन्द उपलब्ध हैं। पाती प्रसंग

का वर्णन अपनी स्वाभाविकता तथा विरह-व्यंजना में अपूर्व है। घासीराम ने अनुभावों द्वारा ही गोपियों के हृदयगत भावों को सफलतापूर्वक चित्रित किया है। निम्नकवित्त कवि की प्रतिभा का परिचायक है—

> कर सों गहत घिर आई सबै आसपास।
> चित्र की सी पूतरी श्रवन मग दै रही॥
> कज्जल कलित चख सजल उमहिं आई।
> भरि आई छतियाँ अनंग रस ह्वै रही॥
> घासीराम सुकवि सनेही श्याम लिखी सुनि।
> प्रेम कालिंदी की वे सुरति कछु कै रही॥
> बहुरि वियोग के हरफ सुनि ऊधौ मुख।
> हेरि कै सलौनी दीह साँस लै चितै रहीं॥२॥[1]

अभिलाषा, प्रतीक्षा, स्मृति, आदि के साथ ही जड़ता का वर्णन अनुभावों द्वारा ही व्यक्त किया गया है। उद्धव के हाथ में पत्र लेते ही गोपियों ने उनको घेर लिया। प्रिय के सुखद संदेश को श्रवण करने के लिए वे श्रुति मार्ग खोज कर चित्रवत् बन गईं। तीव्र उत्सुकता के कारण व्यक्ति की जो दशा होती है वैसी ही गोपियों की है। इस क्षण वे समस्त अंगों की गति रोक कर कृष्ण संदेश सुनने के लिए उत्सुक हैं। प्रिय का संदेश है। अतः मन में प्रेमभावना तरंगित हो रही है। नेत्रों में प्रेमाश्रु छलछला आए हैं और अंग-अंग अनंग की मधुर अनुभूति में डूबता जा रहा है। इसी समय यह सुनकर कि पत्र स्वयं कृष्ण ने लिखा है, वे कृष्ण प्रेम-लीला का स्मरण कर भाव-विभोर हो जाती हैं। प्रेम-सरिता में डूबती उतराती गोपियाँ जब अपनी आशा के विपरीत विरह का संदेश सुनती हैं तो वे अवाक् रह जाती हैं। दुख का इतना बड़ा आघात उन्हें मूक बना देता है। वे केवल दीर्घ श्वास ले जड़वत् उद्धव के मुख की ओर देखती रह जाती हैं। आशा और निराशा, उल्लास और विषाद का यह वर्णन अपनी स्वाभाविकता में अपूर्व है। गोपियों की मूक

१—पृ० १६२—साहित्य प्रभाकर—भाग पहला।

दृष्टि उनकी व्यथा को व्यक्त करने के लिए पर्याप्त है। उनका मौन रुदन शब्दों से अधिक प्रभावशाली है। घासीराम का यह वर्णन निश्चित रूप से पाठक के हृदय में, विदीर्ण-हृदया गोपियों का एक चित्र उपस्थित कर देता है।

———

सप्तम अध्याय

रीतियुग में भ्रमरगीत

संवत् १७००-१९००

१—सामायिक परिस्थिति।
२—राजनीतिक परिस्थिति।
३—सामाजिक परिस्थिति।
४—धार्मिक एवं साहित्यिक परिस्थिति।
५—विशेषताएँ।

रीतियुग के भ्रमरगीत तथा भ्रमरगीतकार

प्रमुख रचनाएँ

प्रेम दीपिका—अक्षर आनन्द।
भ्रमरगीत—आलम तथा शेख।
गोपी प्रेम प्रकाश—नागरीदास।
भ्रमरगीत—चाचा वृन्दावनदास।
उपालम्भ शतक—रसरूप।
विरह विलास—बख्सी हंसराज।
प्रेमसागर—प्रेमदास।
ब्रजविलास—ब्रजवासीदास।
रसिक पचीसी—रसरासि।
प्रीति पचीसी—ब्रजनिधि।
गोपी पचीसी—ग्वाल।
तथा स्फुट पद।
विरह-विलास—रसनायक।
गोपी सनेह बारह खड़ी—संतदास।
गोपी स्याम संदेश—हरिदास बेन।

लीला सागर—गंगादत्त ।
नटनागर विनोद—रत्नसिंह 'नटनागर' ।

गौण रचनाएँ

स्फुट पद—मतिराम।
स्फुट पद—बरकतउल्लाह 'पेनी' ।
स्फुट पद—देव ।
स्फुट पद—घनानंद ।
स्फुट पद—पद्माकर ।
स्फुट पद—ठाकुर ।

मध्यकाल-रीतियुग में भ्रमरगीत परम्परा—

संवत् १७००—१९००

सामयिक परिस्थिति

राजनीतिक परिस्थिति

उत्तर-मध्यकाल अथवा रीतिकाल दो शताब्दियों तक हिन्दी साहित्य में अपना स्थान बनाये रहा। इस समय देश अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच चुका था। वैभव की चमक विदेशियों तक को आकर्षित कर रही थी। देश की कला भी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। मुगल साम्राज्य मध्याह्न के सूर्य सदृश शीघ्र ही इस उन्नत-शिखर से पतन की ओर अग्रसर होने वाला था। शाहजहाँ के बीमार पड़ते ही सन् १७१५ में भारत में शान्ति की नीवँ हिल गई। राज्य में असंतोष और अत्याचार बढ़ता ही गया और अन्त में औरंगजेब की मृत्यु के साथ ही मुगल साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो गया। देश में चारों ओर अव्यवस्था फैल गई। अनेक राजाओं ने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये। देश के इस पराभव-काल में मुगलकाल से चली आती विलासिता का अन्त न हुआ। छोटे-छोटे राज्यों में ईर्ष्या, द्वेष और कलह के साथ ही सुरा सुन्दरी का मान भी बढ़ता गया। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही निर्बल, स्वाभिमान से रहित तथा विलासिता से पूर्ण थे।

सामाजिक परिस्थिति

देश की सामाजिक परिस्थिति सामन्तीय आधार पर निर्मित थी अतः समस्त समाज पदाधिकार की दृष्टि से विभाजित था। उच्च पदाधिकारी वर्ग को जीवन की सुख-सुविधाएँ सुलभ थीं। जीवन में आनन्द उपभोग, नाचरंग सभी के साधन उनके पास थे। दूसरा निम्न-वर्ग दलित शोषित प्राणियों का था जो जीवन की अनेक विडम्बनाओं तथा संघर्षों का सामना करते हुए भी दूसरों के सुख-साधन जुटाने में लगे रहते थे। एक ओर वैभव का विलास था—मुगल

परिवार और मुगल दरबार अलकापुरी को भी लज्जित कर रहा था दूसरी ओर किसानों की लहलहाती खेती के साथ ही घर-बार लूटे जा रहे थे। कुसमय के अकालों ने समाज की दयनीय दशा को और भी करुण बना दिया था।

धार्मिक एवं साहित्यिक परिस्थिति

इस काल में धर्म की स्थिति बड़ी ही शोचनीय थी। धार्मिक सम्प्रदायों में भी वैभव और विलास का प्रभाव पड़ चुका था। भक्ति-काल की भक्ति-भावना मिट गई थी किन्तु कृष्ण-काव्य का अत्यधिक प्रचार था। कृष्ण परब्रह्म के पावन पद से साधारण नायक बन गये थे और गोपी-प्रेम के रूप में लौकिक प्रणय की उद्भावना हो रही थी। कविता मन्दिरों तथा समाज से उठकर राजाओं के दरबार में आ गई थी। यदि यह कहा जाय कि कविता कामिनी स्वाधीन न रह कर पराधीन हो चुकी थी तो अधिक अनुचित न होगा। राजाश्रय ग्रहण करने के कारण कवियों को आश्रयदाताओं की रुचि का विशेष ध्यान रखना पड़ता था। वे थोड़े समय में सुन्दर वस्तु सुनना चाहते थे अतः इस युग में कविता कामिनी के बाह्य शृङ्गार पर विशेष ध्यान दिया गया। भाषा की सजावट के सामने भावनायें पीछे पड़ गईं। इस युग का काव्य श्रम-साध्य था। काव्यजगत् में आत्म साधना के अभाव के कारण गीतिकाव्य की अपेक्षा कवित्त सवैयों को ही प्रायः अपनाया गया।

विशेषतायें

रीतिकाल के भ्रमरगीत साहित्य में भी युगीन विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। सूर की पद शैली का तो पूर्ण बहिष्कार हो गया यद्यपि मुक्तक के साथ ही अनेक प्रबन्ध रचनायें भी मिलती हैं। प्रायः सभी कवियों ने निर्गुण ब्रह्म तथा योग-संदेश और कुब्जा-प्रणय को ही अपना विषय बनाया है। भक्तियुग की भाव-व्यंजना के स्थान पर रीति-युग में उक्ति वैचित्र्य तथा वाग्विदग्धता का ही प्राबल्य रहा।

अपने शृङ्गारिक उपालम्भ के कारण यह प्रसंग इस काल का विशेष प्रिय विषय बन गया। अनेक कवियों ने प्रबन्ध तथा मुक्तक रचना द्वारा इस परम्परा को आगे बढ़ाया। इस युग में अपेक्षाकृत अधिक रचनाएँ उपलब्ध हैं। भ्रमरगीत पर एक दो कवित्त अथवा सवैया लिखने वाले कवियों की संख्या भी कम नहीं है।

मध्यकाल-रीतियुग में प्राप्त भ्रमरगीत रचनाएँ

मध्यकाल में लगभग पच्चीस कवियों ने इस प्रसंग पर अपनी लेखनी चलाई है। कुछ कवियों ने प्रसंग को विशेष रूप से ग्रहण किया है। अन्य ने केवल कुछ छन्द ही लिखे हैं। इस काल के कवियों का सम्यक् विवरण भी प्राप्त नहीं हो सका। कुछ प्रमुख कवियों का जन्म-संवत् तथा स्थान ज्ञात हो सका है, अन्य का केवल रचनाकाल ही ज्ञात है। कुछ ऐसे कवियों की रचनाएँ भी प्राप्त हुई हैं जिनका जन्म-संवत् तथा रचनाकाल दोनों ही अज्ञात हैं। इन कवियों के विषय में अनुमान से काम लिया गया है। रचना बाहुल्य के आधार पर उपलब्ध रचनाओं को प्रमुख तथा गौण इन दो श्रेणियों के अन्तर्गत विभक्त कर दिया गया है। प्रमुख रचनाओं के अन्तर्गत स्वतन्त्र रूप से लिखे गये भ्रमरगीतों के अतिरिक्त वे कृष्ण कथाएँ भी सम्मिलित करली गई हैं जिनमें कृष्णचरित्र के साथ ही भ्रमरगीत प्रसंग भी वर्णित हैं। गौण रचनाओं के अन्तर्गत उन कवियों की रचनाओं को रखा गया है जिन्होंने भ्रमरगीत प्रसंग पर कुछ पद लिखे हैं।

अक्षर अनन्य—प्रेमदीपिका

प्रेम दीपिका एक खंड-काव्य है। इसमें भागवत के आधार पर तीन प्रसंगों का वर्णन है।

१—श्रीकृष्ण की आज्ञा से उद्धव का गोपियों को ज्ञान सिखाने जाना।

२—बलदेवजी का गोकुल जाकर गोपियों का रमण करना।

३—सूर्यग्रहण के अवसर पर यादवों के साथ श्रीकृष्ण की कुरुक्षेत्र यात्रा। वहीं नंद तथा गोप गोपियों से भेंट होना।

भ्रमरगीत सम्बन्धी रचना प्रथम प्रसंग में उपलब्ध है। प्रेम दीपिका का यह अंश भागवत की कथावस्तु के आधार पर ही रचा गया है। कथा का प्रारम्भ प्रार्थना के पश्चात् कृष्ण उद्धव वार्तालाप से होता है। श्रीकृष्ण उद्धव को गोप गोपियों को समझाने के निमित्त ही ब्रज भेजते हैं। प्रेमदीपिका में उद्धव को ब्रज भेजने का कारण गोपियों की विषय वासना को दूर करना ही है—

परिवार और मुगल दरबार अलकापुरी को भी लज्जित कर रहा था दूसरी ओर किसानों की लहलहाती खेती के साथ ही घर-बार लूटे जा रहे थे। कुसमय के अकालों ने समाज की दयनीय दशा को और भी करुण बना दिया था।

धार्मिक एवं साहित्यिक परिस्थिति

इस काल में धर्म की स्थिति बड़ी ही शोचनीय थी। धार्मिक सम्प्रदायों में भी वैभव और विलास का प्रभाव पड़ चुका था। भक्ति-काल की भक्ति-भावना मिट गई थी किन्तु कृष्ण-काव्य का अत्यधिक प्रचार था। कृष्ण परब्रह्म के पावन पद से साधारण नायक बन गये थे और गोपी-प्रेम के रूप में लौकिक प्रणय की उद्भावना हो रही थी। कविता मन्दिरों तथा समाज से उठकर राजाओं के दरबार में आ गई थी। यदि यह कहा जाय कि कविता कामिनी स्वाधीन न रह कर पराधीन हो चुकी थी तो अधिक अनुचित न होगा। राजाश्रय ग्रहण करने के कारण कवियों को आश्रयदाताओं की रुचि का विशेष ध्यान रखना पड़ता था। वे थोड़े समय में सुन्दर वस्तु सुनना चाहते थे अतः इस युग में कविता कामिनी के बाह्य शृङ्गार पर विशेष ध्यान दिया गया। भाषा की सजावट के सामने भावनायें पीछे पड़ गईं। इस युग का काव्य श्रम-साध्य था। काव्यजगत् में आत्म साधना के अभाव के कारण गीतिकाव्य की अपेक्षा कवित्त सवैयों को ही प्रायः अपनाया गया।

विशेषतायें

रीतिकाल के भ्रमरगीत साहित्य में भी युगीन विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। सूर की पद शैली का तो पूर्ण बहिष्कार हो गया यद्यपि मुक्तक के साथ ही अनेक प्रबन्ध रचनायें भी मिलती हैं। प्रायः सभी कवियों ने निर्गुण ब्रह्म तथा योग-संदेश और कुब्जा-प्रणय को ही अपना विषय बनाया है। भक्तियुग की भाव-व्यंजना के स्थान पर रीति-युग में उक्ति वैचित्र्य तथा वाग्विदग्धता का ही प्राबल्य रहा।

अपने शृङ्गारिक उपालम्भ के कारण यह प्रसंग इस काल का विशेष प्रिय विषय बन गया। अनेक कवियों ने प्रबन्ध तथा मुक्तक रचना द्वारा इस परम्परा को आगे बढ़ाया। इस युग में अपेक्षाकृत अधिक रचनाएँ उपलब्ध हैं। भ्रमरगीत पर एक दो कवित्त अथवा सवैया लिखने वाले कवियों की संख्या भी कम नहीं है।

मध्यकाल-रीतियुग में प्राप्त भ्रमरगीत रचनाएँ

मध्यकाल में लगभग पच्चीस कवियों ने इस प्रसंग पर अपनी लेखनी चलाई है। कुछ कवियों ने प्रसंग को विशेष रूप से ग्रहण किया है। अन्य ने केवल कुछ छन्द ही लिखे हैं। इस काल के कवियों का सम्यक् विवरण भी प्राप्त नहीं हो सका। कुछ प्रमुख कवियों का जन्म-संवत् तथा स्थान ज्ञात हो सका है, अन्य का केवल रचनाकाल ही ज्ञात है। कुछ ऐसे कवियों की रचनाएँ भी प्राप्त हुई हैं जिनका जन्म-संवत् तथा रचनाकाल दोनों ही अज्ञात हैं। इन कवियों के विषय में अनुमान से काम लिया गया है। रचना बाहुल्य के आधार पर उपलब्ध रचनाओं को प्रमुख तथा गौण इन दो श्रेणियों के अन्तर्गत विभक्त कर दिया गया है। प्रमुख रचनाओं के अन्तर्गत स्वतन्त्र रूप से लिखे गये भ्रमरगीतों के अतिरिक्त वे कृष्ण कथाएँ भी सम्मिलित करली गई हैं जिनमें कृष्णचरित्र के साथ ही भ्रमरगीत प्रसंग भी वर्णित हैं। गौण रचनाओं के अन्तर्गत उन कवियों की रचनाओं को रखा गया है जिन्होंने भ्रमरगीत प्रसंग पर कुछ पद लिखे हैं।

अक्षर अनन्य—प्रेमदीपिका

प्रेम दीपिका एक खंड-काव्य है। इसमें भागवत के आधार पर तीन प्रसंगों का वर्णन है।

१—श्रीकृष्ण की आज्ञा से उद्धव का गोपियों को ज्ञान सिखाने जाना।

२—बलदेवजी का गोकुल जाकर गोपियों का रमण करना।

३—सूर्यग्रहण के अवसर पर यादवों के साथ श्रीकृष्ण की कुरुक्षेत्र यात्रा। वहीं नंद तथा गोप गोपियों से भेंट होना।

भ्रमरगीत सम्बन्धी रचना प्रथम प्रसंग में उपलब्ध है। प्रेम दीपिका का यह अंश भागवत की कथावस्तु के आधार पर ही रचा गया है। कथा का प्रारम्भ प्रार्थना के पश्चात् कृष्ण उद्धव वार्तालाप से होता है। श्रीकृष्ण उद्धव को गोप गोपियों को समझाने के निमित्त ही ब्रज भेजते हैं। प्रेमदीपिका में उद्धव को ब्रज भेजने का कारण गोपियों की विषय वासना को दूर करना ही है—

विषया-मदमाती त्रिया, काम-केलि-आसक्त।
सुन्दर पुरुष विचारि कै करी हमारी भक्त।
करी हमारी भक्त नंद सुत गुन-सुख दायक।
तीन मुक्ति हम दीन नहीं चौथी कहँ लायक।
तावें तुम परवीन जाइ दीजो निज सिषया।
कृष्ण निरंजन देव नहीं जानौ नर-विषया ॥४॥

इस प्रकार उद्धव ब्रजागमन का कारण ब्रजांगनाओं को विषय वासना से छुटाना तथा कृष्ण के परब्रह्म स्वरूप का परिचय देना है। इस शिक्षा के लिए साधन रूप से ज्ञान-योग का भी उल्लेख किया गया है—

ग्यान-जोग निज बोध मिटै कर्म के उपासना।
विरह मिटै सुख होय मिटै सब विषय वासना ॥५॥

उद्धव को अपने हाथ से सजाकर भेजने के साथ कृष्ण स्वयं वृन्दावन महिमा का वर्णन भी करते हैं। पुनः कथा का विकास भागवत् सदृश ही होता है। उद्धव को देखकर गोपियाँ समझ जाती हैं कि ये कृष्ण के मित्र उन्हें उपदेश देने आये हैं अतः ज्ञान योग की चर्चा के पूर्व ही प्रेम का वर्णन करती हुई कृष्ण-मथुरा-गमन की स्मृति कर भाव-विभोर हो गईं। उन्हें अतीत की घटनाएँ स्मरण हो गईं। कृष्ण का निर्मम व्यवहार उनको व्यथित करने लगा। वे रोती हुई पृथ्वी पर गिर पड़ीं, अश्रुजल से उनके वस्त्र भीग गए। उनकी इस पूर्ण भक्ति को देखकर उद्धव उन्हें ब्रह्मज्ञान तथा कांतभाव को त्याग देने का उपदेश देने लगे। इसी बीच अक्षर अनन्य ने भ्रमर प्रवेश का भी उल्लेख किया है। भंवरे के प्रति उपालम्भपूर्ण उद्गार भागवत अनुसार ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि भागवत में मथुरा का उल्लेख है किन्तु प्रेमदीपिका में द्वारिका का। मथुरा द्वारिका का अन्तर भूगोल की दृष्टि से चाहे महत्वपूर्ण हो किन्तु गोपी-विरह-व्यंजना में इसका विशेष मूल्य नहीं। प्रेमदीपिका में उद्धव का मुखर रूप दिखाई पड़ता है। गोपियों के प्रेम से प्रभावित उद्धव जब ब्रज विरह का वर्णन करने लगे तब उनके भ्रमको श्रीकृष्ण ने दूर किया।

यों कहि ऊधव कौ भरम दूर कीन्ह हरिराइ।
ग्यान भक्त को गर्व गढ़ ढाहो ब्रजहि पढ़ाइ ॥११०॥

इस प्रकार ११० छन्दों में इस प्रसंग का उल्लेख है। भ्रमरगीत की चिर प्रचलित कथावस्तु को अक्षर अनन्य ने एक नवीन रूप देने की चेष्टा की है। पुत्र-वियोग की व्यथा का अनुभव अन्य कवियों की अपेक्षा वे अधिक कर सके हैं अतः प्रेमदीपिका में गोपी-विरह के साथ ही वात्सल्य विरह का भी दर्शन होता है। यद्यपि यह वर्णन सूरदास की कोटि का नहीं है किन्तु इसमें रसपूर्ण व्यंजना का पूर्ण अभाव भी नहीं है। कृष्ण के देवत्व से अपरिचित नंद ने उन्हें केवल पुत्रवत् ही जाना है, जिन्होंने व्रज में अनेक प्रकार की लीलायें की हैं। उनके बिना नंद का जीवन मणिहीन सर्प सदृश है। इस प्रकार प्रेमदीपिका में नंद का विरह व्यक्त हुआ है किन्तु यशोदा का मूक विरह वाणी नहीं जानता। वहाँ हृदय ही अश्रुवत् कर दुखित हो रहा है। मां का अनुराग स्वतः शरीर से फूटा पड़ता है—

नैन नीर, कुच छीर श्रवहिं अनुरागिन जसुधा ॥१२॥

यशोदा की मूक व्यथा के पश्चात् मुखर गोपियों की व्यथा सुनाई पड़ती है। प्रियतम के सखा उद्धव के सम्मुख वे तड़पता हुआ हृदय खोलकर रख देती हैं। भ्रमर आगमन के पूर्व उद्धव से उन्होंने जो कुछ भी कहा उसमें उनके पश्चात्ताप और ग्लानि की ही व्यंजना है। उन्हें कृष्ण गमन का दृश्य स्मरण हो आया। वे बिछुड़ते समय कृष्ण के दर्शन भी न कर सकीं यह भावना आज भी उन्हें पीड़ित कर रही है—

ऊधौ हम मनभावते चलत न देखे नैन ॥२३॥

कृष्ण का रथारोहण तो वे सह ही नहीं सकी थीं उनकी परिस्थिति कितनी करुण थी—

ऊधो हरि रथ पर चढ़े हम रोईं बिलखाइ।
घोरन के आगे गिरीं मारग में मुरझाइ ॥२४॥

ग्रामीण गोपियाँ प्रिय को रोकने का कैसा प्रयत्न करती हैं। वियोग की तीव्रता में वे कर्तव्याकर्तव्य को भी भूल गईं। उनकी इस विकलता पर कृष्ण को दया भी न आई। किन्तु वे अपने प्रेम पर आज भी दृढ़ हैं। चकोर और पतंग उन्हें प्रेम के अगम-पथ पर निरन्तर बढ़ते ही जाने की प्रेरणा देते हैं। वे कृष्ण के भ्रमरप्रेम को जानती हैं किन्तु आशा का एक क्षीण तंतु उनमें जीवन का मोह बनाए है। इसी आशा पर वे उद्धव से पूछती हैं।

ऊधौ तुम साँची कहौ मनमोहन की रीति।
कबहूँ इत फिरि आइहैं जान हमारी प्रीति ॥२६॥

किन्तु उन्हें किसी उत्साहपूर्ण उत्तर की आशा नहीं। जीवन की समस्त कामनाओं का त्याग ही सबसे बड़ा सुख है। इस दुख में वे समझती हैं कि सबसे सुखी वही है जिसने आशा का साथ छोड़ दिया है अतः कृष्ण-संयोग की आशा का त्याग ही सुखदायक है किन्तु—

यहि निहिचै मन जान तऊँ मनसा नहिं मानत।
करि-करि हरिगुन सुरति नहीं जाने पर जानत ॥३२॥

कृष्ण की चुम्बक-शक्ति के सम्मुख वे ही नहीं समस्त ऋषि, मुनि, देवता, आदि स्वतः ही आकृष्ट हो रहे हैं फिर इन ग्रामीणाओं की बात ही क्या ?

प्रेम के व्यापार में प्रिय को दोष देते हुये भी प्रेमिका का प्रेम कम नहीं होता। कभी-कभी तो वह इन समस्त दुखों का दोष अपने ऊपर ही लेती हैं। कृष्ण प्रेम से विरहावस्था को प्राप्त गोपियाँ अब कृष्ण के स्थान पर अपने को ही दोषी ठहराती हैं—

आली कृष्णहि दोष नहिं हम कीनी अनरीति।
अपनो पतिव्रत धर्म तजि करी कृष्ण सों प्रीति ॥३८॥

पतिव्रत के पुनीत मार्ग-त्याग का ही यह परिणाम है किन्तु अब जीवन के सरल पथ से भटका देने वाली मुरली पर ही उन्हें क्रोध आ गया है। समस्त दुखों का मूल कारण मुरली माधुरी ही है, काश, यह मुरली ही न होती—

कत विधिती हम पीर जो पै होती नहिं मुरली ।३६।

अब तो जो भवितव्य था वही हुआ। विरह में डूबती गोपियों की दर्शन की आशा भी टूट गई। अतः वे उद्धव से पुनः आने का आग्रह करती हैं जिससे वे कृष्ण का समाचार ही सुन लिया करें। यह आग्रह भग्नहृदय की प्रार्थना है, जीवित रहने का आश्वासन है—

अबतुम होहु बसीठ जात-आवत पुर रहेऊ।
उत की सुधि दै हमें उहाँ हमारी जा कहेऊ ॥४६॥

यह डूबते को तिनके का सहारा है।

इस गोपी वार्तालाप में उद्धव के प्रति अटल विश्वास तथा सहानुभूति की अमिट छाप मिलती है। गोपियाँ उद्धव को स्वजन

जान कर ही इस सरलता से अपना दुखड़ा उन्हें सुनाती हैं। किसी प्रकार के दुराव अथवा व्यंग्य का आभास भी नहीं है। किन्तु यह दशा अधिक समय तक स्थाई न रह सकी। उद्धव के ज्ञान-उपदेश के पश्चात् ही एक भ्रमर को देखकर गोपियों की विचारधारा में व्यंग्य तथा कटुता का मिश्रण हो जाता है। भ्रमर-दर्शन उन्हें श्याम कृष्ण की भ्रमरवृत्ति का स्मरण करा देता है और वे काकु वचन द्वारा उद्धव को उपालम्भ देने लगीं—

काकु-वचन कहि उरी महा करुना मन जिनके।
हरि ऊधव पर ढारि लगो बरनन गुन तिनके ॥५०॥

अभी तक गोपियों के मन में जो एक सरल विश्वास था, व्यथा की उन्मुक्त अभिव्यंजना थी उसमें वक्रता आ गई। उपहास, व्यंग्य और उपालम्भ द्वारा वे अपनी व्यथा तथा प्रेम के साथ ही कृष्ण-प्रेम में एकनिष्ठा के अभाव का भी उल्लेख करती हैं। उनकी यह प्रेमाभिव्यक्ति अन्त में उद्धव को प्रभावित कर ही देती है। उद्धव के मुख से ही राधा की विक्षिप्त दशा का वर्णन सुनाई पड़ता है जो उद्धव की सहानिभूतिपूर्ण सहृदयता का ही परिचायक है।

इस भ्रमरगीत के भाव-पक्ष के साथ ही उसका दर्शन-पक्ष भी महत्वपूर्ण है। गोपियों के व्यंग्य का आधार एक ओर भ्रमरवृत्ति है तो दूसरी ओर निर्गुण निराकार ब्रह्म तथा उसकी प्राप्ति का साधन योग भी है। प्रेमदीपिका का यह पक्ष भावप्रधान ही है। उद्धव के निर्गुण ब्रह्म तथा योग की अस्वीकृति में उनका हृदय ही बोलता है। वे अपने तर्कों द्वारा उद्धव को परास्त नहीं करतीं बल्कि हृदय की विवशता दिखा कर ही वे अपने पक्ष का समर्थन करती हैं। उद्धव के इन्द्रिय सुख त्याग के प्रसंग पर वे कितना सुन्दर तथा सरल उत्तर देती हैं —

तुम तो कहत विषय छाँड़ौ कैसे छाँड़ें हम।
याही ते कहाई हरिप्रिया जग नामिनी ।८४।

हरिप्रिया के साथ ही वे अपने कामिनी नाम की सार्थकता कैसे छोड़ दें, क्योंकि—

सुनो लोक वेदहू, हमारो नाम कामिनी ।।८४॥

उन्हें तो समस्त जगत् युग्मस्वरूप ही दिखाई पड़ता है। ब्रह्म-माया, पुरुष-प्रकृति, शिव-शक्ति, विष्णु-रमा आदि सभी इसीलिए वे बिहारी-लाल का ध्यान करती हैं जो नवरस पूर्ण हैं। ऐसे सगुण ब्रह्म को त्याग कर वे निर्गुण को किस प्रकार ग्रहण करें जो भावना तथा स्वभाव किसी के भी अनुरूप नहीं है।

प्रेमदीपिका की रचना करने पर भी निर्गुण मार्गी अक्षर अनन्य सम्भवतः निर्गुण ब्रह्म को पूर्णतः भुला नहीं सके अतः उनकी गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि निर्गुण ब्रह्म की अग्राह्यता के मूल में उसकी निन्दा नहीं है। यहाँ अक्षर अनन्य की विचारधारा को समझने के लिए कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करना अनुचित न होगा।

> जो पै कहौं ऊधौ तुम निर्गुन को निन्दत हो,
> निन्दत न यहै तो उपासना की रीति है।
> चन्द्र अरु सूर्य दोऊ नैन विश्व रूप ही के,
> तदपि चकोर चित्त चन्द्र ही सो प्रीति है।
> सगुन निर्गुन बासदेव जू के रूप दोऊ,
> हमरे सगुन रूप ही की प्रतीति है।८६।

अक्षर अनन्य का यह विचार इस बात का प्रमाण है कि तत्कालीन समाज में भ्रमरगीत की लोकप्रियता के कारण साम्प्रदायिकता के संकुचित क्षेत्र को छोड़कर अधिकांश कवियों ने इस पर लेखनी उठाई है साथ ही कुछ समन्वयवादी कवियों ने निर्गुण सगुण के विवाद को समन्वयात्मक ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। यहाँ निर्गुणियों की भावना की रक्षा का यह प्रयत्न जान पड़ता है।

कृष्ण के परब्रह्मत्व की व्याख्या तो प्रायः सभी कवियों ने की है। अक्षर अनन्य ने गोपी स्वरूप का भी स्पष्ट उल्लेख किया है। ये गोपियाँ साधारण नारी नहीं वरन् ज्ञान दृष्टिपूर्ण वेदों की ऋचाएँ हैं।

> ग्यान दृष्टि हरि-भाव तिन जानों तिनको नाम।
> आनौ तिनको नाम रिचा वेदन की चातुर ॥१६॥

गोपी स्वरूप की व्याख्या करते हुये भगवान् कृष्ण कहते हैं—

हौं नारायन ब्रह्म बेद मम स्वास प्रसंसत।
तासु रिचा ब्रजनार लहर जैसे हिय अंसत ॥१०६॥

ईश्वर अभिमान से दूर रहता है। यदि ज्ञानी भक्त को भी अभिमान हो जाय तो भक्त वत्सल प्रभु उसे दूर करके ही रहते हैं। ज्ञान-गर्व से अभिभूत उद्धव को सत्पथ पर लाने के निमित्त ही भगवान् कृष्ण ने उन्हें मथुरा से ब्रज भेजा था जहाँ वे प्रेम की निष्ठा, सर्वस्व-त्याग की भावना ही प्रधान है। ज्ञान के गर्व में प्रेम को तुच्छ समझने वाले उद्धव को ब्रज वृन्दावन जाकर ही इस प्रेम-महिमा का वास्तविक ज्ञान हुआ। इस भाँति ज्ञान-गर्व दमन की मधुर कल्पना को अक्षर अनन्य भुला न सके—

पूर्व अवतार जब जब धरौ तब प्रगटे वे निज भगत।
कहि अछिर तिनहि संताप कहि सुतिन्ह गाइ तरिहै जगत।
यों कहि ऊधव को भरम दूर कीन्ह हरिराय।
ग्यान भक्त को गर्व गढ़ ढाहौ ब्रजहिं पठाइ ॥१०६॥

कला-पक्ष

निर्गुण संत का विशेष ध्यान काव्य के कलागत सौन्दर्य की ओर नहीं रहा है। भावों को संवार कर कहने की प्रवृति न होने के कारण ही उनकी रचनाओं में कौशल का अभाव ही रहता है। प्रेम दीपिका में भ्रमरगीत जैसे सरस तथा शृङ्गारिक विषय के लिये कुण्डलिया छन्द का चुनाव इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। कुण्डलिया का जितना सफल प्रयाग नीति-काव्य में हुआ है उतना शृङ्गार में नहीं। इस छन्द के द्वारा काव्यगत सौन्दर्य के साथ ही भाव-प्रवाह पर भी आघात होता है। कुण्डलिया के अतिरिक्त अप्रधान रूप से दोहा, सोरठा, कवित्त, सवैया तथा मुरिल्ल छन्द का भी प्रयोग मिलता है।

भ्रमरगीत में प्रयुक्त ब्रजभाषा की सरलता तथा मधुरता असंदिग्ध है किन्तु अक्षर अनन्य ने ब्रज के स्थान पर बुन्देलखण्डी में ही रचना की अतः ब्रजभाषा के स्वाभाविक माधुर्य का अभाव स्वाभाविक ही है।

छन्द तथा भाषागत सीमाओं के होते हुए भावों की सरलता तथा स्वाभाविकता और अलंकारों का अकृत्रिम प्रयोग इसकी विशेषता

है। सम्पूर्ण रूप से प्रेमदीपिका को द्वितीय श्रेणी की रचनाओं में रखा जा सकता है।

आलम तथा शेख

आलम की गणना उन रीतिकालीन कवियों के अन्तर्गत की जा सकती है जो श्रृङ्गार के युग में भी भक्तिभावना का अंचल दृढ़ता से पकड़े हुये हैं। युग की स्पष्ट छाप होते हुए भी यह भक्तिभावना उन्हें नितान्त श्रृङ्गारिक कवियों से पृथक् करती है। कृष्ण-प्रेम के कारण ही उन्होंने भ्रमरगीत प्रसंग को विशेष रुचि, रस तथा सहृदयता से ग्रहण किया है। आलम के सदृश आलम-पत्नी शेख ने भी इस प्रसंग पर सुन्दर रचना की है। आलम दम्पत्ति की रचना काव्य में अपनी साहित्यिक मर्मज्ञता, सच्ची कृष्णभक्ति और अनूठी प्रतिभा के लिए प्रसिद्ध है। आलम तथा शेख में प्रतिभा के विचार से किसे ऊँचा स्थान दिया जाय यह एक विवाद का विषय है। लाला भगवान-दीन को आलम की अपेक्षा शेख की प्रतिमा ही अधिक उच्च जान पड़ती है। यों तो आलम और शेख दोनों ने एक दूसरे को प्रभावित किया है। शेख का प्रबल आकर्षण जहाँ आलम को मुसलमान बन जाने की प्रेरणा देता है, वहाँ आलम का संसर्ग शेख को कृष्ण-भक्ति में रंग कर आमूल हिन्दू नारी का रूप दे देता है।

कृष्ण-भक्त होने के कारण आलम तथा शेख ने भ्रमरगीत का रूढ़िगत अथवा चलता हुआ वर्णन नहीं किया है। यद्यपि इन्होंने भ्रमरगीत प्रसंग के कुछ मार्मिक स्थलों—गोपी-विरह, यशोदा-विरह तथा उद्धव मथुरा-गमन को ही चुना है तथापि वे प्रसंग की गम्भीरता तक पहुँचे हैं उनका एक एक कवित्त प्रेम-विरह से ओत-प्रोत है।

रीतिकाल तक आते आते सैद्धान्तिक अंश प्रायः पीछे छूट गया था अतः आलम ने भी निर्गुण सगुण के विवाद की अपेक्षा साधना पक्ष योग संदेश का ही विशेष उल्लेख किया है। गोपियों की अभिलाषा के विपरीत यह योग-संदेश उन्हें क्योंकर अग्राह्य है इसका वर्णन शेख ने किस सुन्दरता से किया है—

चाहती सिंगार तिन्हें सिंगी सों सगाई कहा,
औधि की है आस तौ अधारी कैसे गहिये।
विरह अगाध तहाँ सुन्नि की समाधि कौन,
जोग, काहि भावै जु वियोग दाह दहिये।

सेख कहे मैन-मुद्रा मोहन जु लाये बन,
मुद्रा लाओ काननि सुनेई सूल सहिये।
लागे लग नेकहूँ कहूँ जौ बौरी नीरो होय,
ऊधो एते बीच की बिचारि बात कहिये। आ० के० २०८॥

विरह-सिंधु में डूबती गोपियों को योग का अवलम्ब तो तिनके के सहारे से भी तुच्छ है अतः अधिक विवाद न कर वे केवल इतना ही कहती हैं—

प्रेम सों विरुधौ जिनि, हा हा हियो रुँधौ जनि,
ऊधौ लाख बातनि की सूधी एक बात है। आ० के० २१८।

लाख बातों की एक बात है कि उद्धव अब कटु वाक्यों से उनके हृदय को अधिक विद्ध करने की अपेक्षा मौन हो जायँ यही उचित है। वे तो अपनी परिस्थिति की विवशता से स्वयं ही दुखी हैं फिर विरही की व्यथा बढ़ाने से क्या लाभ ?

विरह के सुन्दर चित्र उपस्थित करने में आलम विशेष पटु हैं। उनकी प्रतिभा का दर्शन निम्न सवैया में होता है—

जा थल कीन्हें विहार अनेकन ता थल काँकरी बैठि चुन्यौ करें।
जा रसना सो करी बहु बात सु ता रसना सों चरित्र गुन्यौ करें॥
आलम जौन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यौ करें।
नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करें।[1]

गोपियों ने अपनी संयोग तथा वियोग की दशाओं का तुलनात्मक चित्र प्रस्तुत कर दिया है। गोपी के संदेश में नवीन भावना का चित्रण है। मनमोहन कृष्ण के मथुरा चलते ही हृदय तो कभी का उनके साथ चला गया किन्तु ये नेत्र यहीं रह गए थे। कृष्ण से बिछुड़ कर रूप रस पान करने वाली आँखें ही सबसे अधिक दुखी हैं अतः उद्धव के हाथ इन्हें भेज देने की मार्मिक कल्पना आलम की ही मौलिकता है—

भावतो विदेस जिये भामिनी कवन भांति,
भवन न भावे भ्रमभीत न सँभारिये।
आलम लगत नहीं पलनि सों पल पल
प्रलय समान पिय बिनु पल टारिये।

१—पृ० ४ वक्तव्य आलम केलि

उमड़त जल रही न्यारी है हरारी भारी
डोलत मगन कहूँ कहो कहाँ हारियो।
हाथहि कै लीजै लैकै दीजै ब्रजनाथ हाथ
ऊधौ दोऊ अखियाँ लै साथ ही सिधारिये। आ० के० २१६।

इस लघु संदेश में वे जितनी सफलतापूर्वक अपनी व्यथा व्यंजित कर सकती हैं कोई भी विस्तृत संदेश सम्भवतः इस उद्देश्य पूर्ति में इतना सफल नहीं हो सकता।

आलम तथा शेख की रचना भक्तिकालीन भ्रमरगीत की परम्परा की एक सुमधुर शृंखला है जिसका बाह्य तथा आन्तरिक सौन्दर्य असंदिग्ध है।

नागरीदास

भक्तवर नागरीदास की 'गोपी प्रेम-प्रकाश'[1] ५१ पदों की एक लघु रचना है। जिसमें पद्य के साथ ही ब्रजभाषा गद्य का भी प्रयोग मिलता है। रचना का मूल उद्देश्य भक्त कवियों के सदृश भक्ति की विजय ही है किन्तु नागरीदास ने उद्धव के ब्रज भेजने के पाँच विभिन्न प्रयोजनों का भी उल्लेख किया है। नंद, यशोदा, गोपी, गोपों को समाधान करना, उद्धव के ज्ञान गर्व को दूर करना, उद्धव के निर्गुण ब्रह्म के सम्मुख सगुण ब्रह्म की भी प्रतिष्ठापना, गोपी उद्धव की चर्चा द्वारा अर्थात् प्रेमी और ज्ञानी के वार्तालाप द्वारा भक्ति की प्रतिष्ठा कराना, अपने मित्र उद्धव को सत् मित्र बनाने के निमित्त जिससे वे प्रेम की बात को समझ सकें तथा अन्तिम प्रयोजन उद्धव के मन में वृन्दावन वास की उत्कण्ठा जाग्रत करना है। नागरीदास के पूर्व कवियों ने प्रायः इन समस्त प्रयोजनों का उल्लेख किया है। अन्तिम प्रयोजन का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता किन्तु उद्धव की कामना इस प्रयोजन को भी व्यक्त कर देती है।

गोपी प्रेम प्रकाश के समस्त छंद नागरीदास कृत नहीं हैं। अपने कथन की पुष्टि में नागरीदास ने सूरदास के पदों को उद्धृत किया है। कथानक के विचार से उद्धव कृष्ण तथा उद्धव गोपी संवाद का अंश ही प्रमुख है। उद्धव के ब्रज भेजने के बिभिन्न प्रयोजनों का उल्लेख

१—ना० प्र० सभा

करने के उपरान्त भी रचना में निर्गुण ब्रह्म की स्थापना के निमित्त कुछ नहीं कहा गया। उद्धव योग-संदेश के विषय में भी मौन हैं। केवल गोपियाँ ही निर्गुण को अस्वीकार करती हैं, सगुण भक्ति का प्रतिपादन करती हैं। भक्तवर नागरीदास की गोपियां तर्क-जाल में न फँसकर बड़ी सरलता से उद्धव को उत्तर देती हैं—

ऊधौ तुम न जानत प्रेम।
बसौ मथुरा राजधानी तहाँ व्यापक नेम।
कथन निर्गुण ग्यान सूको राजनीत प्रबंध।
प्रीति नैन निरूप रीझनि कहा जाने अंध।
इहाँ ब्रज में वृथा कीजै जोग निरस पाठ।
छांड़ि नटनागर मधुर फल कौन पावै काठ। गो० प्रे० प्र० २४।

उद्धव की बारम्बार ज्ञान-चर्चा से ऊबी गोपियाँ अन्त में चिढ़कर कहती हैं—

ऊधौ वृथा कर वकवादि।
हम जान्यौ तुम जानत नाहीं रूप सुधा सुष स्वादि।
सकल ब्रज मोहन गई है गोप अरु गोपी गाय।
तिनै तो बिन घनस्याम सुन्दर कैसे और सुहाय।
हमारे तन करि षंड देहु भूमि में डारि।
न्यारे न्यारे लपट जाहि लषि नागर नंदकुमार॥
गो० प्रे० प्र० ३२।

अपनी झुँझलाहट और क्रोध में भी वे अधिक कटु नहीं बन सकीं। उद्धव की अनाधिकार चर्चा उद्धव के अज्ञान का कारण है इसे वे भली-भाँति जानती हैं। साथ ही उनके प्रेम-पूर्ण हृदय में जहाँ सर्वस्व समर्पण और त्याग की ही भावना है वहाँ ईर्ष्या, व्यंग्य तथा उपालम्भ का स्थान ही नहीं। केवल प्रेम के बल पर ही अपने को केन्द्रित रखना ही उन्होंने जाना है। वे कहीं भी उद्धव के निर्गुण ब्रह्म अथवा जोग संदेश का कटु उपहास नहीं करती। उनकी अस्वीकृति भी हृदय की विवशता के कारण है और उद्धव का आग्रह भी उस प्रेम-भक्ति के आस्वाद से अपरिचित होने के कारण सरलता तथा एकनिष्ठा के साथ ही नागरीदास की गोपियों की प्रमुख विशेषता उनकी सहृदयता

है जिसके कारण वे युग-युग से तिरस्कृत कुब्जा के प्रति एक भी कटु वाक्य नहीं कहतीं न अपने प्रेम की दुहाई देती हुई कृष्ण को उपालम्भ ही देती हैं।

गोपी-प्रेम-प्रकाश में यद्यपि सूरदास के सदृश विविधता और नंददास के भँवर की दार्शनिक विवेचना का अभाव है किन्तु अपनी सरल भावव्यंजना के कारण भ्रमरगीत परम्परा में इसका विशेष स्थान है।

रीतिकाल में शुद्ध भक्ति भावना से युक्त यह रचना भक्ति-कालीन भ्रमरगीत की श्रेणी के अन्तर्गत ही रखी जा सकती है।

चाचा वृन्दावनदास

चाचा वृन्दावनदास राधा वल्लभी सम्प्रदाय के अत्यन्त प्रतिभा-शाली कवि हैं। इनकी रचनाएँ प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हैं। यद्यपि अभी उनका समुचित सम्पादन और प्रकाशन नहीं हुआ है। राधा-वल्लभी सम्प्रदाय के अनुसार इन्होंने सात-सागरों की रचना की है। इस समय केवल चार सागर उपलब्ध हैं। इनमें से एक लाड़ सागर कुछ ही दिन पूर्व प्रकाशित हुआ है। शेष ग्रन्थ अप्रकाशित और हस्त-लिखित रूप में प्राप्त हैं। भ्रमरगीत[1] भी अप्रकाशित रचना है।

राधा-वल्लभी सम्प्रदाय में भ्रमरगीत की परम्परा प्राप्त नहीं है। इसका कारण उनका दार्शनिक दृष्टिकोण है। इनके इष्ट राधावल्लभ नित्य वृन्दावन बिहारी हैं। राधा से उनका नित्य संयोग है तथा व्रज निकुंज लीला-प्रवेश-अधिकारिणी गोपियाँ उनकी सेवा में नित्य उपस्थित रहती हैं। राधावल्लभ को न तो मथुरा जाने की आवश्यकता है और न इतना अवकाश। यथार्थ में मथुरा-लीला वाले कृष्ण राधावल्लभ से भिन्न हैं। उनका निकुंज में प्रवेश नहीं है। इस कारण भ्रमरगीत प्रसंग की अस्वीकृत स्वाभाविक ही है। प्रस्तुत भ्रमरगीत इसका अपवाद है। चाचा वृन्दावनदास ने अनेक रचनाएँ अपने मित्रों के आग्रह पर की हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि साम्प्र-दायिक मान्यता के विरुद्ध होते हुये भी अपने मित्रों के आग्रह से

१—राधावल्लभ जी का मंदिर, वृन्दावन

अथवा सूर और नन्ददास के भ्रमरगीत से प्रभावित होकर तथा विषय की मोहकता से मुग्ध होकर यह रचना की है।

प्रस्तुत रचना एकसौ नौ पदों तथा नौ दोहों में प्राप्त है। सूरदास की पद शैली पर लिखी इस रचना को दो भ्रमरगीतों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम भ्रमरगोत एक बड़े पद के रूप में उपलब्ध है जोकि इस रचना का प्रथम पद है। इसमें कृष्ण संदेश, उद्धव का ब्रजागमन, यशोदा और गोपियों को संदेश तथा उनके उत्तर का समावेश है। वर्णनात्मक होने के कारण भावों की गम्भीरता एवं उत्कर्ष इसमें नहीं प्रकट हो सका है।

द्वितीय भ्रमरगीत पद तथा दोहों में लिखी विस्तृत रचना है। सर्वप्रथम यशोदा उद्धव से कृष्ण समाचार पूछती हैं—

यशोदा फिरि फिरि बूझत जाय।
कहि ऊधौ श्रीकृष्ण भले हैं बातें सब समुझाय।
हम तौ सदा पंथ हेरित हैं कब धौं मिलि हैं द्दाय।
वृन्दावन हित रूप यशोदा कहि कहि लेत बलाय॥भँ० वृ० २

ऐसा ज्ञात होता है कि कृष्ण संदेश और उद्धव आगमान की कथा जो कि पूर्व भ्रमरगीत में है उसी को आधार मानकर इसका विकास किया गया है। उद्धव का कृष्ण संदेश परम्परागत है। यशोदा विरह में उनकी मानसिक स्थिति की स्पष्ट झलक है। वृन्दावनदास की यशोदा सूर की यशोदा के निकट है। वृन्दावनदास ने यशोदा की विकलता, आतुरता और तन्मयता का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। उद्धव मथुरा से कृष्ण का संदेश लाये हैं किन्तु यशोदा को तो मनमोहन नित निकट ही दिखाई पड़ता है। वे कहती हैं उद्धव तुम कहते हो कि कृष्ण मथुरा में है किन्तु मैं कैसे विश्वास करू क्योंकि –

ऊधौ ये रहें दृष्टि पथ आगे।
तुम जु कहत हम मधुवन छांड़े मुहि ह्यां से लागें।
कबहुं कछुक मांगत से सूझै कबहुं मचलि के भागें।
वृन्दाबन हित रूप लाड़िले कबहुँ सोय से जागे। भं० वृ० ६।

किन्तु वस्तुस्थिति से अधिक काल तक अनभिज्ञ नहीं रहा जा सकता। यशोदा भी पुत्र के लिए विकल हो जाती है। वे उद्धव से कृष्ण को— उनके प्राण प्यारे को शीघ्र बुला लाने का आग्रह करती हुई कहती है

है जिसके कारण वे युग-युग से तिरस्कृत कुब्जा के प्रति एक भी कटु वाक्य नहीं कहतीं न अपने प्रेम की दुहाई देती हुई कृष्ण को उपालम्भ ही देती हैं।

गोपी-प्रेम-प्रकाश में यद्यपि सूरदास के सदृश विविधता और नंददास के भँवर की दार्शनिक विवेचना का अभाव है किन्तु अपनी सरल भावव्यंजना के कारण भ्रमरगीत परम्परा में इसका विशेष स्थान है।

रीतिकाल में शुद्ध भक्ति भावना से मुक्त यह रचना भक्ति-कालीन भ्रमरगीत की श्रेणी के अन्तर्गत ही रखी जा सकती है।

चाचा वृन्दावनदास

चाचा वृन्दावनदास राधा वल्लभी सम्प्रदाय के अत्यन्त प्रतिभा-शाली कवि हैं। इनकी रचनाएँ प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हैं। यद्यपि अभी उनका समुचित सम्पादन और प्रकाशन नहीं हुआ है। राधा-वल्लभी सम्प्रदाय के अनुसार इन्होंने सात-सागरों की रचना की है। इस समय केवल चार सागर उपलब्ध हैं। इनमें से एक लाड़ सागर कुछ ही दिन पूर्व प्रकाशित हुआ है। शेष ग्रन्थ अप्रकाशित और हस्त-लिखित रूप में प्राप्त हैं। भ्रमरगीत[1] भी अप्रकाशित रचना है।

राधा-वल्लभी सम्प्रदाय में भ्रमरगीत की परम्परा प्राप्त नहीं है। इसका कारण उनका दार्शनिक दृष्टिकोण है। इनके इष्ट राधावल्लभ नित्य वृन्दावन बिहारी हैं। राधा से उनका नित्य संयोग है तथा व्रज निकुंज लीला-प्रवेश-अधिकारिणी गोपियाँ उनकी सेवा में नित्य उपस्थित रहती हैं। राधावल्लभ को न तो मथुरा जाने की आवश्यकता है और न इतना अवकाश। यथार्थ में मथुरा-लीला वाले कृष्ण राधावल्लभ से भिन्न हैं। उनका निकुंज में प्रवेश नहीं है। इस कारण भ्रमरगीत प्रसंग की अस्वीकृत स्वाभाविक ही है। प्रस्तुत भ्रमरगीत इसका अपवाद है। चाचा वृन्दावनदास ने अनेक रचनाएँ अपने मित्रों के आग्रह पर की हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि साम्प्र-दायिक मान्यता के विरुद्ध होते हुये भी अपने मित्रों के आग्रह से

१—राधावल्लभ जी का मंदिर, वृन्दावन

अथवा सूर और नन्ददास के भ्रमरगीत से प्रभावित होकर तथा विषय की मोहकता से मुग्ध होकर यह रचना की है।

प्रस्तुत रचना एकसौ नौ पदों तथा नौ दोहों में प्राप्त है। सूरदास की पद शैली पर लिखी इस रचना को दो भ्रमरगीतों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम भ्रमरगीत एक बड़े पद के रूप में उपलब्ध है जोकि इस रचना का प्रथम पद है। इसमें कृष्ण संदेश, उद्धव का व्रजागमन, यशोदा और गोपियों को संदेश तथा उनके उत्तर का समावेश है। वर्णनात्मक होने के कारण भावों की गम्भीरता एवं उत्कर्ष इसमें नहीं प्रकट हो सका है।

द्वितीय भ्रमरगीत पद तथा दोहों में लिखी विस्तृत रचना है। सर्वप्रथम यशोदा उद्धव से कृष्ण समाचार पूछती हैं—

यशोदा फिरि फिरि बूझत जाय।
कहि ऊधौ श्रीकृष्ण भले हैं बातें सब समुझाय।
हम तौ सदा पंथ हेरित हैं कब धौं मिलि हैं हाय।
वृन्दावन हित रूप यशोदा कहि कहि लेत बलाय ॥भँ० वृ० २

ऐसा ज्ञात होता है कि कृष्ण संदेश और उद्धव आगमान की कथा जो कि पूर्व भ्रमरगीत में है उसी को आधार मानकर इसका विकास किया गया है। उद्धव का कृष्ण संदेश परम्परागत है। यशोदा विरह में उनकी मानसिक स्थिति की स्पष्ट झलक है। वृन्दावनदास की यशोदा सूर की यशोदा के निकट है। वृन्दावनदास ने यशोदा की विकलता, आतुरता और तन्मयता का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। उद्धव मथुरा से कृष्ण का संदेश लाये हैं किन्तु यशोदा को तो मनमोहन नित निकट ही दिखाई पड़ता है। वे कहती हैं उद्धव तुम कहते हो कि कृष्ण मथुरा में है किन्तु मैं कैसे विश्वास करू क्योंकि –

ऊधौ ये रहें दृष्टि पथ आगे।
तुम जु कहत हम मधुवन छांड़े मुहि ह्यां से लागें।
कबहुं कछुक मांगत से सूझै कबहुं मचलि के भागें।
वृन्दावन हित रूप लाड़िले कबहुँ सोय से जागे। भं० वृ० ६।

किन्तु वस्तुस्थिति से अधिक काल तक अनभिज्ञ नहीं रहा जा सकता। यशोदा भी पुत्र के लिए विकल हो जाती है। वे उद्धव से कृष्ण को— उनके प्राण प्यारे को शीघ्र बुला लाने का आग्रह करती हुई कहती है

कि ब्रजदीपक कृष्ण को अब वे कभी बिलग न करेंगी। उद्धव भी कृष्ण का मधुर संदेश, उनका व्रत प्रेम तथा पुनर्मिलन की आशा-पूर्ण बातों द्वारा यशोदा को सान्त्वना देते हैं।

गोपी उद्धव मिलन का वर्णनात्मक अंश बिलकुल छोड़ दिया गया है। गोपियाँ उद्धव को देखकर कृष्ण समाचार पूछती हैं और उनका ब्रह्मज्ञान तथा योग संदेश सुनकर खीज उठती हैं। उनकी यह झुंझलाहट व्यंग्य रूप में प्रकट होती है। वे कृष्ण, कुब्जा तथा उद्धव तीनों पर व्यंग्य करती हैं।

उद्धव-संदेश

उद्धव अपने परम्परागत रूढ़िवादी स्वभाव के विपरीत एक सहृदय व्यक्ति हैं। वे गोपियों को एक कुशल गुरु के समान बार-बार समझाते हैं कि किसी भी बात को बिना समझे ही बुरा कहना उचित नहीं। विषय को समझाने पर सुख मिलता है। ज्ञान और योग में कोई दोष नहीं जो तुम क्रुद्ध हो रही हो। बड़े-बड़े ग्रन्थों को मनन करने के पश्चात् ही कृष्ण ने तुम्हारे कल्याण के लिये ही यह संदेश भेजा है। योग द्वारा प्राप्त मुक्ति ही सुख और संतोष देने वाली है। अन्य सुख ओस-बिन्दु के सदृश क्षणिक और व्यर्थ हैं। ज्ञान-योग द्वारा क्रोध आदि विकारों का विनाश होता है। किन्तु तुम मेरी बात पर ध्यान ही नहीं देतीं वस्तुतः ज्ञान अभयदाता है। ज्ञान योग-परम सत्य से तुम्हारा विरह प्रवाह रुक सकेगा। यही श्रुतियों का सार है। इसके कथन और श्रवण से पाप-पुंज नष्ट हो जाते हैं। मैं तुम्हारे हित के लिए ही कृष्ण संदेश सुना रहा हूँ। तुम्हारा मुझ पर क्रुद्ध होना भी उचित नहीं है। तुम इस योग-चर्चा को खिलवाड़ मत समझो। खीजो मत। यह अत्यन्त गूढ़ एवं गम्भीर रहस्य है।

निर्गुण-ब्रह्म उपदेश

योग-संदेश के अतिरिक्त उद्धव कृष्ण-प्रेषित निर्गुण-ब्रह्म का भी संदेश देते हैं। कृष्ण के निर्गुण तथा सगुण स्वरूपों का उल्लेख कर उद्धव निर्गुण के मनन एवं ग्रहण का उपदेश देते हैं। उनके विचार से निर्गुण स्वर्ग स्वरूप के ध्यान से ही सांसारिक कष्ट दूर होते हैं और शान्ति मिलती है। निर्गुण स्वरूप के ध्यान के लिये संसार त्याग आवश्यक है। संसार मिथ्या है इस तत्व को समझ लेना अति

आवश्यक है। योगिराज निर्गुण ब्रह्मस्वरूप कृष्ण के संसर्ग में रहकर भी तुम्हारे हृदय में ज्ञान की ज्योति नहीं जगी। किसी वस्तु के दोषों को देखने से उसकी प्रतीति नहीं होती वरन् उसे समझने और समझकर ग्रहण करने का प्रयत्न करना चाहिए। उद्धव इसी भांति निरन्तर गोपियों को समझाते हैं किन्तु उनकी समझ में कुछ आता ही नहीं, वे समझने का प्रयत्न भी नहीं करतीं।

उद्धव-गोपी संवाद में सूर की भावात्मकता और नंददास की तार्किकता दोनों ही उपलब्ध हैं। इनकी गोपियाँ भी नंददास की गोपियों की भांति ही तर्क करती हैं। किन्तु यह तर्क शुष्क एवं शुद्ध दार्शनिक नहीं है। इसमें उनके भावुक हृदय की आकुलता, विकलता, व्यंग्य और उपहास सभी का मिश्रण है। गोपियाँ उद्धव के योग-संदेश तथा कृष्ण-प्रेम की तुलना करती हैं—

योग काँच को मनिया ऊधौ सो तुम हमें दिखायौ।
वृन्दावन हित रूप खरे प्रीति सो रतन गमायौ॥ भं० वृ० ८४

गोपियों के इस आक्षेप के उत्तर में उद्धव ने भगवान् शंकर का उदाहरण देकर अपने मत की पुष्टि की—

सुनौ जू योग काँच क्यों होई।
जिहिं धारत शंकर से योगी हरि के प्यारे सोई।
सनकादिक से जतन करत नित हरि तो कह्यौ भलोई।
वृन्दावन हित रूप भाम सुनौ यामें दोष न कोई। भं० वृ० ८५

वृन्दावनदास की गोपियाँ नंददास की गोपियों की भाँति उद्धव के तर्क को काट देती हैं—

सखा जो शंकर योग कमायौ।
तौ क्यौं रूप मोहिनी धरि कै उनकौ नाच नचायौ॥
अरु बैकुण्ठ गये सनकादित पौरी जब हटकायौ।
परम हानि गनि दूजै विजै को तो क्यों श्राप दिवायौ॥
हमही कहा गनौ तुम भोरी यह दृष्टान्त बतायौ।
भं० वृ० ८६

भँवरगीत की विशेषता प्रसंग अथवा कथा के संयोजन में नहीं है। प्रत्युत भाव-व्यंजना में है। वृन्दावनदास की गोपियाँ अपनी सहज

स्वाभाविक सरलता से बहुत कुछ कह देती हैं। उद्धव के निर्गुण ब्रह्म-संदेश को सुनकर वे कहती हैं तुम बिना माँगी वस्तु को लाए ही क्यों ? हमने तो कभी प्रार्थना नहीं की—

ऊधौ हम कब बिनै करी।
निर्गुन ज्ञान हमें उपदेसौ पंडित श्याम हरी।
बिन सरधा जो गरे चपेकौ तौ कित गर्ज खरी।
हमरे कथा रूप रस लीला मन में सुमर भरी।
योग जुक्ति जो प्यारी लागत तौ क्यों इतहि धरी॥
वृन्दावन हित रूप रावरी चितवनि हिये अरी।

भँ० व० १६

हमें इस शिक्षा की आवश्यकता ही नहीं इसके लिए तो—

जाय काहू पापी कौ उपदेशौं। भँ० वृ०

कृष्ण ने हमारे लिये ब्रह्मज्ञान भेजा है। किन्तु वे स्वतः ब्रह्मज्ञान के विरुद्ध हैं। क्योंकि—

ब्रह्म जो घट घट में हरि बूझै।
मथुरा जाय कंस को मार्‌यो वासें ब्रह्म न सूझै॥
हम में ब्रह्म नहीं हो कहा वा कुबिजा अरुझै।
वृन्दावन हित रूप पठाये हमें ज्ञान के गूझै।

भँ० वृ० ७१

जीवन यापन के लिए यथेष्ट ज्ञान तो सभी में होता है उसके लिए इतनी दूर से कष्ट कर आने की आवश्यकता ही नहीं—

ज्ञान तो सब हित के चलि आयो।
पशु पक्षी सब हरि समुझत है बैर प्रीति को दायौ।
मनुज सबै जल अन्न खात है किन पाषान चबायौ।
ज्ञान बिना कैसें कीजत है यह मति हमनि न पायौ।
बुरौ भलौ नैनन देखत हैं यह नहिं ज्ञान कहायौ।
वृन्दावन हित रूप खरे को धौं ज्ञान पठायौ॥

भँ० वृ० ६६

गोपियों ने कृष्ण के मथुरा नरेश रूप पर भी व्यंग्य किये हैं। उनकी महानता एवं नवीन शासन प्राप्ति को लेकर वे कहती हैं—

ऊधौ हरि नई रजायसि पाई।
याते ज्ञान योग कौं सिक्का हम पै प्रथम चलाई॥
भं० वृ० ११

कृष्ण संदेश को सुनकर गोपियाँ समझती हैं कि कृष्ण उनसे बाजी लगा रहे हैं किन्तु वे पीछे हटने वाली नहीं हैं। अपने अनन्य प्रेम पर वे अचल अटल हैं। उद्धव चाहे कुछ करें उन्हें कोई भय नहीं। वे उद्धव से कहती हैं—

कहा हरि हमसों होड़ परी है।
निधरक ह्वै कीजै किमि ऊधौ जो मन मांह धरी है।
कब पठयों हम दूत मधुपुरी दासी यदपि बरी है।
उननि तुम्हें ह्यां तुरत पठायौ योगनि खेप भरी है।
हंस सभा में भुस नीरनु जो ताकी मति बिगरी है।
हम गाढ़े उपदेश योग्य भईं यह कहा घाटि करी है।
ऊधौ कपट कपाट श्याम की अबही तौ उघरी है।
सकत सनेह योग दीजत है यों कहि कौन डरी है।
वृन्दावनहित रूप रखरे ह्यां तौ बात खरी है॥
भं० वृ० १३

कृष्ण उपहास के साथ ही गोपियों के हृदय की पीड़ा भी प्रकट हो जाती है। एक ओर वे उद्धव को कहती हैं—कृष्ण तुम्हारी ही नगरी में बड़े होंगे हम उन्हें भली भाँति जानती हैं। दूसरी ओर उनका हृदय यह स्वीकार कर लेता है—

ऊधौ हरि कुबिजा हाथ बिकाने। भं० वृ० २८

उन्हें स्वयं अपनी बुद्धि पर क्रोध आता है। कृष्ण-प्रेम में फँस कर अब वे विवश हो गई हैं। वे अब दोष भी किसे दें। उद्धव के सम्मुख वे अपना ही दोष स्वीकार कर लेती हैं—

ऊधौ सुनि बैरिन अपनी मति है।
काहे कों कियौं सनेह स्याम सौं काहे अब तलफति है।
यह तो भई नाद की कुरगिनि बिसरि चलनि की गति है।
मोहन मोहन रूप दिखाय दृगनि अब डोलति भरति विपति है।
पैरत सुभग श्याम सागर में खोई लज्जापति है॥
भं० वृ० ३०

गोपियों के हृदय में एक ही कामना है कृष्ण-दर्शन। उद्धव पर व्यंग्य तथा उपहास करने के पश्चात् भी गोपियों की मिलन कामना कम नहीं होती। वे बड़ी उत्सुकता और दीनता से पूछती हैं—

ऊधौ हरि आवैंगे कै दिन में।
प्राननि नाथ कमल दल लोचन जीव बसत नित जिनमें।
सुनि हो सखा साँच अब बोलो बारबार हम बिनमें।
वृन्दावन हित रूप रखरे मगहेरत छिन छिनमें। भं० वृ० ७७

कृष्ण की प्रगाढ़ स्मृति के कारण वे प्रतिक्षण उन्हीं का रूप देखती और स्वर सुनती हैं। कृष्ण उनके नेत्रों के आगे से नहीं हटते, इस भांति वियोग में भी वे संयोग का अनुभव करती हैं। कृष्ण उनके चारों ओर घूमते, और क्रीड़ा करते हैं पता नहीं उद्धव इसे समझते भी हैं अथवा नहीं। उद्धव को गोपियों की भोली बुद्धि पर तरस आता है। वे उन्हें बार-बार समझाना चाहते हैं किन्तु वे सुनना नहीं चाहतीं, समझने की चेष्टा ही नहीं करतीं। उनके तर्क, व्यंग्य और उपालम्भ को सुनकर उद्धव खीज उठते हैं, उनकी बुद्धि भ्रम में पड़ जाती है और वे गोपियों से से हठ छोड़ देने को कहते हैं—

भले जु कही सु हम सब जानी।
हित की बात दोष करि लखति समझि और ही आनी।
श्याम कही नहिं मो मन उपजी जो तुन रीति बखानी।
यह तो उलटि बह्यौ परिचय दिशि ज्यों सलिला को पानी।
सभा चातुरी सब ठाँ देखी पै यहाँ बुद्धि भुलानी।
बातनि ही में अन्त लेति हो हौं हुँ भयौ नकवानी।
अब तो यह हठ छाँड़ि दीजिये बोली मधुरी बानी।
वृन्दावन हित रूप रखरे सुवात सयानी॥

भँ० वृ० ६० ।

उद्धव की ऐसी स्थिति देखकर गोपियाँ उन्हें स्वयं ही उपदेश देती हुई भक्ति की महिमा बताती हैं—योग-कर्म, फल की इच्छा के लिए ही किये जाते हैं। ज्ञान-योग के द्वारा मुक्ति रूपी खारी फल की प्राप्ति होती है। इस प्रकार के व्रत-कुशल व्यक्ति बैकुण्ठ में निवास करते हैं। जिन कृष्ण की नख ज्योति से समस्त जगत प्रकाशित है उन

कृष्ण को अधिकारी कहने वाले ज्ञानी, प्रलय के पश्चात् पुनः संसार में आते हैं - आवागमन के बंधन में बंध जाते हैं। वे कृष्ण के रस-रूप का दर्शन ही नहीं कर पाते। हे उद्धव! तुम तो उनके निकट रहते हो, कृष्ण कल्पतरु हैं उसके मधुर फल का आस्वादन तो ब्रज-नारी ही करती हैं। बेचारा निर्गुण ज्ञान का आहार करने वाला इस स्वाद सुख को क्या समझे। अतएव यदि तुम्हारी भेद-बुद्धि स्वीकार कर ले तो तुम हमारी बात मान लो।

जिन गोपियों के प्रेम से नंदलाल उनके वश में हो गए हैं उनकी शिक्षा का प्रभाव उद्धव पर न पड़े यह सम्भव नहीं। उद्धव भी उनकी प्रशंसा करते हुए कृष्ण-प्रेम में रंग गए। उनका यह मान-सिक परिवर्तन समस्त भ्रमरगीतों में समान रूप से दिखाया गया है।

कला-पक्ष

भ्रमरगीत ब्रजभाषा की रचना है। वृन्दावनदास का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। इनकी रचना कहीं भी जटिल नहीं हो पाई। भ्रमरगीत में सर्वत्र प्रसाद एवं माधुर्य गुण की प्रधानता है। शब्द-चयन भावानुकूल है। इसमें भरती के शब्द नहीं मिलते। भाषा को प्रभावपूर्ण बनाने लिए कवि ने मुहावरों का भी प्रयोग किया है। यथा होड़ पड़ी, हाथ बिकना, बड़े कहाना, आदि। भ्रमरगीत में अलंकारों का प्रयोग अपेक्षाकृत कम हुआ है। उपमा, उत्प्रेक्षा तथा रूपक आदि की झलक यत्र तत्र मिल जाती है। वस्तुतः कवि का ध्यान युग-प्रवृत्ति के अनुरूप अलंकारिक प्रयोग की अपेक्षा भाव-व्यंजना की ओर ही था।

पदशैली में लिखी हुई इस रचना में प्रबन्धात्मकता का पूर्ण ध्यान रखा गया है। अतएव मुक्तक होते हुए भी इसमें गोपी उद्धव संवाद क्रमबद्ध रूप में प्राप्त है।

वृन्दावनदास की यह रचना भाव, विचार तथा शैली की दृष्टि से भक्तिकालीन है। इसमें शुद्ध प्रेम का ही वर्णन है। रीतिकालीन खंडिता नायिका की भांति गोपियों की विरह-वेदना ऐन्द्रिक नहीं वरन् मानसिक है। वृन्दावनदास स्वयं एक भक्तकवि थे। अतः युग का उन पर विशेष प्रभाव न पड़ सका। वस्तुतः भ्रमरगीत एक सुन्दर

गोपियों के हृदय में एक ही कामना है कृष्ण-दर्शन। उद्धव पर व्यंग्य तथा उपहास करने के पश्चात् भी गोपियों की मिलन कामना कम नहीं होती। वे बड़ी उत्सुकता और दीनता से पूछती हैं—

ऊधौ हरि आवेंगे कै दिन में।
प्रानिनि नाथ कमल दल लोचन जीव बसत नित जिनमें।
सुनि हो सखा साँच अब बोलो बारबार हम बिनमें।
वृन्दावन हित रूप रखरे मगहेरत छिन छिनमें। भं० वृ० ७७

कृष्ण की प्रगाढ़ स्मृति के कारण वे प्रतिक्षण उन्हीं का रूप देखती और स्वर सुनती हैं। कृष्ण उनके नेत्रों के आगे से नहीं हटते, इस भांति वियोग में भी वे संयोग का अनुभव करती हैं। कृष्ण उनके चारों ओर घूमते, और क्रीड़ा करते हैं पता नहीं उद्धव इसे समझते भी हैं अथवा नहीं। उद्धव को गोपियों की भोली बुद्धि पर तरस आता है। वे उन्हें बार-बार समझाना चाहते हैं किन्तु वे सुनना नहीं चाहतीं, समझने की चेष्टा ही नहीं करतीं। उनके तर्क, व्यंग्य और उपालम्भ को सुनकर उद्धव खीज उठते हैं, उनकी बुद्धि भ्रम में पड़ जाती है और वे गोपियों से से हठ छोड़ देने को कहते हैं—

भले जु कही सु हम सब जानी।
हित की बात दोष करि लखनि समझि और ही आनी।
श्याम कही नहिं मो मन उपजी जो तुम रीति बखानी।
यह तो उलटि बह्यो परिचय दिशि ज्यों सलिला को पानी।
सभा चातुरी सब ठाँ देखी पै यहाँ बुद्धि भुलानी।
बातनि ही में अन्त लेति हो हौं हूँ भयो नकवानी।
अब तो यह हठ छाँड़ि दीजिये बोली मधुरी बानी।
वृन्दावन हित रूप रखरे सुबान सयानी॥

भं० वृ० ६०।

उद्धव की ऐसी स्थिति देखकर गोपियाँ उन्हें स्वयं ही उपदेश देती हुई भक्ति की महिमा बताती हैं— योग-कर्म, फल की इच्छा के लिए ही किये जाते हैं। ज्ञान-योग के द्वारा मुक्ति रूपी खारी फल की प्राप्ति होती है। इस प्रकार के व्रत-कुशल व्यक्ति बैकुण्ठ में निवास करते हैं। जिन कृष्ण की नख ज्योति से समस्त जगत प्रकाशित है उन

कृष्ण को अधिकारी कहने वाले ज्ञानी, प्रलय के पश्चात् पुनः संसार में आते हैं - आवागमन के बंधन में बंध जाते हैं। वे कृष्ण के रस-रूप का दर्शन ही नहीं कर पाते। हे उद्धव ! तुम तो उनके निकट रहते हो, कृष्ण कल्पतरु हैं उसके मधुर फल का आस्वादन तो ब्रज-नारी ही करती हैं। बेचारा निर्गुण ज्ञान का आहार करने वाला इस स्वाद सुख को क्या समझे। अतएव यदि तुम्हारी भेद-बुद्धि स्वीकार कर ले तो तुम हमारी बात मान लो।

जिन गोपियों के प्रेम से नंदलाल उनके वश में हो गए हैं उनकी शिक्षा का प्रभाव उद्धव पर न पड़े यह सम्भव नहीं। उद्धव भी उनकी प्रशंसा करते हुए कृष्ण-प्रेम में रंग गए। उनका यह मान-सिक परिवर्तन समस्त भ्रमरगीतों में समान रूप से दिखाया गया है।

कला-पक्ष

भ्रमरगीत ब्रजभाषा की रचना है। वृन्दावनदास का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। इनकी रचना कहीं भी जटिल नहीं हो पाई। भ्रमरगीत में सर्वत्र प्रसाद एवं माधुर्य गुण की प्रधानता है। शब्द-चयन भावानुकूल है। इसमें भरती के शब्द नहीं मिलते। भाषा को प्रभावपूर्ण बनाने लिए कवि ने मुहावरों का भी प्रयोग किया है। यथा होड़ पड़ी, हाथ बिकना, बड़े कहाना, आदि। भ्रमरगीत में अलंकारों का प्रयोग अपेक्षाकृत कम हुआ है। उपमा, उत्प्रेक्षा तथा रूपक आदि की झलक यत्र तत्र मिल जाती है। वस्तुतः कवि का ध्यान युग-प्रवृत्ति के अनुरूप अलंकारिक प्रयोग की अपेक्षा भाव-व्यंजना की ओर ही था।

पदशैली में लिखी हुई इस रचना में प्रबन्धात्मकता का पूर्ण ध्यान रखा गया है। अतएव मुक्तक होते हुए भी इसमें गोपी उद्धव संवाद क्रमबद्ध रूप में प्राप्त है।

वृन्दावनदास की यह रचना भाव, विचार तथा शैली की दृष्टि से भक्तिकालीन है। इसमें शुद्ध प्रेम का ही वर्णन है। रीतिकालीन खंडिता नायिका की भांति गोपियों की विरह-वेदना ऐन्द्रिक नहीं वरन् मानसिक है। वृन्दावनदास स्वयं एक भक्तकवि थे। अतः युग का उन पर विशेष प्रभाव न पड़ सका। वस्तुतः भ्रमरगीत एक सुन्दर

रचना है। इसके पद सूर के भ्रमरगीत की स्मृति कराते हैं। अप्रकाशित होने के कारण न तो सहृदय साहित्यिक इसका रसास्वादन ही कर सके और न कुशल आलोचकों को इसके देखने तथा परखने का सुअवसर ही प्राप्त हो सका।

रसरूप-उपालम्भ[१]

रसरूप कृत उपालम्भ शतक का परिचयात्मक विवरण पिछले अध्याय में दिया जा चुका है। पूर्ण रचना के अभाव में आलोचनात्मक परिचय देना अत्यन्त कठिन है। खोज-रिपोर्ट में उद्धृत छन्द के आधार पर ही कुछ कहा जा सकता है। रचना के शीर्षक से विषय पूर्ण स्पष्ट हो जाता है। उपालम्भ शतक का प्रसंग भ्रमरगीत का ही है किन्तु इसमें उपालम्भ तथा व्यंग्य की ही प्रधानता है। उद्धव से वार्तालाप करती हुई गोपियों के कथन से उनकी विचारधारा की एक झलक मिल जाती है—

> जब ते गए हैं तजि उधव न लागे आँखि सदा चले
> आवत वियोग के ही वे विस्ते हैं॥
> लाग सुख देह तव झारत चरण पेखन सरूप अबतो वे
> राजत न रिस्ते हैं॥
> कैसे गोपीनाथ गाय गतिन में नाथहू में नाहक गजब
> मारे उनमें उमिस्ते हैं।
> आप हैं त्रिभंगी तैसी कूबरी मिली है संगी जैसी
> जहाँ रूह तहाँ तैसई फिरस्ते हैं। मध्य

उपालम्भ शतक में गोपियों की मार्मिक व्यथा का चित्रण नहीं है। भाषा विचार से यह रचना नवीन है। पिछले सभी भ्रमरगीतों में ब्रजभाषा का शुद्ध सरल रूप ही ग्रहण किया। किन्तु उपालम्भ शतक की भाषा फारसी के शब्दों से भरी हुई है। छन्द में प्रयुक्त रूह, फिरस्ते आदि शब्द कवि के उर्दू प्रेम के द्योतक हैं।

बगसी हंसराज

विरह विलास[२] १५ अध्यायों का एक वृहत काव्य है। इसमें 'हरिऔध' कृत प्रियप्रवास के सदृश ही कृष्ण मथुरा गमन के प्रसंग

१—खोज रिपोर्ट १९०९-११
२—ना० प्र० सभा

को ही काव्य का विषय बनाया है अतः रचना का नाम विरह-विलास उपयुक्त ही है। कथा का प्रारम्भ अक्रूर आगमन से होता है। भ्रमर-गीत का प्रसंग भी इसमें विशेष विस्तार से होता है। ११ से १४ तक के चार अध्यायों (५४८ पदों) में इसका वर्णन है जिसमें ऊधौ-व्रजागमन, ऊधौ-योग-उपदेश, ऊधौ-मथुरा-प्रत्यागमन, तथा व्रज-दर्शन प्रसंगों को ही लिया गया है।

विरह-विलास में सर्वप्रथम कृष्ण के व्रज न जाने तथा उद्धव को भेजने के कारण पर एक नवीन दृष्टिकोण से विचार किया गया है। इस पौराणिक कथानक को विरह-विलास में ही सर्वप्रथम बौद्धिक दृष्टिकोण देने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है। यहाँ कृष्ण का एक नवीन कर्तव्यनिष्ठ स्वरूप भी हमारे सम्मुख आता है। वे मानव हैं उनके हृदय में भी माता-पिता तथा गोप-गोपियों का प्रेम है किन्तु दूसरी ओर मथुरा का पीड़ित समाज है। असुर विनाश का कठिन कार्य उन्हें कर्तव्य की ओर पुकार रहा है। यह प्रेम और कर्तव्य का संघर्ष है। परिस्थिति की विवशता कर्तव्य की पुकार ही उन्हें व्रज जाने से रोक देती है अतः वे एक ओर मथुरा में रहकर कर्तव्य का पालन करते हैं दूसरी ओर माता-पिता तथा गोपियों को सान्त्वना देने के लिए उद्धव को भी भेज देते हैं। उद्धव के व्रजागमन के मूल कारण में अन्तर हो जाने के फलस्वरूप ही कृष्ण का संदेश भी पूर्व कवियों जैसा नहीं है। राधा को पत्र लिखते समय वे सर्वप्रथम यही लिखते हैं—

तुम्हरे विषम विरह की झारें लगती निसुदिन अंग हमारे।

वि० वि०। ८२।

नवीन दृष्टिकोण को अपनाने पर भी कवि भ्रमरगीत के चिर प्रच-लित प्रसंग—योग-संदेश, कुब्जा पर व्यंग्य आदि को भुला नहीं सका, अतः कृष्ण के प्रेम विरह का वर्णन करने के उपरान्त उद्धव गोपियों को योग-संदेश देते हैं जिसे पढ़कर राधा एक क्षण के लिए व्याकुल हो उठती है पुनः उस संदेश की अव्यवहारिकता को सोचती हुई कहती है—

कान्ह लिख्यौ पाती में जोगु। वाचत हिय में बसौ वियोगु।

वि० वि०। ३६

× × × ×

उत रस भोग कान्ह सरसायौ इत हम को लिषि जोगु पठायौ।
जोग कौन आली वह आई मन माली लिपि पठयौ ताही।
वि० वि०। ३७।

जोग के मूल में कुब्जा-प्रणय को समझ कर वे उसके विकृत रूप का उपहास करना भी नहीं भूलतीं—

कुबिजा सी रानी मिली नृपत त्रभंगी लाल।
भली मिली जोरी जुगल लषि लषि होइ निहाल।
वि० वि० १८२। अध्याय १२

इस उपहास और व्यंग्य में भी उनके अन्तरतम की पीड़ा छिपी हुई है। कुब्जा-प्रणयी होने पर भी वे कृष्ण को भुला नहीं सकतीं और न निर्गुण ब्रह्म को ही स्वीकार कर सकती हैं। वे तो निरन्तर ध्यान योग द्वारा अपने हृदय में ही कृष्ण का दर्शन कर आनन्दित होतीं फिर उन्हें योग समाधि की आवश्यकता ही क्या—

जोगी-जोग समाधि लगावे परम ज्योति के दरसन पावै।
हम समाधि दिन रेन लगावै हरि हिरदे लषि आनन्दु पावैं॥१४६

इतना ही नहीं उद्धव के यहाँ भेजने का मूल कारण उन्हें ज्ञात है किन्तु भक्ति का मार्ग इतना सरल नहीं क्योंकि बिना प्रेम के भक्ति असम्भव है वे उद्धव से स्वयं अति स्पष्ट शब्दों में कहतीं हैं—

हरि की भगति कठिन अति होई बिना प्रेम पावत नहिं कोई।
हरि सिखयौ तुम कह मत ऊधौ अपनो मत कीन्हौ नहिं सूधौ।
वि० वि० १६३

× × × ×

जब तुमरे उर प्रेम न आयौ तब तुम कहँ हरि इहाँ पठायौ।

किन्तु उद्धव पर तो निर्गुण ब्रह्म का ही प्रभाव है वे प्रेम की बातों को कैसे ग्रहण कर सकेंगे। क्योंकि—

हौ ऊधौ तुम कुब्जा पंथी हिरदै निरगुन चरचा ग्रन्थी।
वि० वि० १७८ अध्याय १२

और हमारा प्रेम माग कोई सरल पथ नहीं—

हमारौ पंथ कठिन अति भारी क्यों सुनि हौ यह बात हमारी।
कुबिजा पंथ छाड़ि यह साधौ तो तुम सौ दुष पैहै माधौ।
वि० वि० १८१

प्रेम पंथ की यह कठिनता विरह-विलास के कवि की नवीन उद्-भावना है। सम्भवतः ज्ञानयोग की कठिनता का वर्णन सुनकर कवि ने सोचा हो कि एकनिष्ठ एकान्त प्रेम का मार्ग सरल किस भांति हो सकता है। प्रेम की कठिनता का उल्लेख करने से प्रेमयोग की पथिका गोपियों की महानता स्वतः ही सिद्ध हो जाती है। फलस्वरूप कुब्जा पंथी उद्धव गोपी पंथी बन जाते हैं। मथुरा लौटते समय के उद्-गार इस बात को और भी पुष्ट करते हैं—

हरि जू हमहि इहां पठवायौ, उपदेशन निरगुन मति आयौ।
सिष बनि आयौ तुमहि संदेसू, सीषि चल्यौ तुम तैं उपदेसू॥

बिरह-विलास के विस्तृत प्रसंग में भ्रमर-प्रवेश का उल्लेख नहीं मिलता है। समस्त रचना में विषय को नवीन रूप देने का स्पष्ट प्रयत्न दिखाई पड़ता है। दोहे चौपाई में लिखी हुई इस रचना से इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि भ्रमरगीत के चिर-प्रचलित प्रसंग को लेकर कवि नवीन उद्भावनायें करने लगे हैं। इस प्रकार प्रसंग में एक सूक्ष्म परिवर्तन प्रारम्भ हो गया है जो आधुनिक विचारधारा का परिचायक है। बगसी हंसराज की यह रचना इस विचार से भ्रमरगीत परम्परा के विकास में मत्वपूर्ण स्थान रखती है।

प्रेमदास—प्रेमसागर[1]

प्रेमसागर १० अध्यायों का वृहत् ग्रन्थ है। इसका प्रारम्भ उद्धव के गर्व खंडन के विचार से होता है। आठ अध्यायों में भ्रमरगीत प्रसंग विस्तृत वर्णन है। अन्तिम अध्यायों में कृष्ण के सूर्यग्रहण के समय ब्रजागमन तथा प्रेम का वर्णन है।

कथानक के विचार से प्रेमसागर में अन्य रचनाओं से कुछ भिन्नता है। प्रेमसागर में कृष्ण की विरह विह्वलता का विशेष उल्लेख है। वे उद्धव से प्रेम संदेश ही भेजते हैं—

१—ना० प्र० सभा

बूड़त विरह सोक के सागर कैसहु निकरत नाहीं।
अब तुम हमें निकारो प्यारी पकरि हमारी बांहीं। प्रे० सा० १५

ब्रज में कृष्ण विरह से जिस भाँति गोपियाँ दुखी हैं उसी प्रकार कृष्ण को भी उनका वियोग असह्य है वे अपनी इस व्यथा को पूर्णरूप से व्यक्त करने में असमर्थ हैं—

कह लौं लिषौ बात हिरदै की सुनिये आनन्द दैनी।
कब हम को करतार मिलावै भुज पसारि मृग नैनी।
इत नैनिन तुम कब देषौ सुनौ बात गज गौनी।
उन भाँतिन सों सुनौ पियारी हँसि वो कवै सलौनी। प्रे० सा० २८

कृष्ण का मानव हृदय इसमें अधिक उभर आया किन्तु परम्परागत ब्रह्म उपदेश की चर्चा के बिना उद्धव गर्व-खंडन असंभव है अतः कृष्ण इस ओर संकेत करना नहीं भूलते हैं—

गोपिन जरत विरह में हमरे पावत दुःख महाना।
कन्त भाव तजि के परमेश्वर मानहिं अस दो ज्ञाना॥
प्रे० सा० ३८

प्रेमसागर की द्वितीय विशेषता विस्तृत पाती प्रसंग है। कृष्ण तथा राधा दोनों ही लम्बे लम्बे पत्रों द्वारा संदेश भेजते हैं। राधा का मुखर रूप प्रेमसागर ही में मिलता है। अन्य भ्रमरगीतों में राधा प्रायः मौन ही हैं। गोपियों के विभिन्न नामों का उल्लेख भी विस्तृत रूप से प्रेमसागर से पूर्व रचनाओं में नहीं है। भ्रमर-प्रवेश का इस रचना दो बार उल्लेख है। कथागत इन सूक्ष्म परिवर्तनों के अतिरिक्त रचना में काव्यगत विशेषता अधिक नहीं है

ब्रजवासी—ब्रजविलास

दोहे चौपाई शैली में लिखा गया ब्रजविलास प्रबन्ध काव्य है। इसका विभाजन विभिन्न लीलाओं के अन्तर्गत किया गया है। प्रस्तुत निबन्ध से सम्बन्धित विषय 'उद्धव जी की विदा लीला' से उद्धव जी मथुरा गमन लीला में वर्णित है। कथानक तथा काव्यगत विचार से रचना में किसी प्रकार की नवीनता नहीं है। ब्रजविलास की विशेषता इसकी सरल भाषा तथा भाव-वर्णन है। अपनी बोधगम्यता के कारण

ही ब्रजविलास कृष्ण-भक्तों में अति प्रिय है। विषय विस्तार के अतिरिक्त भावगांभीर्य अथवा रचना चातुर्य का इसमें अभाव है। साधारण जनता में लोकप्रिय होते हुए भी इसका साहित्यिक महत्त्व अधिक नहीं है, यद्यपि भ्रमरगीत परम्परा में इसका विशेष स्थान है।

रसरासि—रसिक पचीसी[1]

रामनारायण उपनाम रसरासिकृत रसिक पचीसी २५ छन्दों की लघु रचना है। यह उद्धव-गोपी सम्वाद रूप में प्राप्त है। साहित्यिक दृष्टि से रचना सरस तथा सुन्दर है। भावों की सरल तथा माधुर्यपूर्ण व्यंजना और अनुभूति की स्वाभाविकता इसका विशेष गुण है। उद्धव के अलख निरंजन के विषय में गोपियां की जिज्ञासा भी कितनी भावपूर्ण है—

ऊधौ कहि को है जदुनाथ द्वारिका कौ नाथ
कौन : वसुदेव कौन पूत सुखदाई है।
कौन है निरंजन अखिल अविनासी कौन
ब्रह्महू कहावै कौन जाकी जोति छाई है।
इन सौं हमारी कहौ कासौं पहचानि जानि
याते रसरासि बातें मन में न भाई हैं।
प्रीतम हमारौ मोर मुकुट लकुट वारौ
नंद कौ दुलारौ स्याम सुन्दर कन्हाई है॥ र० प० १४॥

रसिक पचीसी भ्रमरगीत परम्परा की एक सुदृढ़ कड़ी है।

ब्रजनिधि—प्रीति पचीसी

२६ छन्दों की लघु रचना है। इसका प्रारम्भ कवि ने राधा वंदना से किया है। श्री राधिका ब्रजनिधि की 'इष्टदेवी' हैं। वस्तुतः भ्रमरगीत प्रसंग में ज्ञान-योग की अपेक्षा प्रेम-भक्ति की ही महत्ता प्रदर्शित की गई। अतएव राधा-वंदना द्वारा कवि ने इसी सरल प्रेम पथ की ओर भी संकेत है। उद्धव गोपियों तथा राधा को निर्गुण ब्रह्मज्ञान तथा योग का उपदेश देने आये हैं। वे राधा को साधारण गोपी समझते हैं, राधा वंदना द्वारा कवि ने उनके सत्य स्वरूप का ही उद्घाटन किया है—

१—ना० प्र० सभा

भोग मैं न जोग मैं न कहूँ भोग जोग सुन्यौ,
भोग जोग दोऊ क्यौं न लेत मन मानी कै।
आसन मिल्यौ है पाक सासन कौं सेय तिन्हें,
जिनकी कृपा तें बोल कढ़ैं बाक बानी कै॥
सिब-सनकादि परासर सुकदेव आदि,
धरि धरि धारना रहत सुख सानी कै।
भुगति मुकति दोऊ जुगति चहै तौ ऊधौ,
सेइ लै चरन ब्रजनिधि ब्रजरानी कै॥१॥

उद्धव पर गोपी वार्तालाप का क्या प्रभाव पड़ा इसका वर्णन भी ब्रजनिधि ने उद्धव-गोपी-वार्तालाप के पूर्व ही कर दिया है—

मथुरा तैं गोकुल गए, जोग दैन ब्रजबाल।
उद्धव गोपी-बचन सुनि, आप भए बेहाल॥२॥

उद्धव गोपी-मिलन के पूर्व ही इस प्रकार प्रभाव वर्णन का कारण भ्रमरगीत प्रसंग का निश्चित दृष्टिकोण है। भ्रमरगीत परम्परा के समस्त कवियों ने उद्धव को गोपियों की प्रेमाभक्ति से प्रभावित दिखाया है। अनेक पूर्ववर्ती भ्रमरगीतकारों के सदृश ब्रजनिधि ने भी उद्धव को मौन ही रखा है। उनके ज्ञान-योग एवं पत्र आदि का ज्ञान गोपी-कथन से ही होता है। यह भी पूर्व अनुमानित धारणा है कि उद्धव ज्ञान-योग एवं निर्गुण ब्रह्म का ही संदेश लाए हैं। यही कारण है कि प्रीति पचीसी में गोपियां ही प्रत्युत्तर देती हैं।

कुछ रचनाओं में उद्धव-गोपी संवाद उत्तर-प्रत्युत्तर में भी मिलता है।[1] परन्तु मुक्तक रचनाओं में इसके न होने से रोचकता कम नहीं होती। यही कारण है कि प्रीति पचीसी का एक एक कवित्त सरस तथा सुन्दर है। उद्धव के योग संदेश को सुनकर गोपियाँ कहती हैं—

ऊधौ तुम ल्याए जोग बूढ़्यौ है संजोग सब,
कान दैकें सुनिलेत कान्ह प्रेम गाथ ही॥३॥

उद्धव तुम योग का संदेश लाये हो जिसमें हमारी मिलन कामना डूबी जा रही है। तुम पहले हमारी प्रेमकथा को तो सुन लेते

१—नन्ददास तथा वृन्दावनदास के भ्रमरगीतों में।

हमने कृष्ण के साथ रासरंग किया है। उनके अधर-सुधा का पान कर अब इस सबको कैसे भूल जाएँ ? तुम गुरु बनकर प्राणायाम का उपदेश देने आए हो लेकिन हमारे तो वे ही गुरु हैं जिन्होंने हमारा दृढ़ आलिंगन किया है। तुम जो प्राणायाम की सीख दे रहे हो, उसे तो ग्रहण करना ही असम्भव है क्योंकि—

प्रानायाम साधैं सुद्ध प्रान होय ताके अरे,
बाबरे गए रे प्रान प्राननाथ साथ ही ॥३॥

प्रियतम श्रीकृष्ण की सुधि आते ही हम बेसुध हो जाती हैं। इन प्राणों की रक्षा भी बड़ी कठिनता से उनके गुण गा-गाकर ही कर सकी हैं। ऐसी विपत्ति में पड़ी गोपियों के लिए योग का संदेश लाए हो। उद्धव हमें जोग नहीं चाहिए तुम हमारा कृष्ण से मिलन करा दो। हम तुम्हारे उपकार को कभी न भूलेंगी—

हमें नहीं संजोग भावै करि दै संजोग अरे,
मानि हैं सुजस तेरौ ल्यावै हरिबर कौ ॥७॥

वे कभी कृष्ण लीला सुख का वर्णन करतीं और योग-साधना की विषमता का उल्लेख कर उसे व्यर्थ बतातीं तो कभी स्वयं को ही अयोग्य समझ कर कहती हैं—

रंचक हू सुधि नाहिं हमें, जिनकी पढ़ि जोग की देत कहा सिख।
जैसेइ वे तुम तैसेइ हौ आजु जाणि परे सु दिखावैं कहा लिख॥
दासी पियारी करी ब्रज की निधि, ए सुनि बात उठै हियमें धख।
साँवरे साँप डसी हैं सबै, तिन्हें ज्ञान सों मूढ़ उतारै कहा बिख ॥१५॥

इस योग संदेश के साथ कुब्जा के रस-रंग की स्मृति ने उनके हृदय में एक टीस उत्पन्न कर दी है। वे उद्धव से बोलीं—

दैन लाग्यौ जोग सो तौ हमसौं कहैं न होत,
भोग कुबिजा सौ सुनें याही दुख भरियै।
हमकौं बैराग बगसीस होत भाँति भाँति,
दासी करी दुलहनि रीझि देखि जरियै ॥११॥

मौखिक योग संदेश के साथ ही 'जोग-पाती' का वर्णन भी

ब्रजनिधि ने किया है। उद्धव की प्राणघाती पत्रिका को देखते ही गोपियों की आँखें जलने लगती हैं। वे उद्धव से कहती हैं—

जोग जुगति सींगी भसम अधारी मुद्रा,
ग्यान उपदेस सुनि सुनि मन मैं डरैं।
इहाँ हम सब ही सबादी रास रंगन की,
स्याम अङ्ग-संगन की पागी पन क्यौं टरैं।
तुम तौ हो नेमी हम प्रेमी ब्रजनिधि के हैं,
कागद समेट लेहु देखि अँखियाँ जरैं।
आगिहु तें ताती अति छाती हहराती यह,
प्रानघाती काती असी पाती ले कहा करैं ॥२२॥

उद्धव के आगमन एवं अवांछित संदेश ने गोपियों को खिजा दिया है। मथुरा वासियों का स्वार्थमय स्वरूप उनके सम्मुख नाच उठा। उन्हें वह दिन याद हो आया जब इसी प्रकार एक दिन अक्रूर आए थे—

आयौ हो अक्रूर सो तौ महा मति-क्रूर हुतौ,
आँखिन में धूरि दैकें कर दीबौ परदै ॥१०॥

यह सब सोचकर दुख से उनका हृदय भर गया। ऐसी विषम मानसिक स्थिति में उद्धव का उपदेश दुख को कम करने की अपेक्षा बढ़ाने वाला ही था। इसीलिए योग-मार्ग ग्रहण करने से तो वे मर जाना अधिक अच्छा समझती हैं।

उद्धव के आग्रह पर वे झुँझला कर कहती हैं—

आयौ तू कहाँ से इहाँ कौन सौ है काज तेरौ,
जिय धरि लाज मुँह ऐसी जिन कहे बात,
काहे सिर बाँधे पाप जोर कर देत ज्ञान,
मरेंगी न लैंगी जोग तेरे कहा आवै हात ॥
तजी क्यों रे ब्रजनिधि छेड़ि गए ब्रजमधि,
उनहीं के लीये हम छाँड़े सब मात-तात।
पीर तैं पिरात बिललात हहरात प्रान,
तापर तू अनाघात जोग सौं जरावै गात ॥

किन्तु नन्ददास की गोपियों की भाँति ब्रजनिधि की गोपियाँ अपने मत की पुष्टि तर्क द्वारा नहीं करतीं, न ही उन्होंने निर्गुण सगुण के दार्शनिक पक्ष पर ही कुछ कहा है। उनका समस्त उत्तर भावात्मक है। वे निरन्तर पूर्व स्थिति का उल्लेख कर योग मार्ग को अस्वीकार कर देती हैं। यद्यपि अपनी भावाभिव्यक्ति में वे भोली हैं किन्तु जहाँ कुब्जा प्रसंग आता है। सपत्नी की स्वाभाविक ईर्ष्यावश वे भी व्यंग्यमयी बन जाती हैं।

एक स्थल पर उद्धव और कुब्जा पर व्यंग्य करती हुई वे कहती हैं—

ज्ञान सौं रतन लैके ऊधौ तुम दैन आए,
नगर में काहू निधिवान को दिखाइयौ।
हम हैं गँवेलि ग्वालि गोपन की बेटी तिन्हें,
दीबे कौ संकोच अति स्याम पासि ल्याइयौ।
दासी वह कंसजू की कुबजा चतुरता कौ
नीकौ गेय-प्रेम ब्रजनिधि मन भाइयौ।
मुक्त-माल जोग ही जवाहर जलूस जैब,
नई करी प्यारी ताहि जाप पहराइयौ ॥२७॥

उद्धव के समस्त प्रयत्नों के पश्चात् भी गोपियाँ अपने व्रत पर अटल हैं। उन्हें अपने हृदय पर पूर्ण विश्वास है। वे उद्धव से कहती हैं—

देख प्रीति आगे जीति नाहिं तेरी हार रे।

ब्रजनिधि कृत प्रीति पचीसी रीतिकाल की रचना होते हुये भी भक्तिरस से पूर्ण है। सत्य तो यह है कि ब्रजनिधि स्वयं श्री राधिका जी के अनन्य भक्त थे और अपनी रचना को श्री गोविन्दजी तथा श्री ब्रजनिधि जी को अर्पित कर देते थे। ब्रजनिधि के ग्रन्थों पर विचार करते समय श्री हरिनारायण शर्मा ने एक स्थल पर लिखा है— जितने ग्रन्थ हमें उपलब्ध हुए हैं। उनके अवलोकन से स्पष्ट प्रकट होता है कि समग्र रचना-समूह एक अटल अनन्य भगवद् भक्ति, प्रभु-प्रेम और सच्चे गहरे हरि रस का तरंगमय समुद्र है। उसमें आद्योपांत शान्त रस का शान्त समुद्र है जिसकी गम्भीर, धीमी, अनुद्विग्न, लीला-लोलित तरंग-मालायें मन रूपी जहाज 'को सुमधुर गति से

भगवच्चरणारविंदों में बहाए हुए ले जा रही हैं।''[1] प्रीति पचीसी के कवि ने अपने भावों को सरल ब्रजभाषा में ही प्रकट किया है। रीतिकालीन होते हुये भी ब्रजनिधि में आलंकारिक भाषा का मोह अधिक नहीं है। शब्दालंकारों में यमक, श्लेष तथा अनुप्रास की छटा देखने योग्य है।

जहाँ तक छन्द का प्रश्न है ब्रजनिधि ने प्रीति पचीसी में कवित्त, सवैया छन्द का ही प्रयोग किया है। अपवाद रूप में एक दोहा भी मिलता है।

प्रीति पचीसी भ्रमरगीत परम्परा की सुदृढ़ कड़ी है। साथ ही ब्रजनिधि की उत्तम रचनाओं में भी इसका स्थान है।

ग्वाल

नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट के अनुसार ग्वाल-कृत गोपी-पचीसी नामक रचना का पता चला है। गोपी-पचीसी के अतिरिक्त ग्वाल की संग्रहीत रचनाओं में भ्रमरगीत सम्बन्धी अनेक कवित्त मिलते हैं। खोज-रिपोर्ट में दिया गया गोपी-पचीसी का प्रथम कवित्त 'ग्वाल-रत्नावली' में 'उद्धव संदेश' के अन्तर्गत संग्रहीत है। उक्त कवित्त निम्न प्रकार है—

जैसे कान्ह जान तैसे उद्धव सुजान आयौ।
उये हैं तो मेहमान पर प्रानन निकारें लेत॥
लाख बेर अंजन अंजाय इन हाथन तें।
तिन कौ निरंजन कहत हाय झूठ धारे लेत॥
'ग्वाल' कवि हाल ही तमालन में तालन में,
ख्यालन में खेले हैं कलोल किलकारें लेत।
ह्याँ न परचेरी पर चेरी संग परचेरी,
जोग परचे ह्याँ भेज परच हमारे लेत॥१५३॥

'उद्धव संदेश' तथा 'उपालम्भ' शीर्षक के अन्तर्गत उपलब्ध कवित्त 'गोपी पचीसी' से सम्बन्धित जान पड़ते हैं। इन कवित्तों में विरह व्यंजना की अपेक्षा उपालम्भ तथा वाग्विदग्धता की प्रधानता है।

१—पृ० १० प्रस्तावना—ब्रजनिधि ग्रन्थावली

उक्ति वैचित्र्य तथा अलंकार प्रियता के कारण ग्वाल कवि पर रीतिकाल का विशेषकर पद्माकर का प्रभाव लक्षित होता है। ग्वाल के कवित्त लोकप्रिय तथा प्रचलित होने पर हृदय पर स्थायी प्रभाव डालने में पूर्ण समर्थ नहीं हैं। कुब्जा के कूबड़ को लेकर गोपियों का कथन—

किए हैं करार सो विसार दिये दगादार,
नंद के कुमार संग को संजोगनी बनैं।
कौन मुख लेकैं तोहि ऊधव पठायौ इहाँ,
कैसे कही वाने हाय लंक लौं गिनी बनैं॥
'ग्वाल' कवि यातें एक बात तू हमारी सुनि,
चुनि कै कही है यह तो प भोगनी बनै।
कूबरी को कूब कोटि लाय दे सिताबी हमें,
टोपी कर ताकी तब गोपी जोगनी बनै ॥ग्वा०र०१५५॥

चाहे 'वाह वाही' प्राप्त करले किन्तु हमारे हृदय को स्पर्श करने में असमर्थ है।

भाषा को अधिक चलता रूप देने के लिये कवि ने अरबी, फारसी के शब्दों का पर्याप्त प्रयोग किया है। रीतिकाल की ओर विशेष विशेष झुकाव होने के कारण भ्रमरगीत परम्परा के अन्य कवियों से ये पृथक दिखाई पड़ते हैं। इनकी रचना में कवि रूप ही दिखाई पड़ता है—भक्त रूप नहीं। रीतिकाल में जैसाकि पहले कहा जा चुका है भ्रमरगीत काव्य का एक विषय बन गया था, षट्ऋतु आदि के सदृश कवि इस पर भी कुछ कवित्त बनाकर काव्य कौशल प्रदर्शित करते थे। ग्वाल का स्थान भी इसी प्रकार के कवियों में है।

रसनायक—विरह विलास[1]

रसनायक कृत विरह-विलास दोहा, कवित्त और सवैया छन्द में लिखी हुई प्रबन्धात्मक रचना है। कथा का प्रारम्भ उद्धव के ब्रजगमन से होता है। कृष्ण निर्गुण ब्रह्म का संदेश देकर उद्धव को ब्रज भेज देते हैं। परम्परा के अनुसार रसनायक के उद्धव भी गोपियों

१—ना० प्रा० सभा

को निर्गुण ब्रह्म तथा योग साधना का उपदेश देते हैं किन्तु गोपियाँ उद्धव के इस उपदेश को किस प्रकार मान सकती हैं। वे कहती हैं—

प्रेम सुधा जिन जनम सों अलि चाख्यौ अनुकूल।
जोग जहर तिन कौ कहाँ रुचि मानै मति भूल ॥वि०वि०र० २१

कुब्जा के प्रणय की कथा सुनकर भी रसनायक की गोपियाँ न तो कृष्ण को कटु उपालम्भ देती हैं और न कुब्जा पर व्यंग्य ही करती हैं। वे बड़ी दीनता से प्रभु के 'शरणागत पाल' गुण का स्मरण ही कराती हैं। गोपियों के इस कथन में ईर्ष्या की गंध भी नहीं। यह तो भक्त हृदय की पुकार है जो बार-बार प्रभु को उसके 'विरद' की याद दिलाकर ही कृपा प्राप्त करना चाहता है—

सोच न हमें है गुन औगुन किये कौ।
कछु सोच न हमें है दधि माखन उजारे कौ।
सोच न हमें है रसनायक अमोही भये सोच न हमें है
कीन्ही कुबिजा भले ही प्यारे कछू मथुरा सिधारे कौ ॥
सोच न हमें है जाग ग्यान हिय धारे कौ।
गोपी नाथ बाजि गोपी रोवत ही छाँड़ी
ताकौ सोच है हमारे ऊधौ विरद बिसारे कौ ॥वि०वि०र०२८

कुब्जा को लेकर जहाँ अन्य कवियों ने कृष्ण और कुब्जा दोनों को ही व्यंग्य तथा उपहास का लक्ष्य बनाया है वहाँ रसनायक की गोपियों का उपर्युक्त कथन नवीन भावों का द्योतक है। गोपियों के मन में काम-वश ईर्ष्या नहीं वे भगवान् कृष्ण के भक्तवत्सल स्वरूप की उपासिका हैं। प्रेम तथा भक्ति के समक्ष मोक्ष भी व्यर्थ है। अतः उद्धव द्वारा प्रेषित मोक्ष के विषय में गोपियों की उक्ति बड़ी ही सुन्दर है—

मुकति कृपाकरि साँवरे अलि उन भेजी सोहि।
लीनी सीसि चढ़ाय हम रीझ देत हैं तोहि ॥वि० वि० र० ५५

भक्त तो भगवान् की भक्ति ही चाहता है। उसे मोक्ष की भी कामना नहीं रहती किन्तु कृष्ण ने उद्धव के हाथ जिस मोक्ष को भेजा है उस प्रभु प्रासाद का तिरस्कार वे किस भाँति करें। अतः सादर ग्रहणकर वे प्रसन्न हो उद्धव को पुरस्कार स्वरूप भेंट कर देती हैं।

कुब्जा के सहयोग के लज्जाजनक प्रसंग को जानकर भी वे उद्धव से इसके विषय में कुछ न कहकर बड़ी शीलतापूर्वक कृष्ण को पत्र द्वारा ही इसके विषय में लिखती हैं—

कूबरी कुरूप अति दूबरी कुटिल हिय।
ताही सों जु चाह चित रावरौ उमार्यौ पै॥
कंस की जु लौंडी वह भौडी निगोड़ी नारि।
ताही के समान रस रंग सरसायौ पै॥
हाय अकुलानी हम जानी यह बात जब।
छाती ये दुषानी तब पाती दै जतायौ पै॥
भायौ तुम कीनौ रसनायक सुहायौ अपै।
रसिक या नाम कौ लजायौ जू लजायौ पै। वि०वि०र०८२

गोपियाँ कृष्ण के दोष को जानकर भी उद्धव से उनकी बुराई नहीं करना चाहती हैं। अतः उद्धव के सम्मुख तो वे यही कह देती हैं + + + 'सोच न हमें है किन्हीं कुबिजा भले ही प्यारी' किन्तु इस घटना से उन्हें कितनी चोट लगी है यह इस पत्र से स्पष्ट है।

उद्धव के ज्ञान तथा योग की अस्वीकृति में रसनायक की गोपियाँ सूरदास की गोपियों के समान ही उत्तर देती हैं। अपने को ग्राम निवासिनो गँवार समझती हुई वे कहती हैं—

मधुवन की मानिनी जितीं सुघर जानि है सार।
निगुन तहाँ लै जाहु अलि ब्रज ही बसत गँवार ॥वि०वि०र० १०२

निर्गुण ब्रह्म की चर्चा वे समझतो नहीं और योग साधना में विवश हैं—

प्रान हमारे मधुप हरि संग लै गये लिवाय।
ता बिन अब कैसें सधै प्रानायाम बताय॥ वि० वि० रा० १२१

उद्धव से परिहास करती हुई गोपियों के—

भूलि परे भौंरे किधौं अलि बौरे ब्रज आय।
जोग देत कहि साँवरे नेकहु हँसे उछाय॥ वि० वि० र० १०७

कथन में सूरदास की छाप स्पष्ट होते हुये भी एक मधुर व्यंग्य है—

विरह विलास में गोपियों तथा राधा द्वारा भेजे हुए संदेश में उनकी विरह व्यंजना ही प्रधान है। वे अपनी विकल अवस्था का ही उल्लेख करके रह जाती हैं--

ऊधौ इन नैनन ही दोस न हमारी सौंह।
अब लौं निहारी आसु आतुर अकाज में॥
हाल ही तिहारी बाति सुनत निदान।
इन्हें छूटिगे सबै ही धीर अब न इलाज में॥वि०वि०र० १५६

गोपियों के प्रेम के आगे उद्धव का योग संदेश व्यर्थ हो गया। मथुरा लौटकर वे कृष्ण से बोले—

गोपिन के प्रेम आगे गोविन्द तिहारी सौंह।
गिनति कछू न देषी रावरे के जोग की॥ वि० वि० र० १७०

वे तो अपने समस्त प्रयत्न करके थक गए। उनकी चतुरता नष्ट हो गई। ब्रज की विकल दशा देखकर उद्धव स्वयं स्तम्भित हो गए—

ब्रज की अकथ कथा कथत बनें न हौं तो।
छकि गौ निहारि जिय जरि गौ जरनि में॥
गोपिनु को प्रेम रसनायक औ नेमु देषि।
नसि गौ हमारौ ज्ञान कूह की परन में॥
विरह अनल बीच बचिबौ बन्यौ है नीठि।
बढ़िगौ हलाहल त्यों अति की अरन में।
सरन तिहारे नाथ आयौ हौं अनाथ।
भागि रावरी कृपा ते गहे रावरे चरन में॥ वि० वि० र० १६८

उद्धव का समस्त ज्ञान और चतुरता व्यर्थ हो गई। अब यदि कृष्ण गोपियों को योग का उपदेश स्वीकार कराना ही चाहते हैं तो उद्धव केवल इतना ही कह सके—

मौंह सो चतुर काहू और ही पठाय नाथ।
गोपिन बुलाय क्यों न कीजै अब जोगनो॥ वि० वि० र० १६६

उद्धव की बातों को सुनकर ब्रज का स्मरण करते हुए कृष्ण—

यह कंचन की द्वारिका कौन काज की जान।
ऊधौ घर माटीन के वा ब्रज मेरे प्राण॥ वि० वि० र० १६३

कहकर ब्रज के प्रति जो उनके मन में एक मोह और उसके छोड़ने में जो पीड़ा है, उसकी ओर संकेत मात्र कर देते हैं। कृष्ण की व्यथा विरह-विलास में अधिक अभिव्यक्ति नहीं पा सकी है। यद्यपि भ्रमर-गीत कथानक का विस्तृत प्रसंग इसमें नहीं ग्रहण किया गया है और भ्रमर-प्रवेश प्रसंग आदि छोड़ दिये गये हैं तथापि लगभग दो सौ छन्दों की यह रचना सरल तथा सुन्दर है। तर्क तथा दार्शनिक विवाद से दूर गोपियों की भावपूर्ण उक्तियाँ अधिक हृदयग्राही हैं। रचना का उचित मूल्यांकन इसके सम्पादन तथा प्रकाशन का अवसर देकर ही किया जा सकता है।

संतदास--गोपी-सनेह बारह खड़ी[१]

"गोपी-सनेह बारह खड़ी" संतदास का शैली गत नवीन प्रयोग है। जायसी कृत अखरावट सदृश संतदास ने भी प्रत्येक व्यंजन से एक छन्द प्रारम्भ कर गोपी-विरह व्यथा की कथा कही है—रचना का आरम्भ 'क' व्यंजन से होता है—

क का। कमल नैन जब से गये तब से चित्त नहिं चैन।
व्याकुल जल बिन मीन जो पल नहिं लागत नैन॥ गो० स० १

"गोपी-सनेह बारह खड़ी" सदृश लघु रचना में वस्तु विकास अत्यधिक कठिन है। अतः इसमें केवल गोपी-विरह अर्थात् गोपी सनेह का ही वर्णन है। उद्धव के सम्मुख गोपियाँ कृष्ण लीलाओं को स्मरण करती हुई अपनी विकलता तथा विवशता का ही वर्णन करती हैं। उद्धव के ज्ञान-योग आदि की चर्चा इसमें नहीं है। कुब्जा को लेकर गोपियों ने जो कुछ कहा उसमें उनकी कथा ही अधिक है व्यंग्य कम। कुब्जा के साथ ही उन्हें कृष्ण का पूर्ण व्यवहार स्मरण हो आता है—

घ घा। घूमि के गोपाल तब हम सब मोही बाल।
अब कुबिजा प्यारी लगी करे हियौ मा साल॥ गो० स० २७

गोपियाँ कृष्ण के पास पत्र भेजना चाहती हैं किन्तु अनेक बार प्रयत्न करने पर भी वे असफल ही रहती हैं। अन्त में हार कर वे उद्धव द्वारा मौखिक संदेश भेजकर ही संतोष करती हैं—

१—ना० प्र० सभा

प पा। पाती लिपी न जाति है भरि-भरि आवत नैन।
ऊधौ तुम समुझायो प्रीति रीति के बैन॥
गो० स० २१

उनकी दशा तृषित पपीहे के जैसी है जो प्यास से व्याकुल अहर्निशि पुकारता ही रहता है। विरहाग्नि में जलती गोपियाँ अल्प जल में तड़पती मछली के समान हैं—

थ था। थोरे जल की माछरी महा दीन ज्यों होइ।
सोइ गति हम री भई विरह अगनि तन भोइ॥ गो० स० १७

मनमोहन की कथा कहते कहते वे थक गईं किन्तु न उनका गुणगान ही समाप्त हुआ और न कृष्ण प्रेम ही कम हुआ। वहाँ तो मधुपुरी में निवास करने पर भी क्षण-क्षण उनका प्रेम बढ़ता ही जाता है। यह अकथ कथा अनन्त बन गई। अतः दुख से शिथिल गोपियाँ उद्धव से कहने लगीं—

छ छा। छाइ रहे निज मधुपुरी छिन-छिन प्रीति बढ़ाइ।
ऊधौ मोहन की कथा कहाँ लगि कहि गाइ॥
गो० स० ७

गोपियों के इस प्रेम को देखकर उद्धव कुछ कह न सके, श्रद्धा और भक्ति से वे केवल प्रणाम कर मथुरा लौट गये।

संतदास ऊधौ गये करि प्रनाम निज भौन॥

संतदास ने बारह खड़ी की नवीन शैली अपनाकर भी काव्यगत सरलता तथा प्रभाव को बनाए रखने का सफल प्रयत्न किया है। वर्णन की स्वाभाविकता के कारण रचना अधिक सरस हो गई है। कवि ने यदि शैली विशेष के कारण छन्द संख्या सीमित न करली होती तो सम्भवतः वह इस विषय पर अधिक रचना कर विषय विस्तार कर सकते—

हरिदास 'बेन'—गोपी स्याम संदेश[१]

गोपी स्याम संदेश—भ्रमरगीत परम्परा की रचना होते हुए भी भाव तथा वर्णन दोनों ही दृष्टिकोण से साधारण रचना है।

१ ना० प्र० सभा

इसमें न तो विषय विस्तार ही मिलता है और न संवेदनात्मक वर्णन। अन्य रचनाओं की अपेक्षा इसमें अक्रूर को अवश्य महत्व दिया गया है। गोपियाँ अपने वियोग का सम्पूर्ण दोष अक्रूर के सिर मढ़ देती हैं—

दासी कहै सो वे करें ब्रज कूँ पठवें धूर।
ब्रज सब बाँधौ सूँ हम सु बैर कियौ अक्रूर॥ गो० स्या० ३२

उद्धव के योग संदेश को सुनकर भी उन्हें अक्रूर की स्मृति हो आती है—

माथे जोग रमाय के सींगी पूरौ धूर।
ऊधव भेजे जोग दे हम सूँ बैर कियौ अक्रूर॥गो० स्या० ३३

उद्धव से मथुरा समाचार सुनकर भी गोपियों के मन में एक आशा है जिसे वे कभी भी नष्ट न कर सकीं—

कृस्न मधुपुरी चलि दीयो हमकूँ दै विश्वास।
आंउगो रिपु जीति कै लगी है ब्रज आस॥ गो० स्या० ४१

समस्त रचना में गोपिका संदेश में केवल एक स्थान पर ही व्यंग्यात्मक संकेत है—

ग्वाल बाल ब्रजांगना इनहू कछु कछु दीन।
पतियाँ मैं यह लिखि दई भली प्रीति तुम कीन॥ गो० स्या० ६२

'भली प्रीति तुम कीन' द्वारा गोपियों की व्यथा, कृष्ण-प्रेम के मधुर व्यंग्य तथा उपालम्भ की व्यंजना है। इस भाँति व्यंजनापूर्ण वर्णन के अभाव में रचना अत्यधिक साधारण कोटि की हो गई है।

गंगादत्त—लीला सागर[१]

लीला सागर दोहे चौपाई में लिखा एक वृहत् प्रबन्धात्मक ग्रन्थ है। कृष्ण चरित की अन्य लीलाओं के साथ भ्रमरगीत प्रसंग का उल्लेख भी इसमें मिलता है। गंगादत्त ने इस विषय को भागवत के अनुसार ही ग्रहण किया है। उद्धव के ब्रज भेजने का कारण भागवत्कार सदृश ही कहा गया है—

१—बा० प्रा० सभा

गोपीन की चिन्ता करी मथुरा वसि हरि राय ।
मो बिन वे दुख पावती ह्वै है विरह विलाय ॥

कृष्ण ने उद्धव से ब्रह्मज्ञान की चर्चा भी नहीं की है। उद्धव-नंद-यशोदा-संवाद का भी संक्षिप्त वर्णन है। अन्य भ्रमरगीत की गोपियों के विपरीत लीलासागर की गोपियाँ उद्धव के संदेश को स्वीकार कर प्रसन्न होती हैं। उन्हें उद्धव के संदेश में कुछ भी अनुचित अथवा अग्राह्य नहीं जान पड़ता। उद्धव का उपदेश ब्रह्म की निराकारता तथा सर्व व्यापकता से सम्बन्धित है—

तुमते दूर रह नहिं कबहूँ।
जानौ पास मोहि जब तब हूँ॥
पंच भूतन में जैसे। हम तुम में वर्तत हैं तैसे॥

उद्धव मथुरा पहुँच कर ब्रज-दशा का वर्णन भी कृष्ण से नहीं करते। इस भाँति लीलासागर का भ्रमरगीत अथवा उद्धव-गोपी-संवाद प्रसङ्ग भ्रमरगीत के मूल तत्व से बहुत दूर है। ग्रन्थ विस्तार के अतिरिक्त इसमें किसी प्रकार की काव्यात्मक विशेषता नहीं है।

महाराज कुमार रत्नसिंह 'नटनागर'—नटनागर विनोद

नटनागर विनोद एक संग्रह ग्रन्थ है। इसमें उपलब्ध 'उद्धव गोपी संवाद' पहले 'गोपी पचीसी' रूप में लिखा गया था। २५ सवैया छन्द में लिखी गई यह लघु रचना बाद में 'नटनागर विनोद का अंग बना दी गई। साथ ही संख्या में भी वृद्धि की गई। 'गोपी-पचीसी' की रचना संवत् १८९७ में हुई थी। उस समय कवि की आयु ३२ वर्ष की थी। गोपी-पचीसी के रचनाकाल का उल्लेख एक दोहे में भी मिलता है—

संवत् अष्टा दस सतक, गे सत्यानू ओर।
स्रावन सुक्ला त्रयोदसी, भई पचीसी मोर॥[1]

उद्धव-गोपी-संवाद के अतिरिक्त शृंगार सौरभ में भी उद्धव-गोपी-संवाद सम्बन्धी एक सवैया उपलब्ध है।

'उद्धव-गोपी-संवाद' भक्ति तथा रीतिकाल का अति लोकप्रिय विषय रहा है। नटनागर जी ने इसी प्राचीन विषय को अपना कर

१—पृ० ३४—नटनागर विनोद

इसकी लोकप्रियता को पूर्णतः सिद्ध कर दिया है। नटनागर जी का साहित्यिक वातावरण श्रृंगारपूर्ण था। तत्कालीन प्रसिद्ध कवियों से उनका सम्पर्क था। कृष्ण काव्य की भक्ति और श्रृंगारपूर्ण धारा का द्विमुखी स्वरूप उनके सम्मुख था। अतः वे अपनी परिस्थिति से पूर्ण प्रभावित थे। उनकी रचना में यह प्रभाव स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होता है। प्रेम और बिरह वर्णन में इन्होंने बड़ी सफलता प्राप्त की है। 'उद्धव-गोपी-संवाद' का प्रारम्भ नवीन रूप में मिलता है। कवि ने उद्धव के ब्रज भेजने, ज्ञान-योग का उपदेश देने आदि प्रसंग का वर्णन न कर इसका प्रारम्भ भिन्न ही रूप से किया है। उद्धव ब्रज से लौट आये हैं और कृष्ण को वहाँ की कथा सुना रहे हैं। इस भाँति समस्त कथा उद्धव के मुख से ही कहलाई गई है। इस नवीन शैली में यद्यपि वस्तु विकास का अवसर नहीं मिल सका है किंतु-कृष्ण प्रेम की तीव्रता तथा गम्भीरता का संकेत अवश्य मिलता है। पूर्व समस्त भ्रमरगीतों में उद्धव ब्रज दशा का संक्षेप में ही वर्णन कर देते थे किन्तु 'उद्धव-गोपी-संवाद' में कृष्ण गोपियों की एक एक उक्ति सुनने को आतुर हैं। अतः उद्धव उन्हें समस्त वार्तालाप विस्तार से सुनाते हैं। इस भाँति यथार्थ में यह रचना उद्धव-कृष्ण संवाद ही है—

प्रेम-पत्र गोपीन प्रति, ज्ञान-युक्त कहि गाथ।
कहत कृष्ण-प्रति पुनि कथा सुनि हरि होत सनाथ॥उ०गो०सं०पृ०१

ब्रजवासिनी व्याकुल गोपियों की चर्चा करते समय उद्धव को अपने 'ज्ञान-योग' संदेश की व्यर्थता का ध्यान आया। वे कृष्ण से बोले—

सारे ब्रज सौं बैर बिसाह्यौ, नाथ मैं पाती दै पछितायौ।
का जानै तुम कहा लिख्यौ थो जाकौ फल मैं पायौ॥
जित जित जायें कहूँ नहिं आदर महा अजस सिर छायौ।
माधौ मैं पंडितपन तजि कै उनकौ गायौ गायौ॥
सीख सुनाय कही सब हम सौं काहू मन न पत्यायौ।
उमड़ी प्रीति घटा दस दिसि तें बरसि प्रवाह बढायौ॥
भरि-भरि ढरत फरि भरि भरि उमंगि उमंगि भरि लायौ।
ज्ञान भक्ति बयराग बिचारै यक पल माँझ बहायौ॥
उ० गो० सं० २२

कृष्ण का संदेश ले जाकर उद्धव को बड़ी ग्लानि हुई। न जाने कृष्ण ने क्या लिख दिया था कि जहाँ कहीं जाते वहीं अनादर होता तिरस्कार और अविश्वास के इस प्रवाह में उद्धव का ज्ञान-वैराग्य बह गया। अपना पण्डितपन भूलकर वे गोपियों का ही गुण गाने लगे। उन्हें बार बार कृष्ण पर झुँझलाहट आ जाती—

'प्रेम-पयोधि मगन सब वै तो वृथा मोहि पठवायौ'

किन्तु कृष्ण को इस चर्चा में बड़ा रस आ रहा था। उन्होंने जो एक कौतुक रचा था उसका परिणाम जानने के लिए वे उत्सुक हो रहे थे। अपनी जिज्ञासा को न रोक उन्होंने उद्धव से प्रश्न किया—

उद्धव सौं पुनि प्रश्न किय, कृष्ण अतृप्त कृपाल।
यह कौतुक मम सुनन हित, का बोली ब्रज बाल॥

उ० गो० सं० पृ० २२

इस भांति कृष्ण के प्रश्न करने पर उद्धव ने गोपियों की समस्त विरह व्यथा को उन्हीं के शब्दों में कृष्ण से कह सुनाया। उद्धव गोपी संवाद का यह नवीन प्रारम्भ कृष्ण की भावनाओं को प्रदर्शित करने के निमित्त ही किया गया है। अन्य समस्त छन्दों में गोपियों के प्रेम विरह का ही वर्णन किया गया है।

उद्धव-गोपी-संवाद के अन्तर्गत गोपियों का विरह-व्यंग्य का उपालम्भ सरस स्वाभाविक रूप में ही व्यक्त हुआ है। कृष्ण का यह अटपटा संदेश सुन गोपियाँ अपनी विवशता का स्मरण करती हैं—

समुझावत कौन कहा समुझै,
हमतौ यह बानि परी सो परी।
दुखिया सुख लाभ न हानि कहा,
विधि रेख लिलार धरी सो धरी।
अहो ऊधव जायें यों जोग लिख्यो,
यह जोग नहीं अजोग करी।
नटनागर तौ निरबंध भए
हम प्रेम के फंद परी सो परी॥

उ० गो० सं० पृ० २३

प्रेम का यह वह फंदा है जिससे मुक्त होना कठिन ही नहीं असम्भव है। फिर वे उद्धव के इस उपदेश पर विश्वास भी कैसे करें, उनके कृष्ण इस भाँति लिख ही कैसे सकते हैं। उन्होंने प्रेम का जो व्रत लिया है वह उद्धव की इन उल्टी झूठी बातों से नहीं टूट सकता जिन कृष्ण का वे संदेश लाये हैं उनसे तो गोपियों का परिचय भी नहीं—

कान्हर कहावै कौन वाको हम जानैं नाहिं,
कान्हर हमारो ऐसी लिखै बड़ी हाँस है।
कान्हर तिहारे तें हमारो कुछ काम नाहिं,
कान्हर हमारौ तौ हमारे प्रान पास है॥
उ० गो० सं० पृ० ४३

वे तो अपने मानसिक जगत् में प्रतिक्षण उनके साथ ही रहती हैं। वे उन्हें एक क्षण के लिए भी भुला नहीं सकतीं। फिर यदि यही योग का संदेश उन्हें भिजवाना था तो मथुरा कौन बड़ी दूर है। यदि मनमोहन कृष्ण स्वयं सिखाने आते तो बात ही दूसरी होती किन्तु उद्धव के द्वारा यह किस प्रकार ग्रहण किया जाय—

नागर न दूरि हैं हमारे घट पूरन हैं,
याहू पर देखिये जू इतनौ अन्याय हाय।
मोहन सिखावते तौ सारी मिलि सीखि जातीं,
ऊधव सिखावे ज्ञान कौन विधि सीख्यौ जाय॥
उ० गो० सं० पृ० ३६

कृष्ण का श्याम वर्ण उद्धव-गोपी वार्तालाप का प्रिय प्रसंग रहा है। श्याम वर्ण के आधार पर उद्धव तथा कृष्ण पर व्यंग्य करना भ्रमरगीतों का प्रिय विषय है। नटनागर विनोद में भी कवि ने श्याम-वर्ण पर एक छन्द रचा है किन्तु यह व्यंग्य या उपालम्भमय न होकर गोपियों के प्रेम को प्रदर्शित करता है। उद्धव की मोक्षप्रद चर्चा सुनकर गोपियाँ कहती हैं—

साँवरे रंग रंगी सवरी कीज,
ऊजरे ना व्रज गाँवरे बारी।
साँवरो रूप बसौ दृग में,
सब साँवरो दीसत है इक सारी॥

ऊधव साँवरी रैन चढ़ी,
नटनागर सों कहा ह्वै गई कारी।
साँवरे रंग रिझाय लई हम,
साँवरे रंग की रीझन हारी॥ शृंगार सौरभ पृ० ५३

कृष्ण का कैसा सर्वव्यापी प्रभाव है। उस श्याम की श्याम छटा से वे समस्त ब्रज नारियों को श्याममय कर दिया है। गोपियाँ अपने चुमते हुये व्यंग्यपूर्ण उपालम्भ में किसी से पीछे नहीं। कृष्ण के कुब्जा संसर्ग पर उपहास करती हुई वे कहती हैं—

छाँड़त ना पल येक अकेलिन, पौढ़न हौ परजंक पै दंपत।
आपके पाँव पलोटति है वह, वाके पदान लला तुम चंपत॥
ऊधव यौं कहियौ समुझाय कै, वाही कौ नाम अहो निसि जंपत
कूबरी कौ नटनागर जू करि, राखी भली तुम सूम की संपत्ति॥
उ० गो० सं० पृ० ३४

'सूम की संपति' उक्ति बड़ी सरस तथा व्यंजनापूर्ण है। श्रीकृष्ण बिहारी मिश्र ने इस सवैये की विस्तृत व्याख्या कर नटनागर जी की सरस सूक्ति प्रयोग पर प्रकाश डाला है। विरह-व्यथा की सुकुमारता का वर्णन उद्धव गोपी संवाद के अनेक छन्दों में मिलता है। उद्धव से हास परिहास तथा व्यंग्य उपालम्भ के उपरान्त वे अति दीन हीन हो उद्धव से एक ही प्रिय सन्देश सुनना चाहती हैं—

कैती है अवधि दुख दारुन की गाय दे।
कारौ नंदवारौ नटनागर भयौ है न्यारौ,
प्यारौ मिलिबे की मौकों साइत बताइ दे॥

नटनागर विनोद में कवि ने अनेक भाषाओं का प्रयोग किया है। ब्रज, अवधी, डिंगल, उर्दू आदि पर कवि को समान अधिकार प्राप्त है किन्तु उद्धव-गोपी-संवाद में कवि ने ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया है। अन्तिम आठ गीतों में राजस्थानी का प्रयोग मिलता है। कहीं-कहीं तो उनके छन्द अत्यधिक प्रवाह पूर्ण हैं। उद्धव-गोपी संवाद में कवि ने सवैया तथा घनाक्षरी का प्रयोग किया है जिनमें देव, पद्माकर तथा ग्वाल का-सा आनन्द आता है। गोप-पचीसी की

आलोचना करते हुये एक स्थान पर श्रीकृष्ण बिहारी ने लिखा है, "गोपी-पचीसी के सब छन्द एकरस नहीं हैं। कुल छन्द तो बड़े ही सुन्दर हैं, परन्तु कुछ साधारण भी हैं। यदि पचीसों छन्द एक प्रकार के होते तो यह पचीसी अद्वितीय बन जाती।"[1] उद्धव गोपी संवाद को पढ़ने के पश्चात् मिश्र जी का यह कथन, 'नटनागर जी के गोपी-उद्धव-संवाद का वर्णन अपने ढंग का निराला है। उसमें गोपियों की प्रगाढ़ प्रेम भक्ति है, विरह की वेदना है, कातरता है, तन्मयता है, मृदुल फटकार है और सर्वत्र सरसता है" उपयुक्त ही जान पड़ता है।

गौण कवि

मतिराम

भक्तिकालीन भ्रमरगीत प्रसंग में किस प्रकार भागवत परिवर्तन होता गया है इसका विवेचन किया जा चुका है। रीतिकाल में भ्रमर-गीत प्रसंग का शृंगारिक पक्ष अधिक प्रखर हो गया है। इस समय तक यह प्रसंग स्वयं एक काव्य विषय बन गया था जिसका आकर्षण आधुनिक युग तक अक्षुण्ण बना है। मतिराम ने इस प्रसंग के कुछ छन्द अलंकारों के उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये हैं किन्तु इससे उनकी मार्मिकता को किसी भी प्रकार का आघात नहीं पहुँचा। उनके कवित्त सवैयों को पढ़कर हम क्षण भर के लिये यह भूल जाते हैं कि यह किसी अलंकार के उदाहरण हैं। इस प्रकार भागवत सौन्दर्य बनाए रखने का मूल कारण मतिराम की काव्य प्रतिभा ही है। अलंकार रूप में प्रयुक्त होने के कारण इनमें कथा सौष्ठव तथा दार्शनिक तर्क आदि का अभाव है। केवल गोपियों को व्यथा का ही चित्रण मिलता है। कृष्ण विरह से दुखी गोपियों के मन में उद्धव का दर्शन कर स्मृति जग जाती है। अतीत और वर्तमान पर दृष्टिपात करते ही वे व्यथित हो कहने लगीं—

"ऊधौ नहीं हम जानत ही मन मोहन कूबरी हाथ बिकैहैं।"

उनकी इस विकलता में अलंकार-गत विशेषण के साथ ही ईर्ष्या तथा विवशता का भी सुन्दर वर्णन है।

१—पृ०—५४

ऊधव साँवरी रैन चढ़ी,
नटनागर सों कहा हैं गई कारी।
साँवरे रंग रिझाय लई हम,
साँवरे रंग को रीझन हारी॥ शृंगार सौरभ पृ० ५३

कृष्ण का कैसा सर्वव्यापी प्रभाव है। उस श्याम की श्याम छटा से वे समस्त ब्रज नारियों को श्याममय कर दिया है। गोपियाँ अपने चुभते हुये व्यंग्यपूर्ण उपालम्भ में किसी से पीछे नहीं। कृष्ण के कुब्जा संसर्ग पर उपहास करती हुई वे कहती हैं—

छाँड़त ना पल येक अकेलिन, पौढ़त हौ परजंक पै दंपत।
आपके पाँव पलोटति है वह, वाके पदान लला तुम चंपत॥
ऊधव यों कहियौ समुझाय कै, वाही कौ नाम अहो निसि जंपत
कूबरी कौ नटनागर जू करि, राखी भली तुम सूम की संपत्ति॥
उ० गो० सं० पृ० ३४

'सूम की संपति' उक्ति बड़ी सरस तथा व्यंजनापूर्ण है। श्रीकृष्ण बिहारी मिश्र ने इस सवैये की विस्तृत व्याख्या कर नटनागर जी की सरस सूक्ति प्रयोग पर प्रकाश डाला है। विरह-व्यथा की सुकुमारता का वर्णन उद्धव गोपी संवाद के अनेक छन्दों में मिलता है। उद्धव से हास परिहास तथा व्यंग्य उपालम्भ के उपरान्त वे अति दीन हीन हो उद्धव से एक ही प्रिय सन्देश सुनना चाहती हैं—

कैती है अवधि दुख दारुन की गाय दे।
कारौ नंदवारौ नटनागर भयौ है न्यारौ,
प्यारौ मिलिवै की मौकों साइत वताइ दे॥

नटनागर विनोद में कवि ने अनेक भाषाओं का प्रयोग किया है। ब्रज, अवधी, डिंगल, उर्दू आदि पर कवि को समान अधिकार प्राप्त है किन्तु उद्धव-गोपी-संवाद में कवि ने ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया है। अन्तिम आठ गीतों में राजस्थानी का प्रयोग मिलता है। कहीं-कहीं तो उनके छन्द अत्यधिक प्रवाह पूर्ण हैं। उद्धव-गोपी संवाद में कवि ने सवैया तथा घनाक्षरी का प्रयोग किया है जिनमें देव, पद्माकर तथा ग्वाल का-सा आनन्द आता है। गोप-पचीसी की

आलोचना करते हुये एक स्थान पर श्रीकृष्ण बिहारी ने लिखा है, "गोपी-पचीसी के सब छन्द एकरस नहीं हैं। कुल छन्द तो बड़े ही सुन्दर हैं, परन्तु कुछ साधारण भी हैं। यदि पचीसों छन्द एक प्रकार के होते तो यह पचीसी अद्वितीय बन जाती।"[1] उद्धव गोपी संवाद को पढ़ने के पश्चात् मिश्र जी का यह कथन, 'नटनागर जी के गोपी-उद्धव-संवाद का वर्णन अपने ढंग का निराला है। उसमें गोपियों की प्रगाढ़ प्रेम भक्ति है, विरह की वेदना है, कातरता है, तन्मयता है, मृदुल फटकार है और सर्वत्र सरसता है" उपयुक्त ही जान पड़ता है।

गौण कवि

मतिराम

भक्तिकालीन भ्रमरगीत प्रसंग में किस प्रकार भागवत परिवर्तन होता गया है इसका विवेचन किया जा चुका है। रीतिकाल में भ्रमर-गीत प्रसंग का शृंगारिक पक्ष अधिक प्रखर हो गया है। इस समय तक यह प्रसंग स्वयं एक काव्य विषय बन गया था जिसका आकर्षण आधुनिक युग तक अक्षुण्ण बना है। मतिराम ने इस प्रसंग के कुछ छन्द अलंकारों के उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये हैं किन्तु इससे उनकी मार्मिकता को किसी भी प्रकार का आघात नहीं पहुँचा। उनके कवित्त सवैयों को पढ़कर हम क्षण भर के लिये यह भूल जाते हैं कि यह किसी अलंकार के उदाहरण हैं। इस प्रकार भागवत सौन्दर्य बनाए रखने का मूल कारण मतिराम की काव्य प्रतिभा ही है। अलंकार रूप में प्रयुक्त होने के कारण इनमें कथा सौष्ठव तथा दार्शनिक तर्क आदि का अभाव है। केवल गोपियों को व्यथा का ही चित्रण मिलता है। कृष्ण विरह से दुखी गोपियों के मन में उद्धव का दर्शन कर स्मृति जग जाती है। अतीत और वर्तमान पर दृष्टिपात करते ही वे व्यथित हो कहने लगीं—

"ऊधौ नहीं हम जानत ही मन मोहन कूबरी हाथ बिकैहैं।"

उनकी इस बिकलता में अलंकार-गत विशेषण के साथ ही ईर्ष्या तथा विवशता का भी सुन्दर वर्णन है।

१—पृ०—५४

विषम अलंकार के उदाहरण में गोपियों की तार्किक तथा व्यंग्यपूर्ण वाणी सुनाई पड़ती है। योग की अव्यावहारिकता को विचार कर वे कहती हैं—

ऊधो जू सूधो विचार है धौं जू कछू समुझै हम हूँ ब्रजवासी।
मानि हैं जो अनुरूप कहो 'मतिराम' भली यह बात प्रकासो॥
जोग कहाँ मुनि लोगन जोग कहाँ अबला मति है चपला सी।
स्याम कहाँ अभिराम सरूप कुरूप कहाँ वह कूबरी दासी॥
ल० ल० २२२

मतिराम की गोपियों का समस्त रोष कृष्ण पर ही है। अतः उद्धव के प्रति वे सहानुभूतिमयी हैं। वे उद्धव की परिस्थिति को समझकर ही कहती हैं—

मधुप जोग विष उगलिए, कछु न तिहारौ दोष। ल० ल० १८६

तुम तो कृष्ण का संदेश ही लाये हो इसमें तुम्हारा दोष ही क्या और कृष्ण ने मोह तोड़कर काले पुरुषों की रीति का ही पालन किया है।[1] किन्तु हम तो उन्हें निरन्तर अपने मन मन्दिर में ही देखती हैं। हमारा तो उनसे क्षण भर का भी वियोग नहीं है। संयोग की इस अवस्था में तुम्हारे योग संदेश की सार्थकता ही कितनी? यहाँ तो—

निसि दिन श्रौननि पीयूष सों पियत रहैं,
छाप रह्यो नाद बाँसुरी के सर ग्राम को।
तरनि तनूजा तीर बन कुंज बीथिन में,
जहाँ तहाँ देखति हौं रूप छवि छाम को।
कवि 'मतिराम' होत हां तो न हिए ते नेक,
सुख प्रेम गात को परस अभिराम को।
ऊधौ तुम कहत वियोग तजि जोग करौ,
जोग सब करैं, जो वियोग होय स्याम को॥ल० ल० ३७५

गोपियों के इस कथन में उद्धव को बनाने की मनोवृत्ति नहीं है। बल्कि यह गोपियों की परिस्थिति का वास्तविक चित्रण है।

१—मधुप मोह मोहन तज्यौ यह स्यामन की रीति॥ ल० ल० २६३

उनकी तन्मयता का सत्य रूप है। वियोग द्वारा इसी प्रकार कृष्ण ध्यान में तल्लीन हो जाने की उत्तम परिस्थिति का उल्लेख भागवत में भी मिलता है। कृष्ण को यही इष्ट है। उद्धव के समस्त प्रयत्नों के उत्तर में वे केवल इतना ही कहती हैं—

पगी प्रेम नंदलाल के हमें न भावत जोग।
मधुप राजपद पाय के भीख न मांगत लोग॥ म० स० २२१

प्रेम की चरमावस्था पर पहुँचकर गोपियाँ किसी मतवाद के चक्कर में न पड़कर इस संक्षिप्त कथन द्वारा ही प्रेम-मार्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित करती हैं।

बरकत उल्लाह 'पेमी'

वरकत उल्लाह 'पेमी' रचित प्रेम प्रकाश में भ्रमरगीत सम्बन्धी स्फुट छन्द मिलते हैं। विष्णु पद तथा विभिन्न राग रागनियों में प्राप्त इन छन्दों में कथा तथा योगज्ञान आदि दार्शनिक प्रसंगों का पूर्ण अभाव होते हुये भी इसमें मार्मिकता की कमी नहीं। गोपी विरह तथा योग आदि से सम्बन्धित पद अपनी सरस व्यंजना के कारण अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। प्रेम-पीड़ा तथा योग-संदेश भाग्य की विडम्बना ही है। उद्धव का यह संदेश गोपियों को विमूढ़ बना देता है। एक ओर उन्हें कृष्ण लीलाओं की मधुर स्मृति विकल करती है तो दूसरी ओर उद्धव को पाकर वे विवश हो कहती हैं—

वह मुरली के वचन मनोहर, वह चितवन सुख रासी।
करम भाय तें हमको ऊधौ, अब वह भये कहानी॥
भूल गये सब भोग स्याम के, जोग जुगति निवरानी।

उद्धव के आगमन से कृष्ण मिलन की आशा पूर्णतः टूट गई। अब तो पूर्व स्मृतियाँ कहानी बन गई हैं। अपनी इस पीड़ा को वे कहना भी चाहें तो किसके कहें—

सुने कौन कासौं अब कहिये, सुनरी सखी अयानी।
ऊधौ से हितकारी 'पेम' कुब्जा सी ठकुरानी॥

विकलता और विवशता का इतना सुन्दर उदाहरण खोजने पर ही मिल सकता है। कृष्ण को कुब्जा प्रणय पर व्यंग्य करने में वे कटु भी हैं—

जो पिय चतुर स्याम मन लागे, कुब्जा की गति डाढ़े।
'पेमी' आवे न वेग रावरे, हमहूँ कूबर काढ़ें॥

कुब्जा-कूबड़ को लक्ष्य कर अनेक कवियों ने रचना की है। इस कथन में व्यंग्य के साथ ही प्रिय मिलन के निमित्त सब कुछ करने का उत्साह भी लक्षित होता है। जिस कुब्जा के कारण कृष्ण मथुरा ही में रह गए उसी का रूप वे केवल कृष्ण मिलन की आशा में ही रख सकती हैं। अन्यथा कुब्जा के प्रति सपत्नी की भावना उसके नामोच्चारण से भी दूर रहना चाहती है।

जैसा कि कहा जा चुका है इसमें योग-संदेश का विशेष वर्णन नहीं है किन्तु योग और भक्ति तुलना तथा ज्ञान ध्यान की व्यर्थता को लेकर एक दो कवित्त मिलते हैं। उद्धव का योग-संदेश तो उन तृषित गोपियों के लिए ओस-बिन्दु सदृश है।

उद्धव के गोरख-जगाने का उल्लेख 'पेमी' की रचना में मिलता है यद्यपि पेमी से पूर्व इस प्रसंग का उल्लेख प्राप्त नहीं है—

ऊधौ जू न्यात करौ तुमहीं, जनि देहू लगायन दाग पै दागे।
जोग के साज अकाज ही लाये हो, काहू कों कोउ लै गूदौ ताके।
सुन्दर मूरत लालन ले नित, 'पेमी' जो ध्यान ही में अनुरागे।
सो, कहौ काहे को, कोउ करि है तजि, काहे को बोले, जो॥
गोरख जागे॥

इसी अप्रिय 'गोरख जागे' कथन को वे उसी समय स्वीकार कर सकती हैं जब योग साधना आदि का फल कृष्ण प्राप्ति ही हो—

जोग लिये हर प्यारे मिले तौ पै;
× × × ×
कहौ री सबै मिल गोरख जागे।

प्रेमी के काव्य सौष्ठव की विवेचना में गोपियों की एक उक्ति उद्धृत की जाती है। कृष्ण के श्याम वर्णपर प्रायः सभी कवियों ने

लिखा। पेमी ने भी इस सरल प्रसंग को अपनाया है। उद्धव के योग संदेश का वर्णन करती हुई गोपियाँ कहती हैं—

> लावत संदेश पिय, कलेस भरौ उपदेस,
>
> × × × ×
>
> जिय डाँवाडोल, मानौ कित कित दीनौ दिस घोल।
> मत ओल 'पेमी', मन-मनसा सिधारी है।
> कहत हो बोल, सुन लहरें उठत लोल,
> ऊधौ स्याम कारे, पुन रसना तिहारी है।

कृष्ण की कुटिलता का प्रत्यक्ष उल्लेख कर 'पुन रसना तिहारी है' द्वारा उद्धव के श्याम वर्ण पर भी एक मीठी चुटकी ली गई। यहाँ पर 'एक तो करेला दूजे नीम चढ़ा' की कहावत ही चरितार्थ हो रही है।

देव

रीतिकालीन कवियों में देव का प्रमुख स्थान है। इनका काव्य शृङ्गार युग की समस्त विशेषताओं से भूषित है। भक्तिकाल में भक्ति और शृङ्गार की जो समानान्तर धाराएँ चल रही थीं। रीति युग में आते-आते उनमें से शृङ्गार ने प्रमुख रूप धारण किया और भक्ति शृंगार का अंगमात्र बन कर रह गई। अतः देव के पार्थिव शृंगार वर्णन में हर्षोल्लास, मान-विरह आदि का जितना प्रचुर तथा अनुभूतिमय वर्णन मिलता है, उतना भक्ति विषयक रचनाओं में नहीं। भ्रमरगीत प्रसंग के मूल में भक्ति के साथ शृंगार की भी प्रधानता रही है किन्तु इस शृंगार में वासना अथवा काम का प्राबल्य नहीं। अलौकिक आलम्बन के कारण यह शृंगार अतीन्द्रीय है किन्तु रीतिकाल में इस प्रकार का अतीन्द्रीय शृंगार युग की माँग के विरुद्ध था। जहाँ कहीं कवियों ने भक्ति सम्बन्धी रचना करने का प्रयत्न किया है वे रूढ़िगत हैं। देव तथा सूरदास के भ्रमरगीत प्रसंग में यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है। सुमधुर आलंकारिक भाषा में उक्ति वैचित्र्य, तथा कौशल के साथ उस भक्ति तथा विश्वास का अभाव है जो सूरदास तथा परमानंददास आदि कवियों के काव्य की निधि है।

रीति युग तक ऋतु वर्णन आदि के सदृश भ्रमरगीत भी काव्य का विषय बन गया। अतः अधिकांश कवियों ने इस पर पर कुछ छन्द ही लिखे। देव के विषय में भी यही कहा जा सकता है। यह उनका प्रिय विषय नहीं है। गोपी विरह, योग संदेश आदि ऐसे प्रसंग हैं जिन पर देव ने भी कुछ लिखने का प्रयास किया है किन्तु देव काव्य का मूल्यांकन इनके आधार पर नहीं हो सकता। देव-काव्य किस कोटि का है इस पर विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है। यहाँ देव के भ्रमरगीत सम्बन्धी पदों से ही सम्बन्ध है और यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि ये कवि देव की कला के श्रेष्ठ उदाहरण स्वरूप नहीं रखे जा सकते हैं।

घन आनन्द

घन आनन्द की गणना उन कवियों में की जा सकती है जिन्हें संसार की एक ठोकर, और प्रेम की निराशा संसार से विरक्त कर वृन्दावन बिहारी का प्रेमी बना देती है। घन आनन्द का जीवन भी इसी प्रकार का था। मुहम्मदशाह रंगीले के दरबार में उनका कवि जीवन प्रारम्भ हुआ किन्तु सुजान की एक अस्वीकृत ने उन्हें घन आनन्द बना दिया। उनका सुजान-प्रेम कृष्ण-प्रेम में बदल गया, दरबार, धन, वैभव तथा इष्ट मित्र छोड़कर वे वृन्दावन में बस गए। किन्तु 'सुजान' नाम को न छोड़ सके। उनकी रचना में सुजान शब्द का निरन्तर प्रयोग मिलता है किन्तु यह सुजान मुहम्मदशाह के दरबार की पातुरी के लिए नहीं वरन् गोपी वल्लभ कृष्ण तथा राधा के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

घन आनन्द ने कृष्ण प्रेम में प्रचुर रचना की है। ये ब्रजभाषा के सिद्ध हस्त कवि हैं। इन्होंने प्रेम, विरह, उपालम्भ आदि पर सुन्दर पद लिखे हैं। इन्होंने अपने जीवन में प्रेम और विरह का अनुभव किया था। अतः इनकी रचना में प्रेम की तीव्रता और वर्णन की स्वाभाविकता है। यद्यपि घन आनन्द ने भ्रमरगीत नाम से कोई पृथक् रचना नहीं की है तथापि इनकी रचनाओं में भ्रमरगीत सम्बन्धी पद बिखरे पड़े हैं। यह सत्य है कि घन आनन्द ने भ्रमरगीत को पूर्ण रूप से नहीं अपनाया फिरभी प्राप्त पदों को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है प्रथम उद्धव आगमन के पूर्व के पद जिनमें विरह, विवशता एवं गोपी

संदेश का वर्णन है। द्वितीय उद्धव आगमन के पश्चात् के पद जिनमें उद्धव-गोपी वार्तालाप, योग-संदेश, उपालम्भ तथा कृष्ण की भ्रमर-वृत्ति सम्बन्धी पद रखे जा सकते हैं। यह पहले कहा जा चुका है कि ये समस्त पद किसी एक रचना के अन्तर्गत नहीं मिलते किन्तु इनको एक स्थल पर संग्रह करने से इनमें एक क्रम-सा मिल सकता है। कृष्ण मथुरा जाते समय गोपियों को कुछ समय पश्चात् लौट आने का आश्वासन दे गए थे। किन्तु कृष्ण को मथुरा में रहते बहुत समय व्यतीत हो गया उनकी दी हुई अवधि न जाने कब समाप्त हो चुकी थी। यह देखकर एक गोपी कहती है

अवधि हरी न आए ब्रजनाथ।[1]

कृष्ण के न आने से चिन्ता बढ़ रही है। वे सोचती हैं—

कौन हमारी सुरति करावे मनहु रह्यौ रमि साथ।[2]

अहर्निश कृष्ण प्रतीक्षा से ऊब कर, उनकी सिर पटक देने की कामना भी कितनी स्वाभाविक है। जब व्यक्ति खीज जाता है तो उसे स्वयं पर ही क्रोध आने लगता है। गोपियों की भी यही दशा है—

पंथ निहारन डीठि मंद परी रचना थकी गुन-गाथ।
आनंद घन अब यह जिय आवति मारि फेरिये माथ॥[3]

कभी वे आग्रह करती हुई कहतीं—हे प्रिय ! हम तुम्हारे विरह में तड़प रही हैं। प्राण छूट जाने पर यदि तुम आए भी तो क्या लाभ। समय पर चूक जाने से तो केवल पश्चात्ताप ही हाथ लगेगा—

हमारी सुरति कब धौं तुम लैहौ।
अवसर बीत्यौ जात जानमनि बहुरि आय कहा कैहौ।
आनन्द घन पिय चातक कूक-थकें पछितायोई पैहौ॥
पदावली—३६

गोपियों के लिए विरह की विषम पीड़ा को व्यक्त करना और दूसरे को अपनी स्थिति समझा सकना भी एक कठिन समस्या है।

१—पद ३६—पदावली पृ० ३३८—घन आनन्द सं० २००६ विश्वनाथ प्रसाद
२—वही
३—वही

व्यथा से हृदय इतना भर गया है कि यह अकथनीय पीड़ा अब किसी से कही भी नहीं जा सकती। इस समस्त विपदा का कारण कृष्ण की मुरली ही है। उसी ने उन्हें इस फन्दे में डाल दिया है—

बंसी मोहन की फंद मारी।
मदन मोहन गुपाल बजाइ हमारे प्रान-गरें गहि डारी।
घुटन अधीर पीर को पावै दरसन, आस, जिवारी॥

पदावली—३६१

इस प्रकार कृष्ण-विरह से दुखी गोपियाँ एक दिन प्रिय के पास संदेश भेजने का विचार करती हैं। संदेश के लिए प्रकृति के प्रांगण में मुक्त रूप से विहार करने वाले पवन को ही उन्होंने अपना संदेशवाहक बनाना उचित समझा। एक गोपी पवन से संदेश ले जाने जाने का आग्रह करती हुई कहती हैं—

ए रे बीर पौन ! तेरो सबै ओर गौन बारी,
तो सौ और कौन, मन ढरकौ हौं बानि पै।
जगत के प्रान, ओछे बड़े सों समान घन—
आनन्द-निधान, सुख दान दुखियान दै।
जान उजियारे गुन भारे अंत मोही प्यारे,
अब ह्वै अमोही बैठे, पीठि पहचानि दै।
विरह बिथाहि मूरि, आँखिन में राखौं पूरि,
धूरि तिन पायनि की हा हा ! नेकु आनि दै॥

सुजानहित—२६०

पवन दूत की यह कल्पना आधुनिक युग में हरिऔध ने भी की है। घन आनन्द की गोपी की भाँति हरिऔध की राधा भी कृष्ण चरण रज की कामना करती हुई पवन द्वारा प्रिय के पास संदेश भेजती है।

उद्धव आगमन तथा योग संदेश का वर्णन घना आनन्द ने नहीं किया है। इनकी रचना में पाती प्रसंग का एक सवैया अवश्य मिल जाता है। कृष्ण के पत्र को देखकर गोपियों की विचित्र दशा हो गई। सूर की गोपियों की भाँति कभी वे पत्र को शीश पर चढ़ातीं कभी आँखों से लगातीं—

मित्र के पत्रहिं पावत ही उर काम-चरित्र की भीर मची है।
सीस चढ़ावति आँखिनि लावति चुम्बन की अति चोप रची है।
हाय कही न परै हित की गति कौन सवाद अचैन अची है।
छाती सों छुवावत ही घन आनन्द भीजि गई दुति पाँति नची है॥

प्रेम पत्रिका—५६

प्रेम विभोर गोपियाँ उद्धव से बोलीं—

ऊधौ विधि ईरित भई है भाग कीरति,
लही रति जसोदा-सुत पायनि परस की।
गुलम लता ह्वै सीस धर्यौ चाहै जाकी,
कहियै कहा निकाई महिमा सरस की।
झूम्मोई रहत सदा आनन्द को घन जहाँ,
चातकी भई है मति माधुरी बरस की।
आँखिनि लगी है प्रीति पूरन पगी है अति,
आरति जगी है व्रजभूमि के दरस की।

प्रेम पत्रिका—५७

घन आनन्द के उद्धव यद्यपि योग का उपदेश नहीं देते हैं किन्तु गोपियाँ उद्धव के इस संदेश का प्रत्युत्तर देती हैं। उद्धव के कथन का उल्लेख प्रायः कवियों ने नहीं किया है। वस्तुतः काव्यगत विशेषता, चमत्कार तथा उक्ति वैचित्र्य के लिए गोपी-कथन में ही पर्याप्त स्थान मिल सकता है। यही कारण है कि भ्रमरगीत सम्बन्धी रचनाओं में उद्धव-गोपी संवाद के अन्तर्गत भी गोपियाँ ही मुखर दिखाई पड़ती हैं। घन आनन्द की गोपियाँ भी उद्धव की योग-कथा सुनकर कहती हैं—

कित जोग-कथा सु वृथा ही बकौ, यह तौ तब ही अनुमानि लई।
अपनेई सनेह ठगी, भ्रम दै प्रतिबिंबहि मूरति मानि लई॥
घन आनन्द वे हू सुजान हुते, किहि गों हठ के सठ हानि लई।
व्रज खेत हो हेत सुमारनि को तजि भाजि बचे हम जानि लई॥

सुजना हित—३०२

योग-कथा की निरर्थकता के साथ ही गोपियों ने कृष्ण की निष्ठुरता एवं स्व-प्रेम निष्ठा का भी उल्लेख किया है—

हम एक तिहारियै टेक धरैं तुम छैल ! अनेकन सों सरसौ।
हम नाम अधार जिवावत ज्यों तुम दै बिसवास-बिषै बरसौ॥
सुजानहित—३१६

यहाँ गोपियों द्वारा प्रयुक्त "छैल" शब्द कृष्ण के स्वभाव को बड़ी चतुराई से व्यक्त करता है। घन आनन्द की गोपियाँ कृष्ण के छैल रूप का वर्णन करती हुई भी कुब्जा का नाम भी नहीं लेतीं। यद्यपि कृष्ण प्रेम में उन्हें भ्रमर-वृत्ति से प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं कृष्ण की रसिक वृत्ति का वर्णन उन्होंने अनेक स्थलों पर किया है। भ्रमर एक बार पुष्प रस पान कर पुनः उसकी ओर आकृष्ट भी होगा यह कौन जानता है। कृष्ण भी मथुरा जाकर क्या फिर कभी ब्रज आ सकेंगे? इसी विचार को एक गोपी इस प्रकार प्रकट करती है—

न जानियै कौन भाँति मिलौ तिहारी भँवर की सी रीति।
आनंद घन ब्रज मोहन प्यारे ठौर ठौर रस नादहिलौ दई दै नई परतीति॥

पदावली—३८४

विरह पीड़ा को न समझने के कारण एक अन्य गोपी उन्हें भ्रमर सदृश बताती है—

कहा जानौं कितहूँ कसक है कि नाहीं तुम्हें,
भौंर से भुलाने देखियत ठौर ठौर के।
पदावली—५०४

कभी वे कष्ण को उपालम्भ देती हुई कृष्ण की रसलोलुप वृत्ति पर व्यंग्य करती हैं—

तुम सौं न नेहलगैयै ब्रज मोहन हो बिसासी।
पावत नाहिं पराई बेदन डोलत भँवर बिलासी॥
अपनी गों दुरि हिलत मिलत हो रस ले देत उदासी।
आनन्द घन प्रिय हो बरसौ हैं राखत आपनि प्यासी॥
पदावली—१३२

घन आनन्द की गोपियाँ कृष्ण को उपालम्भ देती हुई अपनी व्यथा का भी वर्णन तो करती हैं किन्तु अन्य भ्रमरगीत की गोपियों

की भांति घन आनन्द की गोपियाँ वाचाल एवं व्यंग्य-पटु नहीं हैं। वे उद्धव को अधिक तीखी और खरी-खोटी नहीं सुनातीं। परन्तु एक स्थल पर उनकी खीज प्रकट हो ही जाती है। उद्धव के अवांछित उपदेश से वे अपना धैर्य तो बैठती हैं और चिढ़कर कहती हैं—

नाद को सवाद जाने बापुरौ बधिक कहा,
रूप के विधान को बखान कहा सूर सों।
सरस परस के बिलास जड़ जाने कहा,
नीरस निगोड़ी दिन भरे भखि ऊरसों।
चाह की चटक तैं भयौ न हिय खोंप जाके,
प्रेम-पीर-कथा कहे कहा भकभूर सों।
चाहे प्रान-चातक सुजान घनआनन्द कों,
देया कहूँ काहू कों परे न काम कूर सों॥

सुजानहित—५०६

इस प्रकार घन आनन्द की गोपियां अपने हृदय भार को हल्का करने की चेष्टा करती हैं। घन आनन्द के ये पद ही उन्हें भ्रमरगीत परम्परा के अन्तर्गत रखने के लिए पर्याप्त हैं। घन आनन्द रीति युग के कवि हैं किन्तु रीतिकालीन होते हुए भी इनकी विचारधारा पारलौकिक है। अतएव एक ओर तो इन्होंने रीतिकाल की मुक्तक शैली—कवित्त, सवैया को अपनाया है तो दूसरी ओर भक्तिकाल की पद-शैली में भी रचना की है। राज दरबार पराङ्मुख होने के कारण इनकी कविता में दरबारी सौन्दर्य की अपेक्षा भावात्मक सौन्दर्य अधिक है। कवि में भाषा को अलंकृत करने की प्रवृत्ति भी नहीं दिखाई पड़ती है।

जैन आनन्द घन

जैन आनन्द घन की रचनाओं में भ्रमरगीत सम्बन्धी अधिक पद नहीं मिलते हैं। आनन्द घन बहोत्तरी में प्रेमोपालम्भ के अन्तगत एक पद भ्रमर को लक्ष्य कर लिखा गया है—

पिया तुम निठुर भए क्यू ऐसें।
मैं मन वच क्रम करी राउरी, राउरी रीति अनेसें

फूल फूल भँवर कैसी भाँउरी भरत हो निबहै प्रीति क्यूँ ऐसें ॥
मैं तो पिय तें ऐसि मिली आली कुसुम बास संग जैसें ।
आछी जात कहा पर एती, नीर नहैयै भैंसे ॥
गुन अवगुन न विचारो आनन्द घन, कीजिये तुम हो तैसें ॥

पद—३२

एक अन्य पद 'भ्रमरगीत' शीर्षक के अन्तर्गत मिलता है—

किन गुन भयो रे उदासी भ्रमरा ।
पंख तेरो कारौ मुख तेरौ पीरौ, सब फूलन कौ बासी ।
सब कलियन कौ रस तुम लीनौ, सो क्यूँ जाय निरासी ।
आनन्द घन प्रभु तुम्हारे मिलन कूँ, जाय करवत ल्यूँ कासी ।

उपर्युक्त पद में कृष्ण के योग संदेश पर व्यंग्य किया गया है ।

पद्माकर

पद्माकर के काव्य में ऋतु वर्णन तथा असूया, विषाद आदि के उदाहरण स्वरूप कुछ भ्रमरगीत सम्बन्धी पद मिलते हैं । पद्माकर की काव्य-साधना के विषय में कुछ कहना अनावश्यक ही है । ये रीतिकाल के सर्वप्रिय तथा सर्वश्रेष्ठ कवियों में से हैं । मधुर कल्पना तथा भावमग्न कर देने वाला स्वाभाविक वर्णन इनकी विशेषता है । रीतिकालीन प्रभाव के कारण अनुप्रास तथा चमत्कार प्रयोग की ओर इनका ध्यान अधिक रहा है किन्तु भ्रमरगीत सम्बन्धी पद इस अस्वाभाविकता से बच गए हैं । ऋतु-वर्णन के अन्तर्गत गोपियों का सीधा सरल संदेश अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहता—

ऊधौ यह सूधौ सौ संदेसों कहि दीजौ भलो,
हरि सौं, हमारे ह्याँ न फूले बन-कुंज हैं ।
किंसुक गुलाब कचनार और अनारन की,
डारन पर डोलत अंगारन के पुंज है ।।

प० पं०—३८०

कुब्जा को लेकर गोपियाँ प्रायः कृष्ण का उपहास किया करती किन्तु इस उपहास में वे कुब्जा के प्रति अति कटु तथा व्यंग्यपूर्ण बन जाती हैं । पद्माकर की गोपियाँ भी व्यंग्य करने में पीछे नहीं—

सोच न हमारे कछू त्याग मनमोहन के,
तन को न सोच जो पै यो ही जरि जाइ है।
कहै 'पद्माकर' न सोच अब एहू यह,
आइ है तो आइ है न आइ है न आइ है।
जोग को न सोच अरु योग को न सोच कछू,
ये ही बड़ो सोच तौ सबनि सुहाय है।
कूबरी के कूबर में वेध्यौ है त्रिभंग ता
त्रिभंग को त्रिभंगी लाल कैसे सुरझाइ है॥

प० पं०—४६८

कृष्ण की मीठी चुटकी लेती हुई गोपियाँ कुब्जा को भी अपने व्यंग्य का लक्ष्य बनाकर हृदय भार को हल्का करना चाहती हैं। ईर्ष्या के वशीभूत किस प्रकार मनुष्य दूसरे की दुर्बलता को ही उपहास का साधन बनाता है। गोपियों का यह व्यंग्य इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। भ्रमरगीत के अधिकांश कवियों ने कुबड़ी कुब्जा के कूबड़ को इस भाँति व्यंग्यपूर्ण भावाभिव्यक्ति का साधन बनाया है।

ठाकुर

ठाकुर कवि के भ्रमरगीत प्रसंग पर कुछ स्फुट सवैया उपलब्ध हैं। भाव व्यंजना की दृष्टि से ये महत्त्वपूर्ण हैं। प्रेम की एकनिष्ठा के साथ ही ब्रज बनिताओं के भोले स्वभाव का बहुत ही सुन्दर वर्णन है—

ऊधौ जू वे अँखियाँ जरि जायँ जो सांवरौ छाँड़ि तकैं तन गोरो।

कृष्ण-प्रेम के कारण व्याकुल गोपियों का रीतिकालीन अत्युक्ति-पूर्ण वर्णन भी ठाकुर की रचना में उपलब्ध है—

बसनीन में नैन झुकैं उझकैं मनो खंजन मीन के जाले परे।
दिन औधि के कैसे गनौ सजनी अंगुरीन के पोरन छाले परै।
कवि ठाकुर काहू सों का कहिए निज प्रीति किए के कसाले परे।
जिन लालन चाह करी इतनी तिन्हैं देखि वे के अब लाले परे॥

साहित्य प्रभाकर भाग १ पृ० २८३ (३)

ठाकुर ठसक में संग्रहीत जैतपुरी ठाकुर का एक सुन्दर सवैया है। उद्धव ब्रज से मथुरा लौटकर कृष्ण से वहाँ का वर्णन करते हैं—

आप जुरी विजुरी सी कितैकउ प्रेम प्रवाह कथा तिन बांची।
ऊधौ सुनो तुम ऊधौ सुनो तुम ऊधौ सुन तुम या धुनि मांची।
ठाकुर कौन सों का कहिये गति देखि कै मेरी गिरा वहँ नांची।
हाँ इतनी कहनेई परी हमें साँची है साँची है साँची है साँची॥
ठा० ठ० पृ० ४३

इस एक सवैया में कवि ने बड़ी कुशलता से उद्धव कथन रूप में उत्सुक गोपियों तथा स्तम्भित उद्धव का चित्र उपस्थित कर दिया है। बहुत सम्भव है ठाकुर ने इस प्रसंग पर कुछ और भी छन्द लिखे हों। यदि ठाकुर के अधिक छन्द मिल सके तो निश्चय ही वे भ्रमरगीत परम्परा की कड़ी को सुदृढ़ करने में सहायक सिद्ध हो सकेंगे।

———

अष्टम अध्याय

आधुनिक काल में प्राप्त भ्रमरगीत काव्य

१—सामयिक परिस्थिति।
सामाजिक परिस्थिति।
आर्थिक परिस्थिति।
धार्मिक परिस्थिति।
साहित्यिक परिस्थिति।

२—क—आधुनिक युग की प्रमुख भ्रमरगीत रचनायें और उनके रचयिता।

१—विश्राम सागर—रघुनाथदास रामसनेही।
२—भँवरगीत—प्रागनि।
३—स्फुट—भारतेन्दु।
४—विष्णु गीत—हरिविलास।
५—ऊधो ब्रजागमन—रसीले।
६—भ्रमर दूत—सत्यनारायण कविरत्न।
७—प्रिय प्रवास—अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'।
८—उद्धव शतक—जगन्नाथदास रत्नाकर।
९—द्वापर—मैथिलीशरण गुप्त।
१०—मुकुन्द विलास—मुकुन्दीलाल।
११—कृष्ण सागर—जगन्नाथ सहाय।
१२—अश्रुमाल—कवीन्द्र माहौर।
१३—नेह निकुंज—(दीवान बहादुर कैप्टेन) चन्द्रभानु 'रज'।
१४—कृष्ण चरित मानस—प्रद्युम्न दुगा।
१५—उद्धव शतक—डा० रमाशंकर शुक्ल रसाल'
१६—कृष्णायन—द्वारिकाप्रसाद मिश्र।

१७—उधौ पचौसी—लाला हरदेव प्रसाद ।

१८—श्याम संदेश—श्यामसुन्दरलाल दीक्षित ।

ख गौण भ्रमरगीत रचनायें तथा उनके रचयिता ।

१—भँवरगीत—संतदास ।

२—स्फुट राजराजेश्वरीप्रसादसिंह ।

———

आधुनिक काल

संवत् (१६००—२०१०)

सामयिक परिस्थिति

भ्रमरगीत परम्परा का आधुनिक काल सम्पूर्ण बीसवीं शताब्दी तक व्याप्त है। भारत में यह अव्यवस्था, असंतोष तथा परिवर्तन का युग कहा जा सकता है। पिछली शताब्दियों की अपेक्षा इस काल में अनेक राजनीतिक समस्याओं के कारण भारतीय जीवन में आमूल परिवर्तन उपस्थित हो गया। मुगल वंश के नष्ट हो जाने के पश्चात् भारत को एक भिन्न संस्कृति का सामना करना पड़ा। मुगल काल में व्यापार के निमित्त आये हुए अंग्रेज भारतवासियों की फूट का लाभ उठा कर यहाँ के शासक बन गए और भारत का शासन ईस्ट इण्डिया कम्पिनी द्वारा होने लगा। इधर वेलेजली की नवीन नीति से राज्य विस्तार के साथ ही हिन्दू तथा मुसलमान शासकों के मन में विद्रोह की भावना जाग्रत हो गई। क्रान्ति की यह अग्नि धीरे-धीरे सुलग रही थी। फलस्वरूप संवत् १६१४ में एक भयानक विस्फोट हुआ और कम्पनी शासन की नीवँ हिल गई। भारतवासी पुनः स्वतन्त्र होने का स्वप्न देखने लगे इस विषम परिस्थिति में अंग्रेजों ने भेद-भाव की नीति ग्रहण कर भारतीयों की सहायता से ही अपनी खोई हुई सत्ता प्राप्त करली। विद्रोहियों को नृशंसतापूर्वक कुचल दिया गया। अब अंग्रेजों के आतंक से कोई सिर न उठा सकता था। मुसलमानों की बड़ी दयनीय परिस्थिति थी। अंग्रेजों का विचार था कि इस समस्त विद्रोह की जड़ मुसलमान ही हैं अतएव वे इन पर विश्वास नहीं करते थे, साथ ही राजनीतिक दृष्टि से इनकी बड़ी दयनीय दशा थी।

इस क्रान्ति के पश्चात् भारत में कम्पनी का राज्य सदा के लिए समाप्त हो गया। महारानी विक्टोरिया भारत की महारानी घोषित की गई और भारत में उनके प्रतिनिधि वायसराय की नियुक्ति हुई। अब अंग्रेजों ने भारतीय शासन व्यवस्था को सुधारने का प्रयत्न किया जिसके कारण भारत में २० वर्षों तक शान्ति रही।

अनेक वायसरायों की उदारता के कारण भारतवासी अंग्रेजों के भक्त बन गए और उनके पिछले कृत्यों को भूलकर अंग्रेज जाति का गुणानुवाद करने लगे। किन्तु अंग्रेजों द्वारा धन का निरंतर शोषण देख कर भारतवासी बड़े दुखी हुए। उनकी वाणी मूक और लेखनी अवरुद्ध थी। संवत् १६४० में ईलबेट बिल के कारण भारतवासियों में राजनीतिक चेतना उत्पन्न हुई। संवत् १६४२ में राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से वे अपने राजनीतिक अधिकारों के प्रति अधिक जागरूक हो गए। इस समय धन-जन-संहारक प्रथम तथा द्वितीय महायुद्धों ने राष्ट्रीय चेतना और भी विकसित करदी। भारतवासी भी पुनः स्वतन्त्र वायुमण्डल में श्वास लेने की कामना करने लगे।

राष्ट्रीय चेतना का यह युग गाँधी-युग के नाम से प्रसिद्ध है। (संवत् १६७७-२००४) इस युग के महान् नेता राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के बुद्धिबल, धैर्य तथा अहिंसा के मंत्र द्वारा ही शताब्दियों से परतन्त्र भारत संवत २००४ को अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता पुनः प्राप्त करने में सफल हो सका। इस राजनीनिक स्वतन्त्रता के लिए भारतीयों को बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा। अखंड भारत पाकिस्तान तथा हिन्दुस्तान इन दो खंडों में विभक्त हो गया। भारत की भूमि भाई भाई के रक्त से रंजित हुई।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतवर्ष में अनेक जटिल समस्यायें उत्पन्न हो गई। इन समस्याओं के समाधान के साथ राष्ट्र के नव-निर्माण का कार्य भी हो रहा है। इस प्रकार आधुनिक युग अंग्रेजी शासन के उन्नति तथा पतन के साथ ही भारतीय स्वातन्त्र्य प्राप्ति के अथक प्रयत्नों का इतिहास है।

सामाजिक परिस्थिति

समाज की उन्नति शिक्षा पर ही निर्भर है। अंग्रेजी राज्य स्थापना के पश्चात् अंग्रेजों का ध्यान भारतीयों की शिक्षा की ओर गया। इस विचार के मूल में उनका स्वार्थ भी निहित था। विस्तृत भारत के शासन के लिए थोड़े अंग्रेज कर्मचारियों से कार्य नहीं चल सकता था और इंगलैण्ड से अधिक व्यक्तियों को बुलाना भी संभव न था, अतः भारतीयों की सहायता से उन्हीं पर शासन करने के लिए अंग्रेजों ने भारतवासियों की शिक्षा की ओर ध्यान दिया।

अंग्रेजी शासन के पूर्व भारत की राजभाषा फारसी थी जो मकतबों में पढ़ाई जाती थी। हिन्दू नौकरी के लिए कुछ अरबी फारसी का अध्ययन करते और घर में पण्डितों द्वारा संस्कृत तथा भाषा का ज्ञान भी प्राप्त करते थे। बोल चाल के क्षेत्र में उर्दू तथा खड़ी बोली का जन्म हो चुका था। अंग्रेजों ने राज्य-कार्य के लिए भारतीय भाषाओं की अपेक्षा अङ्गरेजी को ही ग्रहण किया। अंग्रेजी शिक्षा के लिए कालिज खोले गये। इन कालिजों में उर्दू तथा खड़ी बोली को भी स्थान मिला। यही युग खड़ी बोली गद्य का विकास काल है।

अँग्रेजी शिक्षा द्वारा भारत पश्चिमी सभ्यता तथा संस्कृति के सम्पर्क में आया। दो भिन्न साहित्य तथा संस्कृतियों के इस नवीन सम्मिलन का भारतीय सामाजिक जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वैज्ञानिक आविष्कारों रेल, प्रेस, तार, जहाज आदि की सहायता से यह आदान प्रदान अधिक द्रुत गत से होने लगा। भारत में स्वाभिमान तथा राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न हुई। शिक्षित समाज का एक समूह पश्चिमी सभ्यता के बाह्य रूप पर मुग्ध हो उसका अन्धानुकरण करने लगा। अँग्रेजी शिक्षा का लाभ शहरों के कुछ वर्गों तक ही सीमित रहा। भारत के ग्रामों में अँग्रेजी शिक्षा का प्रचार न हो सका। अँग्रेजी शिक्षा प्राप्त नागरिक ग्रामीणों को घृणा की दृष्टि से देखते। उन्हें अपने भाइयों के सुख शान्ति की चिन्ता न थी। अँग्रेजी शिक्षा ने ग्राम तथा नगरों के बीच एक गहरी खाई बना दी जो आज तक पाटी न जा सकी।

कालान्तर में ग्रामीणों की शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया गया और हिन्दी माध्यम द्वारा शिक्षा दी जाने लगी किन्तु यह प्रगति अति नगण्य है। भारत के स्वतंत्रता प्राप्त करने के पश्चात् ग्रामीण शिक्षा की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। शहरों में स्कूल, विद्यालय तथा विश्वविद्यालयों की स्थापना हो चुकी थी। ग्रामवासी उच्च शिक्षा प्राप्ति के लिए शहर आ सकते थे। इन विद्यालयों में टेकनिकल विषयों तथा विज्ञान की शिक्षा का भी प्रबन्ध किया गया। नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों ने भी शिक्षा प्रसार में सहायता दी।

पुरुषों के अतिरिक्त नारियों में भी शिक्षा का प्रचार हुआ। शिक्षा-प्रसार के क्षेत्र में ईसाई मिशनरियों ने भी स्तुत्य प्रयत्न किया।

उन्होंने अनेक स्कूल तथा विद्यालय खोले। इस युग के सुधार आन्दोलनों ने भी स्त्री शिक्षा पर जोर देते हुए भारतीय संस्कृति को अपनाए रखने का आग्रह किया। आर्य समाज ने अनेक कन्या पाठशालाओं की स्थापना कर वैदिक संस्कृति के पुनरुत्थान का प्रयत्न किया।

बीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध तक नारी-शिक्षा न क्षेत्रों में पर्याप्त प्रगति कर चुकी थी। वह विश्वविद्यालय की शिक्षा ग्रहण कर राज-नीतिक कार्यों में भाग लेने तथा राजकीय पदों पर नियुक्त होने लगी। नारी-शिक्षा की यह उन्नति शहरों के कुछ प्रगतिशील परिवारों तक ही सीमित थी। मध्यम वर्ग में प्रारम्भिक तथा माध्यमिक शिक्षा का प्रचार अपेक्षाकृत अधिक हुआ। भारतीय ग्रामों में अँग्रेजी शिक्षा का प्रचार नारी क्या पुरुष समाज में भी न हो सका। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् शिक्षा का प्रश्न भी महत्वपूर्ण समझा जाने लगा। हिन्दी राजभाषा स्वीकृत हुई अतः अब हिन्दी तथा प्रान्तीय भाषाओं की उन्नति पर भी विशेष बल दिया जाने लगा। डेढ़सौ वर्षों से चली आ रही राजभाषा अँग्रेजी की जड़ें हिल गईं परन्तु उसके प्रति कुछ लोगों का अभी भी अपार मोह बना ही है।

अँग्रेजों ने भारत में जिस शिक्षा का प्रचार किया वह स्वाव-लम्बी न थी अतः स्वतंत्र भारत में स्वावलम्बी शिक्षा योजना पर परीक्षण किया जा रहा है। आधुनिक युग में ललित कलाओं की शिक्षा की ओर भी जनता की रुचि होती जा रही है।

आर्थिक-परिस्थिति

आधुनिक युग विज्ञान का युग है। वैज्ञानिक आविष्कारों ने जनता के सुख साधनों में बड़ा योग दिया। संवत् १६१० से रेलें यातायात की साधन बनीं। रेलों द्वारा व्यापारियों को बड़ी सुविधा मिली। सड़कें, नहरें तथा डाक, तार और टेलीफोन ने समय तथा स्थान की दूरी को कम करके सामाजिक सम्पर्क बढ़ाने में योग दिया। दूसरी ओर मशीनों के प्रचलन से कृषक-जीवन अस्तव्यस्त हो गया। गृह-उद्योगों के नष्ट हो जाने से कृषक शहरों में मजदूरी कर दरिद्रता का जीवन व्यतीत करने लगे।

धन-संचय के लिए भी पश्चिमी बैंक व्यवस्था आरम्भ की गई। इतना सब होते हुए भी भारत की आर्थिक अवस्था संतोष-जनक न हो सकी। इसका मुख्य कारण विदेशी शासन था। मुसलमान भी यद्यपि विदेशी थे और अपने ऐश आराम के लिए प्रचुर धन-राशि व्यय करते थे तथापि समस्त धन भारत में ही रहता था। अँग्रेज यहाँ व्यापारी बनकर आए थे। शासन काल में भी उन्होंने वणिक-वृत्ति त्यागी न थी अतः भारत की लक्ष्मी सात समुद्र पार विदेश में निवास करने लगी। राष्ट्रीय चेतना के साथ ही भारतीयों को यह शोषण अखरने लगा।

आधुनिक काल में वैज्ञानिक साधनों के होते हुए भी कृषि की वैज्ञानिक व्यवस्था न थी। कृषक वर्षा पर ही निर्भर रहते थे, वर्षा के अभाव में संवत् १६१७ से १६५६ के मध्य पश्चिमोत्तर प्रान्त, बिहार, पंजाब, राजपूताना आदि में अनेक दुर्भिक्ष पड़े जिससे कृषक वर्ग दरिद्रता के गर्त में गिरने लगा।

मशीनों के आविष्कार तथा वर्तमान शिक्षा पद्धति ने बेकारी की नवीन समस्या उत्पन्न करदी। प्रथम तथा द्वितीय महायुद्धों ने भी समाज की आर्थिक व्यवस्था को प्रभावित किया। युद्धकाल में यद्यपि मनुष्यों को नौकरियाँ मिलीं परन्तु वस्तुओं का मूल्य अत्यधिक बढ़ गया। वस्तु नियंत्रण के कारण गुप्त व्यापार तथा घूसखोरी का बाजार भी गर्म रहा। इस आर्थिक विषमता से समाज धनी और श्रमिक अथवा मजदूर इन दो वर्गों में विभक्त हो गया। धनी वर्ग को जीवन की समस्त सुख सुविधायें उपलब्ध थीं। जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिये उसे पर्याप्त वेतन मिलता था। उच्च शिक्षा आदि के समस्त साधन उसे प्राप्त थे। दूसरी ओर खेती नष्ट हो रही थी। शहरों में नौकरी करने का आकर्षण भी बढ़ रहा था। इस समाज के व्यक्तियों को न भर पेट भोजन मिलता न तन ढकने को पर्याप्त वस्त्र। धनी तथा कृषक वर्ग के अतिरिक्त एक मध्यम वर्ग भी था जिसकी दशा अत्यन्त शोचनीय थी। मध्यम वर्ग की आय सीमित होती थी किन्तु सामाजिक स्तर बनाए रखने के लिये उसे आय से अधिक व्यय करना पड़ता था। समाज की यह आर्थिक परिस्थिति आज भी वैसी ही बनी है। इस प्रकार आधुनिक काल की आर्थिक विषमता ने सामाजिक जीवन को जर्जर कर दिया। भारत

विभाजन के फलस्वरूप उत्तर भारत की जनसंख्या में वृद्धि हो गई। शरणार्थी समस्या ने आर्थिक समस्या को अधिक जटिल ही बना दिया। भारत के पुनर्निर्माण में आर्थिक परिस्थिति सुधारने का भी प्रयत्न किया गया है। पंचवर्षीय योजना देश की आर्थिक दशा सुधारने की ओर बढ़ाया हुआ प्रथम पग है।

धार्मिक परिस्थिति

भारतीय समाज का भव्य प्रासाद धर्म की सुदृढ़ नीवँ पर ही निर्मित है। समाज की प्रत्येक गति विधि धर्म से ही नियंत्रित तथा संचालित है। जब कभी धर्म का रूप दूषित तथा विकृत होने लगता अथवा नैतिक आदर्श लुप्त हो जाते उस काल अनेक सुधार आन्दोलन उसे पुनः प्रतिष्ठित करते। आधुनिक काल में भी धार्मिक परिस्थिति शिथिल थी। वर्ण व्यवस्था की रूढ़िवादिता को भी धार्मिक रूप दे दिया गया। बाल-विवाह, सती प्रथा, बहुविवाह और विधवा विवाह-निषेध आदि प्रथाओं पर धार्मिक आवरण पड़ा था। धर्म के नाम पर अछूतों के साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता था। उन्हें अपने प्रभु की पूजा तथा दर्शन का भी अधिकार न था। पतित पावन भगवान् को अछूतों के स्पर्श से स्वयं पतित हो जाने का भय था।

अँग्रेज भारतीयों के धार्मिक विषयों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहते थे तथापि बालविवाह तथा सतीप्रथा आदि को बन्द करवाने के लिये उन्होंने कुछ कानून अवश्य बना दिये थे।

नवीन शिक्षा तथा ईसाई मिशनरियों के प्रचार ने हिन्दुओं को धर्म के प्रति उदासीन बना दिया। नवीन सभ्यता में डूबे व्यक्ति हिन्दू धर्म ग्रन्थों का अध्ययन करना भी व्यर्थ समझते थे। इस प्रकार स्वधर्म से अनजान अछूत वर्ग के बीच ईसाई मिशनरियों को धर्म प्रचार का स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ। उन्होंने अछूतों को ईसाई बनाकर उच्च शिक्षा तथा समाज में सम्मानपूर्ण स्थान दिलाया। फलस्वरूप अनेक हिन्दू सहर्ष ईसाई बन गए।

इस निष्प्राण भारतीय धार्मिक जीवन को नव जीवन देने के निमित्त आधुनिक काल में कई सुधार आन्दोलन हुए, जिन्होंने सोते हुए भारत को झकझोर कर जगा दिया। संवत् १८८५ में बंगाल में राजा राममोहनराय ने ब्रह्म समाज की स्थापना की जिसमें हिन्दू धर्म

के मूल सिद्धान्तों की स्थापना तथा बाह्याडम्बरों का विरोध किया गया। ब्रह्मसमाज का अधिक प्रभाव बंगाल के शिक्षित समाज तक ही सीमित रहा।

द्वितीय सुधार आन्दोलन रामकृष्ण परमहंस तथा उनके शिष्य विवेकानन्द द्वारा चलाया गया। उन्होंने भारतीय दर्शन तथा संस्कृति का देश-विदेश में भी प्रचार किया। रामकृष्ण मिशन समाज सुधार तथा समाज सेवा के क्षेत्र में निरन्तर उपयोगी कार्य कर रहा है।

तृतीय सुधार आन्दोलन के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती हुए जिन्होंने वैदिक संस्कृति की प्रतिष्ठा के लिए आर्यसमाज की स्थापना की। आर्यसमाज ने धार्मिक तथा सामाजिक समस्यायों को हाथ में लिया। धर्म के नाम पर प्रचलित पाखंड तथा अत्याचारों को दूर कर इसने हिन्दू धर्म को दोषमुक्त करने का स्तुत्य प्रयत्न किया। आर्यसमाज की स्थापना के कारण संध्या वन्दन तथा हवन आदि का पुनः प्रचार हुआ। अछूतों और स्त्रियों की दशा सुधारने की ओर भी आर्यसमाज ने ध्यान दिया। शिक्षा-प्रचार के लिए आर्य-समाज ने कई डी० ए० वी० स्कूल तथा आर्य कन्या पाठशाला खोले। हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए आर्यसमाज ने 'शुद्धि' का आरम्भ किया जिससे अनेक हिन्दू जो ईसाई बन गये थे पुनः हिन्दू हो सके। ईसाई धर्म के बढ़ते हुये प्रभाव को रोकने में आर्यसमाज जैसी संस्था ही सफल हो सकी अन्यथा हिन्दू समाज का आज भिन्न ही स्वरूप होता।

पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से भारतीय नवयुवक अपनी संस्कृति को भूल ही नहीं चुके वरन् उसे हेय दृष्टि से देखने भी लगे थे। इन सुधार आन्दोलनों के कारण उनके हृदय में भारतीय संस्कृति के प्रति श्रद्धा और भारतीयता की भावना जाग्रत हुई।

संवत् १९३२ में ही श्रीमती ब्लेवेटस्की और कर्नल आलकाट ने मद्रास में थियासाफिकल सोसाइटी की स्थापना की। इस संस्था ने भी हिन्दू मस्तिष्क से धार्मिक हीनता की भावना को दूर करने में बहुत बड़ा योग दिया। बाद में श्रीमती बीसेन्ट ने अपने प्रभावशाली

व्यक्तित्व से गीता और उपनिषदों के संदेश को चारों ओर प्रसारित किया।'

'इन्हीं दिनों न्याय मूर्ति रानाडे और उनके कुछ मित्रों ने प्रार्थना समाज की स्थापना की। इस संस्था का उद्देश्य भी हिन्दू धर्म का सुधार था। उस युग में अपने क्षेत्र में प्रार्थना समाज ने भी सत्य ज्ञान का प्रचार करने में उल्लेखनीय कार्य किया।'[1]

आधुनिक भौतिकवादी युग में श्री अरविन्द भारत की सनातन आध्यात्मिक प्रतिभा के एक अलौकिक महापुरुष हैं। इनका जन्म १५ अगस्त सन् १८७२ में कलकत्ता नगर में हुआ था। श्री अरविन्द की शिक्षा पश्चिमी वातावरण के अनुरूप इंगलैण्ड में होने पर भी उनका देशप्रेम एवं आध्यात्म प्रतिभा अधिक काल तक छिपी न रह सकी। बड़ौदा राज्य के माल-विभाग में कार्य करते हुये भी वे अध्यापन कार्य भी करते रहे किन्तु सन् १९०६ में बंग-भंग आन्दोलन के अवसर पर पूर्णतः राजनीति के क्षेत्र में कूद पड़े। प्रमुख एवं सक्रिय कार्यकर्त्ता होने के कारण इन्हें जेल यात्रा भी करनी पड़ी। सन १९१० से जब श्री अरविन्द पाँडेचेरी में निवास करने लगे इनके जीवन का दूसरा पृष्ठ खुलता है और श्री अरविन्द एक आध्यात्मिक साधक एवं गुरु के रूप में दिखाई पड़ते हैं। वे मानव के लिए आध्यात्मिक भविष्य को अवश्यम्भावी मानते हैं।' उनका ध्येय मनुष्य के अन्दर अविकसित देवत्व को विकसित करना है।'[2] अरविन्द आश्रम उनके कार्य का केन्द्र है।

श्री अरविंद ने जिस सिद्धि को प्राप्त किया उसके अमृत से वे मानवमात्र का कल्याण चाहते हैं और आज वे अध्यात्मिक गुरु के रूप में ही प्रख्यात हैं। भारत में ही नहीं बल्कि विदेशों के जिज्ञासु तथा भक्त आश्रम में जीवन व्यतीत करते हैं।

श्री अरविन्द ने योगविद्या, दर्शन, काव्य, राजनीति आदि अनेक विषयों पर रचना की है जिनमें, 'गीताप्रबन्ध' और 'दिव्य-

---

१—पृ० ६४२ भारतवर्ष का इतिहास - भाग २ सन् १९५१

(डाक्टर ईश्वरीप्रसाद)

२—पृ० २९ अदिति अगस्त १९४७।

जीवन' विशेष प्रसिद्ध हैं। श्री अरविन्द के योग-मार्ग में शुष्क जीवन का स्थान नहीं। वे मनुष्य की भावना को दमन करने की अपेक्षा ईश्वरोन्मुख करने में विश्वास करते थे। योग प्रदीप में उन्होंने लिखा है—'हृदय को शुष्क कर देना इस योग का अंग नहीं है, पर हृदय की जो उमंगें हैं उन्हें भगवान् की ओर फेर देना होगा।'[1] मानव मात्र से प्रेम करने के लिए वे भगवत्प्रेम आवश्यक मानते थे। साधक का प्रेम भगवान् के लिए होना चाहिये। जब यह भगवत्प्रेम पूर्ण होता है तभी वह दूसरों से भी यथार्थ रूप से प्रेम कर सकता है। इस प्रकार श्री अरविन्द ने भारतीय आध्यात्मवाद की पुनः प्रतिष्ठा की।

आधुनिक धार्मिक परिस्थितियों पर विचार करते समय महात्मा गांधी के बिना यह विवेचन अपूर्ण ही रह जायेगा। यद्यपि महात्मा गांधी राष्ट्रपिता के रूप में ही हमारे सामने आते हैं किन्तु जिस प्रकार कांग्रेस का सदस्य हुये बिना ही वे इसका संचालन करते थे, उसी प्रकार आध्यात्मिक गुरु पद को प्राप्त किये बिना ही भारतीय धार्मिक जीवन पर उनका अमिट प्रभाव पड़ा है। भारत को एकता के सूत्र में बाँधने के लिए एवं विश्व बंधुत्व के पवित्र सिद्धान्त पालन के निमित्त महात्मा गाँधी ने धार्मिक संकीर्णता त्याग का अपने जीवन द्वारा प्रचार किया। वे गीता के भक्त एवं कर्मयोगी थे उनका अछूतोद्धार कार्य नवीन कार्य न था। आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द ने इस धार्मिक कुरीति को दूर करने का अथक् प्रयत्न किया था। महात्मा गाँधी ने इसी को जीवन में ढालने का मार्ग दिखाया। इस प्रकार महात्मा गांधी ने देश को फिर से उदारमना एवं विशाल हृदय बनने की पावन प्रेरणा दी। जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण आज के सामाजिक जीवन की झाँकी है।

इस प्रकार आधुनिक धार्मिक जगत् में महान क्रान्ति दिखाई पड़ती है। विज्ञान के प्रचार एवं प्रसार के साथ भारत की आध्यात्मिक चेतना पूर्णतः लुप्त नहीं हुई वरन् देशकाल के अनुसार पुरातन भारतीय संस्कृति का पुनः प्रचार इस युग की अपनी विशेषता है।

१—पृ० ५६ योग प्रदीप १९३६

२—वही

साहित्यिक परिस्थिति

साहित्यिक दृष्टिकोण से आधुनिक काल को गद्य काल की संज्ञा दी जा सकती है। हिन्दी काव्य साहित्य का इतिहास अति प्राचीन है। गद्य आधुनिक युग का परिणाम है। फोर्ट विलियम कालेज द्वारा भी खड़ी बोली गद्य का प्रचार बढ़ा। इसी युग में भारतेन्दु तथा उनके मंडल ने अपनी अपूर्व सेवा द्वारा खड़ी बोली को साहित्यिक भाषा के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। द्विवेदी जी ने भाषा को परिष्कृत तथा परिमार्जित कर उसे सबल तथा सशक्त बनाया और अन्य पूर्ववर्ती साहित्यिकों ने हिन्दी साहित्य भण्डार को समृद्ध-शाली बनाने में बड़ा योग दिया।

बीसवीं शताब्दी के पूर्व तक ब्रजभाषा ही काव्य भाषा थी। खड़ी बोली का प्रयोग साहित्य में कम होता था। बीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के अल्पकाल में ही खड़ी बोली गद्य के अतिरिक्त काव्य क्षेत्र में प्रविष्ट हुई। भारतेन्दु खड़ी बोली गद्य के जन्मदाता होते हुए भी ब्रजभाषा को ही काव्य की भाषा मानते थे। खड़ी बोली में उन्होंने कुछ रचना अवश्य की थी किन्तु वह उसकी अनुपयुक्तता प्रदर्शन के निमित्त ही है। द्विवेदी युग में खड़ी बोली में भी काव्य-रचना होने लगी और फलस्वरूप ब्रजभाषा खड़ी-बोली प्रतियोगिता का भी एक समय आया। कालान्तर में प्रगतिशील तत्वों के कारण खड़ी बोली ही विजयनी हुई। ब्रजभाषा और अवधी में भी काव्य रचना होती रही किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि अब खड़ी बोली काव्य सिंहासन पर आरूढ़ हो चुकी थी।

भाषा के साथ ही विचार व्यंजना तथा अभिव्यक्ति प्रणाली में भी परिवर्तन हुआ। भारतेन्दु ने पद रचना कर लुप्त प्रायः गीति-काव्य को पुनर्जन्म दिया। भक्ति युग के सदृश्य काव्य और संगीत का अनुपम योग इस काल में देखने को मिलता है।

छन्दों के क्षेत्र में नवीन प्रयोग भी दिये गए। हरिऔध ने द्रुतविलंबित, शिखरिणी, मालिनी आदि संस्कृत छन्दों का हिन्दी में सफल प्रयोग किया।

रीतिकाल के कवि राजाश्रय में रहा करते थे और अपने आश्रय दाताओं को प्रसन्न करने के निमित्त काव्य रचना करते।

आधुनिक युग तक राजाश्रय नष्ट हो चुके थे और कवि जनता जनार्दन के मध्य आ उपस्थित हुए। सूक्तियों का युग भी समाप्त हो गया। मुक्तक के साथ ही अब प्रबन्ध रचना की ओर भी ध्यान दिया गया। इस युग में अनेक खण्ड तथा कुछ महाकाव्य भी रचे गए। काव्य-जगत में एक नवीन युग का जन्म हुआ। खड़ी बोली काव्य की अनेक प्रवृत्तियों का जन्म इस काल की प्रमुख विशेषता है। भारतेन्दु युग की खड़ी बोली द्विवेदी जी के हाथों सबल बन कर काव्य भाषा तो बन गई थी किन्तु बीसवीं शताब्दी का कवि द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता से संतुष्ट न हो सका। विज्ञान की उन्नति के साथ एक ओर तो उसका सम्पर्क विश्व साहित्य से बढ़ रहा था तो दूसरी ओर देश की राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के कारण भावाभिव्यक्ति के लिए उसे पश्चिमी कवियों जैसी स्वतन्त्रता भी न थी। अतः इन नवीन परिस्थितियों में जिस काव्य की रचना हुई उसे छायावाद की संज्ञा प्रदान की गई। छायावादी काव्य में पूर्व रचनाओं से महान अन्तर है। छायावादी कवियों ने अपने काव्य में अमूर्त शृङ्गार एवं प्रकृति प्रेम का विशेष आश्रय लिया है। इसमें भाषा एवं भाव दोनों की सुकुमारता दिखाई पड़ती है। छायावादी कवि शृङ्गार प्रिय हैं किन्तु उसका शृङ्गार स्थूल न होकर सूक्ष्म है। मानव की शृङ्गारप्रियता एवं प्रेम-भावनां झीने रेशमी आवरण में झिलमिला उठी है। शैली के विचार से छायावादी काव्य गीति शैली में लिखा गया है। इस प्रकार भक्तिकाल का मृतप्रायः गीति काव्य छायावादी रचना द्वारा पुनः सप्राण हो उठा।

छायावाद का विकास रहस्यवाद में हुआ। रहस्यवाद हिन्दी काव्य के लिए नवीन नहीं है। कबीर तथा जायसी आदि की रचनाएँ रहस्यवाद के अन्तर्गत ही आती हैं किन्तु आधुनिक रहस्यवादी कविता एवं पूर्ववर्ती रहस्यवादी रचनाओं का अन्तर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। कबीर आदि की रचना अनुभूति प्रधान है किन्तु आज की रचना बुद्धि एवं विचार प्रधान है। यहाँ अनन्त अगोचर परब्रह्म से बुद्धि द्वारा ही सम्बन्ध स्थापित किया जाता है जबकि कबीर आदि की रचना में हृदय की प्रधानता है।

साहित्य की नवीतम प्रवृत्ति 'प्रगतिवादी' नाम से विख्यात है। काव्य का मानव जीवन से सीधा सम्बन्ध जोड़ने के विचार से

साहित्यिक परिस्थिति

साहित्यिक दृष्टिकोण से आधुनिक काल को गद्य काल की संज्ञा दी जा सकती है। हिन्दी काव्य साहित्य का इतिहास अति प्राचीन है। गद्य आधुनिक युग का परिणाम है। फोर्ट विलियम कालेज द्वारा भी खड़ी बोली गद्य का प्रचार बढ़ा। इसी युग में भारतेन्दु तथा उनके मंडल ने अपनी अपूर्व सेवा द्वारा खड़ी बोली को साहित्यिक भाषा के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। द्विवेदी जी ने भाषा को परिष्कृत तथा परिमार्जित कर उसे सबल तथा सशक्त बनाया और अन्य पूर्ववर्ती साहित्यिकों ने हिन्दी साहित्य भण्डार को समृद्ध-शाली बनाने में बड़ा योग दिया।

बीसवीं शताब्दी के पूर्व तक ब्रजभाषा ही काव्य भाषा थी। खड़ी बोली का प्रयोग साहित्य में कम होता था। बीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के अल्पकाल में ही खड़ी बोली गद्य के अतिरिक्त काव्य क्षेत्र में प्रविष्ट हुई। भारतेन्दु खड़ी बोली गद्य के जन्मदाता होते हुए भी ब्रजभाषा को ही काव्य की भाषा मानते थे। खड़ी बोली में उन्होंने कुछ रचना अवश्य की थी किन्तु वह उसकी अनुपयुक्तता प्रदर्शन के निमित्त ही है। द्विवेदी युग में खड़ी बोली में भी काव्य-रचना होने लगी और फलस्वरूप ब्रजभाषा खड़ी-बोली प्रतियोगिता का भी एक समय आया। कालान्तर में प्रगतिशील तत्वों के कारण खड़ी बोली ही विजयनी हुई। ब्रजभाषा और अवधी में भी काव्य रचना होती रही किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि अब खड़ी बोली काव्य सिंहासन पर आरूढ़ हो चुकी थी।

भाषा के साथ ही विचार व्यंजना तथा अभिव्यक्ति प्रणाली में भी परिवर्तन हुआ। भारतेन्दु ने पद रचना कर लुप्त प्रायः गीति-काव्य को पुनर्जन्म दिया। भक्ति युग के सदृश्य काव्य और संगीत का अनुपम योग इस काल में देखने को मिलता है।

छन्दों के क्षेत्र में नवीन प्रयोग भी दिये गए। हरिऔध ने द्रुतविलंबित, शिखरिणी, मालिनी आदि संस्कृत छन्दों का हिन्दी में सफल प्रयोग किया।

रीतिकाल के कवि राजाश्रय में रहा करते थे और अपने आश्रय दाताओं को प्रसन्न करने के निमित्त काव्य रचना करते।

आधुनिक युग तक राजाश्रय नष्ट हो चुके थे और कवि जनता जनार्दन के मध्य आ उपस्थित हुए। सूक्तियों का युग भी समाप्त हो गया। मुक्तक के साथ ही अब प्रबन्ध रचना की ओर भी ध्यान दिया गया। इस युग में अनेक खण्ड तथा कुछ महाकाव्य भी रचे गए। काव्य-जगत में एक नवीन युग का जन्म हुआ। खड़ी बोली काव्य की अनेक प्रवृत्तियों का जन्म इस काल की प्रमुख विशेषता है। भारतेन्दु युग की खड़ी बोली द्विवेदी जी के हाथों सबल बन कर काव्य भाषा तो बन गई थी किन्तु बीसवीं शताब्दी का कवि द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता से संतुष्ट न हो सका। विज्ञान की उन्नति के साथ एक ओर तो उसका सम्पर्क विश्व साहित्य से बढ़ रहा था तो दूसरी ओर देश की राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के कारण भावाभिव्यक्ति के लिए उसे पश्चिमी कवियों जैसी स्वतन्त्रता भी न थी। अतः इन नवीन परिस्थितियों में जिस काव्य की रचना हुई उसे छायावाद की संज्ञा प्रदान की गई। छायावादी काव्य में पूर्व रचनाओं से महान अन्तर है। छायावादी कवियों ने अपने काव्य में अमूर्त शृङ्गार एवं प्रकृति प्रेम का विशेष आश्रय लिया है। इसमें भाषा एवं भाव दोनों की सुकुमारता दिखाई पड़ती है। छायावादी कवि शृङ्गार प्रिय हैं किन्तु उसका शृङ्गार स्थूल न होकर सूक्ष्म है। मानव की शृङ्गारप्रियता एवं प्रेम-भावना झीने रेशमी आवरण में झिलमिला उठी है। शैली के विचार से छायावादी काव्य गीति शैली में लिखा गया है। इस प्रकार भक्तिकाल का मृतप्रायः गीति काव्य छायावादी रचना द्वारा पुनः सप्राण हो उठा।

छायावाद का विकास रहस्यवाद में हुआ। रहस्यवाद हिन्दी काव्य के लिए नवीन नहीं है। कबीर तथा जायसी आदि की रचनाएँ रहस्यवाद के अन्तर्गत ही आती हैं किन्तु आधुनिक रहस्यवादी कविता एवं पूर्ववर्ती रहस्यवादी रचनाओं का अन्तर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। कबीर आदि की रचना अनुभूति प्रधान है किन्तु आज की रचना बुद्धि एवं विचार प्रधान है। यहाँ अनन्त अगोचर परब्रह्म से बुद्धि द्वारा ही सम्बन्ध स्थापित किया जाता है जबकि कबीर आदि की रचना में हृदय की प्रधानता है।

साहित्य की नवीतम प्रवृत्ति 'प्रगतिवादी' नाम से विख्यात है। काव्य का मानव जीवन से सीधा सम्बन्ध जोड़ने के विचार से

कुछ कवियों ने काव्य में नवीन प्रयोग किए हैं। यह नवीन प्रयोग साधारण भाषा, विषय एवं व्यंजना द्वारा हुए हैं। प्रगतिवादी कवि सड़क कूटने वाले मजदूर को अपने काव्य का विषय बनाता है। वह दिन भर के थके, घर लौटते क्लर्क की भावना को उसी की भाषा में जन साधारण तक पहुँचाना चाहता है। इस प्रकार प्रगतिवादी कवि जीवन की वास्तविकता कुरूपता को कल्पना के रंगीन आवरण में छिपाने की अपेक्षा उसे उसी रूप में रख देना चाहता है।

साहित्य क्षेत्र की नवीन प्रवृत्तियों का भ्रमरगीत रचनाओं पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। किन्तु अन्तर्प्रान्तीय और पश्चिमीय सम्पर्क तथा सुधार आन्दोलनों के फलस्वरूप कवियों का दृष्टिकोण विस्तृत अवश्य हो गया। शृंगारिक विषयों के अतिरिक्त अनेक सामाजिक, तथा वैयक्तिक विषय भी काव्य में स्थान पाने योग्य समझे गए। राष्ट्रीय चेतना के कारण जागरण गीतों तथा प्रभातियों का प्रचार हुआ, सुधार आन्दोलनों ने नारी के प्रति रीति युगीन संकीर्ण दृष्टिकोण को बदलने में योग दिया। वह अब पुरुष की केवल भोग्य वस्तु मात्र न रही। यद्यपि शृंगार अब भी काव्य का विषय रहा किन्तु अब परकीया के स्थान पर नारी का आदर्श रूप चित्रित किया जाने लगा। काव्यशास्त्र के नायिका वेद में देश सेविका, समाज सेविका की भी गणना की गई। नारी के मातृत्व की ओर भी कवियों का ध्यान गया।

विज्ञान के सम्पर्क में आने के कारण आज का मानव समस्त वस्तुओं को बौद्धिक तुला पर तोल कर ही ग्रहण करता है। तर्क तथा शंका से पीछा छुड़ाना इसके लिए असम्भव है। अतः आज का साहित्यिक भी पूर्ववर्ती कवियों की अपेक्षा अधिक बौद्धिक हो गया है। यद्यपि भावुकता को पूर्णतः त्याग देना उसके लिए असम्भव है फिरभी भावना की अपेक्षा अधुनिक कवि विचार प्रधान है। साहित्य में आज मनोविज्ञान की प्रधानता है। समसामयिक परिस्थितियों से प्रभावित होने के कारण आधुनिक साहित्यकार पश्चिमी भौतिकवाद के प्रभाव से भी अपने को बचा नहीं सके हैं।

आधुनिक युग की प्रमुख भ्रमरगीत रचनाएँ और उनके रचयिता

आधुनिक युग-विज्ञान का युग है। आज मानव पिछली शताब्दियों से बहुत आगे बढ़ गया है। विज्ञान की उन्नति ने उसे एक

नवीन दृष्टिकोण प्रदान किया। वह सब कुछ बौद्धिक तुला पर तोल कर ही ग्रहण करता—उसका विकास भावुकता से तर्क की ओर हो रहा है। हमारे विचार और धारणाओं में आमूल परिवर्तन हो गया है। काव्य के विषय सीमित क्षेत्र से निकल कर विश्व के उन्मुक्त वातावरण में आ गए किन्तु शताब्दियों पूर्व से चिर प्रवाहित भ्रमर-गीत प्रसंग का आकर्षण इस युग में भी कम न हुआ। मानव बीसवीं शताब्दी में विज्ञान के विविध आविष्कारों में लगा हुआ अपने को पूर्ण यंत्र बना सकने में अभी भी समर्थ न हो सका। अतएव उसका मानव-हृदय आज भी भाव-विभोर हो काव्य की उसी प्रकार कामना करता है। भ्रमरगीत का प्रसंग भी आधुनिक मानव-हृदय को उसी प्रकार रसमग्न करता रहा है जिस प्रकार भक्ति और रीति युग में। फिर भी राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के कारण मनुष्य का दृष्टिकोण बदल रहा था। इस परिवर्तित दृष्टिकोण का प्रभाव आधुनिक भ्रमर-काव्य पर भी स्पष्ट दिखाई पड़ता है। कुछ प्राचीन परम्परा के भक्त ब्रजभाषा तथा पूर्व विचार-धारा के अनुरूप ही इस प्रसंग को अपनाए रहे। आधुनिक काल में इस प्रसंग पर रचना करने वाले कवियों की पर्याप्त संख्या है। कुछ कवियों ने रीतिकाल के कवियों के सदृश ही इस विषय पर एक दो से लेकर दस बारह तक छन्द रचे हैं। अन्य कवियों ने इसका विस्तार से वर्णन किया है। प्रथम श्रेणी के कवियों की रचना का वर्णन गौण कवियों के अन्तर्गत होगा। द्वितीय श्रेणी के कवि रचना-विस्तार के कारण प्रधान कवियों के अन्तर्गत रखे गये हैं। यह वर्गीकरण काव्य-कला के आधार पर नहीं किया गया है वरन् काव्य भांडार के आधार पर ही किया गया है। यहाँ अब प्रमुख रचनाओं की आलोचना प्रस्तुत की जायेगी।

विश्राम सागर (रचनाकाल संवत् १९११)—रघुनाथदास रामसनेही

विश्रामसागर दोहा-चौपाई में लिखा हुआ एक प्रबन्ध काव्य है। इस ग्रन्थ में रामावतार एवं कृष्णावतार का वर्णन है। रचना के विषय में ग्रन्थ के मुख पृष्ठ पर छपा है कि इसमें षट् शास्त्र, अठारह पुराण का मत है और कवि ने सम्पूर्ण कथाओं से आश्रय

लेकर भाषा-उत्थान किया है। भ्रमरगीत का प्रसंग 'कृष्णायन—गोपी उद्धव सम्वाद—नवम अध्याय के अन्तर्गत मिलता है। उपर्युक्त कथन के अनुसार भ्रमरगीत पूर्णतः किसी का अनुवाद नहीं है। उद्धव गोपी सम्वाद के पुरातन प्रसंग में कवि ने कोई परिवर्तन नहीं किया केवल राधा-उद्धव-मिलन का प्रसंग भिन्न रूप में वर्णित है। विष्णुगीत के सदृश ही इसमें भी उद्धव स्वतः राधा से मिलने के लिए वृषभानपुर जाते हैं वहीं मार्ग में गोपियों से भेंट हो जाती है। अन्य प्रसंग पूर्व रचनाओं के अनुरूप ही है।

भ्रमरगीत में हठयोगियों के सिद्धान्तों, क्रियाओं एवं विश्वासों का उल्लेख भी कृष्ण-पत्रिका के माध्यम से किया गया है। कृष्ण का सन्देश सुनाते हुये उद्धव कहते हैं—

तजि कुसंग एकान्त पसीजे। द्वादश संयम नियम करीजै॥
सूक्ष्म भोजन स्वल्प पियासा। करहु त्यागि बसु भोग बिलासा॥
पद्मासन निरमल करि मन का। शोधत रहौ सदा निज तन का॥
पूरक कुंमक रेचक करहू। उलटि ध्यान त्रिकुटी को धरहू॥
सौहं शब्द मांहि चित राखौ। मन ते सकल कामना नाखौ॥
दश प्रकार अनहद धुनि पावौ। कौतुक विविध देखि छकि छावौ॥

अध्याय ९

हे गोपियो! तुम कुसंग छोड़कर नियम संयम पूर्वक जीवन व्यतीत करो। संयमित जीवन के लिये स्वल्प आहार एवं भोग विलास का त्याग आवश्यक है। पद्मासन तथा प्राणायाम द्वारा तन मन की शुद्धि कर त्रिकुटी में उस ब्रह्म का ध्यान लगाओ तभी तुम अनहद नाद का अनुपम सुख प्राप्त कर सकोगी। किन्तु गोपियाँ भली भाँति जानती थीं—पर उपदेश कुशल बहुतेरे—अतः मधुप व्याज से उन्होंने कृष्ण पर व्यंग्य बाण वर्षा आरम्भ करदी। वे बोलीं—

उद्धव श्यामहिं लाज न आवत। तेहि पर दक्ष कहावत॥
हम का ज्ञान जोग लिखि भेजा। आपु रहत कुबरी की सेजा॥

जिस व्यक्ति के 'कथनी और करनी' में महान अन्तर है उसके उपदेश को कौन सुनेगा। तत्कालीन समाज में कितना आडम्बर था उपदेशकों के उपदेश एवं जीवन में कितनी विषमता आ गई थी; इसी

का चित्र गोपियों के कथन में मिलता है। गोपियाँ कृष्ण-कुब्जा-प्रणय एवं योग-संदेश को लक्ष्य कर कहती हैं—

जो गुरु स्वयं कुटुम्ब जाल में फँसे हैं वे शिष्य के फंदों को कैसे काट सकते हैं। जो स्वतः कामनाओं के में वश हैं वे शिष्य की तृष्णा कैसे दूर कर सकते हैं। जो स्वयं अज्ञानी है वह शिष्य को शिक्षित करने में कैसे सफल होगा। वही दशा कृष्ण की है। स्वतः वे कुब्जा के साथ भोगविलास में लीन हैं और हमें योग-संदेश भेज रहे हैं। यदि वे यथार्थ ही हमें समझाना चाहते हैं तो पहले स्वयं ही योगियों का आचरण ग्रहण करें। सत्य तो यह है—

अब नंद नंद भए महाराजा। जो कुछ करै उन्हें सब छाजा॥

यदि ज्ञान का उपदेश दिए बिना तुम्हें चैन नहीं तो काशी चले जाओ। वहीं इसको चाव से सुनने वाले अनेक व्यक्ति मिलेंगे। तुम ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप का ध्यान करने के लिये कहते हो किन्तु कृष्ण ही ब्रह्म है इसे सम्भवतः तुम नहीं जानते। जब जब यह पृथ्वी पाप भार से आकुल हो जाती है तब तब सभी देवता मुनि आदि हरि को पुकारते हैं और उनकी प्रार्थना सुन वही ब्रह्म विश्व-भार हरन करने के निमित्त अवतार लेता है; सगुण रूप धारण करता है। अतः ब्रह्म के निर्गुण सगुण दोनों ही स्वरूपों में से सभी अपनी रुचि अनुसार एक को चुन लेते हैं—यह हृदय की बात है।

यथा विरोचन कुमुद दोउ हैं विराट के नैन।
काहुइ भावत दिवस पति काहुइ शशि में चैन॥

इसी भाव को सूर की गोपियों ने अधिक स्पष्ट रूप में व्यक्त किया है।

ऊधौ मनमाने की बात।
दाख छुहारा छाँड़ि के विष कीरा विष खात।[1]

कर्मयोग एवं प्रेम की चर्चा करती हुई गोपियाँ नंददास की गोपियों की भाँति ही कहती हैं—

कर्म योग तब तक करै जब तक प्रेम न होइ।
प्रेम पाठ पढ़ि क्यों पढ़ै कक्का किक्की सोइ॥

१—पद ४६३९

जीवन की प्रारम्भिक शिक्षा कर्म-योग उसका चरम विकास भक्ति से है। भक्ति प्राप्ति के पश्चात् कर्मयोग की आवश्यकता ही नहीं। प्रेम की अनुभूति सर्व साधारण को सुलभ नहीं इसे तो विरही, दास एवं मित्र ही अनुभव कर सकता है। उद्धव इन तीनों में से किसी भी श्रेणी में नहीं आते अतः भगवान् कृष्ण की परमभक्ति को वे कैसे समझ सकते हैं। यह सुख तो गोपियां को प्राप्त है जो भगवान् की अनन्य भक्ता हैं। प्रेम का निरूपण करती हुई गोपियाँ कहती हैं—हे उद्धव ! तुम न तो विरही हो, न दास, न मित्र। मछली ही वास्तविक विरहिणी है जो जल से बिछुड़ते ही प्राण त्याग देती है। पपीहा ही सच्चा दास है जो स्वांती बूँद के अतिरिक्त अन्य जल नहीं पीता और कमल ही यथार्थ में मित्र कहलाने योग्य है जो सूर्य के अस्त होते ही मुरझा जाता है। हे मधुकर ! हम तो चातक सदृश हैं जो श्याम के सिवाय किसी अन्य को नहीं चाहतीं।

उद्धव से वार्तालाप करते समय गोपियों के अनन्य प्रेम की एक झलक मिलती है। गोपियां जन्म-जन्मान्तर में कृष्ण की ही अनुरागिनी बनने की कामना करती हैं—

या तन को विधि फेरि बनावे। तबहूँ मोहन मोहन लावे ॥
जो त्वचा काढ़ि दुन्दुभी साजै। सोऊ लाल लाल कहि बाजै ॥
गाड़ि देइ मृतिका ह्वै जामें। बिरछ फूल फलऊ रैना में ॥
मुये अंग की है यह रीति। जीवत किमि छूटत है प्रीति ॥

भ्रमरगीत में उद्धव के चरित्र वर्णन में भी थोड़ा परिवर्तन किया गया है। यहाँ उद्धव अहंकारी, हठी, ज्ञानी भक्त के प्रतीक नहीं हैं वरन् वे कृष्ण के संदेश वाहक हैं। यद्यपि ज्ञान के व्याज से उद्धव को ब्रज भेजने का उल्लेख भी इसमें मिलता है। उद्धव परम विनीत की भाँति गोपियों से क्षमा याचना करते हैं कि मैंने जो कुछ ढीठता की है वह कृष्ण की आज्ञा वश ही हुई है। उद्धव की इस नम्रता ने गोपियों के आवेश को शान्त कर दिया। वे उदारतापूर्वक उद्धव की सराहना करने लगीं—

तुम हौ तात सराहन योगा। क्षमा वन्त सब भाँति विशोगा ॥
हम अहीर बहु भांतिन केरे। कहे कठोर वचन बहुतेरे ॥

तुम्हरे भाष न तनकहु आवा। धन्य धन्य जननी जिन जावा॥
उद्धव कृपा श्याम की चाही। निकट दूरि उभय फल आही॥

गोपियों की इस विशाल हृदयता का उल्लेख विष्णुगीत में भी है, किन्तु उनके संताप का वर्णन भागवत के आधार पर ही किया गया है।

विश्रामसागर की विशेषता इसकी वर्णनात्मकता एवं प्रबन्धात्मकता है। इसकी लोकप्रियता का प्रमुख कारण चिरप्रचलित कथा एवं धारा प्रवाह है। वर्णनात्मक कथा के लिए दोहा चौपाई छन्द का चुनाव उपयुक्त ही हुआ है। यद्यपि रचना में अलंकारों का प्रदर्शन नहीं है किन्तु भाव-सारल्य एवं प्रसाद गुण के कारण इसका अभाव खटकता भी नहीं है। ग्रामीण भावव्यंजना सीधे सरल शब्दों में अति स्वाभाविक लगती है। किन्तु यह स्पष्ट है कि काव्य सौन्दर्य की अपेक्षा कवि का ध्यान रचना को जनसाधारण में लोकप्रिय बनाने का अधिक है।

प्रागनि भँवरगीत

प्रागनि कृत भंवरगीत ५४ छन्दों की एक लघु रचना है। कथा का प्रारम्भ कृष्ण संदेश से होता है। कृष्ण माता-पिता की स्मृति से विकल हो उनका कुशल समाचार जानने के निमित्त ही उद्धव को ब्रज भेजते हैं—

आयुस दीन्हों सषा सुजानहिं।
स्यंदन चढ़ौ वृज कौ सुधि रावरौ आनहि।
कैसे हैं जसुदा जननी जिन्ह पालि कियो परवीन।

कुशल समाचार के अतिरिक्त वे माँ के हृदय में अपनी स्मृति को सजीव देखना चाहते हैं। कृष्ण का यह संदेश दुखी माता को सान्त्वना देने के लिए ही कहा गया है। इसमें पुत्र का दुलार भरा है।

सिष निज गाढेका कहियो पालागी।
दोउ भैया की मैया सों कहियो।
मैं हौं तिहारे पै के पौहौ सुरति करत रह्यौ॥ भं० प्रा० २

किन्तु गोपियों को परम्परागत योग तथा ब्रह्मज्ञान का ही संदेश भेजा गया है यद्यपि इस संदेश में भी कृष्ण ने संकेत रूप में गोपियों के प्रगाढ़ प्रेम की महिमा भर दी है।

जोग सनेह सुनाइ त्रियन केर प्रीति रीति लहियौ।
प्रागनि वृजवासिन के हिय को प्रेम सिन्धु थहियौ॥
भँ० प्रा० २

इस संदेश में 'प्रीति रीति लहियौ' तथा 'प्रेम सिन्धु थहियौ' का उल्लेख कर कृष्ण ने इस तथ्य की ओर संकेत कर दिया है कि गोपियाँ जिस प्रेमाभक्ति को पा चुकी हैं उसी प्रीतिरीति को तुम भी ग्रहण करना उनके प्रेमपारावार की थाह लेना सम्भव नहीं है किन्तु सम्भवतः उद्धव इस संकेत को समझ न सके।

उद्धव के ब्रज-प्रवेश तथा राधिका मिलन आदि के प्रसंगों में कुछ मौलिक अन्तर कर दिया है। उद्धव नंद द्वार पर पहुँच कर सर्वप्रथम माता यशोदा से मिलते हैं। वह उनका उचित सत्कार करती हैं किन्तु हृदय का आवेग वे सँभाल न सकीं उनके नयनों से झर-झर अश्रु बहने लगे। वृद्धावस्था में पुत्र का अभाव उन्हें काँटे की भाँति खटकने लगा। सूरदास की यशोदा की भाँति वे उद्धव से बोलीं—

पूछी कुशल राम केशव की नयन नीर भरि आए।
छाँड़ि कानि कन्हैया मेरी मनहु मधुपुरी छाये॥
तीजे पने जहं पूत चाहिएत हौ तो दीन्ह बिसारी।
धाहिहु के नाते नहिं प्रागनि लीन्हें सुधि हमारी॥ भँ०प्रा० ४

जब यशोदा इस प्रकार विकल हो रही थीं उसी क्षण नंद आ गए। उद्धव का प्रेमपूर्वक अभिवादन कर उत्सुकतापूर्वक प्रिय पुत्रों का समाचार पूछने लगे। माता-पिता की इस विकलता को देखकर उद्धव के हृदय में एक भिन्न प्रकार की भावना उत्पन्न हुई किन्तु हृदय गत भावों को उन्होंने प्रकट नहीं किया। उद्धव की इस कल्पना का उल्लेख पूर्ववर्ती भ्रमरगीतों में इस स्थान पर नहीं मिलता—

जिय जिय ऊधौ लागि बिचारी।
करुनामय सरवग्य कहावत बड़े निठुर गिरधारी।
प्रगटन करौ मनहि में राखौ हिय बहुतै दुख पायौ॥
ता पाछे संदेस कान्ह कौ ऊ विनय सुनायौ॥ भँ० प्रा० ६

उद्धव की हृदयगत भावना से यह स्पष्ट हो जाता है कि उद्धव निर्गुण निराकार के अनन्य उपासक न थे। कृष्ण के सर्वज्ञ तथा अन्तर्यामी स्वरूप से भी वे अनभिज्ञ थे। सूरदास के अहंकारी, ब्रह्मज्ञानी तथा कृष्ण को निर्गुण तन-धारी समझने वाले उद्धव से भँवरगीत के उद्धव कुछ रूप में भिन्न हैं। इनमें अहंकार अपेक्षाकृत कम है। ब्रह्मज्ञान तथा योग आदि के प्रति विशेष हठ तथा आग्रह भी उद्धव में नहीं है। वे गोपी राधा तथा कृष्ण के वास्तविक स्वरूप को भी जानते हैं—

इत वे बेद रिचा आपुन ही कहत प्रकट ही भाय।

राधा उद्धव मिलन प्रसंग में भी कवि ने कुछ मौलिक परिवतन किया है। भँवरगीत की यशोदा माँ की कोमलता तथा स्नेह से पूर्ण है। कृष्ण-विरह में वे स्वतः दुखी हैं किन्तु वे यह भी समझती हैं कि राधा भी जलविहीन मीन हो रही है अतः राधा को समझाने के निमित्त वे स्वतः उद्धव को वहाँ भेजती हैं—

पगुधारौ वृषभान भौन लौं समाधान के हेतु।
देखी दसा सकल गोपिन की श्री राधिका समेत॥ भँ० प्रा० ७

गोपी उद्धव सम्वाद का प्रारम्भ भी मार्ग से ही होता है जब कि एक गोपी मार्ग में उद्धव को देखकर उनका परिचय प्राप्त करती है। पूर्ववर्ती गोपियों के सदृश्य भँवरगीत की गोपियाँ ही अधिक मुखर हैं। उद्धव गोपियों के प्रेम को देखकर मन ही मन मुग्ध हो रहे हैं। वे कृष्ण के योग-संदेश तथा गोपियों के प्रेम व्यापार को देखकर विचार करते हैं—

दृढ़ व्रत को प्रताप इति ही उत पठयौ जोग संदेस।
चरचा ही में सिथिल सखा भो होत जात आवेश॥
भँ० प्रा० १२

उद्धव की दशा विचित्र हो रही है किन्तु मित्र का संदेश तो कहना ही है। गोपियों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश देना अनिवार्य है अतः उद्धव गोपियों से कहते हैं कि तुम जिस प्रकार कृष्ण की आराधना करती हो वह उचित मार्ग नहीं है। तुम्हारी उपासना सकाम है–

बैनि काम सकाम भजी तुम रज तम के अनुमान।
बिना भूमि जल पहिन ऊपर चहत जमायो धान॥
भँ० प्रा० १३

कृष्ण के सच्चे स्वरूप को जानने के लिए उन्हें सत्य भाव से भजो अन्यथा तुम्हें प्रभु की प्राप्ति न हो सकेगी।

करो प्रधान सतो गुण सुन्दरि धरो ज्योति को ध्यान।
प्रागनि तो प्रभु भले पाइहो जो सिषि हों यहु ज्ञान॥
भँ० प्रा० १३

गोपियों को उद्धव की यह शिक्षा रुचिकर न लगी। वे सरल भाव से बोलीं—हे उद्धव! ब्रज की तो राह ही निराली है। यहाँ वेद विहित कार्य का तो स्वयं सर्वज्ञ गिरिधारी ने ही उल्लंघन किया है। यज्ञ-भाग को छोड़कर उन्होंने जूठन खाई थी यह तो सर्वविदित ही है। इसके अतिरिक्त उनके गुप्त कार्यों को कौन समझ सकता है। उस सुख के लिए तो देवगण भी लालायित रहते हैं। उस दुर्लभ सुख को रास रसिक ही समझ सकता है। विष कीट अमृत के स्वाद को क्या जाने। नयन विहीन रूप-सौन्दर्य को नहीं देख सकता, बधिर शब्द सुख से अभिज्ञ है और गूँगा वाणी का आनन्द नहीं जान सकता। उसी प्रकार जब तक विरह बाण से हृदय नहीं विंधता तब तक प्रेम-पीड़ा की मीठी कसक का अनुभव संभव नहीं। उद्धव तुम्हें वह सौभाग्य प्राप्त नहीं। ब्रज के तो पशु पक्षी, द्रुमलताएँ जिस किसी ने कृष्ण के संयोग सुख का अनुभव किया है वे सभी विरही हैं। कृष्ण के चारु चरित्र पर मुक्ति का सुख भी न्यौछावर है। उनकी मुरली की मधुर तान से सुक सनकादिक मोहित हो जाते हैं। हमने तो उनके मधुर स्वर पर अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया है।

भँवरगीत की गोपियाँ नंददास की गोपियों की भाँति बाद-विवाद में पटु तथा दर्शन शास्त्र की पंडिता नहीं हैं। वे गाँव की

गोपिकाएँ अपने सरल तथा भोले विचारों द्वारा ही उद्धव का विरोध करती हैं। हास परिहास, तथा व्यंग्य में वे सूर की गोपियों से मिलती हैं यद्यपि इनके व्यंग्य अधिक तीखे नहीं हैं। उद्धव की योग-चर्चा, कुब्जा-प्रणय और कृष्ण के स्याम वर्ण को लेकर गोपियों ने सुन्दर व्यंग्य किये हैं।

हास-परिहास तथा व्यंग्य एवं उपालम्भ से विरही की विरह भावना तीव्र ही होती है। गोपियों की भी यही दशा है। व्यंग्य कथन के उपरान्त वे दीन बन योग-चर्चा को छोड़ देने का आग्रह करती हुई पूछती हैं—

मधुकर कब अइहैं गोपाल ?
जोग सोग की बात रहन दे इहि चरचा कछु चाल।
कब मोहन फिरि रास रचेंगे श्री जमुना के कूल,
सेन हेत कब तल्प रचिहिंगे तोरि तोरि द्रुम फूल।
दान गली कब दान मागि है, कब करिहैं बकवाद,
गोधन संग साँझ कब अइहै करत मुरलिका नाद।
ऊधौ वह सुख बहुरि होइगौ जब अइहै गोपाल,
प्रानिन तब कूबरी सौति कौ हिय मिटै को साल।
वह सुख बहुरि होइगौ जब अइहैं गोपाल।

भँ० प्रा० १८

किन्तु उद्धव अपनी विपरीत ज्ञान-चर्चा इतनी सरलता से नहीं छोड़ सकते और गोपियाँ उसे किसी भी भांति ग्रहण करने में असमर्थ हैं। संसार के समस्त कार्य नियमानुकूल होते हैं यदि उनमें परिवर्तन सम्भव हो तो गोपियाँ भी कृष्णभक्ति छोड़कर निर्गुण ब्रह्म का ध्यान कर सकेंगी। अपने मत की पुष्टि में गोपियाँ प्रतिदिन के जीवन से ही अनेक उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। गोपियाँ नारी स्वभाव की सहज दुर्बलता नहीं त्याग सकतीं। सपत्नी की कटु कल्पना को वे आधुनिक सुधारवाद की खराद पर मधुर नहीं बना सकीं। वे कहती हैं—

नंदलाल कुबिजा तजी कब सुनबी यह कान। भँ० प्रा० दोहा ८

वे विपत्ति-काल में भाग्यवादी बन गई हैं। कृष्ण-कुब्जा का संयोग उनके इस विचार को अधिक दृढ़ कर रहा है। सब कुछ भाग्य का ही खेल है। भाग्य को दोष देती हुई वे कहती हैं—

रौवे रूप कहू परौ भोगहि भुरौटे भाग। (भँ० प्रा० दोहा ६

गोपियों की अनन्य प्रीति का उद्धव पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। वे सोचने लगे कृष्ण ने ब्रज आने की आज्ञा देकर मेरा परम उपकार किया। वे गोपियों को प्रणाम कर उनका गुणानुवाद करने लगे। गोपियों को गुरु रूप में ग्रहण करने का उल्लेख भी भँवरगीत में मिलता है—

करि गुरु गोपी ऊधौ जान।
गहे पाँव दीनी परिकरमा, पूजीं स्याम समान ॥ भँ० प्रा० ३०

गोपियों के चरित्र चित्रण में मानव मनोविज्ञान का भी सुन्दर विश्लेषण मिलता है। मानव का यह स्वभाव है कि जब कोई उसका विरोध करता है उस क्षण वह भी अधिक कठोर बन जाता है। आत्मश्लाघा तथा अहम भाव की प्रधानता हो जाती है किन्तु यदि कोई उसकी प्रशंसा करे उस समय वह संकुचित हो शील सौजन्य से युक्त अपने को लघु रूप में ही व्यक्त करता है। गोपियां की भी यही दशा है उद्धव पर व्यंग्य करने वाली गोपियाँ आत्म-प्रशंसा सुन संकुचित हो गईं—

कहौ हम कवन बड़ाई जोग।
जो हम करी स्याम संगति मिलि तिन्ह की निंदा मानत लोग ॥
पति छाँड़े पितु मातु भ्रात सुत तनन बिसारी चीर।
वेद उलंघ करी है जैसी तैसी भुगतन पीर ॥
भँ० प्रा० ३६

उद्धव मथुरा प्रत्यागन का वर्णन भी भँवरगीत में अपेक्षाकृत विस्तार से हुआ है। गोपियों, राधा तथा यशोदा के विरह का वर्णन उद्धव ने बड़े ही सरल तथा प्रभावशाली शब्दों में किया है—

देखी दशा सकल गोपिन्ह की श्री राधिका समेत।
मन माधो के तीर मधुपुरी इहाँ रहत तन छीन ॥
ऐसी ह्वै जो जियत आजु लौं वचन अवधि आधीन ॥

\+ + + +

देखी जाइ जसोदा मैया बाबा नंद तिहारे।
लोचन दीन हीन दोऊ जन नाहि जीवत नहिं मारे॥
भँ० प्रा० ४५

राधा की उन्मत दशा का वर्णन करते करते उद्धव स्वतः मूर्च्छित होकर गिर पड़े। कृष्ण ने पीताम्बर से उनके अश्रु पोंछ उन्हें सचेत किया। उद्धव के हृदय में संशय की तरंगें उठ रही थीं। कृष्ण का द्विविध स्वरूप उनकी बुद्धि के परे था। वे ब्रजवासियों का पक्ष लेते हुये बोले—

कौन पुण्य ते पूत भये हरि कौन पाप तें सोग।
प्रागनि नंद जसोदा की निन्दा मानत लोग॥ भँ० प्रा० ५१

उद्धव के इस भ्रम निवारण के निमित्त कृष्ण को स्वरूप दर्शन कराने की आवश्यकता नहीं हुई। उन्होंने अपनी मधुर वाणी से ही उद्धव के समस्त भ्रम दूर कर दिए। कृष्ण ने उद्धव से कहा, "हे उद्धव ! मन शरीर से भिन्न नहीं है तुम यह विश्वास रखो। जहाँ प्रेम है वहीं मैं निरंतर निवास करता हूँ। गोपी मेरा अर्द्धाङ्ग है। मैं पुरुषोत्तम रूप घट-घट व्यापी हूँ और मेरी स्वाँस वेद हैं ये गोपियाँ वेदों की ऋचाएं हैं। मेरा उनका सम्बन्ध सिन्धु तरंग सदृश है। इन गोपियों की महिमा क्या कही जाय इनका चरित्र गान ही मानव को भव-बंधन मुक्त करा सकता है।"

काव्य के दो पक्ष हैं—भाव पक्ष एवं कला पक्ष। भँवरगीत के भाव पक्ष पर ऊपर विचार किया गया है। भँवरगीत का कला पक्ष अधिक समृद्ध नहीं है। प्रागनि ने पद तथा दोहा सोरठा छन्दों में इसकी रचना की है। गीतात्मकता के साथ ही इसमें प्रवन्धात्मकता का भी समन्वय है। कवि ने नंददास की तर्कपद्धति को भी दोहा सोरठा छन्दों में अपनाने का प्रयत्न किया है किन्तु भँवरगीत की गोपियाँ अपने वाद-विवाद में नंददास की गोपियों से पूर्णतः भिन्न हैं।

भाव-व्यंजना के लिए कवि ने उपमा, उत्प्रेक्षा एवं दृष्टान्त आदि कुछ ही अलंकारों का प्रयोग किया है। भँवरगीत की रचना जिस भाषा में हुई है वह ब्रज का अति साधारण रूप है। साहित्यिक, परिष्कृत एवं परिमार्जित ब्रजभाषा का दर्शन इसमें दुर्लभ है। मुहावरों

का प्रयोग कम ही किया गया है। इसमें प्राचीन शब्दों तथा वर्णों का प्रयोग भी स्थान स्थान पर मिलता है। दो भिन्न प्रतिलिपियों में भी अन्तर होने से भाषा का वास्तविक स्वरूप समझना कठिन हो गया है। बीसवीं शताब्दी की रचना होते हुये भी भँवरगीत युगीन प्रभाव से सर्वथा मुक्त है। भाव व्यंजना एवं शैली के विचार से यह भक्तिकालीन रचनाओं के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं। प्रागनि कवि की यह रचना सम्पादन एवं प्रकाशन की अपेक्षा रखती है।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र

हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल भारतेन्दु के उदय से ही आरम्भ होता है। भारतेन्दु हिन्दी साहित्य में नव जागरण का संदेश लेकर आए। बहुमुखी प्रतिभा के कारण वे देश की तत्कालीन आवश्यकताओं को पूर्णतः समझ सके, फलतः आपने खड़ी बोली में गद्य की रचना कर इसे प्रौढ़ विचार भार वाहन करने योग्य बनाया। साहित्य में अनेक नवीन विषयों को अपना कर रीतिकालीन संकुचित काव्य-क्षेत्र को भी उन्होंने विस्तृत किया। गद्य क्षेत्र में भारतेन्दु पूर्णतः आधुनिक थे किन्तु काव्य-क्षेत्र में उनके विभिन्न व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं। एक ओर तो देश-प्रेम और मातृभाषा पर रचना करते हुये वे आधुनिक विचारधारा के पोषक दिखाई पड़ते हैं तो कभी शृङ्गारिक रचना द्वारा मध्ययुगीन रसिक कवि रूप में और कभी भक्तिपूर्ण पदावली द्वारा सूर तथा मीरा आदि की परम्परा से सम्बन्ध जोड़ते हुए जान पड़ते हैं। भारतेन्दु ने यद्यपि खड़ी बोली में भी कुछ काव्य रचना की है तथापि भक्ति—प्रेम और शृङ्गार की भावमयी रचना के लिए वे ब्रजभाषा को ही अधिक उपयुक्त समझते हैं। उन पर भक्ति तथा शृङ्गार काल का मिश्र प्रभाव दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि एक ओर तो वे कवित्त सवैया की रचना करते हैं तो दूसरी ओर भक्ति भाव से पूर्ण पदों का भी उनके काव्य में अभाव नहीं।

भारतेन्दु मूलतः वैष्णव हैं। वे गोस्वामी गिरधर जी महाराज की सुपुत्री तथा गोपाल मन्दिर की अधिष्ठात्री श्यामा बेटी जी के शिष्य तथा युगल मूर्ति के उपासक थे। उनका यह पद—

हम चाकर राधा रानी के।
ठाकुर श्री नन्दनन्दन के वृषभानुलली ठकुरानी के। पृ० ६५ पद ११

इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। भक्ति तथा प्रेम संबन्धी रचना की बहुलता इसका स्पष्ट प्रमाण है। यहां पर भारतेन्दु की भक्ति के भ्रमरगीत सम्बन्धी रचनाओं पर ही विचार किया जायेगा। भारतेन्दु के भ्रमरगीत सम्बन्धी छंद पद, कवित्त तथा सवैया के रूप में समस्त रचनाओं में बिखरे पड़े हैं। भारतेन्दु की समस्त काव्य रचना मुक्तक रूप में ही है अतः इस प्रसंग का भी विधिवत् उल्लेख नहीं है। विभिन्न रचनाओं में बिखरी सामग्री को देखकर कहा जा सकता है कि ये एक काल की रचनायें नहीं हैं। भक्ति के आवेश में जब कभी वह भाव विभोर हो उठे हैं तभी इन पदों की रचना हुई है इसमें कोई संदेह नहीं है।

भारतेन्दु ने परम्परागत भ्रमरगीत प्रसंग के वर्णनात्मक अंश को पूर्णतः छोड़ दिया है। कथानक की कल्पना संकेतमात्र से ही की जा सकती है। सत्य तो यह है कि विरहाभिव्यक्ति के निमित्त ही उन्होंने इस प्रसंग को ग्रहण किया है। अतः उद्धव गोपी संवाद तथा भ्रमर उपालम्भ पर ही पद उपलब्ध हैं। भ्रमरगीत सम्बन्धी ये रचनाएँ उद्धव आगमन के पूर्व तथा पश्चात् से सम्बन्धित हैं। कृष्ण की प्रतीक्षा करती हुई संदेश से भी निराश गोपियाँ कहती हैं—

अरे कोउ कहौ संदेसौ श्याम कौ। पृ० ५८५ पद ३३

कभी पूर्व स्मृति करती हुई वे दुखी होती हैं—

याद परें वे हरि की बतियाँ
जो बन कुंजन विहरत मधुरी कहीं लाइके छतियाँ।
कहँ वे कुंज कहाँ वे खग-मृग कहँ वे बन की पतियाँ,
'हरिचंद' जिय सूल होत है लखि वही उंजरी रतियाँ।
पृ० ५८४ पद २८

इसी भांति कभी वे चिन्ता करतीं, कभी पछतातीं तो कभी मर्मभेदी पीड़ा से वे रो रोकर कहतीं—

कोउ न बटाऊ मेरी पीर को।[1]

१—पद २९, देखिये ३० प्रेम फुलवारी

इन 'उरझोहैं' नैन के कारण वे अत्यधिक दुखी हैं। सूरदास के सदृश ही भारतेन्दु जी ने भी नेत्रों पर अनेक सुन्दर पद रचे हैं।[1]

भारतेन्दु ने विरह की अनेक दशाओं का सरस वर्णन किया है। विरह के कारण राधा अपनी सुधबुध भूल गई हैं। वह कृष्ण का ध्यान करते-करते स्वयं कृष्ण-रूप बन गईं उनकी तन्मयता का वर्णन भारतेन्दु ने इस प्रकार किया है—

राधे भईं आपु घनश्याम।
आपुन को गोविन्द कहत है छाँड़ि राधिका नाम।
वैसेहु झुकि-झुकि के कुंजन में कबहुँक बेनु बजावै।
कबहुँ आपनो नाम लेइ के राधा-राधा गावै।

पृ० ६५६ पद २

राधा सदृश ही अन्य गोपियों की अवस्था है जब तक वे अपने को भूली रहती हैं तभी तक वे जीवन के कार्य कर सकती हैं किन्तु कृष्ण की स्मृति होते ही वे विरह से विकल होने के कारण सर्वथा अयोग्य हो जाती हैं।[2]

विरह के अन्तर्गत उद्दीपन विभावों के वर्णन में भी हरिश्चन्द्र सूरदास की श्रेणी में दिखाई देते हैं। वर्षाऋतु के आगमन को देखकर गोपियों को अपना अभाव द्विगुणित जान पड़ता है। कुब्जा के सुख-संयोग की कल्पना मिलन कामना को और भी तीव्रतर बना देती है। हरिश्चन्द्र के वर्षावर्णन में उनकी निजी मौलिकता है—अलंकारिकता से रहित-भावनाओं का इसमें सुन्दर चित्रण है। रिमझिम करती काली घटाओं को देखकर विरहिणी कब तक शान्त रहे। उसे जान पड़ता है ये बादल भी उसकी असहायावस्था देखकर आ पहुँचे हैं—

सखि ये बदरा बरसन लागे री।
मोहिं मोहन बिनु जानि-जानि,
झुकि झुकि के सरसन लागे री।
हम उन बिनु अति ब्याकुल डोलें,
मुख सौं हाय पिया कहि बोलें,
प्रान आइ अटके नैनन में तेरे दरसन लागे री।

१—पद ४२, ४३, ४४ प्रेम फुलवारी
२—पद ३६ ,,

सुनि-सुनि के संयोग कुबिजा को, करि के याद बिछुरिबौ बाको,
लखि झमकनि बूंदनि की मेरे जियरा हरसन लागे री।
हरिचंद नहिं बरसत पानी, बिरह अगिनि को घृत सम जानी,
कहा करें कित जाइं सेज सूनी लखि तरसन लागी री।
पृ० ११४ पद १३

भारतेन्दु ने भ्रमरगीत प्रसंग में भ्रमर का उल्लेख केवल प्रतीक रूप में ही किया है। अतः भ्रमर सम्बन्धी दो ही पद उपलब्ध हैं—प्रथम पद में विरह पीड़ा से अनजान यौवन में मदमस्त भँवर के व्याज से कृष्ण को उपालम्भ दिया गया है, द्वितीय में रस के लोभी भ्रमर पर अविश्वास करते हुये कृष्ण पर अप्रत्यक्ष रूप से व्यंग्य किया गया है—[1]

भौंरा रे रस के लोभी तेरो का परमान।
तू रस मस्त फिरत फूलन पर करि अपने मुख गान॥
इत सों उत डोलत बौरानौ किए मधुर मधुपान।
'हरिचन्द' तेरे फन्द न भूलूं बात परी पहिचान॥
पृ० १६१ पद ६४

उद्धव आगमन के पश्चात की रचनायें अपेक्षाकृत कम हैं। उद्धव के जोग संदेश के खंडन में गोपियाँ अधिक मुखर नहीं दिखाई पड़तीं। जोग की चर्चा चलते ही वे कहने लगती हैं—

ऊधौ जो मिलाओ पियारे को हमहिं सुनाओ न जोग।
हम नारी जोग का जानै हो हमरे लैखे सौ रोग॥
पृ० ४६३ पद २२

किन्तु उद्धव पर इसका प्रभाव नहीं पड़ता, वे अपना संदेश सुना ही देते हैं। तब उद्धव की हँसी उड़ाती हुई गोपियाँ अपने

१— सजन तेरी मुख देखे की प्रीति।
तुम अपने जोवन मदमाते कठिन विरह की रीति।
जहँ मिलत तहँ हँसि हँसि बोलत गावत रस के गीत।
'हरीचन्द' घर घर के भौंरा तुम मतलब के मीत॥

अनन्य प्रेम का संकेत करती हैं।[1] किन्तु सम्भवतः उद्धव अपनी चर्चा को इतनी शीघ्र समाप्त नहीं करना चाहते तभी इससे ऊबी हुई गोपियाँ अत्यन्त सरलता से कहती हैं—

पिय सों प्रीति लगी नहिं छूटै।
ऊधौ चाहौ सो समझाओ अब तौ नेह न टूटै॥
सुन्दर रूप छोड़ि गीता को ज्ञान लेइ को कूटै।
'हरीचन्द' ऐसो को मूरख सुधा त्यागि विख लूटै॥
पृ० ५८६, पद ३६

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने यद्यपि व्यंग्य पर अधिक नहीं लिखा है किन्तु जहाँ कहीं भी उन्होंने इस प्रसंग को छुआ है वहाँ वे किसी से पीछे नहीं हैं। कुब्जा को आधार मानकर कृष्ण तथा उद्धव पर व्यंग्य करती हुई एक गोपी का कितना सुन्दर कथन है—

छाँड़ि कै मोहि गए मथुरा कुबरी तहँ जाय भई पटरानी।
जो सुधि लीनी तो जोग सिखायो भए हरिचंद अनूपम ज्ञानी॥
गोप सो जो पै भए रजपूत लड़ी किन जोड़ के आपुनैं जानी।
मारत हौ अबलागन को तुम याही में वीरता आय खुटानी॥
पृ० १४७ पद ७

भारतेन्दु काव्य के इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि परम्परागत इस प्रसंग में विचारधारा की दृष्टि से भारतेन्दु की कोई मौलिक देन नहीं। यह सत्य है कि जहाँ तक भ्रमरगीत प्रसंग का सम्बन्ध है वे अपनी पूर्व परम्परा–शृंगारिक परम्परा की अपेक्षा भक्तिकालीन परम्परा के अधिक निकट हैं। उनके कुछ पद तो सूरदास के पदों का आनन्द देते हैं। उद्धव से अपनी विवशता प्रकट करती हुई जब गोपियाँ कहती हैं—

१— ऊधौ जू सूधौ कहौ वह मारग।
ज्ञान की तेरे जहाँ गुदरी है।
कोउ नहीं सिख मानिहैं ह्याँ इक
श्याम की प्रीति प्रतीत खरी है।
यै ब्रजबाला सबै इक सी
हरिचन्द जू मंडली ही बिगरी है।
एक जो होय तों ज्ञान सिखाइये
कूप ही में यहाँ भांग परी है।

ऊधौ जो अनेक मन होते।
तौ इक श्याम सुन्दर को देते इक लै जोग संजोते॥
एक सों सब गृह-कारज करते एक सों धरते ध्यान।
एक सों श्याम रंग रंगते तजि लोक लाज कुल कान॥
को जप करै जोग को साधै को पुनि मूँदे नैन।
हिये एक रस श्याम मनोहर मोहन कोटिक मैन॥
ह्याँ तौ हुतौ एक ही मन सो हरि लै गये चुराई।
हरीचन्द कोइ और खोजि के जोग सिखावहु जाई॥
पृ० ६५ पद ६८

तो सूरदास के—

ऊधौ मन न भए दस बीस
× × ×
ऊधौ मन तौ एकहि आहि

आदि पद स्वतः स्मरण हो आते हैं। विरह व्यंजना के विचार से भारतेन्दु सूर काव्य का ही अनुसरण करते दिखाई पड़ते हैं किन्तु व्यंग्य तथा उपालम्भ में सूरदास सदृश तीखेपन का उनकी रचनाओं में अभाव है। इसका एक कारण यह भी है कि उन्होंने इस पर अति अल्प रचना की है।

भाषा तथा शैली

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने यद्यपि भ्रमरगीत प्रसंग में किसी नवीन विचारधारा को जन्म नहीं दिया किन्तु भाषा तथा शैली में उन्होंने अवश्य नवीनता का परिचय दिया। अभी तक भ्रमरगीत की भाषा परम्परागत ही थी। भारतेन्दु ने भी इसी काव्य भाषा को स्वीकार किया किन्तु कुछ परिष्कार के साथ भारतेन्दु के पूर्व ब्रजभाषा में काव्य के परम्परागत स्वरूप का ही प्रयोग होता था। अनेक रूढ़ शब्दों के साथ ही बोलचाल से उठे हुये अनेक शब्द भाषा की दुरूहता को बढ़ाते थे। इसके अतिरिक्त भाषा का अलंकारिक प्रयोग भी भाषा माधुय को कम करने में ही सहायक हुआ था। भारतेन्दु ने इन सभी बातों पर विचार कर ब्रजभाषा के प्रचलित रूपों का प्रयोग कर इसे सरस, सरल तथा सजीव बना दिया है इनकी अलंकार विहीन भाषा भी मर्मस्पर्शी तथा भाव व्यंजना में समर्थ है। भ्रमरगीत

प्रसंग भाषा की सरलता के कारण ही इतना सरस हो सका है। यहाँ पर एक उद्धरण से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जायेगा। कृष्ण मिलन की आशा से पूर्ण निराश गोपी उद्धव से कह रही हैं—

ऊधौ अब वे दिन नहिं ऐहैं,
जिन में श्याम संग निसि वासर,
छिन सम बिलसि बितै हैं।
वह हंसि दान मांगनौ उनको,
अब हम लखन न पै हैं।
जमुना न्हात कदम चढ़ि छिपि अब,
हरि नहिं चीर चुरै हैं।
वह निसि शरद दिवस बरखा के,
फिर बिधि नाहिं फिरै हैं।
वह रस-रास हंसन-बोलन हित,
हम छिन छिन तरसै हैं।
वह गलबाँहीं दे पिय बतियाँ,
अब नहिं सरस सुने हैं।
हरीचंद तरसत हम मरहिं,
तऊ न वे सुधि लैहैं। पृ० ६१६ पद ४८

उपर्युक्त पद में सरल भाषा द्वारा कवि गोपी के नैराश्य जनित पीड़ा को व्यक्त करने में जितना सफल हुआ उतना सम्भवतः अलंकारिक भाषा द्वारा न हो सकता। अंतिम पंक्ति में तो उसके भग्न हृदय को उन्मुक्त रूप में रख देता है।

भाषा को सजीव बनाने के लिए मुहावरों का भी प्रयोग किया जाता है। भारतेन्दु ने भी अपनी भाषा में मुहावरे तथा लोकोक्तियों का सुन्दर प्रयोग कर भाषा को प्रौढ़ता प्रदान की है। गोपियाँ कृष्ण के कुब्जा-प्रणय को सुनकर बहुत कुछ सोचती हुई अंत में अपने भाग्य को ही दोष देती हैं और यह भी स्वाभाविक। जब हमें कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं दिखाई पड़ता तो हम सब कुछ विधि लिपि फल ही मान बैठते हैं। इसी भाग्यवादिता को मुहावरे के प्रयोग द्वारा गोपियाँ कितने सुन्दर ढंग से व्यक्त करती हैं।

कुबजा जग के कहा बाहर है नंदलाल ने जा उर हाथ धर्यौ।
मथुरा कहा भूमि की भूमि नहीं जहँ जाय के प्यारे निवास कर्यौ।
'हरिचंद' न काहू को दोष कछू मिलि है सोई भाग में जो उतर्यौ।
सबको जहाँ योग मिल्यो वहाँ हाय वियोग हमारे ही बाँटे पर्यौ।
पृ० १४८ पद १४

इस वियोग को ग्रहण करने के अतिरिक्त कोई चारा ही नहीं जो वस्तु बाँट में पड़ी है उसे तो स्वीकार करना ही होगा।

गीतिकाव्य

भ्रमरगीत का प्रारम्भ गीतिकाव्य द्वारा हुआ था। सूर आदि कवियों ने इस प्रसंग पर अत्यन्त सुन्दर गीतों की रचना-कर इस शैली को अमर कर दिया है। भक्ति काल का गीतिकाव्य परिस्थितिवश रीतिकाल में लुप्त प्रायः हो गया। अतः शृंगारी कवियों ने कवित्त सवैया की शैली को अपनाया। आधुनिक युग में इस मृतप्रायः रीतिकाव्य को पुनर्जीवन दान करने का श्रेय भारतेन्दु बाबू को ही है। आपने पद शैली में मनमोहन मुरलीधर की आराधना कर पुनः इसे काव्य जगत में प्रतिष्ठित किया है। यद्यपि रीतिकालीन प्रभाव के कारण वे कवित्त सवैया का मोह भी न छोड़ सके। भारतेन्दु के पद विभिन्न राग रागनियों में हैं किन्तु कहीं कहीं वे लोकगीत के रूप में भी दिखाई पड़ते हैं।

मथुरा के देसवाँ से भेजलें पियरवां रामा।
हरि हरि ऊधौ लाए जोगवा की पाती रे हारी।
सब मिलि आओ सखी सुनौ नई बतियाँ रामा।
हरि हरि मोहन भए कुबरी के संघाती रे हारी।
छोड़ि घर बार अब भसम रमाओ रामा।
हरि हरि अब नहिं ऐहैं सुख की राती रे हारी।
अपने पियरवां अब भए हैं पराए रामा।
हरि हरि सुनत गुड़ओ सब छाती रे हारी॥
पृ० ८४१ पद ४५

ये गीत प्रसि कजली तर्ज का है।

प्रसंग भाषा की सरलता के कारण ही इतना सरस हो सका है। यहाँ पर एक उद्धरण से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जायेगा। कृष्ण मिलन की आशा से पूर्ण निराश गोपी उद्धव से कह रही है—

ऊधौ अब वे दिन नहिं ऐहैं,
जिन में श्याम संग निसि वासर,
छिन सम विलसि बितै हैं।
वह हंसि दान मांगनो उनको,
अब हम लखन न पै हैं।
जमुना न्हात कदम चढ़ि छिपि अब,
हरि नहिं चीर चुरै हैं।
वह निसि शरद दिवस बरखा के,
फिर विधि नाहिं फिरै हैं।
वह रस-रास हंसन-बोलन हित,
हम छिन छिन तरसै हैं।
वह गलबाँहीं दे पिय बतियाँ,
अब नहिं सरस सुनै हैं।
हरीचंद तरसत हम मरहिं,
तऊ न वे सुधि लैहैं। पृ० ६१६ पद ४८

उपर्युक्त पद में सरल भाषा द्वारा कवि गोपी के नैराश्य जनित पीड़ा को व्यक्त करने में जितना सफल हुआ उतना सम्भवतः अलंकारिक भाषा द्वारा न हो सकता। अंतिम पंक्ति में तो उसके भग्न हृदय को उन्मुक्त रूप में रख देता है।

भाषा को सजीव बनाने के लिए मुहावरों का भी प्रयोग किया जाता है। भारतेन्दु ने भी अपनी भाषा में मुहावरे तथा लोकोक्तियों का सुन्दर प्रयोग कर भाषा को प्रौढ़ता प्रदान की है। गोपियाँ कृष्ण के कुब्जा-प्रणय को सुनकर बहुत कुछ सोचती हुई अंत में अपने भाग्य को ही दोष देती हैं और यह भी स्वाभाविक। जब हमें कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं दिखाई पड़ता तो हम सब कुछ विधि लिपि फल ही मान बैठते हैं। इसी भाग्यवादिता को मुहावरे के प्रयोग द्वारा गोपियाँ कितने सुन्दर ढंग से व्यक्त करती हैं।

कुबजा जग के कहा बाहर है नंदलाल ने जा उर हाथ धर्यौ।
मथुरा कहा भूमि की भूमि नहीं जहँ जाय के प्यारे निवास कर्यौ।
'हरिचंद' न काहू को दोष कछू मिलि है सोई भाग में जो उतर्यौ।
सबको जहाँ योग मिल्यो वहाँ हाय वियोग हमारे ही बाँटे पर्यौ।
पृ० १४८ पद १४

इस वियोग को ग्रहण करने के अतिरिक्त कोई चारा ही नहीं जो वस्तु बाँट में पड़ी है उसे तो स्वीकार करना ही होगा।

गीतिकाव्य

भ्रमरगीत का प्रारम्भ गीतिकाव्य द्वारा हुआ था। सूर आदि कवियों ने इस प्रसंग पर अत्यन्त सुन्दर गीतों की रचना-कर इस शैली को अमर कर दिया है। भक्ति काल का गीतिकाव्य परिस्थितिवश रीतिकाल में लुप्त प्रायः हो गया। अतः शृंगारी कवियों ने कवित्त सवैया की शैली को अपनाया। आधुनिक युग में इस मृतप्रायः रीतिकाव्य को पुनर्जीवन दान करने का श्रेय भारतेन्दु बाबू को ही है। आपने पद शैली में मनमोहन मुरलीधर की आराधना कर पुनः इसे काव्य जगत में प्रतिष्ठित किया है। यद्यपि रीतिकालीन प्रभाव के कारण वे कवित्त सवैया का मोह भी न छोड़ सके। भारतेन्दु के पद विभिन्न राग रागनियों में हैं किन्तु कहीं कहीं वे लोकगीत के रूप में भी दिखाई पड़ते हैं।

मथुरा के देसवाँ से भेजलें पियरवां रामा।
हरि हरि ऊधौ लाए जोगवा की पाती रे हारी।
सब मिलि आओ सखी सुनौ नई बतियाँ रामा।
हरि हरि मोहन भए कुबरी के संघाती रे हारी।
छोड़ि घर बार अब भसम रमाओं रामा।
हरि हरि अब नहिं ऐहैं सुख की राती रे हारी।
अपने पियरवां अब भए हैं पराए रामा।
हरि हरि सुनत गुड़ओ सब छाती रे हारी॥
पृ० ८४१ पद ४५

ये गीत प्रसि कजली तर्ज का है।

गीत के अन्य रूप लावनी का भी प्रयोग भारतेन्दु ने किया है किन्तु लावनी के प्रयोग में वे अधिक मार्मिक नहीं हो सके—

करि निठुर श्याम सौं नेह सखी पछताई।
उस निर्मोही की प्रीति काम नहिं आई।
उन पहिले आकर हमसे आँख लगाई।
करि हाव भाव बहु भांति प्रीत दिखलाई।
ले नाम हमारा बंसी मधुर बजाई।
अब हमें छोड़ के दूर बसे जदुराई।
कुबरी ने मोहा रहे वहीं बिलमाई।
उस निरमोही की प्रीति काम नहीं आई। पृ० १६५ पद १

किन्तु जहाँ वे शुद्ध गीत काव्य को लेकर चले हैं वहाँ उसका माधुर्य बढ़ गया है। इस भाँति भारतेन्दु द्वारा ही भ्रमरगीत की भाषा शैली में परिवर्तन आरम्भ होता है।

हरिविलास—विष्णु गीत

विष्णु गीत बीसवीं शताब्दी की रचना होते हुये भी भक्ति-युगीन है। हरिविलास ने रचना के सम्बन्ध में स्वतः लिखा है कि यह सूरसागर के आधार पर निर्मित है। विष्णुगीत विष्णु के दशावतार की कथा है। कृष्ण कथा के साथ ही भ्रमरगीत का प्रसंग भी इसमें विस्तार से वर्णित है। जहाँ तक कथा के आधार का प्रश्न है भ्रमरगीत प्रसंग भागवत पर आधारित है ऐसा प्रतीत होता है। भ्रमर प्रवेश एवं विष्णु के विभिन्न अवतारों में निष्ठुर रूप पर उपालम्भ आदि की भावना भागवत सदृश ही है। कथा का प्रारम्भ कृष्ण संदेश से होता है। श्रीकृष्ण माता-पिता तथा गोपियों की विकलता स्मरण कर उद्धव को ब्रज भेज देते हैं—

ब्रज सुधि ऊधौ कछू नहिं पाई, मौबिन विकल रहत ह्वै है नंद
यशोमति माई।
गोप बधू मौकौं अति प्यारी ममहित लाज गमाई, सो तु जाइ
कलेश निवारे सकल कह्यौ कुशलाई।
वि० गी० १४७

संदेश के अतिरिक्त पाती प्रसंग सूरसागर से ग्रहण किया गया है क्योंकि भागवत में पत्र प्रसंग नहीं मिलता। हरिविलास ने कृष्ण के लिखित पत्र का उल्लेख मात्र किया है। विरह विलास आदि रचनाओं के सदृश पत्र का अधिक महत्व इसमें नहीं है। यहाँ तो कृष्ण केवल प्रेम भरी पाती लिख देते हैं--

गोपिन हित पाती लिखि दीनी प्रेम कथा समुझाई। वि० गी० १४८

भ्रमरगीत के अन्तर्गत हरिविलास ने षटऋतु एवं बारहमासों का वर्णन भी किया है। विरही को प्रकृति की मनोरम छटा भी दुखदायिनी है। वसन्त की मादक ऋतु-कोयल की कूक, आम्र मंजरियों की सुगन्ध, वर्षा की फुहारें, पपीहे की पुकार, शरद की चाँदनी सभी पूर्व स्मृति को जाग्रत कर उन्हें विकल कर देती हैं। गोपियों की भी यही दशा है। उद्धव से कृष्ण चर्चा करते समय उन्हें सब कुछ स्मरण हो आया—फाल्गुन की मनभावनी ऋतु आ गई किन्तु कृष्ण वियोग से गोपियों का दुख द्विगुणित हो गया—

ऊधौ जबते कियौ हरि मथुरा गमन मन पीर न जात कही।
आयौ फागुन भयौ दुख दारुण खेलत ग्वाल मही।
बाजत ताल मृदंग झांझ डफ धुनि नहिं जात सही।
उत खेलत प्रभु चेरी भुवन ॥
सदाहि मलिन रहत केशव बिन दृग जलधार बही।
तापर योग भस्म तुम लाए प्रीति भली निबही।
निठुर भए काली दमन ॥ वि० गी० पृ० १५५

षट् ऋतु वर्णन के अतिरिक्त बारहमासी शैली पर भी विरह वर्णन मिलता है। गोपियाँ उद्धव से संदेश भेजती हुई अपनी विकलता का वर्णन करती हैं—

सावन सुहावन मोर नाचे कूक सुनि छाती फटे।
घन घोर सोर कठोर गरजै रैन चात्रिक कबहु रहै ॥
ऐसे भये बे पीर पीतम प्रीति सुधि कछु न रही।
कहियौ बिथा समुझाय ऊधौ श्याम पद पंकज गही ॥
वि० गी० १५६

मधुर उपालम्भ के साथ ही बारहमासा में गोपियों का विनीत आग्रह भी मर्मस्पर्शी है। बारहमासा की शैली में भी कुछ भ्रमरगीत

उपलब्ध हैं। ये काव्य की अपेक्षा लोकगीत के अधिक निकट हैं। लोकगीत भ्रमरगीत शीर्षक अध्याय के अन्तर्गत इस प्रसंग पर उपलब्ध बारहमासों की विवेचना की गई है। विष्णु गीत में उपलब्ध यह बारहमासा भी लोकगीत की श्रेणी है। लोकगीतों में साहित्यिक चमत्कार न होते हुये भी हृदय को स्पर्श करने की शक्ति होती है। उनका बुद्धि की अपेक्षा मानव की रागात्मक प्रवृत्ति से अधिक सम्बन्ध है। विष्णुगीत में उपलब्ध बारहमासा के अन्तर्गत भी यह विशेषता मिलती है। असाढ़ मास में काम पीड़ित गोपियाँ उद्धव से कहती हैं—

लागौ असाढ़ घुमड़ि चहु दिशि घुमड़ि घन गरजन लगे।
लषि दमक दामिनि त्रिविधि वायू त्रियन मन मनसिज जगे॥
अब हरि विलास हुलास कीजै आप वृन्दावन मही।
कहियौ विथा समुझाय ऊधौ श्याम पद पंकज गही॥
वि० गी० १५७

हरि विलास कृत भ्रमरगीत विभिन्न राग रागनियों में लिखा गया है। सम्भवतः इसी कारण कवि ने इसे सूरसागर के अनुसार माना है। पद शैली में होने पर भी भ्रमरगीत एक प्रबान्धात्मक रचना है। इसमें भावों का तारतम्य एवं भाषा का प्रवाह मिलता है। किन्तु गोपियाँ अपनी विरह व्यंजना में सूर के सदृश प्रवीण नहीं हैं। वे भी उपालम्भ देती हैं, व्यंग्य करती हैं, पूर्व स्मृति से उनका हृदय भी विदीर्ण होता है फिर भी वे अति भोली हैं, सरल हैं। वे व्यंग्य करके भी अधिक समय स्थिर नहीं रह सकतीं। उनकी दीनता तत्काल ही प्रकट हो जाती है। कृष्ण के श्याम वर्ण, निष्ठुर रूप, कुब्जा प्रणय आदि प्रसंगों पर हरिविलास की गोपियाँ भ्रमर व्याज से कृष्ण को बहुत कुछ कह देती हैं। कहीं-कहीं यह उपालम्भ स्पष्ट भी है। संदेश देते समय तो गोपियों का ग्रामीण रूप पूर्णतः प्रकट हो जाता है। उद्धव से संदेश देते समय वे कितनी सरलता से कहती हैं—

बटोही मोरी बतियाँ कहेउ हरि सों।
आवन कहिगे अजहूँ न आये बीत गये बरसों॥
कोऊ कह आज कान्ह आयेंगे कोऊ कहै परसों।
वा दिन की सुधि भूले मोहन कर पकरौ करसों॥

अब तौ ध्यान लगो निशि बासुर रूप मनोहर सौं।
हरि बिलास गोपाल लाल को देखन को तरसों॥
बि० गी० पृ० १५५

भ्रमरगीत में निगुण ब्रह्म एवं योग संदेश की चर्चा प्रसंगवश ही मिलती है। सम्पूर्ण भ्रमरगीत गोपी, यशोदा एवं नन्द की विरह व्यंजना से पूर्ण है। उद्धव मथुरा जाते हैं। यहाँ केवल यशोदा तथा गोपियाँ ही कृष्ण को संदेश नहीं भेजते वरन् नन्द का पितृ हृदय भी कुछ कहने को आतुर है। अन्य भ्रमरगीतों में उद्धव के मथुरा गमन पर नंद प्रायः मौन ही हैं। वृद्धावस्था में पुत्र का विरह भाग्य वश ही है। नन्द इसी ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

वृद्ध अवस्था अति कठिन तापर बिछुरे श्याम।
कहत नन्द ऊधौ सुनो भयौ विधाता बाम॥
बि० गी० पृ० १६०

भ्रमरगीत की एक युगीन विशेषता भी स्पष्ट दिखाई पड़ती है। बीसवीं शताब्दी में खड़ी बोली भी साहित्य में पैर जमा रही थी। लेखक एवं कवि खड़ी बोली की ओर धीरे-धीरे झुक रहे थे यद्यपि काव्य की भाषा ब्रज ही थी। भारतेन्दु बाबू ने भी खड़ी बोली में कुछ रचनाएँ प्रस्तुत की थीं। यद्यपि काव्य के उपयुक्त वे ब्रजभाषा को ही समझते थे। भ्रमरगीत में भी कुछ दोहे एवं गजल खड़ी बोली में लिखी गई हैं। इन रचनाओं में उर्दू शब्दों की बहुलता है। इस भाँति भ्रमरगीत में भाषा के दो विभिन्न रूपों के दर्शन होते हैं। यहाँ खड़ी बोली का एक उद्धरण दिया जा रहा है।

दर्द में दिल गर्द सबके भूलता नहीं ध्यान है।
बे दरद लीजै खबर राधौ हमारा मान है॥
श्याम से कहियो ये ऊधौ अब कठिन गुजरान है।
इकदफा वे हरि विलास विलसे दिलमें ये अरमान है॥
बि० गी० पृ० १५६

भ्रमरगीत का मुख्य गुण इसकी संगीतात्मकता है। भक्तियुगीन गीति काव्य का स्वरूप पूरे दो शताब्दियों के पश्चात् पुनः आधुनिक

उपलब्ध हैं। ये काव्य की अपेक्षा लोकगीत के अधिक निकट हैं। लोकगीत भ्रमरगीत शीर्षक अध्याय के अन्तर्गत इस प्रसंग पर उपलब्ध बारहमासों की विवेचना की गई है। विष्णु गीत में उपलब्ध यह बारहमासा भी लोकगीत की श्रेणी है। लोकगीतों में साहित्यिक चमत्कार न होते हुये भी हृदय को स्पर्श करने की शक्ति होती है। उनका बुद्धि की अपेक्षा मानव की रागात्मक प्रवृत्ति से अधिक सम्बन्ध है। विष्णुगीत में उपलब्ध बारहमासा के अन्तर्गत भी यह विशेषता मिलती है। असाढ़ मास में काम पीड़ित गोपियाँ उद्धव से कहती हैं—

लागौ असाढ़ घुमड़ि चहु दिशि घुमड़ि घन गरजन लगे।
लषि दमक दामिनि त्रिविधि वायू त्रियन मन मनसिज जगे॥
अब हरि विलास हुलास कीजै आप वृन्दावन मही।
कहियौ विथा समुझाय ऊधौ श्याम पद पंकज गही॥
वि० गी० १५७

हरि विलास कृत भ्रमरगीत विभिन्न राग रागनियों में लिखा गया है। सम्भवतः इसी कारण कवि ने इसे सूरसागर के अनुसार माना है। पद शैली में होने पर भी भ्रमरगीत एक प्रबान्धात्मक रचना है। इसमें भावों का तारतम्य एवं भाषा का प्रवाह मिलता है। किन्तु गोपियाँ अपनी विरह व्यंजना में सूर के सदृश प्रवीण नहीं हैं। वे भी उपालम्भ देती हैं, व्यंग्य करती हैं, पूर्व स्मृति से उनका हृदय भी विदीर्ण होता है फिर भी वे अति भोली हैं, सरल हैं। वे व्यंग्य करके भी अधिक समय स्थिर नहीं रह सकतीं। उनकी दीनता तत्काल ही प्रकट हो जाती है। कृष्ण के श्याम वर्ण, निष्ठुर रूप, कुब्जा प्रणय आदि प्रसंगों पर हरिविलास की गोपियाँ भ्रमर व्याज से कृष्ण को बहुत कुछ कह देती हैं। कहीं-कहीं यह उपालम्भ स्पष्ट भी है। संदेश देते समय तो गोपियों का ग्रामीण रूप पूर्णतः प्रकट हो जाता है। उद्धव से संदेश देते समय वे कितनी सरलता से कहती हैं—

बटोही मोरी बतियाँ कहेउ हरि सों।
आवन कहिगे अजहूँ न आये बीत गये बरसों॥
कोऊ कह आज कान्ह आयेंगे कोऊ कहै परसों।
वा दिन की सुधि भूले मोहन कर पकरौ करसों॥

अब तौ ध्यान लगो निशि बासुर रूप मनोहर सौं।
हरि विलास गोपाल लाल को देखन को तरसों॥
वि० गी० पृ० १५५

भ्रमरगीत में निगुण ब्रह्म एवं योग संदेश की चर्चा प्रसंगवश ही मिलती है। सम्पूर्ण भ्रमरगीत गोपी, यशोदा एवं नन्द की विरह व्यंजना से पूर्ण है। उद्धव मथुरा जाते हैं। यहाँ केवल यशोदा तथा गोपियाँ ही कृष्ण को संदेश नहीं भेजते वरन् नन्द का पितृ हृदय भी कुछ कहने को आतुर है। अन्य भ्रमरगीतों में उद्धव के मथुरा गमन पर नंद प्रायः मौन ही हैं। वृद्धावस्था में पुत्र का विरह भाग्य वश ही है। नन्द इसी ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

वृद्ध अवस्था अति कठिन तापर बिछुरे श्याम।
कहत नन्द ऊधौ सुनो भयौ विधाता बाम॥
वि० गी० पृ० १६०

भ्रमरगीत की एक युगीन विशेषता भी स्पष्ट दिखाई पड़ती है। बीसवीं शताब्दी में खड़ी बोली भी साहित्य में पैर जमा रही थी। लेखक एवं कवि खड़ी बोली की ओर धीरे-धीरे झुक रहे थे यद्यपि काव्य की भाषा ब्रज ही थी। भारतेन्दु बाबू ने भी खड़ी बोली में कुछ रचनाएँ प्रस्तुत की थीं। यद्यपि काव्य के उपयुक्त वे ब्रजभाषा को ही समझते थे। भ्रमरगीत में भी कुछ दोहे एवं गजल खड़ी बोली में लिखी गई हैं। इन रचनाओं में उर्दू शब्दों की बहुलता है। इस भाँति भ्रमरगीत में भाषा के दो विभिन्न रूपों के दर्शन होते हैं। यहाँ खड़ी बोली का एक उद्धरण दिया जा रहा है।

दर्द में दिल गर्द सबके भूलता नहीं ध्यान है।
बे दरद लीजै खबर राधौ हमारा मान है॥
श्याम से कहियो ये ऊधौ अब कठिन गुजरान है।
इकदफा वे हरि विलास विलसे दिलमें ये अरमान है॥
वि० गी० पृ० १५६

भ्रमरगीत का मुख्य गुण इसकी संगीतात्मकता है। भक्तियुगीन गीति काव्य का स्वरूप पूरे दो शताब्दियों के पश्चात् पुनः आधुनिक

काल में दिखाई पड़ा है। गीतिकाव्य को पुनर्स्थापना में विष्णुगीत सदृश रचनाओं का प्रमुख स्थान है। संगीत की कसौटी पर खरी उतरने वाली इस रचना के पद खमाच, गौरी, झंझोटी, देश, विहाग, सोरठ, रामकली, भैरव, वसंत, काफी; कलंगड़ा आदि विभिन्न रागों में रचे गए हैं। इस दृष्टि से विष्णु गीत का भ्रमरगीत प्रसंग पर्याप्त महत्वपूर्ण है।

रसीले—ऊधौब्रजागमन चरित्र

भ्रमरगीत के सरस प्रसंग को भक्ति तथा रीतिकाल के कवियों ने अपनी रुचि अनुसार मुक्तक तथा प्रबन्ध रूप में ग्रहण किया है। रसीले ने भी ऊधौ ब्रजागमन चरित्र नामक प्रबन्धात्मक रचना संवत् १६४५ में लिखी जो दोहा, सोरठा, कवित्त तथा सवैया छन्दों में उपलब्ध है। रचना भ्रमरगीत के चिर प्रचलित कथानक को ही लेकर चली है। कृष्ण संदेश उद्धव ब्रजागमन कारण, उद्धव गोपी तथा उद्धव यशोदा वार्त्तालाप उद्धव मथुरा प्रत्यागमन आदि प्रसंगों का ही उल्लेख है। किन्तु रसीले की निपुणता इस परम्परागत विषय को सरस ढंग से प्रस्तुत करने में ही है। ऊधौ ब्रजागमन चरित्र एक भाव प्रधान रचना है। इसमें तर्क का स्थान नहीं। रसीले की गोपियाँ ही नहीं कृष्ण भी बड़े भावुक हैं। वे उद्धव की ज्ञान-चर्चा सुन कर यही कहते हैं—

कहत रसीले बाँधे बिथा कौन राधे बिन।
कासों कहि जाय कापै बचन सुनाइए॥
ल्याइए तुरत सुधि ऊधौ प्रान प्यारे तुम।
जोग कौ जभाय आय तासु गुन गाइए॥

उपर्युक्त कथन में कृष्ण के विकल हृदय की एक स्पष्ट झलक दिखाई पड़ती है प्रिय व्यक्ति को सरलता से विस्मृत कर देना कितना कठिन है यह उद्धव क्योंकर समझ सकते हैं। कृष्ण की परिस्थिति को पूर्णतः समझ सकने के लिए उद्धव को पहले ब्रज जाना ही पड़ेगा।

इस भाँति प्रेम विह्वल कृष्ण नंद यशोदा तथा गोपियों के लिए मौखिक तथा लिखित संदेश भेजते हैं। भागवत के सदृश कुब्जा भी

संदेश देना नहीं भूलती है। कुब्जा का संदेश अनेक मिश्र-भावों से युक्त है। कभी वह गोपियों की आदरपूर्वक प्रशंसा करती है तो कभी तीव्र व्यंग्य युत संदेश भेजती है। कुब्जा को अपने नागरी होने का भी गर्व है। वह यह जानती है कि वह गाँव की गंवार गोपियों से कहीं चतुर है, मथुरा की नागरी जो ठहरी, अतः कृष्ण उसके प्रेम के अधीन है। कृष्ण के इस प्रेम-चापल्य से भी वह भली भाँति परिचित है। राधा के संदेश में कुब्जा ने इस विचार को स्पष्ट कर दिया है—

ऊधौ यह बात जाय राधिका सों कहियो जू।
ए तौ मधुकर भोगी सब रस कौ अहै॥
लेत जाकौ स्वाद ताकौ फीकौ करि
छाड़त है नीकौ मुख देखि जाके ताके पास में रहे॥

उक्त संदेश द्वारा कुब्जा ने कृष्ण की समय-सेवी भ्रमरवृत्ति का उल्लेख कर एक ओर तो श्रीकृष्ण पर ही सारा दोष मढ़ दिया है दूसरी ओर अप्रत्यक्ष रूप से रूपगर्विता होने का भी संकेत किया है। कुब्जा के संदेश पर यदि पूर्ण रूप से विचार किया जाय तो उसमें संवेदना तथा सरलता की अपेक्षा, कटुता, व्यंग्य तथा तीव्र उपहास की ही प्रधानता है। कुब्जा के इस विषपूर्ण संदेश को सुनकर कृष्ण हृदय थाम कर रह जाते हैं। एक ओर कुब्जा की भक्ति तो दूसरी ओर गोपियों का प्रेम है। वे कहना चाहते हैं कि ये पत्र गोपियों को मत देना किन्तु परिस्थिति की विषमता उन्हें मूक बना देती है।

ब्रह्म-ज्ञान और योग का संदेश लेकर जब उद्धव ब्रज पहुँचते हैं तो आशा के विपरीत गोपियाँ उद्धव की बुद्धि विषमता को लक्ष्य कर कहती हैं—

आँधरी को अंजन न सोभा सरसावत है।
बधिरी के कान को न राग परसत है॥
त्यों ही वर बेसर न नकटी को नीकौ लगै।
टीकौ माथ विधवा के ज्योंही दरसत है॥
मुंडलीं के माँग को सवारिवो रसीले कहें।
गूँगिन के बात जैसे गुन बरसत है॥

तैसे जोति रूप के निरूपत ही ऊधो जी के।
पी के बिन ती के ही के ज्वाल झरसत हैं॥

कुब्जा के व्यंग्य तथा उपहास युक्त संदेश से तो वे अत्यधिक विचलित हो गईं। हृदय की वेदना को प्रकट करने के लिए सरल भाषा का मार्ग छोड़ वे भी व्यंग्य पूर्ण हो कुब्जा के विकृत अंगों को लेकर ही जिसका तिरस्कार करने लगीं। कुब्जा के प्रति गोपियों के कथन में श्रृंगारिकता की प्रधानता है। संयोग तथा रति प्रसंगों को लेकर ही वे कुब्जा का परिहास करती हैं—

सुरति विलोकि प्रेम पूरत प्रमोद पाय,
मूरति तृभंग करि डारी ताके हेत हैं।
सुन्दर सुशील दुखदाई दहि गोपिन के,
ताहि उर लाई मन भाई फल देत हैं।
नीति पुंज निपुन रसीले सो निपट नाम,
निराकार निर्मल निकाई के निकेत हैं।
ऊधो कही कूबरी के सुरति समै में रचाय,
गाड़ो खोदि लेत कैतो खाट काटि देत हैं।

कृष्ण को यदि कूबड़ ही रुचिकर है तो वे भी कूबड़ी बन सकती हैं। उद्धव से कृष्ण मिलन का उपाय पूछती हुई गोपियाँ कहती हैं--

ऊधो कहो सांची कान्ह कुब्जा के मोहिबो को,
कौन भाँति जोग को आराध्यो भोग ठाप के।
आसन लगाय अंग ताप पंच अग्नि माह,
नाह गोपिकान को कहाय कित जाय के।
गूढ़ ग्यान रति में रसीले सो निपुन पैठि,
बैठि कहा जबै अंग भूति को लगाय के।
ठाव ठीक हमें तो बताओ जाय देखो धाय,
लाय पीठि हांडी मिलैं कूबरी कहाय के।

इतना कहकर ही वे शान्त नहीं होतीं हृदय की उठती ज्वाला के कारण वे आगे कहती हैं—

कूबर काठ को पीठ लगाय कै खाट कटाय करो रति सोय कै।

गोपियों के इस प्रकार ईर्ष्या तथा व्यंग्यपूर्ण कथन का प्रभाव रत्नाकर पर दिखाई पड़ता है। श्रृंगार का यह वर्णन गोपियों के मानसिक संतुलन के बिगड़ जाने का भी संकेत करता है, साथ ही रीतिकालीन श्रृंगारिक परम्परा का इस पर स्पष्ट प्रभाव है।

नंद यशोदा के वर्णन में माता के ममतापूर्ण हृदय का दिग्दर्शन करना भी रसीले भूले नहीं हैं। जब उद्धव मथुरा जाने लगते हैं उस समय यशोदा की भेंट उनके मातृ हृदय को उन्मुक्त कर देती हैं। उद्धव मथुरा जा रहे हैं यशोदा पुत्र की स्मृति में विकल है किन्तु इस विह्वलता में भी वह कार्यरत हैं—

द्रिग ढारत नीर जसोदा गई घर में तन पीर न जात सही।
कर ले दोहनी मुरली हरि की भरि माखन मंजुल देत कही॥
यह घी मटुकी भरि दीजियो जू जो रसीले प्रिय गाय रही।
तिन ही को बटोरि धर्‌यौ दधि के उनके हित में निज हाथ मही॥

कृष्ण को मक्खन घी कितना प्रिय है इस बात को जानते हुये यशोदा ने अपने हाथ से ही संजो कर रखी हुई यह भेंट पुत्र के लिए दी। पुत्र की रुचि का इतना अधिक ध्यान मां के अतिरिक्त किसे हो सकता है।

ग्रन्थ का अन्त परम्परागत रचनाओं के समान उद्धव सुबोधन से ही होता है।

ऊधौ ब्रजागमन चरित्र भ्रमरगीत परम्परा की एक सुदृढ़ कड़ी है जिसका प्रभाव रत्नाकर के उद्धव शतक पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

सत्यनारायण कविरत्न—भ्रमरदूत

सत्यनारायण कविरत्न का प्रादुर्भाव उस समय हुआ जब राष्ट्र में राष्ट्रीय चेतना के लक्षण उद्भूत हो चुके थे। स्वदेशी आन्दोलन और नागरी का प्रचार बढ़ रहा था। काव्य के क्षेत्र में ब्रजभाषा और खड़ी बोली की प्रतिद्वन्द्विता चल रही थी और ब्रजभाषा के माधुर्य को स्वीकार करने वाले कवि भी खड़ी बोली में प्रयोगात्मक रचनाएँ कर रहे थे। उस समय सत्यनारायण में नगर से दूर क्षितिज की उषा झिलमिल निहारिका में ग्राम के अबोध हृदय स्रोत से अनायास

ही निःसृत हो काव्य धारा अपनी उज्ज्वलता और सरसता से प्रवाहित होने लगी—इस कवि की वाणी से एक बार ब्रजभाषा ने अपनी अन्तिम करुण पुकार इस प्रकार गुहराई और इस प्रकार शायद ही किसी भाषा की पुकार उसके हृदय के साथ रखी गई हो—शायद ही किसी कवि ने इतनी करुणा और इतनी शक्ति अपनी भाषा की वकालत में रखी होगी।[1] सत्यनारायण ब्रजभूमि, ब्रजभाषा और ब्रजमोहन के अनन्य भक्त थे। ब्रजमोहन की माधुरी में छके रहने पर भी वे तत्कालीन नवजागरण की ओर से उदासीन न थे प्रत्युत उनकी रग-रग में देश-प्रेम भरा था। देश के उद्धार एवं उन्नति का उन्हें विशेष ध्यान था। उनकी कविताएँ नव भावनाओं से परिपूर्ण होती रहती थीं। भ्रमरदूत की रचना में सत्यनारायण के इस प्रकार के समसामयिक विचार की प्रचुरता है।

कथानक—भ्रमरदूत की कथा अति संक्षिप्त है। कंस को मार कर जब कृष्ण मथुरा से द्वारिका चले गए तो यशोदा बड़ी दुखी हुई। एक बार सावन के सुहावने मास में, कृष्ण की याद से व्याकुल होकर वे उन्हें संदेश भेजना चाहती हैं। अनपढ़ होने के कारण पत्र नहीं लिख सकतीं और द्वारिका अति दूर है अतः वहाँ तक जाने के लिए उन्हें कोई उपयुक्त व्यक्ति नहीं मिलता। इसी चिन्ता में वे बैठी थीं कि कृष्ण स्वयं ही मधुप बन कर आ पहुँचे और यशोदा ने रूप साम्य के आधार पर भ्रमर को ही दूत बना कर भेज दिया।

भ्रमरदूत पूर्ववर्ती भ्रमरगीतों से अनेक बातों में भिन्न है—

(१) अन्य भ्रमरगीतों में नंद यशोदा के विरह वर्णन के साथ गोपियों की विरह व्यथा का विशेष वर्णन रहता है। भ्रमरदूत में केवल यशोदा के विरह को ही स्थान मिला है। इस प्रकार भ्रमरदूत विप्रलंभ शृङ्गार के स्थान पर वियोग वात्सल्य की रचना है।

(२) यशोदा विरह का मूल कारण—कृष्ण का द्वारिका प्रवास और यशोदा की पत्र लिखने की असमर्थता है जबकि अन्य रचनाओं में विरह का मूल कारण कृष्ण का मथुरा प्रवास एवं कुब्जा-प्रणय ही स्वीकार किया गया है।

१—पृ० ५ प्रस्तावना

(३) भ्रमरदूत में भ्रमर कृष्ण का दूत बन कर नहीं आया है प्रत्युत यशोदा स्वयं संदेशवाहक बनाकर कृष्ण के पास भेज रही हैं।

(४) यशोदा-संदेश में माता के व्याकुल हृदय की अपेक्षा जननी जन्म भूमि के दुखों का ही अधिक वर्णन है।

(५) यहाँ भ्रमर मानव की स्वार्थ वृत्ति का प्रतीक नहीं है अतएव उसे व्यंग्य नहीं सुनना पड़ा। भ्रमर के विषय में नंददास ने एक नवीन कल्पना की है—

मन मधुकर ऊधौ भयौ प्रथमहिं प्रगट मेरे आनि।
मधुप को भेष धरि। भँ० गी० ४५

सत्यनारायण एक पग आगे बढ़ कर लिखते हैं—

विलपति कलपति अति जबै लखि जननी निज श्याम,
भगत भगत आये तबै, भाये मन अभिराम।
भ्रमर के रूप में। भ्र० दू० १८

अतएव भ्रमरदूत का का भ्रमर स्वयं कृष्ण हैं जो माँ के दुख को सुनने के लिए भागकर आ गए।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि सत्यनारायण के भ्रमरदूत पर सामायिक प्रभाव की गहरी छाप है। कृष्ण विरह में दुखी माँ की भावाभिव्यक्ति ऊहात्मक न होकर स्वाभाविक एवं समयानुकूल है। जब तक कृष्ण मथुरा में रहते थे, यशोदा को इतना दुख न था। किसी को भी भेजकर कृष्ण का कुशल समाचार मंगाया जा सकता था किन्तु अब तो कृष्ण सात समुद्र पार चले गए हैं। यदि वह उन्हें पत्र भी लिखना चाहे तो विवश है। इस कुसमय में शिक्षा का अभाव और भी वेदनामय हो गया। वे सोचती हैं—

'पढ़ी न अक्षर एक ज्ञान सपनो ना पाया।' भ्र० दू० १२

यदि आज वह पढ़ी लिखी होतीं तो अपने प्रिय पुत्र को स्वयं ही पत्र भेज देतीं। नारी के लिए तो विद्या का ही बल है—

विद्या-बल लहि मति परम अबला सबला होइ। भ्र० दू० १५

किन्तु यशोदा तो पूर्णतः अबला ही है अतएव पत्र के स्थान पर किसी दूत को ही भेज कर काम चलाया जा सकता है परन्तु कृष्ण तो द्वारिका में रहते हैं उतनी दूर किसी का जाना सम्भव भी कैसे हो सकता है। यशोदा इसी चिन्ता में मग्न है—

> कौनें भेजें दूत, पूत सों विथा सुनावै,
> बातन में बहलाइ, जाइ ताकों यहं लावैं।
> त्याग मधुपुरी सौं गयौ, छांड़ि सबन को साथ,
> सात समुन्दर पै भयौ, दूर द्वारिका नाथ।
> जाइगों को उहाँ। भ्र० दू० १६

माता को इस भांति विकल देखकर कृष्ण स्वतः ही भ्रमर रूप में आ उपस्थित हुए—

> अति उदास, बिन आस, सबै तन सुरति भुलानी,
> पूत प्रेम सों भरी परम दरसन ललचानी।
> बिलपति कलपति अति जबै लखि जननी निज श्याम,
> भगत भगत आये तबै, भाये मन अभिराम
> भ्रमर के रूप में। भ्र० दू० १७

किन्तु यशोया इस रहस्य को न जान सकती, वे उस ठिठके हुए भ्रमर को सम दुखी ही समझीं। दुख के आवेग में पशु पक्षी, कीट भ्रंग को भी अपने सदृश समझने वाली मानव-मनोवृत्ति के अनुसार यशोदा ने भी भ्रमर द्वारा संदेश भेजने का विचार किया। भ्रमर को संदेश वाहक बनाने का कारण उसका रूप एवं गुण साम्य है। भ्रमर की कृष्ण से तुलना करती हुई यशोदा कहती हैं—

> तेरौ तन घनश्याम श्याम घनश्याम उतें सुनि,
> तेरी गुंजन मुरलि मधुप, उत मधुर मुरलि धुनि।
> पीत रेख तब कटि बसत, उत पीताम्बर चारु,
> विपिन बिहारी दोउ लसत, एक रूप सिंगार।
> जुगल रस के चरवा। भ्र० दू० २०

> याही कारन निज प्यारे ढिंग तोहि पठाऊं। भ्र० दू० २१

अपने संदेश में यशोदा ने मातृ हृदय की आकुलता के साथ ही देश की दुर्दशा का भी चित्र खींचा है। इसमें यशोदा ने जो संदेश

भेजे हैं उसके वर्ण-वर्ण और अक्षर-अक्षर में स्वदेश प्रेम और जाति हितैषता टपक रही है। इसको पढ़ते समय ऐसा जान पड़ता है मानो शोक-दुख-जर्जरा स्वयं भारत माता ही अपने हृदय का उद्गार निकाल रही हो।"[1]

कृष्ण के बिना आज गोपों का कोई पथ प्रदर्शक नहीं है जो उन्हें स्वतन्त्रता, समता और सहभ्रातृत्वता सिखावे। नेता के अभाव से वे समस्त दुखों को मूर्ख सदृश चुपचाप सहन कर रहे हैं। भय से उनके हृदय संकुचित हो गए हैं किसी को जातीय-उत्थान में विश्वास ही नहीं, स्वार्थ वश सभी अपना अपना राग अलाप रहे हैं। आज देश की परिस्थिति ही बदल गई है। देशीय वेश, भाषा और धर्म से लोगों का विश्वास उठ गया, नारी नम्रता को भूलकर अहंकार से भरी हुई इतराती रहती है। एक समय अति जल वृष्टि से रक्षा करने के निमित्त तुम्हें गोवर्धन धारण करना पड़ा था किन्तु आज नित्य अनावृष्टि से अकाल पड़ रहे हैं। स्वेच्छाचार बढ़ गया है। विदेशी शासन ने देशवासियों की साँप छछूंदर की गति बना दी है। किसी के हृदय में स्नेह नहीं है। इस दुखद दशा का वर्णन किससे किया जाय—

कासों कहिये गेह को देसहि में परदेस
भयो अब जानियो ॥ भ्र० दू० ४०

देश-प्रेम के उद्गारों के अतिरिक्त मां के कोमल हृदय का परिचय भी भ्रमरदूत में मिलता है। कंस को मारकर जब कृष्ण द्वारिका चले गए और मां को एक पत्र भी न भेजा तब यशोदा की व्यथा बढ़ गई। उनके विरह का वर्णन कविरत्न ने निम्न पंक्तियों में किया है।

बिलखाती, सनेह, पुलकाती, जसुमति माई।
श्याम-विरह-अकुलाती, पाती कबहुँ न पाई।
जिय प्रिय हरिदरशन बिना, छिन छिन परम अधीर।
सोचति मोचति निसि दिना, निसरत नैनतु नीर॥
विकल कल ना हिये। भ्र० दू० ३

१—पृ० ७ प्रस्तावना

यशोदा कृष्ण के वियोग में विकल हैं किन्तु पुत्र की समस्त बाधाओं को दूर होते सुनकर वे पुलकित भी हैं। कृष्ण ने एक पत्र भी नहीं भेजा इसी से अधिक व्याकुल हो रही हैं। दर्शन की लालसा ने उसे अधीर बना रखा है। अनेक शंकायें तथा तर्क वितर्क से उनका हृदय विकल है, नेत्रों से अश्रु बह रहे हैं।

वर्षा की मनोरम ऋतु—काली काली घटायें, मोर और चातक का रव, गोपों का आमोद प्रमोद, गोपियों का मधुर संगीत सब कुछ पुत्र-वियोगी यशोदा के दुख को बढ़ाने वाले हैं। प्रकृति के इस सौन्दर्य ने इनके पुत्र-अभाव को अधिक तीव्र बना दिया वे कृष्ण संदेश और मिलन के लिए अधीर हो उठीं—

कहति विकल मन महरि कहाँ हरि ढूँढन जाऊ।
कब गहि लालन ललकत मन गहि हृदय लगाऊँ।
सीरी कब छाती करों कब सुत दरसन पाऊँ।
कबै मोद निज मन भरों किहि कर धाइ पठाऊँ।
संदेसो श्याम पै। भ्र० दू० ११

मां के व्याकुल हृदय का यह चित्र कितना सजीव और स्वभाविक है। इसकी यथार्थता का अनुभव भुक्त-भोगी ही कर सकता है। पुत्र के विरह में यशोदा का रोम रोम प्रतीक्षा में लगा है। कृष्ण मक्खन खाकर तमाल वृक्ष में हाथ पोंछ दिया करते थे। यशोदा दुखी होकर जब उस वृक्ष के समीप जाना चाहतीं उसे लगता मानो कृष्ण कहीं से भागकर आने वाले हैं अतएव वह पुनः बैठ जातीं। प्रतीक्षा की यह स्थिति मानव मनोविज्ञान के अनुकूल ही है। अवधि व्यतीत हो जाने पर मनुष्य का प्रति रोम सचेत हो जाता है। उसे हर क्षण प्रिय आगमन का आभास होने लगता है। हमारे प्रतिदिन का अनुभव इस बात की पुष्टि करता है। यदि हम किसी की प्रतीक्षा करते हैं तो प्रत्येक क्षीण शब्द हमारी जिज्ञासा का कारण बनता है। प्रतीक्षा के उन क्षणों में स्थान छोड़ना कठिन हो जाता है। यशोदा की भी यही दशा है—

माखन कर पौछन सों चिक्कन चारु सुहावत।
निधुवन श्याम तमाल रह्यौ जो हिय हरसावत॥

लागत वाके लखन सों, मति चलि बाकी ओर।
बात लगावत सखन सों आवत नन्दकिशोर॥
कितहुँ से भाजि के।। भ्र० दू० २३

पुत्र की प्रिय वस्तुओं को देखकर मां का हृदय भर आता है। वह सोचती है विदेश में न जाने पुत्र को यह सब मिल पाता है या नहीं। यशोदा भी प्रातःकाल जब मक्खन निकालती हैं उन्हें कृष्ण की स्मृति हो आती है। वे सोचती हैं—

यहँ को नव नवनीत मिल्यौ मिसरी अति उत्तम,
भला सके मिलि कहां शहर में सद याके सम।
रहै यही लालो अजहुँ, काढ़ति यहि जब भोर।
भूलो रहत न होइ कहुँ, मेरा माखन चोर।
बंह्यो निज टैव को। भ्र० दू० २६

सामयिक प्रभाव

यह कहा जाता है कि कवि की रचना उसके सामयिक प्रभावों से युक्त होती है। कविरत्न के विषय में यह कथन पूर्णतः चरितार्थ होता है। भ्रमरदूत में तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक असंतोष की स्पष्ट झलक दिखाई पड़ती है। शताब्दियों से पराधीनता की बेड़ी में जकड़ी और पतन के गर्त में गिरी जनता अपनी वास्तविक स्थिति को पहचान चुकी थी। देश की इस विपन्नावस्था के कारण भी अब स्पष्ट थे। राष्ट्रीय भावना का अभाव, अविद्या आलस्य आदि का साम्राज्य था। बाह्याडम्बर की सुनहरी झिलमिलाहट में भारतीय नारी अपने सच्चे स्वरूप को भूलती जा रही थी। किन्तु भारत के एक कोने में जागरण चिह्न भी दिखाई पड़ रहे थे। आर्यसमाज एवं काँग्रेस के आन्दोलनों ने भारतीयों को उनके अभावों के प्रति सजग कर दिया था। अतः भ्रमरदूत में कवि ने इस नवीन राष्ट्रीय जागरण तथा राष्ट्र-प्रेम के नव संदेश को भी स्थान दिया है। भ्रमरदूत के यशोदा—एक ओर वात्सल्य की मूर्ति हैं; उनका विकल हृदय कृष्ण के बिना व्यथित है, तो दूसरी ओर उनका मातृत्व समस्त भारतवासियों के लिए चिन्तित है। वे केवल कृष्ण की ही माँ नहीं प्रत्युत भारत माँ हैं। जिन्हें अपनी सन्तान की यह दीनदशा आज आठ आठ आँसू

रुला रही है। भ्रमरदूत का विकास युग की पुकार है। यही कारण है कि हरिऔध ने अपनी राधा को आदर्श देश सेविका बना दिया है।

भाषा

भ्रमरदूत ब्रजभाषा की रचना है। यद्यपि इस समय खड़ी बोली भी काव्य-भाषा पद की ओर पग बढ़ा रही थी किन्तु ब्रजभाषा के अनन्य प्रेमी कविरत्न ब्रजभाषा में ही रचना कर रहे थे। इनकी भाषा में स्वाभाविकता, सरलता एवं मिठास है। कविरत्न ने भाषा के प्राचीन अप्रचलित शब्दों को छोड़कर उसे सुबोध बना दिया। अलंकार एवं चमत्कार न होते हुये भी कविरत्न की भाषा विरह की सच्ची अनुभूति को व्यक्त करने में पूर्णतः सफल है। ब्रजभाषा के शब्द 'सिदौसी' आदि के प्रयोग ने ब्रजभाषा स्वरूप को अधिक निखार दिया है। कविरत्न का शब्दचयन भावानुकूल एवं प्रभावशाली है। बिलखाती, सनेह पुलकाती, श्याम-विरह अकुलाती, विलपति, कलपति, और ठिठक्यों, अटक्यों आदि शब्दों का साथ-साथ प्रयोग भाषा को संगीतमय एवं मनोहर बना देता है। कविरत्न ने कहीं-कहीं मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग भी किया है—

अपनी अपनी ढापुली, अपनौ-अपनौ राग।
अलापें जोर सों। भ्र० दू० ३१

भ्रमरगीत में अलंकारों की प्रधानता नहीं है। भावाभिव्यक्ति के लिए उपमा, उत्प्रेक्षा, अपन्हुति आदि का अल्प प्रयोग मिलता है। शब्दालंकारों के अन्तर्गत अनुप्रास की सुन्दर छटा-विशेष कर—छेकानुप्रास की—मिलती है।

भ्रमरगीत की रचना नंददास कृत भँवरगीत की शैली पर हुई है। चौबीस मात्रा के इस छन्द में दश मात्रा की टेक बड़ी ही मनोहर लगती है। सम्पूर्ण छन्द का भाव इस टेक में भर दिया गया है—

याही कारन निज प्यारे ढिग तोहि पठाऊँ।
कहियो वा सों विथा सबै जो अबै सुनाऊँ।
जैयो षटपद धाम के, करि निज कृपा विसेख।
लैयो काज बनाय के, दैयो यह संदेश।
सिदौसौ लौटियो। भ्र० दू० २१

एक प्रश्न

कुछ विद्वानों के अनुसार भ्रमरदूत की रचना भ्रमरगीतों की श्रेणी में नहीं की जा सकती। एक विद्वान् ने अपना विचार प्रकट करते हुए लिखा है, 'भ्रम वश उनके इस खण्ड काव्य को लेकर लोग यह समझने लगे हैं कि यह भी भ्रमरगीत काव्य परम्परा की एक लड़ी है। यह विचार सर्वथा भ्रामक है। कविरत्न जी के भ्रमरदूत में अपनी सामाजिक दुरवस्था के प्रति क्षोभ का प्रकाशन है। इस काव्य में न तो गोपियों का समावेश है और न उनकी भ्रमर के प्रति उक्तियाँ ही हैं, उद्धव का तो कहीं नाम ही नहीं है फिर सगुण निर्गुण के टंटे का प्रश्न ही क्या जो भ्रमरगीत का मुख्य प्रयोजन है। ऐसी दशा में कविरत्न जी के भ्रमरदूत को भ्रमरगीत की परम्परा की चीज मानना अनुपयुक्त होगा। उसमें यदि कोई रस है तो वात्सल्य और यदि कोई भावना है तो समाज सुधार।'

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार भ्रमरदूत को भ्रमरगीत परम्परा के अन्तर्गत न रखने के निम्न कारण हैं—

१—इसमें गोपियों का समावेश तथा उनकी भ्रमर के प्रति उक्तियाँ नहीं हैं।

२—उद्धव का प्रवेश नहीं है।

३—सगुण निर्गुण का विवाद नहीं है।

४—केवल वियोग वात्सल्य और समाज सुधार की ही भावना है।

आलोचक महोदय के इन तर्कों का उत्तर देने के पूर्व हमें भ्रमर-गीत के मूलतत्व पर विचार कर लेना चाहिए। यह पहले लिखा जा चुका है कि भ्रमरगीत का मूलतत्व विरह एवं उपालम्भ है। चाहे वह भ्रमर, उद्धव अथवा कृष्ण में से किसी के भी प्रति हो। भ्रमर-दूत में विरह एवं उपालम्भ दोनों ही उपलब्ध हैं। यशोदा का यह उपालम्भ गोपियों एवं कृष्ण के व्याज से आधुनिक समाज को है। यशोदा के कृष्ण-संदेश में एक मधुर उपालम्भ की झलक मिलती है—

जननी जन्म भूमि सुनियत स्वर्गहु सौं प्यारी,
सो तजि सबरो मोह साँवरे तुमनि बिसारी।

का तुम्हरी गति मति भई, जो ऐसी बरताव,
किधौं नीति बदली नई, ताकौ परयौ प्रभाव।
कुटिल विष को भरयौ। भ्र० दू० २२

भ्रमर का समावेश भी इस रचना में मौखिक ढंग से हुआ है। भ्रमरगीत का प्रारम्भ सोलहवीं शताब्दी से हुआ था। पाँच सौ वर्षों से निरन्तर प्रवाहित इस धारा में समयानुसार अनेक सूक्ष्म परिवर्तित होते गए हैं। निर्गुण सगुण का तर्क-पूर्ण विषय भी धीरे-धीरे कम होता गया और आधुनिक नवीन विचारधारा का इसमें समावेश हुआ। फलस्वरूप हरिऔध के प्रिय-प्रवास में निर्गुण सगुण के विवाद का प्रायः अभाव है। कविरत्न भी समसामयिक प्रभाव से पूर्णतः प्रभावित थे। एक बात और है। उद्धव गोपियों के लिए ही निर्गुण ब्रह्म का शुष्क संदेश लाए थे अतः भ्रमरदूत में इस विवाद को स्थान न मिलने में आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

प्रश्न यह है कि जब भ्रमरदूत में गोपियों और उद्धव का समावेश नहीं है तब ऐसी परिस्थिति में इसे भ्रमरगीत परंपरा के अंतर्गत स्थान दिया जा सकता है ? भ्रमरगीत के रूप विश्लेषण के अवसर पर भ्रमरगीत के दो भेदों अशृंगारिक एवं शृङ्गारिक को स्वीकार किया गया है। अतएव भ्रमरदूत की गणना अशृंगारिक भ्रमरगीत के अन्तर्गत की जा सकती है।

दूसरा प्रश्न यह भी हो सकता है कि भ्रमरदूत में यशोदा के साथ ही गोपियों का समावेश क्यों नहीं किया जाय ? यदि कवि आज जीवित होता तो शंका का समाधान निश्चय ही अपने ढंग से करता। किन्तु उसके दिवंगत होने पर यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार अनेक कवियों ने अपनी रुचि अनुकूल केवल गोपियों के विरह वर्णन को ही अपनाया, उसी भांति अपनी मनोभावनाओं को उपयुक्त अभिव्यक्ति देने के निमित्त ही कविरत्न ने भ्रमरगीत के पूर्व पक्ष अर्थात् केवल यशोदा विरह को ही लिया है।

कविरत्न का यह प्रयास इस बात की ओर भी संकेत करता है कि भ्रमरगीत का चिर प्रचलित प्रसंग अब भी कवियों का प्रिय विषय है। समय के अनुसार इसमें परिवर्तन करना कवि की मौलिक

प्रतिभा का द्योतक है। समाज की आवश्यकताओं के अनुसार ही भ्रमरगीत के प्राचीन कलेवर में नवप्राण फूँके जा रहे हैं। अतः यह कहना कि भ्रमरदूत-भ्रमरगीत परम्परा की एक कड़ी नहीं है उचित नहीं जान पड़ता।

पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'—प्रियप्रवास

हरिऔध आधुनिक युग की नवीनधारा के कवि थे। द्वितीय उत्थान के पूर्व ही वे नवीन विषयों की ओर आकृष्ट हो चुके थे। साहित्यिक दृष्टि से यह समय द्विवेदी युग के नाम से प्रसिद्ध है। हरिऔध द्विवेदी मंडल से अलग साहित्य सृजन में लगे थे किन्तु द्विवेदी जी के व्यक्तित्व का प्रभाव इन पर भी पड़ा जिसके फलस्वरूप इनका ध्यान खड़ी बोली काव्य रचना की ओर गया और संवत् १९५७ से इन्होंने खड़ी बोली में रचना आरम्भ करदी। साथ ही संस्कृत के छन्दों को भी अपनाया। हरिऔध समय की गति के अनुसार निरन्तर बढ़ते रहे। नव शिक्षितों के सम्पर्क एवं सुधारवादी आन्दोलनों से प्रभावित होने के कारण इनका पूर्व संकुचित दृष्टिकोण भी बदल गया। इनमें लोक कल्याण की भावना जाग्रत हुई। सुधारवादी आन्दोलनों ने एक ओर मृत प्रायः हिन्दू धर्म को पुनर्जीवन प्रदान किया और दूसरी ओर भगवान् कृष्ण के चिरप्रचलित स्वरूप को भिन्न रूप से देखने की दृष्टि भी प्रदान की। अरिऔध ने देखा कि अभी तक कृष्ण-काव्य व्रजभाषा में ही लिखा गया और भगवान् कृष्ण का जो स्वरूप कवियों ने प्रस्तुत किया वह लोक-कल्याण की दृष्टि से श्रेयस्कर भी था। दूसरी ओर खड़ी बोली में महाकाव्य का अभाव भी उन्हें खटक रहा था अतः इन समस्त विचारों को दृष्टिगत रखते हुए संवत् १९७१ में उन्होंने प्रियप्रवास नामक रचना प्रस्तुत कर अपनी कल्पना को साकार करने का प्रयत्न किया है।

कथानक

प्रियप्रवास की कथा कृष्ण के मथुरा प्रवास से सम्बन्धित है। इस संक्षिप्त कथानक को महाकाव्य के उपयुक्त बनाने के निमित्त कृष्ण के बाल-जीवन की घटनाएँ भी स्मृति रूप में प्रस्तुत की गईं, काव्य का मुख्य विषय व्रजवासियों के रुदन से युक्त है। बगसी

हंसराज कृत विरह विलास की भाँति प्रियप्रवास भी व्रजवासियों के आँसुओं से सजल है।

सुविधा के लिये प्रियप्रवास की कथावस्तु पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध इन दो खंडों में विभक्त की जा सकती है। 'हरिऔध' और उनका 'प्रिय-प्रवास' के लेखक ने भी कथावस्तु के इस विभाजन को स्वीकार किया है।[1] प्रथम से अष्टम सर्ग तक की कथा पूर्वार्द्ध खण्ड के अन्तर्गत है। इसमें संध्यावर्णन, व्रजवासियों का कृष्णप्रेम, अक्रूर आगमन कंस निमंत्रण, यशोदा, राधा आदि का विलाप, कृष्ण मथुरा गमन नंद का मथुरा से लौटना एवं कृष्ण बलराम के कभी न आने का समाचार प्राप्त होने के प्रसंग हैं।

उत्तरार्द्ध का सम्बन्ध उद्धव व्रजागमन एवं उनके षटमास निवास से है। भ्रमरगीत के अन्तर्गत उत्तरार्द्ध कथावस्तु ही आती है। यह प्रसंग नवम से सप्तदश अर्थात् नव सर्गों में वर्णित है। एक बार कृष्ण अपने भवन में एकाकी बैठे हुए थे। व्रजभूमि एवं व्रजवासियों की स्मृति ने उन्हें विकल कर दिया था। इसी समय उनके ज्ञान-वृद्ध उद्धव नामक मित्र आ पहुँचे। कृष्ण को उदास देखकर उन्होंने कारण पूछा तो कृष्ण ने उनसे अपनी विकलता, विवशता सभी कुछ कह कर नन्द, यशोदा और गोपियों एवं राधा को धैर्य बँधाने के निमित्त व्रज जाने का आग्रह किया। उद्धव दूसरे दिन प्रातःकाल व्रज को चल दिये। वहाँ उन्होंने दुखी नंद, यशोदा, ग्वाल बाल आदि को देखकर सान्त्वना दी और कुछ मास रह कर मथुरा लौट आए। सप्तदश सर्ग में कृष्ण के द्वारिका गमन एवं राधा के लोक सेविका रूप का चित्रण कर कवि ने यह प्रसंग समाप्त कर दिया है।

उद्धव गोपी सम्वाद का यह प्रसंग प्राचीन होते हुये भी नवीन है। कवि ने इसकी योजना भिन्न प्रकार से की है। भाव, विचार भाषा छन्द सभी दृष्टि से यह पूर्ववर्ती कवियों से सर्वथा भिन्न होने के कारण ही महत्वपूर्ण है। इसमें कृष्ण के बालजीवन का चित्रण स्मृति रूप में हुआ है। उद्धव के व्रज आने पर कभी ग्वाल मंडली कभी वृद्धाओं का समूह और कभी पुरवासी कृष्ण की बाल-लीलाएँ

१—पृ० ३८ सं० २०००

स्मरण कर दुखी होते हैं। इन कथा प्रसंगों को नवीन रूप देकर कवि ने कृष्ण के अति मानवीय कार्यों को बौद्धिक तुला पर तौल कर मानवीय बनाने का भी प्रयत्न किया है। फिर भी प्रियप्रवास की कथावस्तु में रोचकता का अभाव है। प्रियप्रवास के कथानक की आलोचना करते हुये एक आलोचक ने लिखा है—सारांश यह है कि प्रियप्रवास की कथावस्तु अत्यन्त ही शिथिल अरोचक, विश्रृङ्खल और प्रस्पंदन रहित है जिसके कारण इसकी एकरसता पाठक को हमेशा खटकती है।[१] इस एकरसता का कारण वार्त्तालाप का अभाव है। उद्धव कृष्ण का संदेश लेकर ब्रज आते हैं और नन्द यशोदा गोप गोपियों को सान्त्वना देते हैं। यह वह स्थल है जहाँ उद्धव के मुख से कुछ कहला कर कथा को रोचक बनाया जा सकता था किन्तु कवि ने ऐसे स्थलों पर ध्यान ही नहीं दिया है। नवम् सर्ग में उद्धव के ब्रज प्रवेश के अवसर पर सभी ब्रजवासी उन्हें कृष्ण समझ आनन्दमग्न हो जाते हैं किन्तु कृष्ण के स्थान पर उद्धव को देखकर उनकी विचित्र दशा हो जाती है। यह देख उद्धव उन्हें समझाने के लिए रथ से उतर पड़ते हैं। कवि ने इस प्रसंग का वर्णन निम्न पंक्तियों में किया है—

अधीर होने हरि-बंधु भी लगे,
तथापि वे छोड़ सके न धीर को।
स्व-यान को त्याग लगे प्रबोधने,
समागतों को अति शान्ति भाव से।
यों ही प्रबोध करते पुरवासियों का,
प्यारी-कथा-परम-शान्ति करी सुनाते।
आये ब्रजाधिप-निकेतन पास ऊधो,
पूरा प्रसार करती करुणा जहाँ थी।

न० सर्ग १३१-१३२

सत्य तो यह है कि उद्धव जिस प्यारी परम शान्तकरी कथा को सुना रहे थे उसे सुनने के लिए पाठक भी आकुल हैं। किन्तु उनकी यह इच्छा कभी पूर्ण न हो सकी। उद्धव ने अनेक अवसरों पर पुत्र वियोग से दुखी यशोदा, कृष्ण को याद करने वाली गोपियों

१—पृ० ४५ अरिग्रौध और उनका प्रियप्रवास २०००

और बाल विनोद प्रिय गोपों को कृष्ण का मधुर संवाद सुनाया है किन्तु परिस्थिति सभी जगह एक सी है। केवल चतुर्दश सर्ग इसका अपवाद है। यहाँ उद्धव की मधुर वाणी सुनाई पड़ी है। यही कारण है कि यह सर्ग अन्य सर्गों की अपेक्षा अधिक रोचक प्रतीत होता है। चतुर्दश सर्ग में कृष्ण के ब्रज न आने का कारण विस्तार से कहा गया है। उद्धव का समस्त कथन नवयुगीन विचारधारा से प्रभावित है। प्रियप्रवास के पूर्व कृष्ण का यह स्वरूप भ्रमरगीत में अलभ्य था यद्यपि श्रीकृष्ण की कर्तव्य भावना का उल्लेख विरह विलास से भी हुआ है तथापि उसमें इतनी दृढ़ता नहीं है।

विरह वर्णन

प्रिय प्रवास विप्रलंभ शृंगार की रचना है। कार्यवश प्रवास के अन्तर्गत यह भविष्य विप्रलम्भ से आरम्भ होता है। उत्तरार्द्ध का सम्बन्ध वर्तमान प्रवास से है। सूरदास के सदृश हरिऔध ने भी शृंगारिक और अशृंगारिक दोनों प्रकार के विरह का वर्णन किया है। इस प्रकार प्रियप्रवास में वात्सल्य, विप्रलम्भ और शृंगार-विप्रलम्भ की धारा समानान्तर रूप से बह रही है। सूरसागर में विरह का यह स्रोत नंद के ब्रजागमन पर फूट निकलता है किन्तु प्रियप्रवास में अक्रूर आगमन के समाचार मात्र से ब्रजवासी आगत वियोग की कल्पना से विकल हो जाते हैं। वात्सल्य विरह के अन्तर्गत नंद यशोदा के अतिरिक्त उन वृद्ध गोप गोपियां के विरह वर्णन का भी समावेश हो जाता है जो कृष्ण से पुत्रभाव से प्रेम करते थे। ये उद्धव के आने पर उनसे रो रोकर अपनी व्यथा प्रगट करते हैं। वात्सल्य विप्रलम्भ में यशोदा विरह का जितना मार्मिक वर्णन हुआ है उतना अन्य का नहीं। मां के दुख दग्ध हृदय की विकलता का सफल चित्रण सप्तम् एवं दशम सर्ग में हुआ है। नंद जब तक मथुरा से नहीं लौटे थे यशोदा के हृदय में एक क्षीण आशा थी—पुत्र के सकुशल लौट आने की। किन्तु नंद को अकेला आता देख उनका हृदय भावी आशंका से कांप उठा। विक्षिप्त सी वे नंद के चरणों के निकट गिर रो रोकर पति से पूछने लगीं—

प्रिय पति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है ?
दुख-जलधि-निमग्ना का सहारा कहाँ है ? स० सर्ग ११

यशोदा का एक एक शब्द हृदय पर चोट करने वाला है। इस भाँति विलखती यशोदा को देखकर कौन ऐसा होगा जिसकी आँखें करुणा से सजल न हो उठें। विरह के इस क्षण में उसे कृष्ण की मंजुल मूर्ति स्मरण हो आई। कृष्ण ने उसके तमावृत जीवन में किस भांति आनन्द प्रकाश विकीर्ण कर दिया था, प्रति क्षण कृष्ण की लीलाओं में ही उनका समस्त दिन व्यतीत होता था। आज एक एक बात की स्मृति हृदय को विदीर्ण किये डाल रही है। अनेक पुण्य, यज्ञ आदि के फलस्वरूप वृद्धावस्था में उन्हें यह पुत्र रत्न मिला था। अक्रूर आगमन से उसकी कल्याण कामना के लिए विशेष सतर्क थी सो सौभाग्यवश दुष्ट कंस का विनाश हो गया किन्तु इस नवीन आपदा की तो उन्होंने स्वप्न में भी कल्पना न की थी। कृष्ण के मथुरा वास के नवीन समाचार ने उन्हें उद्विग्न कर दिया—वे पति से बोलीं—

प्रियतम ! अनसोची ध्यान में भी न आई।
यह अभिनव कैसी आपदा आ पड़ी है॥ स० सर्ग २८

कृष्ण वियोग-व्यथा को सहन करने में जब वे सर्वथा असमर्थ हो गईं तो—

हा ! वृद्धा के अतुल धन हा ! वृद्धता के सहारे !
हा ! प्राणों के परम प्रिय हा ! एक मेरे दुलारे ! स० सर्ग ५६

कह कर विलाप करती हुई मूर्च्छित हो गईं। यशोदा की करुण दशा एवं मर्मस्पर्शी विलाप सहृदय को द्रवित करने के लिये पर्याप्त है।

नंद को मथुरा से आए पर्याप्त समय व्यतीत हो गया। उन्होंने मृतप्राय यशोदा को धैर्य बंधाने के लिये जो आशापूर्ण शब्द कहे थे उनकी सत्यता भी अब प्रकट हो चुकी थी। समय बीत जाने के कारण यशोदा के दुख का प्रभाव जो पहाड़ी नदी के समान वेगवान था समतल भूमि में बहने वाली सरिता के सदृश गम्भीर हो गया था। पुत्र के मिलन की आशा अब भी उन्हें जीवित रखे थी यद्यपि जीवन का आनन्द, उल्लास सब कुछ नष्ट हो चुका था। नंद के यशोदा के दुखी जीवन की एक झलक उनके उद्धव आगमन के अवसर

पर मिलती है। उद्धव के सम्मुख बैठे नंद का वर्णन कवि ने निम्न पंक्तियों में किया है—

कृश-कलेवर चिंतत व्यस्त थीं;
मलिन आनन खिन्नमना दुखी।
निकट ही उनके व्रज भूप थे;
विकलताकुलता-अभिभूत से। द० सर्ग ५

कवि ने विरह की विभिन्न दशाओं एवं स्थितियों में चिन्ता-कृशता तथा असौष्ठव आदि का वर्णन भी यशोदा विरह प्रसंग में किया है।

आवेगों से विपुल विकला शीर्ण काया कृशांगी।
चिन्ता दग्धा व्यथित हृदया शुष्क-ओष्ठा अधीरा॥
आसीना थी निकट पति के अम्बु-नेत्रा यशोदा।
खिन्ना दीना विनत वदना मोह-मग्ना मलीना॥ द० सर्ग ६

उद्धव से श्रीकृष्ण के गुणानुवादों को सुनने के पश्चात् यशोदा ने जो कुछ कहा वह मातृ-हृदय की आकुलता को ही प्रकट करता है। कृष्ण को मथुरा गए बहुत समय हो गया है। वहाँ के प्रतिदिन ही समाचार सुनाई पड़ते हैं किन्तु इससे यशोदा का अतृप्त हृदय संतुष्ट नहीं हो पाता। उद्धव का आगमन भी यशोदा के विकल हृदय को शान्ति प्रदान करने में असमर्थ है। संदेश को सुनकर तृप्त होने का समय बीत चुका है अतः संदेश की व्यर्थता को बताती हुई वे स्वयं उद्धव से कहती हैं। प्यासा प्राणी केवल जल के नाम को श्रवण कर कैसे संतुष्ट हो सकता है। जल में डूबने वाले को प्रत्यक्ष नौका ही लाभ पहुँचा सकती है। केवल नौका का नाम मात्र डूबते का अवलम्ब नहीं बन सकता। यहाँ तो कृष्ण की प्रतीक्षा में अहर्निश आँखें बिछी रहती हैं। रोते रोते ज्योति मंद पड़ गई है। बिना कृष्ण दर्शन के ये ज्योति हीन नेत्र पुनः प्रकाश नहीं पा सकते। ऐसी परिस्थिति में तुम जो संदेश लाए हो उससे मैं अपने को किस प्रकार धैर्य बंधाऊँ क्योंकि—

संवादों से श्रवण-पुट भी पूर्ण से हो गए हैं।
थोड़ा छूटा न अब उनमें स्थान संदेश का है।

सायं प्रातः प्रति-पल यही एक वांछा उन्हें हैं।
प्यारी-बातें मधुर मुख की मुग्ध हो क्यों सुनें वे। द० सर्ग १५

यशोदा के इस कथन में कितनी सत्यता है। संदेशों का मूल्य तभी तक है जब तक संदेश प्राप्त नहीं होता किन्तु विरह व्यथा का उपचार तो मिलन ही है।

यशोदा विरह-वर्णन में हरिऔध ने संचारी और अनुभावों का वर्णन कर इसे अधिक प्रभावशाली बना दिया है। विरह की दशाओं में से अनेक का वर्णन यशोदा विरह में उपलब्ध है।

गोपियों एवं राधा का विरह-वर्णन वर्तमान विप्रलंभ के अन्तर्गत आता है। जैसाकि पूर्व कहा जा चुका है यह प्रवास कार्य-वश है। कृष्ण के मथुरा वास के कारण ही गोपियों के हृदय में विरह का अपार समुद्र उमड़ पड़ा है। गोपियों एवं राधा के विरह-वर्णन में भक्ति-युगीन आध्यात्मिक संदेश नहीं और न रीतियुगीन नायि-काओं के सदृश इस विरह में ऐंद्रिय तृप्ति की विकलता है। राधा कृष्ण के सान्निध्य के लिए ही तड़पती हैं। इस छटपटाहट में भी वह अपने नारी आदर्श को भूल नहीं सकीं। फिर भी वियोग की दश अवस्थाओं से वह मुक्त न हो सकी। कृष्ण की स्मृति उन्हें हर क्षण सताती है। प्रकृति के प्रत्येक कण में कृष्ण का ही रूप दिखाई पड़ता है। भ्रमर को देखकर वर्ण-साम्य के आधार पर उन्हें मनमोहन कृष्ण की स्मृति हो आती। मधुप का वर्ण, पीत कटि, और गुंजार सभी कुछ कृष्ण की स्मृति सजीव कर देते हैं—

मधुकर सुन तेरी श्यामता है न वैसी
अति अनुपम जैसी श्याम के गात की है।
पर जब जब आँखें देख लेती तुझे हैं,
तब तब सुधि आती श्यामली मूर्ति की है।
तव तन पर जैसी पीत आभा लसी है,
प्रियतम कटि में है सोहता वस्त्र वैसा।
गुन गुन करना औ गूँजना देख तेरा,
रसमय-मुरली का नाद है याद है आता।

पंचदश सर्ग ६६-६७

कृष्ण के गुणकथन से सम्पूर्ण (उत्तरार्द्ध) प्रियप्रवास पूर्ण है। उद्धव से अपनी विरह-व्यथा का उल्लेख करती हुई गोपियाँ, गोप, यशोदा सभी कृष्ण के शील सौन्दर्य और शक्ति की सराहना करते हैं। वियोग के इस क्षण में उन्हें कृष्ण की एक एक लीलाएँ स्मरण हो आई हैं। उन्हें दुखों से बचाने के लिए कृष्ण ने क्या नहीं किया। गुण-कथन के रूप में ही गोपियों ने कृष्ण जन्म की समस्त कथा कह सुनाई है। कृष्ण की गुणावली का कहीं अन्त ही नहीं है ज्योंही एक गोप अपनी बात समाप्त करता है त्योंही दूसरा गोप कहना आरम्भ कर देता है। ब्रजवासियों के ये उद्‌गार उनके अपूर्व कृष्ण प्रेम के परिचायक हैं।

विरह आधिक्य के कारण जब प्रेमी को विरह-व्यथा असह्य हो जाती है उस समय वह जड़ चेतन के भेद को भूल जाता है। उसके अन्तःकरण के उद्‌गार पशु पक्षी एवं वृक्षों के सम्मुख निःसृत होने लगते हैं—उस अवस्था को प्रलाप की संज्ञा दी गई है। प्रिय-प्रवास उत्तरार्द्ध में इस अवस्था के अनेक उदाहरण हैं। पंचदश सर्ग में गोपी का पुष्पों, वृक्षों एवं भ्रमर के प्रति किया गया कथन उसकी प्रलापावस्था को सूचित करता है।

विरह की अन्य अवस्थाओं का चित्रण भी प्रियप्रवास में यथास्थान मिलता है। प्रियप्रवास का यह विरह एकांगी नहीं है। ब्रजवासियों के सदृश कृष्ण भी उनके विरह में दुखी हैं किन्तु कर्तव्य की भावना ने दोनों को मिलन का सुअवसर न दिया।

हरिऔध तथा अन्य पूर्ववर्ती कवियों के विरह वर्णन में एक विशेष अन्तर है। हरिऔध की गोपियाँ कहीं भी उद्धव अथवा कृष्ण को न तो उपालम्भ देती हैं और न उन पर व्यंग्य ही करती हैं। कुब्जा का तो इसमें कहीं नाम ही नहीं आया है। इस प्रकार हरिऔध ने विरह दशाओं का चित्रण करते हुये भी श्लीलता का पूर्ण ध्यान रखा है। इस सतर्कता का कारण उनका आदर्शवाद एवं तत्कालीन समाज की माँगें हैं।

इसी आदर्श भावना के कारण हरिऔध की विरहणी लोक-सेविका बन जाती है। राधा का व्यक्तिगत प्रेम विश्व प्रेम में परिणत

हो जाता है। सागर के अन्तर में निरन्तर प्रज्वलित बड़वाग्नि के सदृश ही राधा के हृदय में कृष्ण प्रेम की ज्योति जल रही है। प्रेम का यह प्रकाश ही लोक कल्याण और विश्व प्रेम के पथ को आलोकित कर रहा है। किन्तु जिस प्रकार समुद्र तट पर खड़ा व्यक्ति अतुल जल राशि को ही देख पाता है उसी भाँति राधा का लोक-सेविका रूप ही दिखाई पड़ता है। सत्य तो यह है कि लोक-सेविका राधा से भी महान् प्रणयी राधा का स्वरूप है जो उसके विश्व प्रेमिका के रूप में प्रकट हुआ है।

रस

हरिऔध की मौलिक कल्पना अति आदर्शवादिता के कारण ही राधा की विरह-भावना का यह नव रूप दिखाई पड़ता है। इस परिवर्तन के कारण ही रचना की समाप्ति विप्रलंभ शृंङ्गार में न होकर शान्त रस की ओर उन्मुख जान पड़ती है। इसी को ध्यान में रखकर श्री धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने रस पर विचार करते समय गोपियों और विशेषकर राधा के विलाप को प्रवास विप्रलम्भ के साथ ही करुण के अन्तर्गत माना है। विप्रलम्भ और करुण का अन्तर स्पष्ट करते हुए उन्होंने एक स्थान पर लिखा है, ".........किन्तु अन्त में चलकर वह प्रवास-विप्रलंभ हमारी समझ में करुण में रूपान्तरित हो गया है। क्योंकि विप्रलंभ और करुण में मुख्य अन्तर यही है कि विप्रलम्भ में संभोग की परिणति होना आवश्यक है किन्तु करुण में आरम्भ से अन्त तक शोक ही शोक रहता है। इसमें मिलन की आशा नितान्त उन्मूलित हो जाती है। प्रियप्रवास में भी पीछे चलकर आशा बिलकुल निरस्त हो गई है और राधा एक ऐसे पथ की पथिक हो जाती है जो उसे शान्त रस की ओर प्रवृत्त कर देता है। विश्व की माधुरी में प्रियतम की माधुरी का आस्वादन करना कभी भी शृंगार के अन्तर्गत नहीं आ सकता।[१]

ब्रह्मचारीजी के कथन में दो-तीन बातें विचारणीय हैं—प्रथम तो ब्रह्मचारी जी के अनुसार विप्रलम्भ में संभोग की परिणति होना आवश्यक है। मेरे विचार से विप्रलम्भ के लिए इस प्रकार की सीमा नियत करना आवश्यक नहीं। क्योंकि जब तक वियोग की अवस्था

१—पृ० १२३

है चाहे वह मानजनित अथवा प्रवास जनित है तभी तक विप्रलम्भ है, किन्तु इस अवस्था के संयोग में परिणत होते ही विप्रलम्भ नष्ट हो जाता है। विप्रलम्भ में सभोग की परिणति नहीं बल्कि संयोग की इच्छा अनिवार्य है। इच्छा के साथ ही आशा का भी सम्बन्ध है।

द्वितीय प्रश्न प्रियप्रवास के करुण रस में रूपान्तरित होने से सम्बन्धित है। ब्रह्मचारी जी और कृष्णकुमार सिन्हा के विचार से प्रियप्रवास प्रवास हेतुक—विप्रलंभ शृङ्गार प्रधान महाकाव्य होते हुये भी करुण रस में रूपान्तरित हुआ है और बाद में शान्त रस की ओर प्रवृत्त हो गया।[१]

विप्रलंभ और करुण रस में बड़ी समानता है। दोनों के संचारी भाव और अनुभाव प्रायः समान हैं। मूल अन्तर दोनों के स्थायी भावों में है। विप्रलम्भ का स्थायी भाव रति और करुण का शोक है। प्रियप्रवास में राधा और गोपियाँ कृष्ण से प्रेम करती हैं। इस प्रकार स्थायी भाव रति है। गोपियों के विरह का मुख्य कारण कृष्ण का मथुरा प्रवास है मृत्यु नहीं। यदि नायक कृष्ण की मृत्यु के कारण गोपियाँ और राधा दुखी होतीं तो उनका दुख करुण रस के अन्तर्गत आता किन्तु यहाँ पर परिस्थिति भिन्न है। कृष्ण जीवित हैं और उनके हृदय में भी समान प्रेम है किन्तु कर्तव्य वश वे गोपियों से मिलने में असमर्थ हैं। सप्तदश सर्ग में भी कृष्ण के द्वारिकागमन का ही समाचार आया है, मृत्यु का नहीं। अतः ऐसी परिस्थति में गोपियों एवं राधा के विरह का स्थायीभाव शोक न होकर रति ही समझा जायेगा। रति स्थायी भाव होने से यह विरह वर्णन विप्रलम्भ के अन्तर्गत ही आयेगा, करुण के नहीं।

विप्रलम्भ के विषय में यह कहा जा चुका है कि संयोग की इच्छा और आशा का होना आवश्यक है। (संयोग की परिणति आवश्यक नहीं है) उद्धव के मथुरा गमन के कुछ काल पश्चात् ही गोपियों ने एक समाचार सुना—

उत्पातों से मगध-नृप के श्याम ने व्यग्र होके।
त्यागा-प्यारा-नगर मथुरा जा बसे द्वारिका में।
सप्तदश सर्ग ७

१—पृ० १७६ हरिऔध और उनका प्रियप्रवास सन् १९५२

है चाहे वह मान जनित अथवा प्रवास जनित है तभी तक विप्रलम्भ है, किन्तु इस अवस्था के संयोग में परिणत होते ही विप्रलम्भ नष्ट हो जाता है। विप्रलम्भ में संभोग की परिणति नहीं बल्कि संयोग की इच्छा अनिवार्य है। इच्छा के साथ ही आशा का भी सम्बन्ध है।

द्वितीय प्रश्न प्रियप्रवास के करुण रस में रूपान्तरित होने से सम्बन्धित है। ब्रह्मचारी जी और कृष्णकुमार सिन्हा के विचार से प्रियप्रवास प्रवास हेतुक—विप्रलंभ शृङ्गार प्रधान महाकाव्य होते हुये भी करुण रस में रूपान्तरित हुआ है और बाद में शान्त रस की ओर प्रवृत्त हो गया।[1]

विप्रलंभ और करुण रस में बड़ी समानता है। दोनों के संचारी भाव और अनुभाव प्रायः समान हैं। मूल अन्तर दोनों के स्थायी भावों में है। विप्रलम्भ का स्थायी भाव रति और करुण का शोक है। प्रियप्रवास में राधा और गोपियाँ कृष्ण से प्रेम करती हैं। इस प्रकार स्थायी भाव रति है। गोपियों के विरह का मुख्य कारण कृष्ण का मथुरा प्रवास है मृत्यु नहीं। यदि नायक कृष्ण की मृत्यु के कारण गोपियाँ और राधा दुखी होतीं तो उनका दुख करुण रस के अन्तर्गत आता किन्तु यहाँ पर परिस्थिति भिन्न है। कृष्ण जीवित हैं और उनके हृदय में भी समान प्रेम है किन्तु कर्तव्य वश वे गोपियों से मिलने में असमर्थ हैं। सप्तदश सर्ग में भी कृष्ण के द्वारिकागमन का ही समाचार आया है, मृत्यु का नहीं। अतः ऐसी परिस्थति में गोपियों एवं राधा के विरह का स्थायीभाव शोक न होकर रति ही समझा जायेगा। रति स्थायी भाव होने से यह विरह वर्णन विप्रलम्भ के अन्तर्गत ही आयेगा, करुण के नहीं।

विप्रलम्भ के विषय में यह कहा जा चुका है कि संयोग की इच्छा और आशा का होना आवश्यक है। (संयोग की परिणति आवश्यक नहीं है) उद्धव के मथुरा गमन के कुछ काल पश्चात् ही गोपियों ने एक समाचार सुना—

उत्पातों से मगध-नृप के श्याम ने व्यग्र होके।
त्यागा-प्यारा-नगर मथुरा जा बसे द्वारिका में।
सप्तदश सर्ग ७

१—पृ० १७६ हरिऔध और उनका प्रियप्रवास सन् १९५२

इस दुखद संवाद को सुनकर भी व्रजवासी कृष्ण-मिलन की आशा को त्याग न सके।

> व्यापी भू के उर-तिमिर सी है जहाँ पै निराशा।
> हैं आशा की मलिन किरणें ज्योति देती वहाँ भी॥६॥ १
>
> सप्तदश सर्ग ७

जहाँ आशा का सबल सम्बल है वहाँ करुण रस की उद्भावना मान लेना युक्ति संगत नहीं जान पड़ता। व्रजवासी कृष्ण के मथुरा प्रवास से ही दुखी थे, द्वारिकावास सुनकर तो रक्त के अश्रु बहाने लगे। किन्तु दुख की इस चरम अवस्था में भी वे मिलन की मधुर आशा उन्हें जीवित रखे हैं—

> आशा त्यागी न व्रज महि ने हो निराशामयी भी,
> लाखों आँखें पथ कुंवर का आज भी देखती थीं।
> मात्रायें भी समधिक हुई शोक दुखादिकों की,
> लोहू आता निकल-दृग में वारि के स्थान में था।
>
> सप्तदश सर्ग १०

जिस दिन आशा का यह क्षीण तंतु भी छिन्न भिन्न हो जायेगा उसी दिन विप्रलम्भ की परिणति करुण में हो सकेगी। एक प्रश्न यह भी हो सकता है कि यह व्रजवासियों के सम्बन्ध में कहा गया है। राधा के हृदय में अब कोई आशा शेष नहीं है। इस विषय में यह कहा जा सकता है कि राधा व्रजवासियों से अलग नहीं है। उनका विश्व-प्रेम कृष्ण-प्रेम का उन्नयन मात्र है। राधा को भी कृष्ण के आने की आशा बनी है और यशोदा को समझाते हुये वे कहती हैं—

> हाँ आवेंगे, व्यथित-व्रज को श्याम कैसे तजेंगे।
>
> सप्तदश सर्ग ३८

यहाँ पर कहा जा सकता है कि यह यशोदा को सान्त्वना देने के लिए ही कहा गया। यह ठीक है कि यह एक भुलावा है किन्तु भुलावा भी किसी आधार पर है। पुत्र की अथवा पति की मृत्यु से दुखी किसी नारी को इन शब्दों द्वारा सांत्वना नहीं दी जा सकती है। अतः गोपियों और राधा का विरह करुण रस की अपेक्षा विप्रलम्भ

श्रृङ्गार के अन्तर्गत समझा जायेगा। यह भिन्न बात है कि इसे हम विप्रलम्भ श्रृङ्गार के चतुर्थ भेद करुण विप्रलम्भ के अन्तर्गत रखें।

प्रकृति वर्णन

काव्य में प्रकृति वर्णन का प्रमुख स्थान है। भक्ति युग में सूर तुलसी आदि ने प्रकृति के मनोरम चित्र खींचे हैं। विरहावस्था में भी सूर ने प्रकृति को विभिन्न रूपों में देखा है। किन्तु रीतिकाल में प्रकृति का उद्दीपन रूप ही प्रधान रहा। रीतिकालीन कवियों के प्रकृति चित्रण में चमत्कार और अलंकार की प्रधानता रहती, कहीं कहीं प्राकृतिक उपादानों की सूची प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती। उपदेश एवं नीति के लिए भी प्रकृति वर्णन किया जाता था। तत्कालीन प्रकति वर्णन में मर्मस्पर्शिता का अभाव स्वाभाविक था।

परम्परागत इस प्रकृति चित्रण की प्रतिक्रिया आधुनिक युग में हुई। द्विवेदी युग में उपर्युक्त रूपों के अतिरिक्त प्रकृति का अंकन आलम्बन रूप में भी होने लगा। हरिऔध ने प्रियप्रवास में प्रकृति का अनेक रूपों में चित्रण किया है। अपने नैसर्गिक प्रकृति-प्रेम के कारण वे स्वतंत्र रूप से प्रकृति का सुन्दर चित्रण करने में सफल हो सके हैं। नवम सर्ग में प्रकृति का चित्रण आलम्बन रूप में ही किया गया है।

प्रकृति के उद्दीपन रूप का चित्रण भी प्रियप्रवास में स्थान-स्थान पर मिलता है गोपियाँ कृष्ण वियोग से दुखी हैं। प्रकृति की शोभा देख उन्हें कृष्ण का स्मरण हो आता और व्यथा तीव्र हो जाती।

फूली डालें सुकुसुममयी नीम की देख आँखें।
आ जाती है हृदय-धन की मोहिनी मूर्ति आगे॥

ऋतुराज बसन्त के आगमन पर जब लताएँ पुष्पित हो जाती, आम्र मंजरी की भीनी सुगन्ध फैल जाती, समस्त पृथ्वी पर रस की वर्षा होने लगती और मनसिज मानस में मादकता उत्पन्न कर देता, शीतल, मंद, सुगन्ध पवन जब कलिकाओं से अठखेलियाँ करने लगता, मस्त कोमल कूक उठती उस समय ब्रज का यह मदमस्त कर देने वाला प्राकृतिक सौन्दर्य ब्रजबालाओं को उद्विग्न कर देता, वे विकल, उनींदी और विक्षिप्त सी दिखाई पड़तीं। कभी किसी पक्षी

को गगन में विहार करते देख उनके हृदय में भी उड़कर प्रियदर्शन की कामना जाग्रत हो जाती—

जो मैं कोई विहँग उड़ता देखती व्योम में हूँ,
तो उत्कण्ठा विवश चित्त में आज भी सोचती हूँ।
होते मेरे निबल तन में पक्ष जो पक्षियों से,
तो यों ही मैं समुद उड़ती श्याम के पास जाती।

षोडश सर्ग ५४

विरह की विकलता में व्यक्ति मानव जगत से उठकर समस्त जड़ चेतन से अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है। इस प्रकार उसे फूल पत्तों एवं पशु पक्षियों में अपने दुख-सुख को समझने और अनुभव करने की शक्ति दिखाई पड़ने लगती है। प्रकृति से इस प्रकार का आत्मीय सम्बन्ध जोड़ना ही मानवीकरण कहलाता है। विप्रलंभ शृंगार में प्रकृति चित्रण का यह रूप भी दिखाई पड़ता है। भ्रमर-गीतों में तो इस प्रकार का प्रकृति वर्णन अनेक रचनाओं में मिलता है। प्रियप्रवास में भी एक गोपी बनस्पति (पुष्पों से) जगत से अपना सम्बन्ध जोड़ कर पूछती है—

मेरी बातें तनिक न सुनी पातकी-पाटलों ने,
पीड़ा नारी हृदय-तल की नारि ही जानती है।
जूही तू है विकच-वदना शान्ति तू ही मुझे दे॥

पंचदश सर्ग ८

मानवीकरण के सदृश ही मानवीमनोभावनाओं का आरोप भी प्रकृति में मिलता है। सूर की गोपियाँ श्याम कलिंदजा को अपने ही सदृश विरह ज्वर से पीड़ित समझती हैं, कभी पपीहा की पुकार में उन्हें विरहिणी नारी की आह सुनाई पड़ती है। प्रियप्रवास की गोपियाँ भी चम्पा में अपनी ही परिस्थिति के दर्शन करती हैं—

चम्पा तू है विकसित मुखी रूप औ रंगवाली,
पाई जाती सुरभि तुझमें एक सत्यपुरुष-सी है।
तो भी तेरे निकट न कभी भूल है भृंग आता,
क्या है ऐसी कसर तुझ में न्यूनता कौनसी है॥

पंचदश सर्ग २८

चम्पा के समान ही रूप लावण्यमयी गोपियाँ कृष्ण द्वारा त्याग दी गई हैं। इस वियोग का क्या कारण है इसे वह स्वतः ही नहीं समझ पातीं।

हरिऔध ने परम्परागत षट् ऋतुओं का वर्णन भी किया है। ग्रीष्म, वर्षा आदि का वर्णन कृष्ण-गुण कथन के अवसर पर प्रसंगवश किया गया है। कुछ सर्गों का आरम्भ भी ऋतु-वर्णन से होता है। षोडश सर्ग के आरम्भ में वसंत ऋतु का सुन्दर चित्रण मिलता है। यथा—

विमुग्धकारी मधु मंजु मास था,
बसुन्धरा थी कमनीयता-मयी।
विचित्रता-साथ विराजिता रही,
बसंत बासंतिका बनान्त में।
नवीन भूता बन की विभूति में,
विनोदिता वेलि विहंग-वृन्द में।
अनूपता व्यापित थी बसंत की,
निकुंज में कूजित कुंज कुंज में। षोडश सर्ग १-२

प्रकृति के अलंकारिक रूप का वर्णन साहित्य में अत्यधिक होता है। इसमें विविध साम्य मूलक अलंकारों के आधार पर प्रकृति शोभा का वर्णन प्रस्तुत किया जाता है। रीतिकाल में प्रकृति वर्णन का यह स्वरूप अलंकार बाहुल्य के कारण बोझिल हो गया फलस्वरूप उसमें चमत्कार की ही प्रधानता रह गई। हरिऔध ने जहाँ कहीं इस प्रकार का चित्रण किया है वहाँ अलंकारों की स्वाभाविक योजना काव्य सौंदर्य को बढ़ाने में पूर्णतः सफल हुई है। यशोदा उद्धव से वार्तालाप करते समय रूपक अलंकार की सहायता से अपने भावों को व्यक्त करती है—

ऊधौ मेरा हृदय तल था एक उद्यान न्यारा।
शोभा देती अमित उसमें कल्पना क्यारियाँ थीं॥
प्यारे प्यारे कुसुम कितने भाव के थे अनेकों।
उत्साहों के विपुल विटपी मुग्धकारी महा थे॥ दशम सर्ग ४८

प्रकृति वर्णन के विभिन्न रूपों द्वारा ही प्रियप्रवास का कलेवर बढ़ाया गया है। यदि प्रकृति चित्रण के अंशों को निकाल दिया जाय

तो महाकाव्य का लघु रूप ही दिखाई पड़ेगा। किन्तु यह प्रकृति
वर्णन सर्वत्र सरस एवं रोचक नहीं बन पड़ा है। नवम सर्ग में कवि
ने वृक्षों की एक तालिका प्रस्तुत की है—

जम्बू अम्ब कदम्ब निम्ब फालसा जम्बीर औ आंवला,
लीची दाड़िम नारि केल इमिली औ शिंशपा इंगुदी।
नारंगी अमरूद बिल्व बदरी सागौन शालादि भी,
श्रेणी बद्ध तमाल ताल कदली शाल्मली थे खड़े।

नवम सर्ग २५

प्रकृति वर्णन का यह रूप काव्य के मूल उद्देश्य रस सृष्टि को
सिद्ध करने में असमर्थ है। इसे पढ़कर पाठक चाहे विभिन्न नामों से
परिचित हो जाये किन्तु वह इसकी सराहना नहीं कर सकता। प्रकृति
वर्णन की यह शैली उसके हृदय को मुग्ध नहीं कर सकती वरन् इस
प्रकार के विशद वर्णन उबा देने वाले ही होते हैं। प्रियप्रवास में इस
प्रकार का प्रकृति चित्रण नवम सर्ग में ही हुआ। हरिऔध प्रकृति
चित्रण पर विचार करने के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि द्विवेदी
युग के प्रयोग कालीन समय में हरिऔध ने प्रकृति का विशद वर्णन
कर प्रकृति चित्रण के क्षेत्र में एक नवीन परिपाटी को जन्म दिया है।

काव्य-कला

अलंकारों का प्रयोग काव्य की शोभा वृद्धि के लिए भी होता है
किन्तु शोभा का मापदण्ड समय के अनुसार परिवर्तित होता रहता
है। किसी समय नखशिख से अलंकृत काव्य कामिनी ही छविमयी
समझी जाती थी। किन्तु कुछ समय उपरान्त यह समझा जाने लगा
कि अलंकारों के भार से दबी कविता अपने स्वाभाविक सौन्दर्य को भी
खो देती है। अतः काव्य में अलंकारों के अतिशय प्रयोग की रुचि
धीरे-धीरे कम होने लगी। आधुनिक युग में काव्य के सौन्दर्य के लिए
अलंकारों की प्रचुरता आवश्यक समझी जाती है। अलंकार प्रियता
का सम्बन्ध समय और व्यक्ति दोनों से है। हरिऔध जिस समय
काव्य जगत में आए थे वह अलंकार का युग था और स्वयं भी वे
अलंकार प्रिय थे। किन्तु हरिऔध ने अलंकार प्रियता के सम्मुख
भावों की बलि नहीं चढ़ाई। प्रियप्रवास में अलंकारों का प्रयोग भावों
की सहज स्वाभाविक गति में बाधक नहीं है। बल्कि भाषा और भाव
सौन्दर्य को बढ़ाने में सहायक ही है।

भाषा सौन्दर्य के लिये हरिऔध ने शब्दालंकारों का प्रयोग किया है। अनुप्रास के विविध भेदों में से छेका, वृत्य और श्रुत्यानुप्रास का ही प्रयोग हुआ है। छेकानुप्रास की छटा अनेक स्थलों पर देखने को मिलती है। यथा—

(१) कृश—कलेवर—चिन्तित व्यस्त थी

× × ×

(२) आवेगों से विपुल विकला शीर्णकाया कृशांगी।

वृत्यानुप्रास का प्रयोग अपेक्षाकृत कम हुआ है किन्तु श्रुत्यानुप्रास की ओर कवि की विशेष रुचि है। शब्दालंकारों के अन्तर्गत यमक और श्लेष का भी प्रयोग हुआ है। यशोदा विरह वर्णन से श्लेष का एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

युग दृग जिससे हैं स्वर्ग सी ज्योति पाते,
उर तिमिर भगाता जो प्रभा पुंज से है।
कल द्युति जिसकी है चित उत्ताप खोती,
वह अनुपम हीरा नाथ मैं चाहती हूँ। सप्तम सर्ग ४४

प्रियप्रवास में अर्थालंकारों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। सादृश्य मूलक अलंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, संदेश और स्मरण मुख्य रूप से प्रयुक्त हुए हैं। नंद को अकेला आया देख यशोदा विलाप करती हुई मूर्च्छित हो गई। उन्हें सान्त्वना देने के लिये नंद ने आशापूर्ण दो शब्द कहे। आशा के इस अनुपम प्रभाव का वर्णन कवि ने उपमा अलंकार द्वारा किया है—

जैसे कोई पतित कण पा स्वाति के नीरदों का,
थोड़ी सी है परम तृषिता चातकी शान्ति पाती।
वैसे आना श्रवण कर के पुत्र का दो दिनों में,
संज्ञा खोती यसुमति हुई स्वल्प आश्वासितासी॥ स० सर्ग ६२

कृष्ण शोभा वर्णन में भी उपमा अलंकार का प्रयोग हुआ है।

दसन दो हँसते मुख मंजु में,
दरसते अति ही कमनीय थे।

नवल कोमल पंकज कोष में,
बिलसते विवि मौक्तिक हो यथा ॥ अष्टम सर्ग २८

साँगरूपक द्वारा यशोदा ने अपने भग्न-हृदय का वाटिका रूप में एक सुन्दर चित्र ही खींच दिया है। कृष्ण के कार्य कलापों का वर्णन भी रूपक द्वारा व्यंजित किया गया है। ब्रज को सदैव ही कृष्ण के भुज दण्डों का अवलम्ब रहा है। इसी का उल्लेख परम्परित रूपक में किया है—

ब्रज धरा यक बार इन्हीं दिनों,
पतित थी दुखवारिधि में हुई।
पर उसे अवलम्ब था मिला,
ब्रज विभूषण के भुज पौत का ॥ द्वादश सर्ग १७

कृष्ण छवि अंकन में कवि उत्प्रेक्षा का सहारा लेता है—

जब सुव्यंजक भाव विचित्र के,
निकलते मुख-अस्फुट शब्द थे।
तब कढ़े अधरांबुधि से कई,
जननि को मिलते वर रत्न थे। अष्टम सर्ग ३०

मानव अपने भावों का प्रतिबिम्ब इस जगत में देखता है कृष्ण विरह से दुखी गोपियाँ भी ब्रज के प्रत्येक कण में अवसाद की ही छाया देखती हैं। पंचदश सर्ग में कृष्ण विरह से व्याकुल प्रलाप करती हुई गोपी की विरह व्यथा संदेह अलंकार द्वारा ही प्रकट हुई है—

क्या तू भी है रुदन करती यामिनी मध्य योंही,
जो पत्तों में पतित इतनी बारि की बूँदियाँ हैं।
पीड़ा द्वारा मथित—उर के प्रायशः काँपती है,
या तू होती मृदु पवन से मन्द आन्दोलिता है ॥
पंचदश सर्ग १८

ब्रज की एक एक वस्तु कृष्ण की स्मृति तीव्रकर देती है। भंवरों की गुनगुनाहट और श्याम मेघों की श्यामता से उन्हें क्रमशः मुरली की धुनि और मनमोहन का स्वरूप स्मरण हो आता। दूध दही और मक्खन को देख कर कृष्ण की रुचि का ध्यान होता। इन भावों की व्यंजना के निमित्त कवि ने स्मरण अलंकार का प्रयोग किया है—

नीला-प्यारा उदक सरि का देख के एक श्यामा,
बोली हो के विरस-वदना अन्य गोपाँगना से।
कालिन्दी का पुलिन मुझको उन्मना है बनाता,
लीला-मग्ना जलद-तन की मूर्ति है याद आती॥
चतुर्दश सर्ग ४

इन प्रधान अलंकारों की अपेक्षा गौण अलंकारों की संख्या अधिक है। रचना में भ्रम, काव्यलिंग; लोकोक्ति, उल्लेख, अपह्नुति, अतिशयोक्ति, दीपक, निदर्शना, व्यतिरेक, समासोक्ति, परिकर, परिकराँकुर, विभावना, यथासंख्य, प्रतीप, पर्यायोक्ति आदि अनेक अलंकारों का प्रयोग हुआ है। बसंत वर्णन में यथासंख्य का बड़ा सुन्दर प्रयोग हुआ है—

निसर्ग ने, सौरभ ने, पराग ने,
प्रदान की थी अति कान्त भाव से।
वसुन्धरा को, पिक को, मिलिंद को,
मनोज्ञता, मादकता, मदांधता॥ षोड़ष सर्ग ५

भाषा शैली

प्रियप्रवास की रचना के पूर्व हिंदी में संस्कृत वृत्तों का प्रयोग नहीं होता था। साहित्य में कलापूर्ण भिन्नतुकांत कविता का भी अभाव था। इस अभाव को ध्यान में रख कर ही प्रियप्रवास की रचना की गई है। प्रियप्रवास की भूमिका में हरिऔध ने स्वयं लिखा है·········भाषा छन्दों में मैंने जो एक आध अतुकान्त कविता देखी उसको बहुत ही भद्दी पाया, यदि कोई कविता अच्छी भी मिली तो उसमें वह लावण्य नहीं मिला, जो संस्कृत वृत्तों में पाया जाता है, अतएव इस ग्रन्थ को संस्कृत वृत्तों में ही लिखा है। यही भाषा साहित्य में एक नई बात है।[1] भिन्न तुकान्त कविता में प्रियप्रवास की रचना का एक अन्य उद्देश्य, भाषा सौकर्य साधन के लिए और उसको विविध प्रकार की कविता से विभूषित करना भी है।'[2]

संस्कृत छन्द और शैली को अपनाने के फलस्वरूप प्रियप्रवास की भाषा संस्कृत गर्भित हो गई है। संस्कृत वृत्तों के कारण

१—भूमिका पृ० ५
२—वही

विश्लेषणात्मक हिन्दी को संश्लेषणात्मक संस्कृत के निकटतम लाने का प्रयत्न किया गया है, अतएव इसमें समास प्रधान एवं क्लिष्ट शब्दावली की प्रचुरता है। उपर्युक्त कारणों से प्रियप्रवास की भाषा अनेक स्थलों पर प्रसाद गुण विहीन हो गई है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि प्रियप्रवास में सुन्दर एवं सरल पदावली का पूर्ण अभाव है। संस्कृत गर्भित भाषा का प्रयोग करते हुये भी हरिऔध ने अपनी काव्य प्रतिमा का परिचय दिया —

विबुध ऊधव के गृह त्याग से,
परिसमाप्त हुई दुख की कथा।
पर सदा वह अंकित सी रही,
हृदय-मंदिर में हरि मित्र के॥ दशम सर्ग ६७

इस भांति प्रियप्रवास की अभिनव भाषा शैली साहित्य क्षेत्र में हरिऔध का एक नवीन प्रयोग ही समझा जा सकता है। एक आलोचक ने इसी विचार को प्रकट करते हुए लिखा है, "हरिऔध के प्रियप्रवास में दो प्रकार की भाषा शैली देखकर हम असमंजस में पड़ जाते हैं और निश्चय नहीं कर पाते हैं कि कौन सी शैली हरिऔध की शैली का प्रतिनिधित्व करती है। सच पूछा जाय तो वे अपनी शैली के जनक स्वयं हैं। संस्कृत काव्य की शैली में अतुकान्त कविता के सफल प्रयोग कर्ता के रूप में हरिऔध प्रियप्रवास में दृष्टि-गत होते हैं। अगर हरिऔध प्रियप्रवास को सरल हिन्दी में लिखना चाहते तो लिख सकते थे। जैसा कि इस शैली का क्रियात्मक प्रति-शोध है (वैदेही वनवास) परन्तु हरिऔध की अन्य पुस्तकों में उनकी चौमुखी भाषा शैली का जो परिचय हमें मिलता है, उसके आधार पर निःसंकोच कहा जा सकता है कि संस्कृत गर्भित कृत्रिम शैली हरिऔध की विवशता न थी, प्रत्युत एक प्रयोग भी।"[1]

व्रजभाषा के क्रिया पद

प्रियप्रवास में खड़ी बोली के अतिरिक्त व्रजभाषा के क्रिया पदों का भी प्रयोग हुआ है। इस प्रकार के प्रयोगों की आवश्यकता का उल्लेख प्रियप्रवास की भूमिका में है, "मेरा विचार है कि इन

१—पृ० २६०—हरिऔध और उनका प्रियप्रवास-कृष्णकुमार सिन्हा

क्रियाओं के व्यवहार से खड़ी बोली का पद्य भाण्डार सुसम्पन्न और ललित होने के स्थान पर क्षतिग्रस्त और असुन्दर न होगा।"[1] हरिऔध की रचना में इस प्रकार ब्रजभाषा के क्रिया-पदों के प्रयोग का एक कारण यह है उस समय खड़ी बोली रचना का प्रयोग चल रहा था और ब्रजभाषा की कविता भी समानान्तर रूप से हो रही थी अतः ब्रजभाषा की क्रियाओं का खड़ी बोली के साथ गंगा जमुनी मेल तत्कालीन युग में अनुपयुक्त नहीं समझा जाता था। अतः प्रियप्रवास में अनेक स्थलों पर ब्रजभाषा के क्रियापदों का प्रयोग उपयुक्त और काव्य सौन्दर्य को बढ़ाने में सफल हुआ है—

सरस-सुन्दर-सावन-मास था,
घन रहे नभ में घिर घूमते।
विलसती बहुधा जिनमें रही,
छविवती-उड़ती बक-मालिका ॥ द्वादश सर्ग २

यहाँ विलसना ब्रजभाषा की क्रिया है किन्तु इसके प्रयोग से काव्य-लालित्य एवं माधुर्य में कोई कमी नहीं आई। परन्तु कर्कश और ग्राम्य क्रियाओं के प्रयोग से भाषा की मधुरता नष्ट हो जाती है। इस तथ्य को समझ कर भाषा की कर्ण-कटुता को दूर करने के लिए ही हरिऔध ने संशोधित संस्करण में कुछ रूपों को बदल दिया है—

ऊधौ से यों स-दुख जब थे भाखते गोप बातें। द्वादश सर्ग १

यहाँ ब्रजभाषा की भाखना क्रिया का प्रयोग हुआ है जो काव्य सौन्दर्य को नष्ट करने में ही सहायक है। अतएव हरिऔध ने इसको स्थानान्तरि कर दिया है—

ऊधौ को यों स-दुख जब थे गोप बातें सुनाते। द्वादश सर्ग १

सुनाते—खड़ी बोली की क्रिया है। इसका प्रयोग 'भाखते' से अधिक सुसंस्कृत एवं मधुर है। अतः यह बात नहीं कि हरिऔध खड़ी बोली की क्रियाओं का प्रयोग नहीं कर सकते, प्रत्युत इसके मूल में ब्रजभाषा का मोह ही कार्य कर रहा था।

शब्द समूह

हरिऔध के प्रियप्रवास में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। किन्तु कविता की सुविधा के लिए तद्भव रूपों को

१—पृ० ३६ वही

स्वीकार कर हलन्त वर्णों का भी सस्वर प्रयोग किया है। यथा गर्व, मर्म, धर्म आदि के स्थान पर गरब, परम, धरम आदि। अवधी और ब्रजभाषा में तद्भव शब्दों की बहुलता है—

मांगी नाव न केवट आना।
कहेउ तुमार मरम मैं जाना॥ रामचरित मानस

छन्दों के विचार से कुछ स्थलों पर सस्वर वर्णों का प्रयोग हलन्त रूप में भी हुआ है। इस प्रकार हलन्त किए गए गए शब्दों का रूप विकृत हो गया है—

आलोक उज्ज्वल दिखा गिरि शृंग माला,
थे यों मुकुन्द कहते छवि-दर्शकों से।
देखो गिरीन्द्र-शिर पै महती-प्रभा का,
है चन्द्र कान्त-मणि-मण्डित-क्रीट कैसा॥
चतुर्दश सर्ग १२७

यहाँ किरीट शब्द को विकृत कर क्रीट बनाया गया है।

छंद की सुविधा के लिए कवि को शब्दों के तोड़ने मरोड़ने का भी अधिकार प्राप्त है। इस विचार से हरिऔध ने भी शब्दों को विकलांग कर दिया है। ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ और दीर्घ के स्थान कर ह्रस्व स्वर का प्रयोग अनेक स्थलों पर मिलता है। यथा मुरली, नहीं, पति आदि के स्थान पर मुरलि, नहिं, पती आदि। कहीं कहीं अना-श्यक स्वर के द्वारा भी रूप परिवर्तित किया गया है—दुग्ध, एक आदि के स्थान पर दुग्धित, यक आदि।

प्रियप्रवास में विशेषणों का प्रयोग हिन्दी और संस्कृति दोनों ही आधारों पर किया गया है। शब्द के लिए उभय रीति के विशेषणों का प्रयोग उचित नहीं। एक आलोचक ने इसकी विवेचना करते हुए लिखा है, समूचे ग्रन्थ में विश्लेषणों के ये वैकल्पिक प्रयोग भाषा की कृत्रिमता और परकीयता के द्योतक हैं।[1]

लोकोक्ति और मुहावरे

भाषा को सजीव एवं प्रभावशाली तथा भावों को सरलतापूर्वक हृदयंगम कराने के लिए ही लोकोक्ति और मुहावरों का प्रयोग किया

१—पृ० ४१ महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास

जाता है। हरिऔध की चौखे चौपदे आदि रचनाओं में मुहावरों का सुन्दर और प्रचुर प्रयोग मिलता है। किन्तु प्रियप्रवास की संस्कृत गर्भित भाषा शैली के कारण प्रयोग विरल ही हुआ है। कहीं कहीं ही इनकी सुन्दर छटा मिल जाती है—

हा ! तू बोला न कुछ अब भी तू बड़ा निर्दयी है।
मैं हूँ विवश तुझ से जो वृथा बोलती हूँ।
खोटे होते दिवस जब हैं भाग्य जो फूटता है।
कोई साथी अवनि तल में है किसी का न होता॥

पंचदश सर्ग २६

प्रियप्रवास की भाषा शैली के सम्बन्ध में किसी प्रकार का निर्णय देते समय सामयिक परिस्थिति का ध्यान रखना आवश्यक ही नहीं प्रत्युत अनिवार्य है। वर्तमान खड़ी बोली के आधार पर यदि प्रियप्रवास की आलोचना की जायेगी तो रचना के साथ पूरा न्याय न हो सकेगा। प्रियप्रवास की रचना खड़ी बोली के प्रारम्भिक काल में हुई थी अतः खड़ी बोली के शैशव काल में की गई रचना में यदि कुछ त्रुटियां रह भी गईं तो भी उस युग की रचनाओं में भाव एवं भाषा सभी दृष्टि से यह महत्वपूर्ण रचना है। नवीन भाषा शैली के कारण काव्य जगत् में यह जिस उच्च स्थान पर आसीन है उससे नीचे नहीं नहीं गिर सकता।

छन्द

छन्द के दो भेद हैं—वर्ण-वृत्त और मात्रिक। वर्ण-वृत्तों में वर्णों और गणों का क्रम रहता है मात्रिक में केवल मात्राओं का ही नियम विचारणीय है। इस भाँति वर्ण-वृत्तों में कविता करना अधिक कठिन है। वर्ण-वृत्तों का प्रयोग संस्कृत साहित्य में होता था। हिन्दी कविता में मात्रिक छन्द ही प्रयुक्त होते थे। द्विवेदी युग में कवियों का झुकाव संस्कृत छन्दों की ओर भी गया। स्वयं द्विवेदी जी ही नवीन छन्दों के ग्रहण करने की प्रेरणा दे रहे थे। यद्यपि इस समय भी लोगों की यह धारणा थी कि संस्कृत छन्दों से ललित पदावली की रचना नहीं हो सकती। हरिऔध जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है द्विवेदी मंडल से अलग रहकर भी द्विवेदी जी से प्रभावित थे अतः इन्होंने संस्कृत छन्दों में सम्पूर्ण प्रियप्रवास की रचना कर हिन्दी

कविता को नवीन दिशा दी। दूसरी विशेषता यह है कि प्रियप्रवास अतुकान्त अर्थात् अन्त्यानुप्रास हीन है। हिन्दी में अभी तक जो रचनाएँ होतीं वे सभी तुकान्त थीं। हरिऔध के इस प्रयोग की आलोचना करते हुए धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने एक स्थान पर लिखा है-'ऐसी दशा में संस्कृत ने शताब्दियों से जिस विशिष्ट प्रकार के वृत्त का जिस ढंग से प्रयोग किया है उस वृत्त और ढंग को हिन्दी के लिए उपयुक्त बनाना युक्त संगत नहीं दीखता। ऐसी चेष्टा अँग्रेजी की एक कहावत के अनुसार गोल सूराख में समचतुर्भुज गोटी और समचतुर्भुज सूराख में गोल गोटी रखने के समान हास्यास्पद है। फलतः प्रियप्रवास में नैसर्गिक माधुर्य का अभाव है।[1]

ब्रह्मचारी जी के कथन में कितनी सत्यता है इस पर विचार करने के पूर्व कवि की सामाजिक परिस्थितियों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। किसी भी रचना की आलोचना उस युग से हटाकर नहीं की जा सकती। भारतेन्दु की रचनाओं का मूल्यांकन यदि इक्कीसवीं शताब्दी के आधार पर किया जाय तो क्या कवि के साथ पूर्ण न्याय हो सकेगा ? हरिऔध द्विवेदी युग के कवि थे और द्विवेदी युग प्रयोग कालीन युग था। उस समय काव्य क्षेत्र में नवीन प्रयोग हो रहे थे। खड़ी बोली में रचना करना भी स्वयं एक प्रयोग था। संस्कृत वृत्तों में प्रियप्रवास की रचना करना भी एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग कहा जा सकता है। यद्यपि यह सत्य है कि हरिऔध द्वारा प्रदर्शित इस पथ की ओर हिन्दी के कवि आकृष्ट नहीं हुए।

प्रियप्रवास में सात छन्दों का प्रयोग हुआ है। किन्तु उत्तरार्द्ध में केवल छः छन्द शार्दूलविक्रीड़ित, वंशस्थ, मन्द्राक्रान्ता, दुतविलंबित मालिनी और बसन्त तिलका ही का प्रयोग हुआ है। इन छन्दों में शिखरिणी का प्रयोग बहुत कम हुआ है। जिन छन्दों का प्रयोग भ्रमरगीत उत्तरार्द्ध में हुआ है उनके नाम, परिभाषा और उदाहरण दिए जा रहे हैं—

शार्दूलविक्रीड़ित—उन्नीस वर्णों का छन्द है इसके प्रत्येक चरण में क्रमशः मगण, सगण, जगण, सगण दो तगण और एक गुरु होते हैं। बारह और सात वर्णों के अन्त में यति होती है।

१—पृ० २८ महाकवि हरि का प्रियप्रवास

उदाहरण—

एकाकी ब्रजदेव एक दिन थे बैठे हुए गेह में,
उत्सन्ना ब्रजभूमि के स्मरण से उद्विग्नता थी बड़ी।
ऊधौ-संज्ञक-ज्ञान-वृद्ध उनके जो एक सन्मित्र थे,
वे आये इस काल ही सदन में आनन्द में मग्न से।

। १ । ६ । नवम सर्ग १

मन्दाक्रान्ता—सत्रह वर्णों का छन्द है। इसके प्रत्येक चरण में मगण भगण, नगण, दो तगण और दो गुरू रहते हैं।

चार और छः वर्णों पर यति होती है—

उदाहरण—

छीना जावे लकुट न कभी वृद्धता में किसी का,
ऊधौ कोई न कल-छल से लाल ले ले किसी का।
पूँजी कोई जन्म भर की गांठ से खो न देवे,
सोने का भी सदन न बिना दीप के हो किसी का।

६६ । ६ नवम् सर्ग ६६

मालिनी—पन्द्रह वर्णों का छन्द है। इसके प्रत्येक चरण में दो नगण, मगण और दो यगण होते हैं।

आठ वर्णों के अन्त में यति होती है।

उदाहरण—

कर—निकर सुधा से सिक्त राका शशी के,
प्रतपित कितने ही लोक को हैं बनाते।
विधि-वश दुख दायी काल के कौशलों से।
कलुषित बनती है स्वच्छ पियूष धारा। सप्तम सर्ग ५३

वसन्ततिलका—चौदह वर्णों का छन्द है। प्रत्येक चरण में तगण, भगण, दो जगण और दो गुरु का क्रम रहता है।

उदाहरण—

जो राज-पंथ वन-भूतल में बना था,
धीरे उसी पर सधा रथ जा रहा था।
हो हो विमुग्ध रुचि से अवलोकते थे,
ऊधौ छटा विपिन की अति ही अनूठी।

१०६ । ६ । नवम सर्ग १०६

वशंस्थ—चौदह वर्णों का छन्द है। इसके प्रत्येक चरण में जगण, तगण, जगण, रगड़ का क्रम रहता है।

उदाहरण—

न कामुका हैं हम राज-वेश की,
न नाम प्यारा यदु-नाथ है हमें।
अनन्यता से हम हैं व्रजेश की,
विरागिनी, पागलिनी, वियोगिनी।

९७। १५। पंचदश सर्ग ९७

द्रुतविलम्बित—यह भी १२ वर्णों का छन्द है। इसके प्रत्येक चरण में क्रम से नगण, भगण, मगण, रगण की योजना रहती है।

उदाहरण—

विबुध ऊधव के गृह-त्याग से,
परि समाप्त हुई दुख की कथा।
पर सदा वह अंकित सी रही,
हृदय-मंदरि में हरि-मित्र के। ९७। १०। दशम सर्ग ९७

मालिनी—यह १५ वर्णों का छन्द है। इसके प्रत्येक चरण में क्रमशः दो नगण मगण और दो यगण का क्रम होता है। आठवें वर्ण पर यति होती है।

जब विरह विधाता ने सृजा विश्व में था,
तब स्मृति रचने में कौन सी चातुरी थी।
यदि स्मृति विरचा तो क्यों उसे है बनाया,
वपन पटु-कु-पीड़ा बीज प्राणी उरों में।

९८। १५। पंचदश सर्ग ९८

प्रियप्रवास पर युगीन प्रभाव

साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब माना जाता है। उसमें समाज की मनोवृत्तियों की स्पष्ट झलक मिलती है। कवि अथवा लेखक अपने समय से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। प्रगतिशील एवं आदर्शवादी साहित्यकारों में यह प्रभाव अधिक स्पष्ट रूप में मिलता है। यह प्रभाव दो रूपों में होता है। अनुकूल और प्रतिक्रियात्मक। अर्थात् कभी तो साहित्यकार समाज की मनोभावनाओं को अनुकूल

समझकर उसके यथार्थ रूप को व्यक्त करता है और कभी सामाजिक मान्यताओं का विरोध कर किसी कल्पित आदर्श की प्रतिष्ठापना करता है। यह आदर्शवादी विचारधारा भी समाज के अन्तरतम में अप्रत्यक्ष रूप से प्रवाहित रहती है। साहित्यकार उसको प्रत्यक्ष कर समाज के सम्मुख रख देता है। प्रियप्रवास की रचना भी एक ऐसे युग में हुई जबकि प्राचीन रूढ़ियाँ और मान्यताएँ तीव्रगति से बदल रही थीं। आधुनिक युग को अनेक विचारधाराओं ने समाज में क्रान्ति उत्पन्न कर दी। प्रियप्रवास में अपने युग की स्पष्ट छाप है। यह प्रवाह निम्न रूपों में दिखाई पड़ता है

१—सुधारवादी आन्दोलनों का प्रभाव।

२—विज्ञान का प्रभाव।

३—गांधीवाद का प्रभाव।

सुधारवादी आन्दोलनों में आर्यसमाज और ब्रह्म समाज के प्रचार का उल्लेख पहले हो चुका है। आर्यसमाज ने शिक्षित और अशिक्षित दोनों ही वर्गों को प्रभावित किया। इसने सामाजिक कुरीतियों को दूर कर नारी शिक्षा का प्रचार किया। धार्मिक क्षेत्र में प्रचलित पाखण्ड का घोर विरोध कर आर्य धर्म और वेदों की प्रतिष्ठापना की। इनके मतानुसार 'वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है।' उत्तर भारत की धार्मिक भावना राम और कृष्ण के ब्रह्म स्वरूप पर आर्य समाज का विशेष प्रभाव पड़ा। आर्य सामाजियों के अनुसार, "ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्व शक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तरयामी, अजर, अमर, अभय, नित्य पवित्र और सृष्टि कर्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।"[1]

उनके विचार से निराकार ब्रह्म अवतार नहीं लेता। राम कृष्ण आदि जिन्हें हिन्दू धर्म में शताब्दियों से ब्रह्म स्वरूप अथवा परमात्मा का अवतार माना जा रहा है उन्हें वे आदर्श मानव एवं महात्मा मानते हैं। प्रियप्रवास में कृष्ण स्वरूप के सम्बन्ध में ठीक यही भावना

१—द्वितीय नियम

मिलती है। कृष्ण काव्य में कृष्ण परब्रह्म के प्रतीक हैं और राधा उनकी आदि शक्ति की। भक्त कवियों ने कृष्ण का माधुर्यपूर्ण वर्णन करते समय उनके परब्रह्म स्वरूप को कहीं भी भुलाया नहीं है। किन्तु रीतिकाव्य में कृष्ण का आध्यात्मिक रूप लुप्त प्रायः हो गया और वे साधारण नायक के रूप में उतर आए। भक्तिमय पदों के स्थान पर राधा कृष्ण का वर्णन होने लगा। रीतिकालीन इस अतिशृंगारिकता की प्रतिक्रिया द्विवेदी युग में हुई। काव्य में अभी तक कृष्ण के सौन्दर्य का ही अंकन हुआ था किन्तु आधुनिक प्रभाव के फलस्वरूप कृष्ण रूप में शक्ति, शील और सौन्दर्य के सुन्दर समन्वय का भी प्रयत्न किया गया। हरिऔध ने कृष्ण के मर्यादित स्वरूप की प्रतिष्ठा करनी चाही। अतएव प्रियप्रवास में कृष्ण का कोई दार्शनिक रूप नहीं है। उसमें उनका मानवी रूप विकसित हुआ है। प्राणी विज्ञान के अनुसार युगों का पशु ही विकसित होकर मानव बना है। हमारी सभ्यता और संस्कृति मानव विकास का ही प्रमाण है। आज भी मानव पूर्ण विकसित अवस्था को प्राप्त नहीं कर सका है। वह प्रतिदिन विकास पथ पर बढ़ रहा है। कृष्ण विकसित मानव के प्रतीक हैं। वे सद्गुणों द्वारा साधारण मानव से कहीं उच्च हैं। समाज कल्याण के लिए कृष्ण के जिस स्वरूप की आवश्यकता थी हरिऔध ने उसी आदर्श स्वरूप का चित्रण किया है।

प्रियप्रवास की रचना के पूर्व श्रीकृष्ण शतक में हरिऔध ने परम्परानुसार कृष्ण को परब्रह्म स्वरूप माना है। कहीं कहीं उनका चित्रण मानव रूप में ही हुआ है। किन्तु रुक्मिणी परिणय, प्रद्युम्न-विजय, प्रेमाम्बु-वारिधि, प्रेमाम्बु-प्रस्रवण और प्रेमाम्बु प्रवाह में कृष्ण को ईश्वर का अवतार अथवा प्रतापी मनुष्य के रूप में ही चित्रित किया है। किन्तु प्रियप्रवास में कृष्ण एकमात्र नृरत्न तथा महात्मा रूप ही दृष्टिगोचर होते हैं।[1] अपने एक पत्र में हरिऔध ने इस परिवर्तित मत का उल्लेख करते हुए लिखा है, 'काल पाकर मेरी दृष्टि व्यापक हुई, मैं स्वयं सोचने विचारने और शास्त्र के सिद्धान्तों का मनन करने लगा। उसी के फलस्वरूप मेरे पश्चाद्वर्ती और आधुनिक काव्य हैं। भगवान् कृष्णचन्द्र में अब भी मुझको श्रद्धा है, किन्तु वह श्रद्धा अब संकीर्णता, एकदेशीय और अकर्मण्यता-दोष-दूषिता

१—पृ० ६६ महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास।

नहीं है। ईश्वर एक देशीय नहीं है। वह सर्वव्यापक और अपरिच्छिन्न हैं, उसकी सत्ता सर्वत्र वर्तमान है। प्राणिमात्र में उसका विकास है—सर्व खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन। जिस प्राणी में उसका जितना विकास है, उतना ही गौरव. गरिष्ठ है, उतना ही महिमामय है, उसमें उतनी ही अधिक उसकी सत्ता विराजमान है। मानव प्राणी-समूह में शिरोमणि है। उसमें ईश्वरीय सत्ता समस्त प्राणियों से समधिक है। इसलिए वह प्राणी-श्रेष्ठ है। 'अशफुलम-ख्लूकात' है। अतएव मानवता का विकास ही ईश्वर की प्राप्ति है—यही अवतारवाद है। भगवद्गीता का वचन है।

यथद्विभूति भत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोश-सम्भवम् ॥

यह बड़ा व्यापक और उदात्त सिद्धान्त है। संसार का प्रत्येक महापुरुष इस सूत्र से मान्य, वन्य और आदरणीय है। मानवता त्याग कर ईश्वर की चरितार्थता नहीं होती, अतएव मानवता का निदर्शन ही आत्मोन्नति का प्रबल साधन है। अवतारों का संबल मानवता का आदर्श ही था, क्योंकि बिना रस मंत्र का साधन किये कोई 'सर्वभूत हिते रतः' नहीं हो सकता। अतएव उसको उसी रूप में देखने की आवश्यकता है जो उसका मुख्य रूप है और यही कारण है कि आज कल मेरा परिवर्तित मत यही है।"[1]

प्रियप्रवास के चरित्र इसी परिवर्तित मत के अनुसार निर्मित हैं। कृष्ण जननी जन्मभूमि और स्वजनों से दूर रह कर मानव के सदृश ही दुखी हैं—

शोभा संभ्रमशालिनी व्रजधरा प्रेमास्पदा गोपिका,
माता थी, प्रत्यक्ष प्रीति-प्रतिभा वात्सल्य धाता पिता ॥
प्यारे गोप कुमार मणि के पाथोधि से गोप वे,
भूले हैं न सदैव याद उनकी देती व्यथा है महा ॥
नवम सर्ग ५

१—गिरजादत्त शुक्ल के पत्र का अंश जिसे हरिऔध ने लिखा था।
हरिऔध और उनका प्रियप्रवास से उद्धृत पृ० १११-११२

समाज और देश के कल्याण के लिये वे सभी स्वजनों को त्याग देते हैं। वे सच्चे अर्थ में आत्मत्यागी, कर्मण्य और लोकोपकारी हैं। इस प्रकार हरिऔध ने रासबिहारी कृष्ण के आदर्श रूप की कल्पना की है। कृष्ण की भुजाओं में अतुल बल और हृदय में साहस तथा लोक कल्याण की भावना है।

पूर्ववर्ती कृष्ण काव्य में भी कृष्ण के असुर निकंदन रूप का उल्लेख मिलता है। किन्तु आज के बुद्धिवादी युग में असुरों की स्थिति में विश्वास नहीं किया जा सकता अतः हरिऔध ने कृष्ण-जीवन से सम्बन्धित समस्त घटनाओं को तर्क सम्मत रूप देने का प्रयत्न किया है। कालिय दमन, अघासुर, बकासुर, तृणावर्त आदि की कथाओं को आधुनिक वैज्ञानिक विचारधारा के अनुरूप बनाने के निमित्त राक्षसों को दुष्ट पशु और आंधी आदि माना है। विज्ञान के इस युग में गोवर्धन धारण की असंगति को ध्यान में रख कर ही हरिऔध ने इसका कायाकल्प कर दिया। गोवर्धन लीला की कथा है—एक बार कृष्ण के कहने से व्रजवासियों ने इन्द्र की पूजा नहीं की। अतः सुरराज ने कुपित होकर प्रलयकालीन मेघों को व्रज डुबा देने की आज्ञा दी। घोर वृष्टि होने लगी। इस जलप्लावन से रक्षा करने के लिए कृष्ण ने गोवर्द्धन पर्वत को उठा लिया और उसके नीचे व्रजवासियों ने सात दिन रह कर प्राण रक्षा की। जब इन्द्र ने देखा कि वह व्रज का कुछ न बिगाड़ सके तब उन्होंने अपने अनुचर जलदों को थम जाने की आज्ञा दी। प्रियप्रवास में यह प्रसंग कृष्ण की तत्परता तथा कर्मठता प्रदर्शन के निमित्त ही हुआ है। एक बार प्रकृति के कुपित होने से व्रज में भयानक जलवृष्टि हुई। समस्त पृथ्वी जलमग्न हो गई, मनुष्य व्याकुल होकर व्रज भूप के पास रक्षा के लिए गए। व्रजवासियों की दुरावस्था को देखकर कृष्ण ने पिता से कहा यह जल वृष्टि अभी शान्त न होगी इसलिए रक्षा का एकमात्र उपाय समतल व्रजभूमि को छोड़ कर उच्च गिरि कन्दरा में निवास करना है। कृष्ण का यह सुझाव सरलता से स्वीकृत नहीं हुआ। अनेक तर्क वितर्क के पश्चात् लोगों ने सोचा—

गिरि बिना 'अवलम्ब' न अन्य है।

किन्तु प्रकृति के रौद्र रूप को देखकर किसी का साहस न होता था। अतः इस स्थल पर वीर पुरुषों की भांति कृष्ण ने निरुत्साहित

लोगों में उत्साह भरते हुये धैर्य पूर्वक कार्य करने का परामर्श दिया। वे स्वयं गोप मण्डली को सतर्कतापूर्वक गिरि अंक में पहुँचा कर अन्य विपत्तिग्रस्त व्यक्तियों की रक्षा में लग गये। उनकी तत्परता का वर्णन हरिऔध ने अनेक छन्दों में किया है—

परम वृद्ध असम्बल लोक को,
दुख-मयी-विधवा रुज-ग्रस्त को।
वन सहायक थे पहुँचा रहे,
गिरि सु गह्वर में कर यत्न वे। द्वादश सर्ग ५५

कृष्ण के साहस और पुरुषार्थ से ही गिरि कन्दरा में सभी ब्रजवासी सुरक्षित पहुँच गए और इस प्रकार पवनादि के प्रमाद को भी तुच्छ बना दिया। कृष्ण की इस अलौकिक कार्यपटुता और प्रतिभा के कारण उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा हुई—

लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में
ब्रज-धराधिप के प्रिय-पुत्र का।
सकल लोग लगे कहने उसे,
रख लिया उँगली पर श्याम ने॥ द्वादश सर्ग ६७

इस प्रकार प्रियप्रवास में कृष्ण के अति मानुषिक कार्यों को मानुषिक रूप देने का निरन्तर प्रयत्न मिलता है।

गांधीवादी विचारधारा आधुनिक युग को प्रमुख मनोवृत्तियों में से है। प्रियप्रवास में गांधीवादी विचारधारा के फलस्वरूप राष्ट्रीय चेतना, लोकसेवा एवं अहिंसा आदि का भी वर्णन उपलब्ध है। स्वजाति की दुर्दशा देखकर कृष्ण शान्त न रह सके—

स्वजाति की देख अतीव दुर्दशा,
विगर्हणा देख मनुष्य मात्र की।
विचार के प्राणि-समूह-कष्ट को,
हुए समुत्तेजित वीर केशरी। एकादश सर्ग २२

देशभक्त की भांति जन्म भूमि के प्रति उनके मनमें प्रेम और श्रद्धा है—

हितैषणा से निज जन्म-भूमि की,
अपार-आवेश हुआ ब्रजेश को। एकादश सर्ग २३

जननी जन्म भूमि पर सर्वस्व न्यौछावर करने वाले महान् देश-भक्त की भाँति वे प्रतिज्ञा करते हैं—

> प्रवाह रहते तक शेष-श्वास के,
> स-रक्त होते तक एक भी शिरा।
> सशक्त होते तक एक लोम के,
> किया करूँगा हित सर्व भूत का। एकादश सर्ग २७

कृष्ण का यह स्वरूप मथुरा जाकर और भी निखर उठा है। उनका उद्धव-प्रेषित संदेश इसी ओर संकेत करता है—

राधा

कृष्ण के सदृश राधा का अंकन भी हरिऔध ने अपनी आदर्शवादी कल्पना के अनुसार किया है। वह दूध दही बेचने वाली साधारण ग्रामीण नारी नहीं है, प्रत्युत अपने कर्तव्य के प्रति सचेत और सतर्क रहने वाली है। वह 'रोगी वृद्धजनोपकारनिरता सच्छास्त्र चिन्तापरा' है। अतएव कृष्ण वियोग में विकल होकर भी वह विवेकहीन नहीं बनती। उद्धव आगमन के अवसर पर वह सुशिक्षित आधुनिक नारी के सदृश उनका सत्कार करती है। उनके संदेश को सुनकर व्यवहार कुशल की भाँति कहती है—

> मैं हूँ ऊधौ पुलकित हुई आपको आज पा के।
> संदेशों को श्रवण करके और भी मोदिता हूँ॥

नारी हृदय की दुर्बलता के कारण ही वह कृष्ण-विरह से विकल हो जाती है—

> मैं नारी हूँ, तरल-उर हूँ, प्यार से वंचिता हूँ।
> जो होती हूँ विकल, विमना, व्यस्त, वैचित्र्य क्या है॥
> षोडश सर्ग ५०

कृष्ण के संदेश को वह पूर्णतः समझकर ही बड़े संयमपूर्वक रहती है फिर भी विरह-व्यथा से पीछा छुड़ाना सरल कार्य नहीं है—

> पूरा पूरा परम-प्रिय का मर्म मैं बूझती हूँ।
> है जो वांछा विशद उर में जानती भी उसे हूँ।

यत्नों द्वारा प्रति-दिन अतः मैं महा संयता हूँ।
तो भी देती विरह-जनित-वासनायें व्यथा हैं॥

षोड़श सर्ग ५३

राधा छल कपट छोड़कर निश्चल भाव से अपनी उत्कंठा एवं कामना के विषय में भी उद्धव से वार्तालाप करती है। व्योम में किसी पक्षी को उड़ते देखकर राधा ने विवश चित्त में भी पक्षी युक्त बनकर प्रियदर्शन करने की इच्छा होती है। कभी वायु बनकर प्रिय के चरण स्पर्श की कामना बलवती हो जाती है। राधा निर्लिप्त और नित्यशः संयता' है किन्तु कृष्ण की स्मृति संयम के भवन की नीवें हिला देती है। यद्यपि रूप-मोह और प्रणय के कांच-मणि भेद को राधा जानती है किन्तु पंच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा कृष्ण के शक्ति, शील और सौन्दर्य शाली मधुर रूप की—जिसकी अनुभूति हो चुकी है। वह उनकी श्यामल मूर्ति को किस प्रकार विस्मृत कर सकती है। राधा को प्रकृति के कण कण में कृष्ण का ही रूप दिखाई पड़ता है। उद्धव के सम्मुख राधा ने प्रकृति व्याज से कृष्ण का नख शिख वर्णन किया है—

मैं पाती हूँ अलक-सुषमा भृंग की मालिका में,
है आँखों की सु-छवि मिलती खंजनों औ' मृगों में।
दोनों बाहें कलभ कर को देख हैं याद आती,
पाई शोभा रुचिर शुक के ठोर में नासिका की।

षोड़श सर्ग ८५

राधा के हृदय में भी प्रणय और कर्तव्य का द्वन्द्व है वह चाहती है कि कृष्ण ब्रज आकर उसे सुखी करें किन्तु वह उन्हें कर्तव्य पथ से विपथ भी नहीं करना चाहती—

प्यारे आवें सु-वचन कहें प्यार से गोद लेवें,
ठंडे होवें नयन-दुख हों दूर मैं मोद पाऊँ।
ए भी है भाव मम उर के और ए भाव भी हैं,
प्यारे जीवें जग-हित करें गेह चाहे न आवें। षोड़श सर्ग ६८

अन्त में वह जगहित के लिए कृष्ण पथ की अनुगामिनी बन जाती है। राधा मनोविज्ञान के इस सत्य से भी अभिज्ञ है कि

इन्द्रियाँ अपने कार्य से विरत नहीं हो सकतीं, अतः एक मार्ग से विरत करने के लिए उन्हें दूसरे मार्ग पर ले जाना अनिवार्य है अतः राधा ने अपना मार्ग स्वयं निश्चित कर लिया है—

जिह्वा, नासा, श्रवण, अथवा नेत्र होते शरीरी।
क्यों त्यागेंगे प्रकृति अपने कार्य को क्यों तजेंगे।
क्यों होवेंगी शमित उर की लालसायें अतः मैं।
रंगे देती प्रतिदिन उन्हें सात्विकी वृत्ति में हूँ।

षोड़स सर्ग १०१

इस प्रकार राधा के हृदय में विश्व प्रेम जाग्रत हो गया। ब्रह्म के विषय में अपने विचार प्रकट करती हुई राधा कहती है—जो अव्यक्त ब्रह्म इन्द्रियातीत है। मैं 'अबुध अबला' उसे कैसे जान सकती हूँ। किन्तु ज्ञाताओं ने उसके मर्म को इस प्रकार बताया है—

सारे प्राणी अखिल जग के मूर्तियां हैं उसी की।

राधा भी विश्व रूपी ब्रह्म में प्रियतम के ही दर्शन करती है।

हरिऔध की राधा नंददास की राधा की भाँति ही उद्धव के सम्मुख पांडित्यपूर्ण विचार प्रकट करती है किन्तु दोनों के वार्तालाप का बिषय पूर्णतः भिन्न है। नंद की राधा के विपरीत हरिऔध की राधा कृष्ण संदेश को स्वीकार कर यह कामना करती है—

आज्ञा भूलूं न प्रियतम की विश्व के काम आऊँ।
मेरा कौमार-व्रत भव में पूर्णता प्राप्त होवे।

षोड़श सर्ग १३५

उद्धव

आधुनिक विचारधारा के अनुरूप प्रियप्रवास में उद्धव का परिचित रूप नहीं दिखाई पड़ता। यद्यपि वे ज्ञान-वृद्ध, विज्ञ-बर, और 'आनन्द की मूर्ति' हैं और कृष्ण के 'वर-ज्ञान' का संदेश लेकर ब्रज जाते हैं तथापि उनके अहंकारी रूप का कहीं भी चित्रण नहीं है। ब्रजवासियों को प्रवंचित देखकर सदय उद्धव भी अधीर होने लगे किन्तु उन्होंने धैर्य का साथ नहीं छोड़ा और शान्त भाव से सब को समझाने लगे। ब्रज आकर वे नंद यशोदा, गोप, गोपियों की

विरह व्यथा एवं कृष्ण गुणगान शान्तिपूर्वक संध्या पर्यन्त सुनते रहते। कभी विकल, उन्मत्त, प्रलाप करती गोपियों को मधुर कृष्ण-संदेश सुना उन्हें धैर्य बँधाते। पूर्ववर्ती कृष्ण काव्यों में कृष्ण निर्गुण ब्रह्म ज्ञान और योग साधना का संदेश भेजते हैं जिसके मूल में गोपियाँ कुब्जा प्रणय की ही झलक देखती हैं। किन्तु हरिऔध के उद्धव इससे नितान्त भिन्न संदेश लाए हैं। उनके कथन में कृष्ण का ब्रज-प्रेम झलक रहा है। मथुरा के राजपद को पाकर भी कृष्ण प्यारे वृन्दावन प्रिय जननी जनक और गोप गोपाङ्गनाओं को नहीं भूले। उनकी स्मृति से वे मुग्ध हो जाते हैं। हृदय व्यथित हो जाता और नेत्रों में अश्रु भर आते हैं। कृष्ण को प्रतिक्षण ब्रज अवनि की ही याद आती है। उसी के स्वप्न दिखाई पड़ते हैं। उनका मन मधुकर सर्वदा वृन्दावन के कुंजों में ही घूमा करता है यद्यपि प्रकृत शरीर से वे मथुरा में निवास करते हैं। उनके ब्रज न आने का भी एक विशेष कारण है। इस मर्म को कोई समझ नहीं सका। उन्हें प्राणों से भी अधिक विश्व प्रेम प्रिय है। उनके सम्मुख अनेक कठिन कार्य हैं जिसके सामने वे सब कुछ भूल गए हैं। वे सच्चे जी से परम व्रत के व्रती हो चुके हैं। फिरभी मैं यह नहीं कहता कि वे कभी ब्रज आवेंगे ही नहीं और उसे भूल जायेंगे। क्योंकि जिन्हें वे प्रिय हैं और जिनको वे प्यार करते हैं उन्हें वे कैसे त्याग सकते हैं। यदि भाग्य-वश ऐसा कुअवसर आये तो उस समय तुम आत्म बल को न खो देना, साहस और धैर्य पूर्वक दुखी ब्रजवासियों को शान्त करना। कृष्ण ने यही लोक सेवा का संदेश भेजा है। तुम यदि भव श्रेय के मर्म एवं लोक प्रेमिकों की गुरु गरिमा को न समझकर इसी भाँति विकल रहोगी तो कृष्ण को सुख नहीं मिलेगा। अतः धीरे-धीरे योग द्वारा हृदय को सँभालो और संसार हित अपने स्वार्थ को भी बलिदान कर दो। इससे ही दुखों का शमन होगा और तुम्हें शान्ति मिलेगी।

राधा को संदेश देते समय भी उद्धव ने कृष्ण के प्रणयी रूप के साथ ही उनके लोक सेवक का आदर्श रूप भी उपस्थित किया है। कृष्ण इसी कठिन पथ के पान्थ हैं। उद्धव आत्म-सुख त्याग का उपदेश राधा को भी सुनाते हैं—

है आत्मा का न सुख किसको विश्व के मध्य प्यारा,
सारे प्राणी स-रुचि इसकी माधुरी में बंधे हैं।

जो होता है न वश इसके आत्म-उत्सर्ग-द्वारा;
ऐ कान्ते है सफल अवनी-मध्य आना उसी का।

षोडश सग ४५

भक्ति

राधा द्वारा नवधा भक्ति की नव विवेचना भी आधुनिक प्रभाव के फलस्वरूप ही की गई है।

अब तो—

श्रवण, कीर्तन, वन्दन, दासता,
स्मरण, आत्म-निवेदन, अर्चना।
सहित सख्य तथा पद-सेवना,
निगदिता नवधा प्रभु-भक्ति है। षोडश सर्ग ११५

उनका स्वरूप ही बदल गया। सच्चे हृदय से आर्त उत्पीड़ितों, रोगी, व्यथित जन एवं लोक-उन्नायकों का कथन और सच्छास्त्रों का श्रवण करना ही 'श्रवण' नाम की भक्ति है।[1] उद्बोध संगीत एवं उन्नति पथ पर ले जाने वाले सुन्दर गुणों का गान ही कीर्तन है।[2] विद्वान्, स्व-गुरु जन, देशप्रेमी, ज्ञानी, दानी आत्मोत्सर्गी आदि व्यक्तियों के सम्मुख नम्रता से झुकना ही वन्दना है।[3] पतित देश-वासियों को ऊँचा उठाने वाली क्रिया ही दासता है।[4] निर्धन विधवा एवं अनाथों की स्मृति कर उनके दुख को दूर करना ही स्मरण नामक भक्ति है।[5] विपत्ति सागर में डूबते व्यक्तियों की रक्षा के हेतु तन-प्राण का अर्पण करना ही आत्म निवेदन भक्ति कही जा सकती है।[6] दुखियों को शरण, सन्तापितों को शान्ति, निर्बोध को सुमति, पीड़ितों को औषधि, तृषित को जल, क्षुधार्थ को अन्न देना ही अर्चना नामक भक्ति है।[7] सृष्टि के प्रत्येक कण से सद्भाव रखना और प्रेमपूर्वक कार्य लेना ही सख्य भक्ति का स्वरूप है।[8] गिरे हुए व्यक्तियों को सम्मानपूर्वक उठा लेना ही लोकपति की पद सेवा है।[9]

१—पद ११८
२—पद ११९
३—पद १२०
४—पद १२१
५—पद १२२
६—पद १२३
७—पद १२४
८—पद १२५
९—पद १२६

विरह व्यथा एवं कृष्ण गुणगान शान्तिपूर्वक संध्या पर्यन्त सुनते रहते। कभी विकल, उन्मत्त, प्रलाप करती गोपियों को मधुर कृष्ण-संदेश सुना उन्हें धैय बँधाते। पूर्ववर्ती कृष्ण काव्यों में कृष्ण निर्गुण ब्रह्म ज्ञान और योग साधना का संदेश भेजते हैं जिसके मूल में गोपियाँ कुब्जा प्रणय की ही झलक देखती हैं। किन्तु हरिऔध के उद्धव इससे नितान्त भिन्न संदेश लाए हैं। उनके कथन में कृष्ण का ब्रज-प्रेम झलक रहा है। मथुरा के राजपद को पाकर भी कृष्ण प्यारे वृन्दावन प्रिय जननी जनक और गोप गोपाङ्गनाओं का नहीं भूले। उनकी स्मृति से वे मुग्ध हो जाते हैं। हृदय व्यथित हो जाता और नेत्रों में अश्रु भर आते हैं। कृष्ण को प्रतिक्षण ब्रज अवनि की ही याद आती है। उसी के स्वप्न दिखाई पड़ते हैं। उनका मन मधुकर सर्वदा वृन्दावन के कुंजों में ही घूमा करता है यद्यपि प्रकृत शरीर से वे मथुरा में निवास करते हैं। उनके ब्रज न आने का भी एक विशेष कारण है। इस मर्म को कोई समझ नहीं सका। उन्हें प्राणों से भी अधिक विश्व प्रेम प्रिय है। उनके सम्मुख अनेक कठिन कार्य हैं जिसके सामने वे सब कुछ भूल गए हैं। वे सच्चे जी से परम व्रत के व्रती हो चुके हैं। फिरभी मैं यह नहीं कहता कि वे कभी ब्रज आवेंगे ही नहीं और उसे भूल जायेंगे। क्योंकि जिन्हें वे प्रिय हैं और जिनको वे प्यार करते हैं उन्हें वे कैसे त्याग सकते हैं। यदि भाग्य-वश ऐसा कुअवसर आये तो उस समय तुम आत्म बल को न खो देना, साहस और धैर्य पूर्वक दुखी ब्रजवासियों को शान्त करना। कृष्ण ने यही लोक सेवा का संदेश भेजा है। तुम यदि भव श्रेय के मर्म एवं लोक प्रेमिकों की गुरु गरिमा को न समझकर इसी भांति विकल रहोगी तो कृष्ण को सुख नहीं मिलेगा। अतः धीरे-धीरे योग द्वारा हृदय को सँभालो और संसार हित अपने स्वार्थ को भी बलिदान कर दो। इससे ही दुखों का शमन होगा और तुम्हें शान्ति मिलेगी।

राधा को संदेश देते समय भी उद्धव ने कृष्ण के प्रणयी रूप के साथ ही उनके लोक सेवक का आदर्श रूप भी उपस्थित किया है। कृष्ण इसी कठिन पथ के पान्थ हैं। उद्धव आत्म-सुख त्याग का उपदेश राधा को भी सुनाते हैं—

है आत्मा का न सुख किसको विश्व के मध्य प्यारा,
सारे प्राणी स-रुचि इसकी माधुरी में बंधे हैं।

जो होता है न वश इसके आत्म-उत्सर्ग-द्वारा;
ऐ कान्ते है सफल अवनी-मध्य आना उसी का।

षोडश सग ४५

भक्ति

राधा द्वारा नवधा भक्ति की नव विवेचना भी आधुनिक प्रभाव के फलस्वरूप ही की गई है।
अब तो—

श्रवण, कीर्तन, वन्दन, दासता,
स्मरण, आत्म-निवेदन, अर्चना।
सहित सख्य तथा पद-सेवना,
निगदिता नवधा प्रभु-भक्ति है। षोडश सर्ग ११५

उनका स्वरूप ही बदल गया। सच्चे हृदय से आर्त उत्पीड़ितों, रोगी, व्यथित जन एवं लोक-उन्नायकों का कथन और सच्छास्त्रों का श्रवण करना ही 'श्रवण' नाम की भक्ति है।[1] उद्बोध संगीत एवं उन्नति पथ पर ले जाने वाले सुन्दर गुणों का गान ही कीर्तन है।[2] विद्वान्, स्व-गुरु जन, देशप्रेमी, ज्ञानी, दानी आत्मोत्सर्गी आदि व्यक्तियों के सम्मुख नम्रता से झुकना ही वन्दना है।[3] पतित देश-वासियों को ऊँचा उठाने वाली क्रिया ही दासता है।[4] निर्धन विधवा एवं अनाथों की स्मृति कर उनके दुख को दूर करना ही स्मरण नामक भक्ति है।[5] विपत्ति सागर में डूबते व्यक्तियों की रक्षा के हेतु तन-प्राण का अर्पण करना ही आत्म निवेदन भक्ति कही जा सकती है।[6] दुखियों को शरण, सन्तापितों को शान्ति, निर्बोध को सुमति, पीड़ितों को औषधि, तृषित को जल, क्षुधार्थ को अन्न देना ही अर्चना नामक भक्ति है।[7] सृष्टि के प्रत्येक कण से सद्भाव रखना और प्रेमपूर्वक कार्य लेना ही सख्य भक्ति का स्वरूप है।[8] गिरे हुए व्यक्तियों को सम्मानपूर्वक उठा लेना ही लोकपति की पद सेवा है।[9]

१—पद ११८
२—पद ११९
३—पद १२०
४—पद १२१
५—पद १२२
६—पद १२३
७—पद १२४
८—पद १२५
९—पद १२६

मौलिकता

उपर्युक्त विश्लेषण से हरिऔध की मौलिक आदर्शवादी कल्पना का रूप स्पष्ट हो जाता है। भ्रमरगीत के पौराणिक प्रसंग को भी इसमें पूर्णतः रूपान्तरित कर दिया गया है। प्रियप्रवास में यह प्रसंग उद्धव-गोपी-संवाद के रूप में ही आया। परन्तु इसमें भी महान् परिवर्तन किया गया है—भ्रमरगीत की अल्हड़, हास परिहास एवं व्यंग्य उपालम्भ में चतुर गोपियों के दर्शन प्रियप्रवास में दुर्लभ हैं। हरिऔध की गोपियाँ न तो उद्धव और कृष्ण पर व्यंग्य करती हैं और न उपालम्भ देती हैं। उद्धव को चिढ़ाने और उनका उपहास करने की प्रवृत्ति भी गोपियों में नहीं है। इसका कारण कृष्ण का उपर्युक्त एवं तर्क सम्मत संदेश तथा उद्धव की सहृदयता ही है। अन्य भ्रमरगीतों में—कृष्ण कुब्जा प्रणय के प्रसंग को लेकर व्यंग्य अथवा उपालम्भ दिए गये हैं। किन्तु प्रियप्रवास में कुब्जा का उल्लेख ही नहीं है। प्रियप्रवास के गोपियों से प्रेम करने वाले कृष्ण, देश कल्याण के लिए ही सुख का त्याग करते हैं, अतएव उनके आत्म त्याग के संदेश में पूर्ववर्ती कृष्ण संदेश की असंगति नहीं है। कृष्ण के कथन और कार्य में समन्वय है। इसीलिए भ्रमरगीत के अनेक लघु अंश इसमें छूट गए हैं। भ्रमर प्रवेश का उल्लेख प्रियप्रवास में हुआ है किन्तु यहाँ वह रसलोलुप कृष्ण का प्रतीक नहीं हैं वरन् उसे देखकर गोपियों को श्यामली मूर्ति की स्मृति हो आती है। यहाँ भ्रमर-प्रेम का प्रतीक है जो पद्म-प्रेम के कारण अनेक लघु-गुरु यातनाएँ भोगता है। सम दुखी भ्रमर की परिस्थिति से गोपियाँ अपनी तुलना करती हुई कहती हैं कि भ्रमर तीन इन्द्रियों, रसना, नासिका और नयन के द्वारा ही दुखी होता है क्योंकि अंबुज आकर्षण का कारण कुछ लोग लोग मधु, गन्ध एवं रूप को क्रमशः मानते हैं परन्तु मनुष्य को पंच इन्द्रियाँ कष्ट देती हैं। भ्रमर की निष्ठुरता एवं श्यामलता का उल्लेख भी गोपियों ने किया है।

कब पर-दुख कोई है कभी बाँट लेता।
सब-परिचय-वाले प्यार ही है दिखाते।
अहह न इतना भी हो सका तो कहूँगी।
मधुकर यह सारा दोष है श्यामता का। पंचदश सर्ग ७७

किन्तु पूर्ववर्ती भ्रमरगीतों से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि गोपियों का भ्रमर सम्बन्धी कथन विभिन्न परिस्थिति एवं प्रसंगों में किया गया है।

हरिऔध ने भ्रमरगीत प्रसंग को जो नवीन रूप दिया है यह उनकी मौलिक प्रतिभा का परिचायक है; किन्तु इस पथ को कितने भ्रमरगीतकारों ने अपनाया है, यह अन्य भ्रमरगीतों की आलोचना से स्पष्ट हो सकेगा। प्रियप्रवास का अनुकरण चाहे भविष्य में न हो और यह नवीन परम्परा प्रियप्रवास तक ही सीमित रह जाये फिर भी यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन परिस्थिति में हरिऔध का यह नवीन प्रयास सदैव ही महत्व की दृष्टि से देखा जायेगा।

जगन्नाथदास रत्नाकर–उद्धव शतक

जगन्नाथदास रत्नाकर आधुनिक युग की प्राचीन धारा के प्रतिनिधि कवि हैं। भाषा एवं विषय दोनों ही दृष्टि से प्राचीनता के पुजारी हैं। उनके विचार से खड़ी बोली के इस युग में भी ब्रजभाषा में अब भी जन मानस को उद्वेलित करने की अपूर्व शक्ति है। अतएव आपने ब्रजभाषा और पौराणिक कथाओं को ही काव्य के लिए चुना। आप ब्रजभाषा के अंतिम प्रतिनिधि कवि कहे जा सकते हैं यद्यपि रत्नाकर के पश्चात भी ब्रजभाषा में निरन्तर काव्य रचनायें हो रही हैं।, वर्तमान युग में डा० रसाल ब्रजभाषा के अनन्य प्रेमी हैं। किन्तु उन्होंने भी खड़ी बोली में कई खंड-काव्यों की रचना की। ब्रजभाषा के प्रति एकनिष्ठ प्रेम रत्नाकर में ही दिखाई पड़ता है।

रत्नाकर ने प्रबन्ध और मुक्तक रचना द्वारा काव्य भांडार को समृद्ध किया है। इनके विषय में यह कहा जाता है कि, ये भक्तों और श्रृङ्गारिकों के मध्य की एक कड़ी रूप हैं। कालक्रमानुसार यह सत्य नहीं है किन्तु साहित्यिक मनोवृत्तियों के आधार पर ही ऐसा कहा गया है। अपनी प्रबन्ध रचनाओं के द्वारा वे भक्ति युग के मध्य दिखाई पड़ते हैं जबकि मुक्तक रचनाएँ उन्हें रीति-श्रृङ्गारिक युग में ला बिठाती हैं। वस्तुतः रत्नाकर में भक्ति और श्रृङ्गारिक युग का अपूर्व सामंजस्य है। उद्धव शतक में इसकी एक झलक मिलती है।

रत्नाकर ने भागवत में वर्णित तथा सूर, नंद, नागरि हरिऔध आदि द्वारा स्वीकृत गोपी उद्धव संवाद के प्रसंग को लेकर ही उद्धव शतक की रचना की है। शताब्दियों से प्रचलित इस प्रसंग में कुछ नवीनता उत्पन्न करना विशेष चातुर्य एवं कला कौशल की अपेक्षा रखता है। उद्धव शतक के पूर्व भ्रमर दूत, प्रियप्रवास, आदि रचनाओं में. कविरत्न, हरिऔध आदि ने आधुनिक विचारधारा के अनुरूप इस प्रसंग में नवीनता उत्पन्न करने का सफल प्रयास किया है। उद्धव शतक में रत्नाकर जी आधुनिकता की अपेक्षा प्राचीनता की ओर ही झुके हैं यद्यपि आधुनिक बुद्धिवाद का भी उन्होंने पूर्ण आश्रय लिया है, फलस्वरूप वे भ्रमरगीत के इस प्रसंग को अधिक भावपूर्ण, मौलिक एवं चमत्कृत रूप में रख सकने में सफल हुए हैं।

कथा

उद्धव शतक का विषय भ्रमरगीत की चिर प्रचलित कथा है। कवि ने मौलिकता उत्पन्न के करने के लिए पूर्ववर्ती कवियों के सदृश इसमें कुछ परिवर्तन कर दिया है। उद्धव शतक का प्रारम्भ नवीन एवं प्रभावशाली नाटकीय ढंग से हुआ है। मथुरा में कृष्ण राजनीतिक समस्याओं में इस प्रकार उलझ गए कि उन्हें ब्रज की सुधि ही न रही। एक बार वे यमुना में स्नान करने गए। वहाँ उन्होंने जल में बहते हुए एक मुरझाए कमल को देखा। उस कमल को लेकर ज्योंही उन्होंने सूँघा कि उनके हृदय में प्रसुप्त पूर्व ब्रज स्मृति जाग्रत हो गई। भावनाओं के प्रबल आवेग में वे तन बदन की सुधि भूल गए। उनका प्रफुल्लित मुख कमल मुरझा गया और वे मूर्च्छित होकर गिर पड़े। कृष्ण के प्रिय सखा एवं मंत्री उद्धव भी वहीं थे। कृष्ण को सचेत करने के लिए उन्होंने अनेक प्रयत्न किए किन्तु कोई भी उपचार कृतकार्य न हुआ। जब पास रखे शुक ने राधा नाम का उच्चारण किया तब कृष्ण ने नेत्र खोले। भाव विभोर कृष्ण उद्धव का सहारा लेकर लड़खड़ाते हुए भवन तक पहुँचे। वे ब्रज स्मृति में डूब रहे थे, उन्हें ब्रज का एक एक दृश्य याद आ रहा था। नंद यशोदा का लाड़ प्यार, गोपियों का रास रंग, गोपों की बाल क्रीड़ा सभी जैसे पुकार पुकार कर ब्रज 'लौट आने का आग्रह कर रही थी। विरह-वेदना से व्यथित कृष्ण ने अपनी पीड़ा को कम करने के लिए उद्धव से ब्रज प्रसंग चलाया किन्तु उनके नेत्र भर आए कंठ रुध गया

और वे कुछ भी न कह सके। कृष्ण की विकलता देखकर ज्ञानवान
उद्धव का भी धैर्य छूट गया। उन्होंने ब्रज तथा ब्रजवासियों को भूल
जाने का सत् परामर्श दिया। गोपियों के छलनामय स्वरूप तथा ब्रह्म
की एकता का उपदेश देकर उनकी पीड़ा कम करनी चाही, किन्तु
प्रेमधारा में निरावलम्ब बहते हुए कृष्ण पर इसका कुछ भी प्रभाव न
पड़ा। उन्हें ब्रज की रज के सम्मुख त्रिलोकी की सम्पत्ति भी फीकी
लग रही थी। उद्धव के उपदेश को सुनकर कृष्ण ने बड़ी दीनता
से कहा—

'हा ! हा ! इन्हें रोकने को टेक न लगावौ तुम।' उ० श० १७

और यदि तुम यही चाहते हो कि मैं ब्रजवासियों के प्रेम को
हृदय से निकाल दूँ तो तुम्हें भी मेरी एक बात माननी ही पड़ेगी—

आओ एक बार धरि गोकुल-गली की धूरि,
तब इहिं नीति की प्रतीति धरि लेहैं हम।
मन सों करेजी सों, स्रवन-सिर-आँखिन सों,
ऊधव तिहारी सीख भीख करि लेहैं हम। उ० स० १८

इसके अनन्तर कथा पूर्व प्रचलित रूप में ही अग्रसर होती है।
ज्ञान-गर्व-पूर्ण उद्धव ब्रजवासियों को उपदेश देने की उमंग में भरे
जाते हैं किन्तु बीच ही में उनकी ज्ञान-गठरी न जाने कब खुलकर
गिर जाती है। ब्रज के सरस वातावरण में पहुँचते ही उद्धव का शुष्क
हृदय भी रसपूर्ण हो जाता है। गोपियों को उपदेश देने के लिए उन्हें
एक बार सोचना पड़ा। अन्त में ब्रह्मज्ञान का संदेश सुनाकर उन्होंने
परमपद प्राप्ति का श्रेष्ठ मार्ग प्रदर्शित किया। गोपियाँ इस अप्रत्या-
शित संदेश को सुनकर अवाक् रह गईं। वे यह न समझ सकीं कि
कृष्ण ने यह पत्र भेजा किसलिए ? वे बारबार उद्धव से पूछतीं, तर्क
करतीं कभी व्यंग्य और उपालम्भ द्वारा हृदय की व्यथा तथा कृष्ण के
प्रति अनन्य प्रेम को व्यक्त करतीं। गोपियों की व्यथापूर्ण स्थिति को
देखकर उद्धव की समस्त चातुरी विलीन हुई। वे स्वयंगोपी रंग में रंग-
कर उन्हीं के सदृश वियोग दुख का अनुभव करने लगे। अब उन्हें
समस्त ब्रज कृष्ण विरह में विलाप करता दिखाई पड़ा। वे स्वयं ब्रज
धूलि में लोटलोट कर रोने लगे। उद्धव जब यशोदा, गोपियों और
राधा की भेंट तथा संदेश लेकर मथुरा पहुँचे उस समय उनका रूप

बदल चुका था। वे स्वयं भाव-विभोर थे। ब्रज की कथा कहते समय उनकी वही दशा थी जो ब्रज स्मृत जाग्रत होने पर कृष्ण की हुई थी। ब्रज संदेश के उत्सुक कृष्ण से उन्होंने कहा—

आँसुनि धार और उभार कौं उसांसनि के,
तार हिचकीनि के तनक टरि लेन देहु।
कहै रतनाकर फुरन देहु बात रंच,
भावनि के विषम प्रपंच सरि लेन देहु।
आतुर ह्वै और हू न कातर बनावौ नाथ,
नेसुक निवारि पीर धीर धरि लेन देहु।
कहत अबै हैं कहि आवत जहाँ लों सबै,
नौकु थिर कढ़त करेजों करि लेन देहु। उ० श० १०६

ब्रज व्यथा सुनाने के उपरान्त उद्धव ने अपने ब्रह्मज्ञान के मूल्यांकन का भी वर्णन किया—

लेके पन सूछम अमोल जो पठायौ आप।
ताकौ मोल तनक तुल्यौ न तहाँ साँठी तैं॥ उ० श० ११३

ब्रज के प्रथम दर्शन ने ही उद्धव के हृदय में निरन्तर ब्रजवास की कामना जाग्रत कर दी। कालिंदी कूल पर कुटी बनाकर रहने की अभिलाषा को उन्हें इसीलिए दबा देना पड़ा क्योंकि ब्रजवासियों की विरहावस्था से कृष्ण को अवगत कराना भी अति आवश्यक था—

हो तो चित चाव जो न रावरे चितावन को,
तजि ब्रज गाँव इते पाँव धरते नहीं। उ० श० ११६

भाव पक्ष

रत्नाकर जी मुक्तकों और प्रबन्धों के कवि तो थे किन्तु लिरिक कवि (गीत कवि) नहीं थे।[1] सूर आदि भक्त कवियों के सदृश इन्होंने गीति काव्य की रचना भी नहीं की। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि रत्नाकर में अभ्यास की प्रधानता है वे काव्य साधना द्वारा ही इस महान पद पर पहुँचे हैं किन्तु उद्धव शतक में उनके

१—पृ० ३१ संचारिणी—शांति प्रिय द्विवेदी।

भावुक हृदय का भी उद्‌घाटन हुआ है। कवि की भावात्मक व्यंजना से यह अधिक सरस बन गया है। उद्धव शतक को सर्वांग सुन्दर बनाने के लिए कवि ने मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। रचना का प्रारम्भ नवीन ढंग-मंगलाचरण-से होता है। सूर, नंद, वृन्दावन-दास तथा प्रागनि आदि कवियों ने मंगलाचरण का प्रय ग नहीं किया है। यद्यपि रसलीन आदि एक दो कवियों ने गणेश वंदना द्वारा रचना आरम्भ की है। किन्तु उद्धव शतक में 'जसोमति के लाड़िले गुपाल की' गुण कथन द्वारा वंदना एवं काव्य के सफलता की कामना रत्नाकर की मौलिकता ही समझी जायेगी। वस्तुतः कृष्ण-गोपी के प्रेम चित्रण के इस अवसर पर कृष्ण वंदना पूर्णतः उप-युक्त है।

रत्नाकर की मौलिक उद्‌भावना तुल्यानुराग के वर्णन एवं कथा के प्रारम्भ की नवीनता में भी स्पष्ट लक्षित होती है। भ्रमरगीत के पूर्ववर्ती कवि उद्धव के ज्ञान गुमान को लेकर बहुत कुछ कह चुके थे। कुछ कवियों ने कृष्ण के ब्रजानुराग और उनके प्रेम सन्देश का भी वर्णन किया है। किन्तु रत्नाकर ने जिस ढंग से प्रसंग को संवारा है उससे उद्धव के ज्ञान गर्व की अपेक्षा कृष्ण के भावुक हृदय की महत्ता ही सिद्ध होती है। कृष्ण ब्रज से मथुरा आकर यहाँ की राजनीति में इस प्रकार उलझ गए कि उन्हें ब्रज की स्मृति ही न रही। कवि ने इसी सुप्त स्मृति को जाग्रत करने के निमित्त कालिंदी स्नान की घटना प्रस्तुत की है। भागवत में कृष्ण गुरू गृह से पढ़ कर आते हैं उस समय उन्हें ब्रजवासियों का ध्यान हो आता है और वे उद्धव को सान्त्वना देने के लिए भेज देते हैं। सूरदास के कृष्ण उद्धव के वार्तालाप से ही उनके ब्रह्मज्ञान-गर्व एवं शुष्क हृदय से परिचित हो जाते हैं। इसी आधार पर अन्य कवियों ने भी उद्धव-गर्व-खण्डन हेतु ही उनके ब्रजागमन का वर्णन किया है। रत्नाकर ने आधुनिक बुद्धिवादी विचारधारा के अनुकूल कृष्ण को इतना अवसर ही नहीं दिया कि वे उद्धव से ब्रज-सम्बन्ध में कुछ वार्तालाप भी कर सकें। अतएव कृष्ण हृदय में स्थित स्थायी भाव रति को जाग्रत करने के लिए ही कवि ने भानुतनया में बहते मुरझाए कमल की कल्पना की है। कृष्ण मथुरा जाकर महाराज नहीं बन गए—उन्हें अपना गोप जीवन अब भी उतना ही प्रिय है। कृष्ण के हृदय में वैसा ही प्रेम है,

वैसी ही विकलता और विह्वलता है जैसी ब्रजवासियों में है। उनके प्रेम पर राजनीति का घना आवरण पड़ गया था। किन्तु आज कालिन्दी कूल पर उस मुरझाए सरोज को देखकर उनकी दशा ही बदल गई—

न्हात जमुना में जलजात एक देख्यौ जात
जाको-अध-अरध अधिक मुरझायो है।
कहे रतनाकर उमहि गहि स्याम ताहि
बास-बासना सौ नैकु नासिका लगायो है।
त्योंही कछु घूमि झूमि बेसुध भए के हाय
पाय परे उखरि अभाय मुख छायो है।
पाए घरी द्वैक में जगाइ ल्याइ ऊधौ तीर
राधा-नाम कीर जब औचक सुनायो है। उ० श० १

सरिता में बहते हुए मुरझाए पद्म को ज्योंही वे सूंघते हैं त्योंही उन्हें कमल मुखी राधा की स्मृति हो आती है जो इसी कमल के सदृश मुरझा गई है। मुरझाये जलज ने कृष्ण के सुप्त प्रेम को जाग्रत कर दिया। राधा के साथ ही ब्रज की अनेक घटनायें उमड़ घुमड़ कर हृदय को विकल करने लगीं। हृदय का अभाव मुख पर भी झलकने लगा। अकस्मात उत्पन्न इस प्रेमावेग को सहने में असमर्थ कृष्ण मूर्च्छित होकर गिर पड़े। कृष्ण को पुनः सचेत करने के लिए कीर द्वारा राधा के नामोच्चारण की कल्पना ने इसे और भी मार्मिक बना दिया। कृष्ण की दशा तो प्रचलित लोकोक्ति—"गए थे हरि भजन को ओटन लगे कपास"—की भांति ही हो गई। रत्नाकर जी ने इसी भाव को निम्न पंक्तियों में बड़ी सुन्दरता पूर्वक व्यक्त किया है—

कान्ह गए जमुना नहान पै नए सिर सौं।
नीकें तहाँ नेह की नदी में न्हाइ आए हैं॥ उ० श० २

अनुभाव

कृष्ण के इस प्रेम की व्यंजना रत्नाकर ने अनुभाव योजना द्वारा की है। सूरदास के विषय में यह कहा जाता है कि उन्होंने संचारियों का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। किन्तु व्यंजना के निमित्त जहाँ वाणी भी मौन हो जाती है कवि ने अनुभावों का आश्रय

लिया है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब हृदय भावाकुल हो जाता है उस समय वाणी भी असमर्थ हो जाती है। अपने हृदयगत भावों को व्यक्त करने के लिए हमें मूक संकेतों का आश्रय लेना पड़ता है। कृष्ण भी जब उद्धव से अपनी व्यथा कहने लगे उस समय अनेक मिश्रित भावों की स्पष्ट झलक उनके मुख मण्डल पर दिखाई पड़ रही थी। वे भूले-भ्रमे और व्याकुल से लग रहे थे। कृष्ण यह निश्चय भी नहीं कर पाए कि उद्धव से क्या कहें। कैसे और कहाँ तक कहें फिर विषय का प्रारम्भ भी किस स्थान से किया जाय—वे इसी द्विविधा में पड़े थे कि भावनाओं ने अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग स्वतः ही ढूँढ लिया—

> तौं लौं अधिकाई तैं उमगि कंठ आई भिंचि
> नीर ह्वै बहन लागी बात अँखियानि तैं। उ० श० ३

किसी प्रकार कृष्ण ने अपनी विरह व्यथा को वाणी देने का प्रयत्न किया किन्तु वे कृतकार्य न हो सके क्योंकि—

> गहबरि आयौ गरौ भभरि अचानक त्यौं
> प्रेम पर्यौ चपल चुचाइ पुनरीति सौं।
> नैकु कही बैननि अनेक कही नैननि सौं
> रही सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सौं। उ० श० ४

ब्रज-विलास का ध्यान रूपी कांटा कृष्ण के अन्तस्थल में अहर्निशि कसकता रहता है। मथुरा वास से तो परिस्थिति ही भिन्न होगई है—

> फिरत हुतेजू जिन कुंजनि में आठौं जाम
> नैननि में अब सोई कुंज फिरवौ करें। उ० श० ७

मथुरा का राजसिंहासन, देवताओं की बलाएँ और त्रिलोक का स्वामित्व सभी कुछ ब्रज सुख के सम्मुख तुच्छ है। हृदय का सुख और शान्ति ऐश्वर्य एवं वैभव पर ही अवलंबित नहीं है। आज रत्न मणियों की मालाएँ, षट्रस व्यंजन और त्रिलोक की सम्पत्ति कृष्ण हृदय से कुंजों की माला, यशोदा का दूध और मक्खन तथा ब्रज-वासियों का प्यारा गोपाल नाम नहीं भुला सकीं। उसी अपूर्व सुख की स्मृति में कृष्ण-हृदय द्रवित हो रहा है। किन्तु विशद-विवेक-ज्ञान-

गौरव-दुलारे उद्धव इसे समझ सकने में असमर्थ हैं। अनुभूति के अभाव में वे इसे मायायुक्त मूढ़ मानव का विलाप समझते हैं। राजनीतिज्ञ कृष्ण को इस भाँति विह्वल देखकर उद्धव स्वयं आश्चर्य चकित हैं। उन्हें क्या पता कि जिसे वे केवल खारा पानी समझ रहे हैं वे दुख सुख के प्रिय सहचर वियोग व्यथा को दूर करने में कितने बड़े सहायक हैं—

सीतल करत नैकुं हीतल हमारौ परि
विषम-वियोग-ताप समन पुचारे ह्वै ।
गोपिनि के नैन-नीर ध्यान-नलिका ह्वै धाई
दृगनि हमारैं आइ छूटत फुहारे ह्वै । उ० श० १७

उद्धव के ब्रज जाने के अवसर पर कृष्ण की विकलता और विवशता का कवि ने बड़ा मार्मिक वर्णन प्रस्तुत किया है। विरह-जन्य इस स्थिति की अनुभूति प्रिय से बिछुड़ने पर ही हो सकती है। उद्धव ब्रज जा रहे हैं कृष्ण का हृदय भी मचल उठा है। उसमें शत-शत अभिलाशाएं जाग्रत हो गई हैं किन्तु कृष्ण विवश हैं। उनकी विवशता ही अनेक रूपों में प्रकट हो रही है—

उद्धव कैं चलत गुपाल उर माँहि चल—
आतुरी मची सो परै कहि न कबीनि सौं ।
कहै रतनाकर हियौ हूँ चलिवै कौं संग
लाख अभिलाष लै उमहि बिकलीनि सौं ॥
आनि हिचकी ह्वै गरैं बीच सकस्यौई परै
स्वेद रस्यौई परै रौम-झंझरीनि सौं ।
आनन-दुलार तैं उसांस ह्वै बढ़यौई परै
आंस ह्वै कढ़यौई परै नैन-खिरकीनि सौं ॥ उ० श० २०

रत्नाकर ने अनुभाव व्यंजना द्वारा कृष्ण के सरस हृदय का उद्घाटन कर भ्रमरगीत प्रसंत के इस अंश को जो कि प्रायः उपेक्षित रहा है पूर्ण करने का सफल प्रयास किया है।

गोपी-विरह-वर्णन भ्रमरगीत का मुख्य विषय है। समस्त कवियों ने इसका विशद वर्णन किया है। उद्धव के ब्रजागमन पर गोपियों के हृदय में आशा निराशा का द्वन्द्व होने लगा वे औत्सुक्य

की चरमावस्था पर पहुँच गई। उद्धव आगमन सुनकर उनके हृदय में प्रिय संदेश श्रवण की अभिलाषा तीव्र हो उठी किन्तु उद्धव को देखते ही उनकी आशा पर पानी फिर गया। अज्ञात आशंका से उनका हृदय कांप उठा। वे कलेजा थाम कर रह गईं। फिर भी उद्धव के मुख से कुछ सुनने को वे आतुर हैं। वे उद्धव के मुख-मंडल पर अंकित टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं में अपनी भाग्य-लिपि पढ़ लेना चाहती हैं। श्वांस, अश्रु और उत्सुकता को रोक कर निपट निराशा की मूर्ति गोपियाँ आशा से पूर्ण हैं। गोपिकाओं का यह वर्णन मनोवैज्ञानिक आधार पर किया गया है। गोपिओं की मानसिक स्थिति का अनुमान उस विद्यार्थी से लगाया जा सकता है जो प्रश्न-पत्र बिगड़ जाने पर परीक्षा फल सुनने आया है। पहले तो वह अध्यापक की मुख-मुद्रा से ही कुछ अनुमान लगाने का प्रयत्न करेगा, पुनः बड़ी विकलता से परिणाम सुनने के लिए उसका प्रति रोम सतर्क हो उठेगा। इसी भाँति गोपियाँ भी उद्धव के मुख-मंडल को देखकर पूर्व अनुमान कर लेना चाहती हैं। आशा निराशा पूर्ण प्रतीक्षा के एक एक क्षण युग सम व्यतीत हो रहे हैं। उत्सुकता की चरमावस्था पर उनका प्रत्येक रोम प्रतीक्षा करता जान पड़ता है। समस्त इन्द्रियाँ एक ही ओर केन्द्रित हो गई हैं। पूर्ण शान्ति की व्यंजना के लिए ही कवि ने 'सांस रोकि' का प्रयोग किया है। किन्तु उद्धव के हाथ में पत्र देखकर वे अपनी उत्सुकता को अधिक न रोक सकीं और—

> हमको लिख्यौ है कहा, हमको लिख्यौ है कहा,
> हमको लिख्यौ है कहा, कहन सबै लगीं। उ० श० २६

उद्धव का मौन उन्हें विकल कर रहा है। गोपियाँ उद्धव से पूछने के लिए उमंगित होती हैं किन्तु किसी अज्ञात भय से फिर कराह उठती हैं—

> साहस कै कछुक उमाहि पूछिबे कों ठाहि;
> चाहि उत गोपिका कराहि रहि जाति हैं। उ० श० २७

इधर संकोच में भरे, भूले, भ्रमे और हारे से उद्धव एक हाथ पाती पर एक हाथ दिए छाती पर चुपचाप खड़े हैं। गोपियों की दशा और संदेश की विषमता ने उद्धव को दुविधा में डाल दिया। एक क्षण के लिये वे भी कुछ निश्चय न कर सके किन्तु अन्त में ब्रह्मज्ञान का

उपदेश देना ही उचित समझा। उद्धव के इस अप्रत्याशित संदेश को सुनकर भग्न-हृदय गोपियों का एक सामूहिक चित्र उपस्थित हो जाता है। अनुभाव योजना द्वारा कवि ने उनके क्रोध, निराशा, विकलता, प्रलाप, शोक जड़ता आदि मनोभावों के साथ ही विभिन्न स्वभाव को भी बड़ी कुशलता से प्रकट किया है। उद्धव का यह संदेश उन्हें विचलित एवं व्यथित कर देने के लिये पर्याप्त है—

सुनि-सुनि ऊधव की अकह कहानी कान,
कोऊ थहरानी, कोऊ थानहि थिरानी हैं।
कहै रत्नाकर रिसानी; बररानी कोऊ,
कोऊ बिलखानी, बिकलानी, बिथकानी हैं।
कोऊ सेद-सानी, कोऊ भरि दृग-पानी रहीं,
कोऊ घूमि घूमि परी भूमि मुरझानी है।
कोऊ स्याम-स्याम कै बहकि बिल्लानी कोऊ,
कोमल करेजौ थामि सहमि सुखानी हैं॥

उ० श० ३३

संचारी भाव

अनुभावों के सदृश्य ही रस-सृष्टि के लिए रत्नाकर ने संचारी भावों की भी सुन्दर योजना की है परन्तु उनका झुकाव अनुभावों द्वारा रस व्यंग्य की ओर ही अधिक रहा है। अतः उद्धव शतक में अनुभाव-व्यंजना की ही प्रधानता है। रत्नाकर ने यद्यपि सूरदास के सदृश संचारियों का विशद् एवं विस्तृत वर्णन नहीं किया है। फिर भी उद्धव शतक में स्मृति, उत्सुकता, मति, अभिलाषा, चिन्ता, दैन्य आदि संचारी भावों की कलापूर्ण योजना का दर्शन होता है। कृष्ण एवं गोपियों के कथन में स्मृति संचारी का अनेक बार उल्लेख हुआ है। कृष्ण-वियोग वर्णन के अवसर पर संचारियों की अभिव्यक्ति बड़ी ही सुन्दर हुई है। उद्धव से वर्णन करते समय कृष्ण के निम्न कवित्त में स्मृति संचारी की व्यंजना द्रष्टव्य है—

नन्द औ जसोमति के प्रेम पगे पालन की,
लाड़ भरे लालन की लालच लगावती।
कहै रत्नाकर सुधाकर-प्रभा सों मढ़ी,
मंजु मृग नैननि के गुन-गन गावती॥

जमुना-कछारनि की रंग-रस-रारनि की,
बिपिन-बिहारनि की हौंस हुलसावती।
सुधि-ब्रज-बासिनि दिवैया सुख रासिनि की,
ऊधौ नित हमको बुलाबन कौं आवती।

उ० श० २७

उद्धव से वार्त्तालाप करते समय वियोग शृङ्गार के अन्तर्गत मति संचारी भाव की व्यंजना भी मिलती है। गोपियाँ कहती हैं—

पुरतीं न जो पै मोर-चंद्रिका किरीट-काज,
जुरतीं कहा न काँच किरचें कुभाय की।
कहैं रत्नाकर न भावते हमारे नैन,
तौ न कहा पावते कहूँ धौं ठाँप पाय की॥
मान्यौ हम मान कै न मानती मनाएँ बेगि,
कीरति-कुमारी सुकुमारी चित चाय की।
याही सोच माँहि हम होति दूबरी के कहा,
कूबरी हू होती न पतोहू नंदराय की।

उ० श० ८२

ईर्ष्या अथवा डाह के कारण दूसरे के गुण, समृद्धि, उन्नति आदि को न सह सकना असूया कहलाता है। इसमें दोष कथन भ्रू भंग तिरस्कार, आदि व्यापार होता है। कुब्जा के वैभव को देखकर गोपियों के हृदय में ईर्ष्या उत्पन्न हो गई है, कुब्जा के कारण ही तो कृष्ण को मथुरा प्रिय हो गया है। ब्रजांगनाओं की तो उन्हें सुधि ही नहीं, उल्टे कटे में नमक के सदृश ब्रह्मज्ञान तथा योग का विषम संदेश भेज दिया है। विरह की इस परिस्थिति में उद्धव का संदेश उनकी व्यथा को बढ़ाने वाला ही सिद्ध हुआ और वे इस सबके मूल में कुब्जा को समझ कर उस पर ही व्यंग्य करती हैं। दोष कथन तथा तिरस्कार की यह भावना सूर-रसीले तथा रत्नाकर की गोपियों में एक जैसी ही है। मानसिक पराभव की अवस्था में श्लीलता अथवा अश्लीलता के मोह को वे भूल गई हैं। गोपी का कूबड़ और कृष्ण की रति क्रिया उनके लिए एक उपहास का विषय बन गई है। गोपियों को एक चिन्ता है।

सोच है यहै कै संग ताके रंग भौन माहि,
कौन धौं अनोखी ढंग रचत निराटी है।
छाँटि देत कूबर के आँटि देत डाँट दोऊ,
काटि देत खाट किधौं पाटि देत माटी है॥ उ० श० ७५

सूर की गोपियाँ इसी स्तर पर उतर उद्धव के सम्मुख अपना आश्चर्य प्रकट करती हैं—

ऊधौ यहै अचंभौ बाढ़।
आपु कहाँ ब्रजराज मनोहर, कहाँ कूजरी राढ़।
जिहिं छिन करत कलोल संग रति, गिरिधर अपनी चाढ़।
काटत हैं परजंक ताहि छिन, के धौं खोदत खाढ़।
किधौं सदा बिपरीत रचत हैं, गहि गहि आसन गाढ़।
सूर सयाम भए हरि, बाँधत माँस खाइ, गल हाड़॥
सूर० ४२६०

रसीले की गोपियाँ भी उद्धव से यही प्रश्न पूँछती हैं। इस प्रकार रत्नाकार का यह वर्णन उनकी मौलिक कल्पना नहीं है। उन्होंने पूर्ववर्ती कवियों के भाव को ही भिन्न शब्दावरण में व्यक्त किया है। यहाँ पर असूया संचारी की व्यंजना है। किन्तु यह कहना अनुचित न होगा कि इस प्रकार वर्णन सुसंस्कृत रुचि की दृष्टि से उत्तम नहीं कहा जा सकता है। ईर्ष्या में हम किसी की कितनी भी बुराई करें किन्तु विपक्षी के रंगमहल के एकान्त क्षणों का निर्लज्ज उद्‌घाटन उचित नहीं। एक आलोचक ने रत्नाकर की टीका करते समय लिखा भी है, रत्नाकर का यह मजाक बहुत ही भद्दा हुआ है। उपहास करने की राजदरबारी वृत्ति ने उन्हें निःसंकोच मन भर कह लेने दिया है। जो साहित्यिक संयम के विरुद्ध पड़ता है। अभीप्सित भाव की पर्याप्त व्यंजना तीसरे चरण में ही मिल जाती है। 'रंग भौन' शब्द की व्यंजना ही बहुत थी। अन्तिम चरण देकर रत्नाकर ने एक उन्नत कोटि के भाव में एक भारी भूल करदी है।"[1]

रत्नाकर ने यद्यपि सूर के इस भाव को ग्रहण किया है किंतु उन्होंने साहित्यिक संयम तथा रुचि का विशेष ध्यान रखा है। स्वाभाविक

१—पृ० २०५ उद्धव शतक मीमांसा

विरह व्यंजना के साथ ही उद्धव शतक में ऊहात्मक वर्णन भी उपलब्ध है। उद्धव के मथुरा जाते समय गोपियाँ कृष्ण को लिखित संदेश भेजना चाहती हैं किन्तु विकलता के कारण उनसे कुछ लिखा ही नहीं जाता और जब किसी भांति धैर्य रख कर लिखने का प्रयत्न भी करती हैं तो विषम विरहाग्नि उनकी इच्छापूर्ण ही नहीं होने देती। लेखनी को स्याही में डुबोते ही एक विचित्र दृश्य उपस्थित हो जाता है—

सूखि जाति स्याही लेखिनी कैं नैकुं डंक लागें
अंक लागैं कागद बररि बरि जात है। उ० श० ६५

इसी प्रकार का वर्णन सूर ने भी किया है। विरहाग्नि का उत्तापकारी परिणाम उद्धव द्वारा लाए कृष्ण पद को पढ़ते समय दिखाई पड़ता है। रत्नाकर की गोपियों की भाँति सूर की गोपियाँ भी प्रिय के पत्र को पढ़ने में असमर्थ हैं—

नैन सजल कागद अति कोमल, कर अंगुरी अति ताती
परसैं जरैं विलोकैं भीजैं दुहूँ भाँति दुख छाती। सूर ४१०८

अभिव्यंजना की यह शैली रीति काल में पूर्ण विकसित हुई। भक्त कवियों ने भी इसका प्रयोग यत्र तत्र किया है। इस प्रकार के वर्णन पढ़ कर हम कवि की सूझ की प्रशंसा तो कर सकते हैं किन्तु हृदय को स्पर्श करने की शक्ति इसमें नहीं होती। अतिशयोक्ति तथा अत्युक्ति पूर्ण अलंकारिक वर्णन की रुचि ही इसका मूल कारण है। उद्धव शतक में इस प्रकार ऊहात्मक वर्णनों की प्रचुरता नहीं है और यह सौभाग्य की बात है।

प्रकृति वर्णन

उद्धव शतक में प्रकृति का विशद वर्णन नहीं मिलता है। रत्नाकर ने केवल छः कवित्तों में ही षट्ऋतुओं का वर्णन किया है। रत्नाकर का यह प्रकृति वर्णन रीतिकालीन एवं परम्परागत है किन्तु इसकी व्यंजना भिन्न प्रकार की है। रत्नाकर ने षट्ऋतुओं की गोपियों को वियोग जन्य जीवन में घटित किया है। यही इसकी विशेषता है। गोपियाँ अपनी मनोभावनाओं के अनुसार ही प्रकृति का वर्णन करती

हैं। इसके लिए उन्होंने शिलष्ट पदावली का ही प्रयोग किया है। रत्नाकर के प्रकृति वर्णन को पढ़ कर स्पष्ट हो जाता है कि इस अलंकारिक शिलष्ट वर्णन में भी गोपी विरह व्यंजना ही प्रधान है। प्रकृति के माध्यम से रत्नाकर ने विरहिणी गोपियों का ही चित्र खींचा है। गोपियां उद्धव को सभी ऋतुओं का दर्शन ब्रज में ही करा देती हैं। बसंत के समस्त उपकरणों का उल्लेख कर किस कुशलता से उद्धव को बरसाने में ही बसन्त ऋतु की छटा दिखा दी है—

विकसित विपिन बसंतिकावली कौ रंग,
लखियत गोपिन के अंग पियराने में।
बौरे वृंद लसत रसाल-वर बादिनी के,
पिक की पुकार है चबाव उपगाने में।
होत पतझार तरुनि-समूहनि कौ
बैहरि बतासले उसास अधिकाने में।
काम-विधि आम की कला में मीन मेष कहा
ऊधौ नित वरुत बसंत बरसाने में॥

उ० श० ८७

निपुणता

उत्कृष्ट, भावपूर्ण एवं गम्भीर रचना के लिये कवि का बहुज्ञ होना आवश्यक समझा गया है। अन्यथा काव्य में अनेक भूलें हो जाने की संभावना रहती है। बहुज्ञता प्रकाशन के लिये भी विशेष सतर्कता की आवश्यकता है। क्योंकि कभी बहुज्ञ होने का लोभ सीमा का अतिक्रमण कर कवि को उपहासास्पद बना देता है। काव्य में बहुज्ञता का प्रकाशन प्रसंग स्थिति तथा आवश्यकता अनुसार ही होना चाहिये। अनेक पदार्थों की एक तालिका उपस्थित कर देने से कवि की विद्वत्ता का आभास नहीं मिलता। किसी भी तथ्य का कलापूर्ण वर्णन ही काव्य की श्रेणी में आ सकता है। उपर्युक्त विचार से रत्नाकर पूर्ण सफल कहे जा सकते हैं। उद्धव शतक में अनेक वर्णन उनके गम्भीर अध्ययन, निरीक्षण एवं ज्ञान के परिचायक हैं। रत्नाकर ने वैद्यक, रसायन, वेदान्त, तर्क शास्त्र आदि के सिद्धान्तों का जिस रूप में विवेचन किया है उससे उनके विशद ज्ञान के साथ ही काव्य प्रतिभा का भी परिचय मिलता है। रत्नाकर ने इस प्रकार के वर्णन में प्रायः श्लेषादि अलंकारों का प्रयोग किया है।

कृष्ण जीवन के साथ कालिंदी, कदम्ब और करील का अभिन्न सम्बन्ध है। ब्रज में पहुँचने पर करील कुंजों की स्मृति आए बिना नहीं रह सकती। रत्नाकर ने ब्रज के तमाल तथा करील कुंज का उल्लेख बड़े ही रुचिर एवं प्रसंगानुकूल रूप में किया है। उद्धव मथुरा से ज्ञान-गठरी लेकर जाते हैं किन्तु ब्रज पहुँचते पहुँचते उनके शुष्क हृदय में भी सरसता उत्पन्न हो जाती है। इसका भी कारण है—

ज्ञान-गठरी की गांठि छरकि न जान्यौ कब,
हरैं-हरैं पूंजी सब सरकि कछार में।
डार में तमालनि की कछु बिरमानी अरु,
कछु अरुझानी है करीरनि के झार में॥

उ० श० २२

कटीले झाड़ों में प्रायः वस्त्र उलझ जाते हैं। इसी तथ्य को लेकर कवि ने एक ओर तो ब्रज के तमाल और कटीले करील कुंजों का उल्लेख किया है दूसरी ओर ब्रज के रसपूर्ण वातावरण का अवश्यंभावी प्रभाव का भी सुन्दर वर्णन किया है।

गोपियों के कथन में कवि ने वैद्यक शास्त्र का भी परिचय दिया है। विषम-ज्वर की अवस्था में रोगी का उपचार किन उपकरणों द्वारा होता है। इस ज्ञान का प्रदर्शन श्लेष द्वारा चमत्कारिक एवं स्वाभाविक ढंग से किया गया है—

रस के प्रयोगनि के सुखद सु जोगनि के,
जेते-उपचार चारु मंजु सुखदाई हैं।
तिनके चलावन की चरचा चलावै कौन,
देत न सुदर्शन हूँ यौं सुधि सिराई है॥
करत उपाय न सुभाय लखि नारिन कौ,
काम रचौ अनारिनि कौ भरत कन्हाई हैं।
ह्याँ तौ विषम ज्वर-वियोग की चढ़ाई है, यह,
पाती कौन रोग की पठावत दवाई हैं॥

उ० श० ३४

हमारे जीवन में अनेक ऐसी बातें होती हैं जिन्हें हम देखकर भी नहीं देखते और समझकर भी नहीं समझते हैं किन्तु कवि उन्हें

जब कलापूर्ण ढंग से हमारे सम्मुख रख देता है तब हमें लगता है कि यह तो हमारे अनुभव की ही वस्तु है। हम प्रतिदिन दर्पण में अपना मुख देखते हैं किन्तु बिम्ब प्रतिबिम्ब के जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन रत्नाकर ने किया है, वह कवि के निरीक्षण का परिणाम है। गोपियों ने वियोग स्थिति में प्रेम की निरन्तर दृढ़ता का कितना स्वाभाविक वर्णन किया है—

ज्यों ज्यों बसे जात दूरि दूरि प्रिय प्रान मूरि,
त्यों त्यों धंसे जात मन-मुकुर हमारे में ॥ उ० श० ८०

अन्य अनेक प्रसंगों में कवि ने अपने विविध ज्ञान का अच्छा परिचय दिया है। घृत तथा मधु का मिश्रण विषवत् हो जाता है यह एक मान्य सत्य है। गोपियाँ इसी आधार पर उद्धव से कहती हैं। हमारे हृदय में कृष्ण-स्नेह तो था ही उसमें तुम्हारे ब्रह्मज्ञान मधु के पड़ते ही वह विष बन गया जिसके विषाक्त प्रभाव से हम मरणासन्न हो रही हैं। अंतिम कवित्त में कवि ने उद्धव के सर्वांग परिवर्तन का वर्णन भी कांतमणि की रासायनिक क्रियाओं के रूप में किया है। यहाँ पर उद्धव उदाहरणों के अतिरिक्त उद्धव शतक के अनेक छन्द कवि के बहु-ज्ञान के द्योतक हैं।

विचार पक्ष

निर्गुण सगुण का विवाद तथा निर्गुण के ऊपर सगुण भक्ति की प्रतिष्ठा भ्रमरगीत का प्रमुख अंग बन गया है। रत्नाकर ने भी ज्ञान तथा भक्ति के इस विवाद को बड़ी कुशलतापूर्वक उठाया है। उद्धव शतक के दार्शनिक प्रसंग में तर्क तथा भावना दोनों की प्रधानता होते हुए भी यह सूर, नंद अथवा वृन्दावनदास से भिन्न है। रत्नाकर ने प्रसंग को अपने ढंग से संवारा तथा व्यक्त किया है। उद्धव शतक में दर्शन का प्रसंग सर्वप्रथम उद्धव कृष्ण संवाद के अवसर पर मिलता है। कृष्ण की विकलता एवं भावपूर्ण ब्रजस्मृति प्रसंग को सुनकर उद्धव ने कृष्ण को 'मोह' का विश्लेषण करते हुए ब्रह्म की अद्वैतता का उपदेश दिया है। उद्धव कृष्ण को समझाते हैं—पंच तत्वों से निर्मित इस सृष्टि में परम-तत्व ब्रह्म ही व्याप्त है। यही तत्व ज्ञान है इसी को वेदों ने गाया है। तुम तो परम विवेकी और ज्ञानी हो फिर इस पंच भौतिक भेद बुद्धि के वशीभूत क्यों हो

रहे हो ? और गोपियों में जब एक ब्रह्म प्रतिष्ठित है तो फिर भेद-भाव, विरह-दुख और संयोग-सुख आदि रह ही कहाँ जाता है। अपने से अपने का मिलन और वियोग कैसा ? तुम्हें जो दुख हो रहा है यह मोह के कारण है जो मिथ्या है। 'मोह' तथा 'मिथ्या' की व्याख्या की पुष्टि में उद्धव ने शंकर के 'मिथ्यावाद-संसार स्वप्नवत् है' की ओर संकेत कर कृष्ण को पुनः समझाने का प्रयत्न किया—

> असत अपार या पसार में हमारी जान,
> जन भरमाए सदा ऐसें रहिबौ करें।
> जागत और पागत अनेक परपंचनि में,
> जैसे सपने में अपने कौं लहिनौ करें॥
> उ० श० १६

उद्धव के इस पांडित्यपूर्ण उपदेश के विरोध में कृष्ण ने कुछ तर्क न किया केवल इतना ही कहा—

> आवो एक बार धारि गोकुल-गली की धूरि,
> तब इहिं नीति की प्रतीत धरि लैहैं हम। उ० श० १८

उद्धव यद्यपि परम ज्ञानी और निर्गुण ब्रह्म के पूर्ण ज्ञाता थे किन्तु प्रेम-रत्नाकर की गम्भीरता का उन्हें कुछ भी ज्ञान न था। अन्यथा कृष्ण की दशा देखकर वे गोपियों को उपदेश देने न जाते। उद्धव शतक के उद्धव भी शुष्क हृदय एवं अभिमानी हैं। अन्य भ्रमर-गीत के उद्धव की भांति इनका भी ज्ञान-गर्व ब्रज जा कर ही पूर्ण होता है।

दूसरी बार दर्शन का प्रसंग उद्धव गोपी संवाद के अवसर पर उठता है। ज्ञानी उद्धव पर ब्रज की सरस बयारि का प्रभाव तो पहले ही पड़ चुका था, गोपियों की आतुरता और विकलता से उनकी समस्त चातुरी भी नष्ट हो गई और ज्ञान-बाती पर धूल पड़ गई। किन्तु उप-देश तो देना ही था अतः गोपियों को धीरज बँधाने के लिए उन्होंने मोह त्याग एवं अद्वैत ब्रह्म दर्शन का उपदेश दिया। उद्धव ने उन्हें बताया कि यदि तुम अपनी इच्छानुसार कृष्ण का संयोग चाहती हो

तो बाह्य जगत से ध्यान हटा कर योगसाधना द्वारा अपने ही हृदय में प्रज्वलित ज्योति में योग साधन द्वारा उनका दर्शन प्राप्त कर सकती हो। मोह के कारण तुम जिनका वियोग समझती हो वह (ब्रह्म) तो सबके अन्तरतम में निवास करते हैं। अतएव तुम योग साधना द्वारा अपनी आत्मा को उनमें लीन कर दो और फिर तुम्हें अखंड सुख की प्राप्ति होगी। पँचतत्व में उसी एक ब्रह्म की सत्ता विद्यमान है जो माया के कारण विभिन्न रूप में दृष्टिगोचर हो रहा है। ठीक उसी सूर्य की भाँति जो अनेक काँच के टुकड़ों में अलग-अलग दिखाई देता हुआ भी वस्तुतः एक ही है। तुम भ्रम के इस आवरण को हटा कर ज्ञान-दृष्टि से उन्हें देखो तो तुम्हें कृष्ण (ब्रह्म) की अद्वैतता का ज्ञान हो सकेगा। तुम में और कृष्ण में कोई भेद नहीं है। सागर और उसकी बूँद में अन्तर कैसा ? यदि तुम कृष्ण से मिलना ही चाहती हो तो तन की साधना द्वारा योग युक्तिपूर्वक आत्मा को परमात्मा में लीन करदो। इसी युक्ति द्वारा तुम अविचल सुख पा सकती हो।

उद्धव के इस अप्रत्याशित संदेश का गोपियों पर विचित्र प्रभाव पड़ा वे हत् बुद्धि सी रह गईं। उनका मानसिक सन्तुलन क्षण भर के लिए बिगड़ गया। रत्नाकर ने उनकी स्थिति का चित्रण एक कवित्त में बड़ी ही सुन्दरता पूर्वक किया है। विभिन्न गोपियों में, भय, क्रोध चिन्ता, दुख त्रास आदि अनेक भाव उत्पन्न हो गये। अनुभाव चित्रण द्वारा व्यथित गोपियों का सामूहिक चित्र खींच देने में रत्नाकर पूर्णतः सफल हुए हैं। कुछ क्षण पश्चात जब गोपियों को स्थिति का ज्ञान हुआ तो वे इस संदेश की विषमता पर इतना ही कह सकीं—

> ह्यां तो विषमज्वर-वियोग की चढ़ाई यह।
> पाती कौन रोग की पठावत दवाई है॥ उ० श० ३४

धीरे-धीरे कृष्ण का कुशल समाचार पूछने के पश्चात् वे स्थिर चित्त हो गईं और अब वे उद्धव के उपदेश का उत्तर भी दे सकीं। उन्होंने उद्धव संदेश के एक एक विषय को लेकर उद्धव के सम्मुख अपना मत रखा। उद्धव के ब्रह्म संदेश को सुनकर गोपियों ने कहा 'उद्धव तुम कृष्ण के संदेशवाहक हो अथवा ब्रह्म के ? तुम्हारा उपदेश कृष्ण द्वारा प्रेषित संदेश नहीं हो सकता। यह तो प्रेम पंथ से विमुख

करने के लिए अनाड़ी की अनरीति ही है। तुम कहते हो कृष्ण और ब्रह्म एक हैं यह हम मान लेती हैं। फिर भी हमें अद्वैत की यह भावना रुचिकर नहीं है। इस तत्व को मानकर हम कृष्ण-जलद में लीन होकर अपना बूँद सदृश अस्तित्व नष्ट नहीं करना चाहती हैं क्योंकि अपार जल राशि में एक बूद पड़ने अथवा न पड़ने से कुछ अन्तर नहीं आता किन्तु लघु जल-कण का अस्तित्व तभी तक है जब तक वह उससे अलग है। अतएव तुम जो लयात्मक सायुज्य मोक्ष का स्वर्ण जाल फैला रहे हो वह हम भक्त गोपियों को तनिक भी रुचिकर नहीं।

तुम्हारा दूसरा संदेश योग तथा साधना से सम्बन्धित है। तुम कहते हो, 'छीन करौ तन को' किन्तु यह हमारे स्वभाव के विपरीत है। प्रिय कृष्ण को रिझाने के लिए जिसका हम निरन्तर शृंगार करती थीं उस पर भस्म लगाई जाय। जिन केश राशि को स्वयं आनन्द राशि कृष्ण ने सस्नेह संवारा है उनकी जटाओं में कैसे बदल दें। जिस मुख को कृष्ण चंद और अरविन्द कहा करते थे उसे ही कौवे की चोंच सदृश कैसे बनालें। तुम्हारे बैन-वाणों से छिद कर हमारा हृदय चलनी बन गया उसमें लेप लगाकर फिर धीर-नीर कैसे रुक सकता है। तुम्हारा समस्त उपदेश ही विषम है—

जहाँ तक तुम्हारे अलक्ष्य ब्रह्म का सम्बन्ध है हम केवल एक छोटी सी बात पूछना चाहती हैं—

> रूप रस-हीन जाहि निपट निरूपि चुके
> ताकौ रूप ध्याइबौ औ रस चखिबौ कहौ।
> एते बड़े विश्व माहिं हेरैं हूँ न पैयै जाहि,
> ताहि त्रिकुटी में नैन मूंदि लखि बौ कहौ।
> उ० श० ३६

तुम्हारी बातें स्वयं विरोध मूलक हैं एक ओर तो तुम ब्रह्म को निर्गुण निराकार बताते हो तो दूसरी ओर उसका ध्यान और रसपान करने की बात कहते हो। जो स्वयं रूप-रस हीन हैं उसका ध्यान और रसपान कैसे सम्भव है। दूसरी बात इस अपार संसार में जो ढूँढने पर भी नहीं मिल सकता उसे तुम त्रिकुटी जैसे सीमित स्थान पर ढूंढने का उपदेश देते हो। तुम अपनी द्विधात्मक बातों में स्वयं ही

निश्चित मत नहीं हो। बताओ हम उन्हें मानें भी तो कैसे ? फिर हमारी परिस्थिति भी ऐसी नहीं कि तुम्हारी बात स्वीकार कर सकें, दूध का जला छांछ को भी फूँक कर पीता है यहाँ तो अब किसी रूप-रंग हीन की आराधना करना ही नहीं है क्योंकि—

रंग-रूप-रहित लखात सबही हैं हमें
बैसो एक और ध्याइ धीर धरिहैं कहा।
कहै रत्नाकर जरी हैं बिरहानल में
और अब ज्योति कौं जगाइ जारिहैं कहा।
राखौ धरि ऊधौ उतै अलख अरूप ब्रह्म
तासौं काज कठिन हमारे सरिहैं कहा।
एक ही अनंग साधि साध सब पूरी अब
और अंग-रहित अराधि करिहैं कहा।
उ० श० ४५

उद्धव के योग एवं निर्गुण ब्रह्म संदेश के विरोध में गोपियों ने अनेक तर्क दिये हैं किन्तु उनका विवाद नंददास की गोपियों की भाँति शुद्ध दार्शनिक रूप नहीं पा सकता है। उद्धव ने पहले अपनी सभी बातें कहदीं पुनः गोपियों ने उनका उत्तर दिया है यह उत्तर भी शृंखला बद्ध रूप में नहीं हैं। उद्धव से प्रसंगगत बातें करने के पश्चात् गोपियों की झिझक मिट गई। वे भी सूर की गोपियों की भाँति उद्धव तथा उनके निर्गुण ब्रह्म का उपहास कर सगुण ब्रह्म एवं भक्ति मार्ग की प्रतिष्ठा करने में चतुर हैं। यद्यपि उनके तर्क केवल बौद्धिक मात्र नहीं हैं किन्तु वे किसी ग्रामीण की सरल उक्ति भी नहीं हैं। उनमें भाव तथा विचार दोनों ही हैं। उद्धव ने संसार को स्वप्न बतलाया। उद्धव की इसी बात को लेकर वे स्वयं उद्धव पर व्यंग्य करती हैं—

जग सपनौ सौ सब परत दिखाई तुम्हें
तातैं तुम ऊधौ हमें सोवत लखात हो।
कहै रत्नाकर सुनै को बात सोवत की
जोई मुँह आवत सो विवस बयात हो।
सोवत में जागत लखत अपने कों जिमि,
त्योंही तुम आपहीं सुज्ञानी समुझात हो।

[४६३]

जोग-जोग कबहूँ न जानैं कहा जोहि जकौ
ब्रह्म ब्रह्म कबहूँ बहकि बररात हो।

उ० श० ५०

उद्धव तुम्हें यह संसार स्वप्नवत् दिखाई पड़ता है अतः निश्चय ही तुम सुप्तावस्था में हो। गोपियाँ उद्धव का परिहास करती हुई आगे कहती हैं—जागता हुआ व्यक्ति न तो स्वप्न देखता है और न तुम्हारी जैसी बातें ही करता है। तुम्हारी बातें तो सोते हुए व्यक्ति का बरराना ही है। फिर उस पर ध्यान देने की आवश्यकता ही क्या है।

तुम्हारी ब्रह्म ज्योति और ज्ञान कृष्ण-प्रेम के सम्मुख ठहर ही नहीं सकता है। हमारा प्रेम तो चकोर का अटल व्रत है जिसे विरह-चिंगारियों से कभी भय नहीं और न कृष्ण मिलन की आशा को वे कभी छोड़ ही सकता है। हमारा तो यह अटल- विश्वास है, 'काहू तो जनम में मिलेंगी स्याम सुन्दर सों।' इसी आशा से वियोग का विषम कष्ट सहते हुए भी प्राण इस तन का मोह नहीं छोड़ते।

योगी और वियोगी की समानता दिखाते हुए रत्नाकर की गोपियाँ भी सूर की गोपियों की भाँति विरह वियोगी को ही अधिक श्रेष्ठ बताती हैं। वे कहती हैं उद्धव हम योगियों से किस भाँति कम हैं—वे (योगी) तो केवल वस्त्र ही रंगते हैं हमारे मन भी रंग गये हैं, वे केवल भस्म रमाते हैं किन्तु हमारे तन ही विरहाग्नि में जल कर भस्म हो गये, वे एक बार साँस लेकर समाधि स्थिति द्वारा अनेक दिन बिता देते हैं। यहाँ एक एक क्षण ही एक एक जन्म के सदृश व्यतीत हो रहा है (कृष्ण वियोग) का एक-एक क्षण भी बहुत ही व्यथा पूर्ण तथा दीर्घकालीन जान पड़ता है), संसार के ऐश्वर्य से विरक्त होकर वे मुक्ति की कामना करते हैं किन्तु हमने तो मुक्ति और भुक्ति दोनों को ही विष सम त्याग दिया है। अब तुम्हीं सोच समझ कर बताओ योगियों से हम वियोगिनियां किस बात में कम हैं? सूरदास की गोपियाँ भी इसी प्रकार कहती हैं, 'ऊधौ करि रहीं हम जोग।'

रत्नाकर की गोपियाँ भी उद्धव के योग को केवल एक ही शर्त पर मानने को तैयार हैं—वे कहती हैं, हम योग के जटिल बिधानों

को स्वीकार कर भस्म और मृगछाला भी पहन लेंगी। साधना के मार्ग में कठिन धूप, वर्षा और शीत भी सह लेंगी किन्तु यह सब तभी हो सकेगा जब तुम हमें यह विश्वास दिला दो कि कृष्ण मिल जायेंगे।

पूर्ववर्ती भ्रमरगीतों के समान रत्नाकर की गोपियाँ भी इस योग-संदेश के मूल में कुब्जा को ही जान कर कुब्जा, कृष्ण तथा उद्धव पर भी व्यंग्य करती हैं—

वे तौ भए जोगी पाइ कूबरी कौ जोग।
आप कहें उनके गुरू हैं किधों चेला हैं॥ उ० श० ६८

अपने प्रेम की अचलता का उल्लेख करती हुई गोपियाँ उद्धव को चिढ़ाती हुई कहती हैं, हमारा प्रेम वह सिंधु नहीं जिसे अगस्त ऋषि सोख गये थे यह तो निरन्तर प्रवाहित गोपियों के प्रेम का प्रवाह है जिसे रोकना तुम्हारी शक्ति के बाहर है। हम तो कृष्ण की ही प्रेमिका हैं किसी ब्रह्म के बाबा की दासी नहीं और हमारा यह अटल विश्वास है कि 'हम उनकी हैं वह प्रीतम हमारे हैं तुम हमारे इस विश्वास को तोड़ नहीं सकते। किन्तु कृष्ण के वास्तविक रस रूप को देखने में असमर्थ यदि कहीं तुम गोपी बन सकते, हमारे नेत्रों से कृष्ण का दर्शन कर सकते तो तुम्हारा यह सब ढोंग मिट जाता और तब—

ऊधौ ब्रह्मज्ञान कौ बखान करते न नैंकु,
देख लेते कान्ह जौ हमारी अँखियानि तें। उ० श० ६५

गोपियों के इस तर्क, व्यंग और उपहासपूर्ण बातों का उद्धव पर पूरा प्रभाव हुआ वे शुष्क ब्रह्म मार्गों से सरस सगुण ब्रह्म के उपासक बन गये। उनके इस परिवर्तन का वर्णन रत्नाकर ने अन्तिम कवित्त में बहुत ही सुन्दर किया है—

भाटी के वियोग जोग-जटिल-तुकाटी लाइ,
लाग सौं सुहाग के अदाग पिघलाये हैं।
कहै रत्नाकर सुवृत्त प्रेम-साँचे माँहि
काँचे नेम संजम नियूत के ढराये हैं।

अब परि बीच खीचि विरह मारीचि-बिब
देत लव-लाग की गुविंद-उर लाए हैं।
गोपी-ताप तरुन-तरनि - किरनावलि के
ऊधव नितांत काँत-मनि बनि आए हैं।
उ० श० ११७

रत्नाकर के दार्शनिक विचारों की विवेचना के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि रत्नाकर ने इस प्रसंग में भी पूर्ववर्ती भक्तिकालीन विचारधारा को ही अपनाया है। यद्यपि विषय परम्परागत है किन्तु कवि ने अनेक मौलिक उद्भावनाओं द्वारा इसे नवीन तथा चमत्कार-पूर्ण बना दिया है। गोपियों के तर्क बुद्धि वैभव और भावुकता दोनों को लेकर ही चले हैं अतः रत्नाकर का दार्शनिक विवेचन शुष्क होने से बच गया है

किसी भी रचना के मूल्यांकन में उसके भाव पक्ष एवं कला पक्ष दोनों का ही महत्वपूर्ण स्थान है। भावपक्ष कवि की सहृदयता तथा रसाव्रता का परिचायक है तो कलापक्ष उसके बुद्धि वैभव तथा प्रतिभा का। उद्धव शतक का कला पक्ष भी रत्नाकर के कला कौशल का सफल उदाहरण है।

अलंकार योजना—अलंकार काव्य के लिये अनिवार्य न होते हुए भी उसके आवश्यक उपकरण हैं। काव्य सौंदर्य वृद्धि में अलंकारों का विशेष स्थान है। ये भाव तथा भाषा दोनों के ही शृङ्गार हैं। भावों की मर्मस्पर्शिणी व्यंजना में अलंकार विशेष सहायक होते हैं। रत्नाकर साहित्य शास्त्र के पंडित थे अतः वे काव्य के अलंकार महत्व से भली भाँति परिचित ही नहीं बल्कि चतुर कलाकार थे। भावों को बोधगम्य एवं प्रभावशाली बनाने के लिए उन्होंने अलंकारों का सफल प्रयोग किया है। उनकी अलंकार प्रियता ने कहीं भी काव्य कामिनी को अलंकार भार से दबने नहीं दिया वरन् अलंकारों द्वारा वह अधिक शोभामयी बन सकी है। भावों की मार्मिक व्यंजना के लिए रत्नाकर ने शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों का ही प्रयोग किया है।

शब्दालंकार—उद्धव शतक में अनेक शब्दालंकारों का प्रयोग हुआ है। छेका तथा वृत्यानुप्रास की छटा तो अनेक स्थलों पर दिखाई

पड़ती है। यमक का रत्नाकर ने अपेक्षाकृत कम किया है। किन्तु श्लेष इनका प्रिय अलंकार है। श्लेष का उद्धव शतक में प्रचुर प्रयोग हुआ है। प्रायः समस्त सांग रूपक तथा प्रकृति वर्णन श्लिष्ट योजना द्वारा ही चमत्कृत है। कवि ने अपने नाम का भी अनेक स्थलों पर श्लिष्ट प्रयोग किया है यथा—

प्रेम रत्नाकर कहत इमि ऊधव सों।

श्लेष के पश्चात् रत्नाकर ने वीप्सा का प्रचुर तथा विभिन्न प्रयोग किया है। मनोवृत्ति के प्रदर्शन में वीप्सा अति सहायक है। शब्दों की प्रवृत्ति भावोत्कर्ष के साथ ही भाषा शोभा-वृद्धि में भी सहायक होती है। यथा—

वे तो हमारे ही हमारे ही हमारे हो औ'
हम उनहीं की उनहीं की उनहीं की हैं। उ० श० ६०

अर्थालंकार—भावोत्कर्ष में अर्थालंकारों का विशेष स्थान है। अतएव रत्नाकर का झुकाव अर्थालंकारों की ओर ही विशेष रहा है। उद्धव शतक के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि रत्नाकर का सर्वप्रिय अलंकार-सांग रूपक है। उद्धव शतक में सांग रूपकों के प्रचुर तथा सफल प्रयोग में रत्नाकर ने विशेष मनोयोग का परिचय दिया है। ये सांग रूपक श्लेष मुक्त तथा श्लेष युक्त दोनों ही प्रकार के हैं किन्तु प्रचुरता श्लेष युक्त साँग रूपकों की है। कवि ने साँग रूपक योजना में अपनी बहुज्ञता का भी पूर्ण परिचय दिया है। इनमें से अधिकांश रूपक हमारे जीवन से सम्बन्धित हैं। वे हमारे हृदय में मनोकूल भाव उत्पन्न करने में भी सफल हैं। सांग रूपकों के अतिरिक्त निरंग रूपक का प्रयोग तो स्थल स्थल पर दिखाई पड़ता है। यथा ज्ञान-मारतंड, मन-मुकर, वियोग आदि आदि। गौण अलंकारों में विरोधाभास, देहरी दीपक, अतिशयोक्ति, परिकर, संदेश, प्रतीप आदि का प्रयोग हुआ है। यहाँ कुछ अलंकार के उदाहरण उद्धृत किये जा रहे हैं—

विरोधाभास

आँस रोकि साँस रोकि पूछन-हुलास रोकि,
मूरति निरास की सी आस भरी ज्वै रही। उ० श० २५

देहुरी दीपक

ले गयौ अक्रूर क्रूर तब सुखमूर कान्ह,
आए तुम आज प्रान-ब्याज उगहन कौं। उ० श० ८२

अतिशयोक्ति

ज्योंही कछु कहन संदेश लग्यौं त्यौं हीं लख्यौ,
प्रेम पूर उमंगि गरे लौं चढ्यौ आवै है।
कहै रत्नाकर न पाव टिकि पावैं नेंकु,
ऐसौ द्रुम द्वारनि स-वेग कढ़्यौ आवै है।
मधुपुरि राखन को बेगि कछु ब्यौंत गढौ,
धाइ चढौ बट के न जोपै गढ्यौ आवै है।
आयौ भज्यौ भूपति भगीरथ लौं हौं तो नाथ,
साथ लग्यौ सोई पुन्य-पाथ बढ्यौ आवै है। उ० श० ११४

परिकर

जारयौ अंग अब तौ विधाता है इहाँ को भयौ,
तातें ताहि जारन की ठसक ठनी रहे। उ० श० ८८

संदेश

कान्ह दूत कैधौं ब्रह्म-दूत ह्वै पधारे आय। उ० श० ३७

प्रतीप

कहै रत्नाकर न ताप ब्रज बालनि के,
काली-मुख-ज्वाल न दवानल समान के। उ० श० १११

भाषा

रत्नाकर जी ब्रजभाषा के प्रकांड विद्वान् थे। इन्होंने जीवन में बड़ी काव्य साधाना की थी। रत्नाकर की रचना का जो स्वरूप आज हमारे सम्मुख है वह उनके मननशील स्वभाव, अनवरत अभ्यास तथा साधना का ही फल है। रत्नाकर ने ब्रजभाषा के साहित्यिक रूप को ग्रहण करने के लिए भी मनोयोग से कार्य किया। आपकी भाषा सूर तथा नंददास की भाषा न थी। वह बिहारी के अनुकरण पर लिखी गई थी। इनकी भाषा-ब्रजभाषा का परिष्कृत रूप है। रत्नाकर ने भाषा के अस्थिर स्वरूप के स्थिरीकरण का विशेष प्रयत्न किया और प्राचीन रूढ़ किन्तु अप्रचलित शब्दों को त्याग कर भाषा

को सरल सुबोध तथा भाव व्यंजक बनाने का प्रयत्न किया। रत्नाकर की भाषा की व्याख्या करते हुए एक आलोचक ने लिखा है, 'उसमें प्रसादात्मकता, व्यंजना बल, लालित्य आदि सभी कुछ मिलता है।'[1]

भाषा सौन्दर्य के लिए शब्द चयन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होती है। अप्रचलित, प्रान्तीय: ग्राम्य एवं कटु शब्दों से भाषा को बचाये रखने के लिए विशेष काव्य साधना तथा भाषा ज्ञान अनिवार्य हो जाता है। रत्नाकर स्वयं कलासाधक तथा ब्रज-भाषा के प्रकांड पंडित थे। भाषा की स्वाभाविकता, भाव व्यंजना तथा प्रवाह धारा का उन्हें स्वयं ही ध्यान था। वे ब्रजभाषा का स्थिर स्वरूप प्रदान करने के लिए प्रयत्नशील थे। उनकी भाषा में रूपों का विभिन्न प्रयोग नहीं मिलेगा। भाषा सौष्ठव के लिए उन्होंने सूर तथा नंद की अपेक्षा बिहारी की ही भाषा को अनुकरणीय समझा तथा साहित्यिक ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया है। वियोग शृङ्गार की रचना होने के कारण कवि ने, उपनागरिका वृत्ति तथा वैदर्भी पांचाली आदि रीतियों पर विशेष ध्यान देकर उद्धव शतक को माधुर्य एवं प्रसाद गुणपूर्ण रचना बनाने में रत्नाकर पूर्ण सफल हुए हैं।

भाषा-सौष्ठव का विशेष ध्यान रखने के अनन्तर उद्धव शतक में कुछ खटकने वाले प्रयोग मिल ही जाते हैं। शब्दों के तोड़ने मरो-ड़ने का वंशगत अधिकार का रत्नाकर ने यद्यपि अधिक उपयोग नहीं किया है किन्तु इसे पूर्णतः छोड़ देना भी उन्होंने उचित न समझा अतः शब्दों के विकृत रूप उद्धव शतक में भी मिलते हैं 'भीति ही नहीं तो कहाँ छातें रहि जाइंगो।' यहाँ छत का बिगड़ा रूप छातें कवि को अधिक रुचिकर लगा है। इस प्रकार 'विकल' को कुछ मोड़-'विकलीनि' बना लिया गया है।

रत्नाकर ने भोजपुरी के कुछ शब्दों का प्रान्तीय अर्थ में भी प्रयोग किया है। यथा—

आन हिचकी ह्वै गरें बीच रुकस्योई परे॥ उ० श० २०

यहाँ 'रुकस्योई' शब्द का प्रयोग अटक जाने के अर्थ में हुआ है। ग्राम्य प्रयोग का उदाहरण तो ढूँढने पर ही उद्धव शतक में मिल

१—पृ० ६१ उद्धव शतक मीमांसा

सकेगा। 'खटिहै' आदि एक दो ग्राम्य शब्दों का ही उन्होंने प्रयोग किया है।

रत्नाकर की भाषा का यह दोष काव्य-रत्नाकर में बूँद सदृश ही है अतः इससे उद्धव शतक के काव्य सौन्दर्य में विशेष क्या साधारण व्याघात भी नहीं पहुँचता। ब्रजभाषा मर्मज्ञ डा० रसाल ने उद्धव शतक की भूमिका में लिखा भी है।

एक विशेषता यहाँ पर और यह अवलोकनीय है कि प्रत्येक शब्द अपने सहगामी अन्य शब्दों को पूरा साहाय्य और उत्कर्ष भी देता है। शब्द एक दूसरे से सर्वथा परिपुष्ट होकर भावादि का संवर्द्धन और संविकास न करते हुए चलते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि भाषा यहाँ भाव के अनुसार और भाषा के अनुसार भाव चल रहे हैं। संज्ञाओं और विशेषणों का प्रयोग बहुत ही उचित और मार्मिक हुआ है। भावों के अनुकूल ही संज्ञाएँ और उनके विशेषण रखे गए हैं तथा वे पूर्ण रूप से चरितार्थ भी किए गये हैं।"

मुहावरे तथा लोकोक्तियाँ

मुहावरे भाषा का लाक्षणिक प्रयोग हैं। जब हम अपने भावों को सीधे साधे ढंग से व्यक्त करने में संतुष्ट नहीं होते तो मुहावरों द्वारा उसे अधिक सबल, तथा व्यंजक बनाते हैं। मुहावरे वाक्यांशों के रूप में सभी भाषाओं में प्रचलित हैं। हम अपने प्रतिदिन के जीवन में अनेक मुहावरों का प्रयोग करते हैं। भाषा का मुहावरा भांडार न जाने कब से प्रारम्भ हुआ है। मुहावरों का रचयिता कौन है ? इस सबका सम्यक् ज्ञान किसी को नहीं है न इसकी आवश्यकता का अनुभव ही किसी ने किया। मुहावरों का निरन्तर अबाध गति से प्रयोग होता रहा है। भाषा में अनेक नवीन मुहावरे भी अज्ञात नाम-व्यक्ति द्वारा रचे जाते हैं। समय तथा प्रयोग की कसौटी पर चढ़कर ही वे साहित्य में स्थान पा सकते हैं। रत्नाकर ने भी अनेक प्रचलित मुहावरों का प्रयोग किया है। रत्नाकर के मुहावरे अलंकारिक रूप में प्रयुक्त हुए हैं। उद्धव शतक में मुहावरों का प्रचुर एवं कलात्मक प्रयोग रत्नाकर की प्रतिभा का परिचायक है। मुहावरों के संयोग से उनकी भाषा अधिक स्वाभाविक, शतक, प्रवाहपूर्ण एवं

भाव व्यंजक बन गई है। वस्तुतः रत्नाकर यह जानते थे कि मुहावरे भाषा का अविभाज्य अंग हैं। उन्होंने अनेक पुराने मुहावरों का प्रयोग किया है—यथा, चारा चलना काँटे की तरह खटकना, दिन के फेर होना, आँखों में घूमना, गाज गिरना, मीन-मेख, गाँठ से गिरना, मंत्र फूँकना, काज संवारना, बात में उड़ाना, कलेजा थामना साँस रोकना, सूख जाना आदि।

रत्नाकर ने कुछ प्रचलित मुहावरों का ब्रजभाषा प्रयोग के निमित्त परिष्कार तथा संस्कार भी कर दिया है। बयार भाखना (हवा खाना) भीख कर लेना, कमेरी बनना जंत्र मंत्र खंचना आदि।

रत्नाकर का मुहावरा कौशल अलंकारिक प्रयोग द्वारा और भी निखर उठा है। मुहावरों के प्रचुर तथा सफल प्रयोग में वे हरिऔध के समकक्ष दिखाई पड़ते हैं। मुहावरों के आधार पर निर्मित्त निम्न कवित्त उनकी प्रतिभा का सुन्दर उदाहरण है—

> आए हौ पठाए वा छतीसे छलिया के इते,
> बीस बिसे ऊधौ बीर बावन कलांच ह्वै।
> कहै रतनाकर प्रपंच न पसारौ गाढ़े,
> बाढ़े पै रहोंगे साढ़े बाइस ही जाँच ह्वै।
> प्रेम अरु जोग में है जोग छठे आठे पर्‌यौ,
> एक ह्वै रहै क्यों दोऊ हीरा और कांच ह्वै।
> तीन गुन पाँच तत्व बहकि बतावत सौ,
> जैहै तीन तेरह तिहारी तीन पाँच ह्वै॥ उ० श० ७८

इस कवित्त में मुहावरों का केवल शाब्दिक चमत्कार ही नहीं है वरन् गोपियों के मनोभावों का भी सुन्दर चित्रण है। वे किस कुशलता से उद्धव के संदेश में अविश्वास करती हुई उन पर व्यंग्य भी करती हैं और अपनी प्रेम दृढ़ता का भी उल्लेख कर देती हैं।

लोकोक्तियों का प्रयोग रत्नाकर ने कम किया है। भाषा में मुहावरों का जितना प्राधान्य है उतना लोकोक्तियों को प्राप्त भी नहीं है। कुछ प्रचलित लोकोक्तियाँ परिष्कृत रूप में प्रयुक्त हुई हैं। प्रायः यह लोकोक्ति सुनने में आती है—'जब ओखली में शिर दिया फिर मूसलों का क्या डर' अर्थात् जब कठिन कार्य आरम्भ किया था तभी

उसकी कठिनाइयों पर भी विचार कर लिया गया था। इसी भाव को रत्नाकर ने इस भांति व्यक्त किया है—

जब ब्रज चंद को चकोर चित चारु भयौ,
बिरह चिंगारिन सों फेरि डरिबौ कहा। उ० श० ५२

एक अन्य सामान्य कथन—'सब दिन होत न एक समान' का कवि ने इस रूप में प्रयोग किया है—

कहै रतनाकर न सुख के रहे जो दिन,
तो ये दुख-दुन्द की न रातें रहि जायेंगी। उ० श० ५४

रत्नाकर ने यद्यपि लोकोक्तियों का अधिक प्रयोग नहीं किया है किन्तु उद्धव शतक में सूक्तियों का अभाव भी नहीं है। वस्तुतः रत्नाकर की सूक्तियां लोकोक्ति बनने की क्षमता रखती हैं। उनकी गोपियों के कथन सूक्ति के सुन्दर उदाहरण हैं। सगुण भक्ति के प्रतिपादन के लिये गोपियों ने सूक्ति का ही आश्रय लिया है—

जैहै बनि बिगरि न वारिधिता वारिधि की
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की॥ उ० श० ३७

एक मनमोहन तौ बसि कै उजार्यौ मोहि
हिय में अनेक मन मोहन बसावौ ना। उ० श० ४०

सूक्तियों द्वारा रत्नाकर का काव्य अधिक मर्मस्पर्शी हो गया है। उद्धव के ब्रह्म उपदेश को सूक्ति द्वारा वे कितनी चतुरता से अग्राह्य सिद्ध कर देती हैं—

एते बड़े बिरच माँहि हेरे हूँ न पैये जाहि,
ताहि त्रिकुटी में नैन मूँदि लखिवौ कहौ। उ० श० २६

छंद तथा शैली

उद्धव शतक में घनाक्षरी अथवा कवित्त छन्द का ही प्रयोग हुआ है। मुक्तक काव्य रचयिताओं ने कवित्त तथा सवैया छन्द का ही प्रयोग किया है। यद्यपि दोहा, सोरठा तथा वैरवै छन्द में भी मुक्तक रचनाएँ उपलब्ध हैं किन्तु शृङ्गार तथा वीर रस के क्षेत्र में कवित्त और सवैया का ही एक छत्र राज्य है।

छन्द शास्त्र के अनुसार कवित्त दंडक-वर्ण-वृत्त के अन्तर्गत रखे गए हैं। गणों के बन्धन से मुक्त होने के कारण ही ये मुक्तक कहलाते हैं किन्तु इनमें भी गुरु लघु का नियम रहता है। वर्ण भेद तथा गुरु लघु के नियम से कवित्त कई प्रकार के होते हैं। उद्धव शतक में तीन प्रकार के कवित्तों का प्रयोग हुआ है। मनहरण, रूपघनाक्षरी और देव घनाक्षरी मनहरण ३१ वर्ण का छन्द है। १६ तथा १५ वर्णों पर यति होती है अन्तिम वर्ण गुरु होता है। उद्धव शतक में मनहरण का ही सबसे अधिक प्रयोग हुआ है।

रूप घनाक्षरी—३२ वर्णों का छन्द है, ८, ८, ८, ८ पर यति होती है अन्त में गुरु लघु का क्रम होता है। रत्नाकर ने रूप-घनाक्षरी का प्रयोग नाममात्र को ही किया है। उद्धव शतक के ११७ छन्दों में केवल तीन रूपघनाक्षरी हैं। जलहरण—३२ वर्णों का छन्द है, १६,१६ पर यति होती है और अन्त में दो लघु होते हैं। उद्धव शतक में जलहरण का भी अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। केवल ६ छन्द ही मिलते हैं।

पिंगल शास्त्र के अनुसार छन्दों का नियमानुकूल प्रयोग रत्नाकर की अपनी विशेषता है। उद्धव शतक में प्रयुक्त छन्द पर विचार करते हुए डा० रसाल ने इसी तथ्य को प्रकट किया है, 'कवित्त मुख्यतः दो भिन्न प्रकार की गतियों के आधार पर रचा जाता है। एक गति तो ऐसी होती है कि वह अविरल रूप से शब्दों को एक सुसंगठित शृंखला में रखकर एक लम्बी और अबाध लय से चलती है। इस गति के अनुसार कवित्त की रचना प्राचीन कवियों ने बहुत की है। कवित्त की दूसरी गति वह है जिसमें कवित्त की लय कुछ निश्चित अवकाश पर स्वल्प विश्राम के साथ अग्रसर होती है। ऐसा ही कवित्त सर्वथा शुद्ध माना जाना चाहिए जो दोनों गतियों में सुन्दरता और रोचकता के साथ पढ़ा जा सके। इस प्रकार की गति वाले कवित्त, जैसी सफलता के साथ 'पद्माकर' ने लिखे हैं और दूसरे कवि ने नहीं लिखे। इस काव्य में जितने भी कवित्त हैं सभी सर्वांग शुद्ध और दोनों गतियों से पढ़े जा सकते हैं। हम कह सकते हैं कि यदि कवित्त लिखने में पद्माकर के अतिरिक्त और किसी ने ऐसी सफलता प्राप्त की है तो वह रत्नाकर ही है। अपने समय में वे एक ही थे।[१]

१—पृ० ६६, ६७ भूमिका,

उद्धव शतक मुक्तक शैली में लिखा हुआ काव्य है जिसे बाद में कवि ने एक सूत्र में पिरो दिया। वस्तुतः उद्धव शतक की रचना प्रबन्ध के विचार से नहीं हुई थी किन्तु इसका नियोजन इस भाँति किया गया है कि इसमें प्रबन्धात्मक का भी निर्वाह हो गया है। डा० रसाल ने इसके विषय में लिखा है, 'उद्धव शतक वह चित्रोपम सत्काव्य है जिसमें प्रबन्धात्मकता मुक्तक का प्राधान्य है।'[१] शान्तिप्रिय द्विवेदी ने उद्धव शतक को निबन्ध काव्य की संज्ञा दी है। प्रबन्ध तथा निबन्ध काव्य के अन्तर को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है, निबन्ध-काव्य में मुक्तक भावों की एक सुसंगत शृंखला रहती है किंवा व कथा-परक ही नहीं, भावपरक भी हो सकता है।'

प्रबन्ध काव्य प्रधानतः कथा-परक रहता है, उसमें किसी समाज और चरित्र की अवतारणा रहती है यथा, 'साकेत' और प्रियप्रवास निबन्ध काव्य में जिस रस की सृष्टि करना कवि को भाव के आश्रय से अभीष्ट रहता है उसे प्रबन्ध कवि कथा द्वारा अभिव्यक्त करता है।[२]

उद्धव शतक में कथा का अंश भाव-व्यंजना के आधार स्वरूप ही लिया गया। भ्रमरगीत की कथा स्वयं भाव प्रधान है उसका वर्णनात्मक अंश तो बहुत ही नगण्य है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि उद्धव-शतक मुक्तक काव्य है जिसके मूल में कथा की अंतर्धारा विद्यमान है।

मैथिलीशरण गुप्त—द्वापर

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त भारतीय संस्कृति के अनन्य उपासक हैं। भारतीय गौरव को प्रदर्शित करने के लिए ही इन्होंने पौराणिक विषयों को लेकर अनेक प्रबन्ध काव्य लिखे हैं। आपकी समस्त रचनाओं में स्वदेश प्रेम एवं कर्मठता का संदेश निहित रहता है। द्वापर में कवि ने कृष्ण कथा को नवीन रूप से संजोया है। भ्रमरगीत, का चिर प्रचलित प्रसंग भी द्वापर में आकर निखर उठा है। इस रचना में यशोदा, कृष्ण, कुब्जा, गोपी, उद्धव आदि की मनोवृत्ति का सफल चित्रण मिलता है

१—पृ० २१,

२—पृ० ५५ संचारिणी १९९६

द्वापर के पूर्व सत्यनारायण कविरत्न भ्रमरदूत की रचना कर चुके थे। हरिऔध ने प्रियप्रवास में कृष्ण और राधा को लोक-कल्याण मार्ग का पथिक बना दिया था। किन्तु गुप्तजी इतनी दूर न जा सके। फिर भी द्वापर में एक नवीनता है। कृष्ण के मानव रूप के साथ ही उनके ब्रह्म स्वरूप का वर्णन बड़ी ही सतर्कता एवं कुशलता से किया गया है।

द्वापर की रचना भिन्न शैली में हुई है। इसके प्रत्येक सर्ग का नामकरण पात्रों के नामानुसार ही हुआ है। सभी पात्र अपनी अपनी अनुभूति का स्वतः वर्णन करते हैं। आत्म कथात्मक होने के कारण इसमें वर्णनात्मक प्रसंगों का अभाव है। भ्रमरगीत परम्परा में गुप्त का यह नवीन प्रयोग है।

उद्धव स्वरूप एवं यशोदा उपदेश

उद्धव. गोपी, खंड के अन्तर्गत भ्रमरगीत प्रसंग उपलब्ध है। उद्धव का सर्वप्रथम दर्शन यशोदा के उपदेश देते समय होता है। यहाँ पर उद्धव का परम्परागत प्राप्त रूप नहीं मिलता। वे अधिक सहृदय और मनोवैज्ञानिक हैं। यशोदा को सान्त्वना देने के लिए वे कृष्ण के गौरवपूर्ण रूप को उनके सामने रखते हुए बताते हैं कि उनका नवनीत प्रिय बालक कृष्ण आज कितना महान बन गया है। उसे पाकर पृथ्वी धन्य हो गई। वह मनुष्यत्व के भूत-पिशाचों को दूर करने वाला और द्विपद-खण्डों पर शासन करने वाला है। ऐसे सुयोग्य पुत्र के लिए रोना कहाँ तक उचित है। यशोदा का पुत्र आज एक महान् व्रत को लेकर चला है। यशोदा का रुदन कहीं उसे पथ-भ्रष्ट न करदे अतएव पुत्र की मंगल कामना उसके व्रत की पूर्णता तथा सफलता के लिये यशोदा को धैर्य रखना ही चाहिये। उद्धव स्थान की दूरी के प्रश्न को भी बड़ी सरलता से सुलझाते हुए कहते हैं—कृष्ण कहीं दूर देश में नहीं निकट मथुरा नगरी में ही हैं। तुम जब चाहो उनके प्रिय पदार्थ मक्खन, दही. आदि नित्य ही भेज सकती हो। अन्त में कृष्ण के ब्रह्म स्वरूप की ओर संकेत करते हुए कहते हैं। तुम व्यर्थ चिन्ता क्यों करती हो माँ 'अच्युत है सुत तेरा'।

विरहावस्था में प्रेम की तीव्रता का वर्णन कर उद्धव यशोदा से कहते हैं—तुम पुत्र को निकट पाकर कभी निश्चिन्त भी हो जाती

किन्तु उसके दूर रहने पर तुम्हारा ध्यान उसी में लगा रहेगा। तुम शरीर से दूर रह कर भी भाव जगत् में सदैव ही उसके निकट रहोगी इसी भाँति आत्मदर्शन द्वारा तुम अपने अन्दर परमात्मा का दर्शन भी कर सकोगी।

उद्धव के उपदेश को सुनकर यशोदा में जो परिवर्तन होता है वह कवि की आदर्शवादिता और आधुनिक विचारधारा का ही परिणाम है। उद्धव की यह अभिलाषा—

> वह उस दुखिया को दुलरावे
> हा, यह तेरी वाणी
> अम्ब, यही तो तुझसे सुनने
> आया था यह प्राणी। द्वा० १५६

चाहे यशोदा की उदारता व्यक्त करने में समर्थ हो किन्तु इससे उसका मातृ-हृदय पूर्णतः कुचल दिया गया है। परिस्थिति की विवशता ने बलात उससे यह कहलवा दिया है। मनोविज्ञान की कसौटी पर सम्भवतः यह खरा न उतर सकेगा। शेष स्थलों पर उद्धव का उपदेश आधुनिकता की छाप लिए हुये है जिसमें कृष्ण के ब्रज छोड़ने का कारण मानव कल्याण की भावना से प्रेरित दिखाया गया है।

उद्धव-गोपी वार्त्तालाप

भ्रमरगीत का मुख्य प्रसंग उद्धव-गोपी-वार्तालाप भी नवीनता लिए हुए है। गोपियों को देखकर उद्धव के मन में अपार श्रद्धा जाग्रत होती है। उल्लेख अलंकार द्वारा वे गोपियों का एक चित्र प्रस्तुत कर देते हैं। पूर्ववर्ती कवियों ने उद्धव को ज्ञान-गर्व से पूर्ण अहंकारी रूप में ही रखा है जोकि गोपियों को उपदेश देकर प्रेम-मार्ग से ज्ञान-मार्ग की ओर प्रवृत्त करने आये हैं। उनमें ज्ञानियों की अक्खड़ता और बुद्धिजीवियों की तार्किकता है। गोपियों की परिस्थिति को बिना समझे वे अपने उपदेश का राग अलापने लगते हैं तथा अन्त में गोपियों की भाव-प्रवणता और प्रेम गाम्भीर्य से प्रभावित होकर स्वतः भक्ति-रंग में रंग जाते हैं। इसके विपरीत गुप्तजी के उद्धव अधिक सहृदय मर्मज्ञ एवं गोपियों से पूर्व प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। गोपियों

की गोष्ठी देख वे आनन्दमग्न हो उनके प्रेम, शील, सौजन्य और सारल्य की हृदय में सराहना करते हुए उनकी मानसिक स्थिति को समझने में भी समर्थ हैं।

आधुनिक युग में दूसरे के दृष्टिकोण को भी समझने का प्रयत्न है। आधुनिकता का यह प्रभाव उद्धव पर भी पड़ा है। अतएव वे गोपियों की प्रेम-पन्थ की कठिनता को भी पूर्णतः समझ सके हैं—

अहा प्रीति की मूर्ति जगत में
जीवन धन्य तुम्हारा।
कर न सका अनुसरण कठिनतम
कोई अन्य तुम्हारा।
चपल इन्द्रियों को भी तुमने
तन्मय बना दिया।
पावन हुआ पाप भी जिसमें
वह पंथ जना दिया। द्वा० १६३

'प्रेम स्वरूपिणी' जिस राधा की कल्पना उद्धव ने की थी उस रूप में प्रत्येक गोपी को देखकर वे मुदित हो गये। यद्यपि वे यह जानते थे कि राधा नाम्नी कृष्ण प्रिया इस गोष्ठी में नहीं है। अतएव अपनी जिज्ञासा को अधिक समय तक शान्त न रख कर वे प्रश्न करते हैं—

एक-एक तुम सब राधा हो
कहाँ तुम्हारी राधा ॥ द्वा० १६४

गोपियों की प्रेम महत्ता और साधन की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हुये भी वे ब्रह्मज्ञान का उपदेश देते हैं—

प्राप्य अन्ततः वह परमात्मा,
आत्मा ही के द्वारा;
मिथ्या माया का प्रपंच है,
दृश्यमान यह सारा ॥ द्वा० १६३

वे अपने ज्ञान-मार्ग के महत्व अर्थात् अद्वैतवाद की स्थापना एक प्रश्न द्वारा प्रकट करते हैं। उद्धव कहते हैं मैं अपने ब्रह्म को

तुम्हारे अन्दर भी देखता हूँ किन्तु तुम्हारा कृष्ण जिसके लिए तुम इतनी साधना कर रही हो कहाँ है ?

गोपी उत्तर—

गोपियाँ सर्वप्रथम उद्धव के प्रश्न 'कहाँ तुम्हारी राधा ?' का ही उत्तर देती हैं। उद्धव के ज्ञान पर छींटा कसती हुई वे कहती हैं, 'राधा कृष्णमय हो गई है। उसके कार्य कलाप असाधारण हैं। यदि वह इस समय यहाँ होती तो 'कृष्णमय राधा' तुम से प्रश्न करती, 'हे सखे ! क्या तुम मथुरा से लौट आए ? कहो राधिका कैसी है ?' राधा में राधाकृष्ण के सम्मिलित रूप का दर्शन भी एक बार भ्रमर-प्रवेश के अवसर पर हमें भी हुआ था। भ्रमर को पास आया देखकर राधा ने दुखित हो सखी से पूछा, 'हे सखि ! यह भ्रमर यहाँ क्यों आया है क्या इस कलिका में अब भी कुछ शेष है ?' किन्तु तत्क्षण ही प्रेम की प्रगाढ़ता से आत्मस्वरूप को विस्मृत कर वह कृष्ण मयी बन गई और भ्रमर को देखकर क्रुद्ध हो उससे बोली—

> सावधान अलि ! हट कर लेना
> तू प्यारी की झाँकी ॥ द्वा० १६६

इस प्रकार वे उद्धव के संदेश की व्यर्थता का संकेत कर देती हैं। अर्थात् जिस समाधि स्थिति का ज्ञान उद्धव लाए हैं वह तो राधा को पूर्व ही प्राप्त है।

राधा की परिस्थिति चित्रण द्वारा गोपियाँ उद्धव से ज्ञान और इष्ट प्राप्ति की अधिक ऊँची स्थिति पर राधा को दिखाकर उनके द्वारा व्यंजित ज्ञान मार्ग की महत्ता का खंडन कर अपने मार्ग की श्रेष्ठता का संकेत मात्र करती हैं—उद्धव का निर्गुण ब्रह्म गोपियों में प्रतिबिम्बित है किन्तु राधा स्वयं कृष्णमय है और उद्धव उस कृष्ण स्वरूप को देखने में असमर्थ है।

उद्धव द्वारा व्यक्त मायावाद के सिद्धान्त का खंडन भी गोपियों ने मौलिक ढंग से किया है। वे मायावी ब्रह्म के अस्तित्व के साथ ही माया की पृथक् सत्ता भी स्वीकार करती हैं। उद्धव के निर्गुण और घट-घट वासी ब्रह्म का उपहास भी गोपियों ने किया है। उनके विचार से दो जीवों में भिन्न प्रकार की क्रीड़ा करने वाला ब्रह्म एक नहीं हो सकता।

हम में तुम में एक ब्रह्म, पर
वह कैसा नटखट है,
बोल दो घटों में दो बातें,
करा रहा खट पट है ॥ द्वा० १६८

उद्धव ने गोपियों से प्रश्न किया था, 'तुम्हारा कृष्ण कहाँ है मैं यही पूछने आया हूँ।' जिसका उत्तर वे संकेत रूप में दे भी चुकी हैं। उसी प्रश्न का विस्तृत उत्तर देती हुई वे कहती हैं—उद्धव तुम्हारा ब्रह्म अन्तर्दृष्टि से ही प्राप्त हो सकता है वह हमारी चर्मचक्षु-साधना (सगुण) से परे है। किन्तु हमारा कृष्ण तो दृष्टि-गोचर है। अभी तक तो वह हमारे ध्यान में ही था किन्तु इसी बीच तुम्हारी ज्ञान माया ने उसे अदृश्य कर दिया। हमारा सगुण साकार कृष्ण मथुरा की सूक्ष्म राजनीति में पड़कर ही सूक्ष्म निराकार बन गया है और उसी सूक्ष्म ब्रह्मप्राप्ति के लिए ही तुम ज्ञानयोग और समाधि निद्रा का उपदेश देते हो। हमारे लिए तो ज्ञानयोग सुषुप्ति और समाधि-निद्रा स्वप्नवत् हैं। सूक्ष्म ब्रह्म के लिए हम विराट कृष्ण रूप को क्यों त्यागें ? तुम यदि इसे हमारा मोह समझते हो तो ठीक है। हमें मनमोहन का मोह और उसी का लोभ ही प्रिय है। तुम्हारे शुष्क ज्ञान-योग से हमारा वियोग ही अच्छा है जिसमें एक रसता की अपेक्षा 'आकृति, प्रकृति, रूप, गुण, नाट्य, कवित्व और कला' सभी कुछ है। हमारी इस प्रेम कथा में आनन्द और व्यथा का संगम है। आज भी कृष्ण क्रीड़ा को वे विस्मृत नहीं कर सकीं।

उद्धव के योग का विरोध करती हुई गोपियाँ यह भी बताती हैं कि धर्म का मूल-स्रोत वेद हैं। वैदिक धर्म ही प्राचीन धर्म है। योगदर्शन आदि बाद की वस्तुयें हैं। वैदिक सिद्धान्तों में जीवन का उज्ज्वल पक्ष है उनमें समय के पूर्व निर्वेद का स्थान नहीं है। उद्धव तो स्वयं वेदमार्गी हैं उनमें यह निर्वेद का भाव क्यों जाग्रत हुआ। गोपियाँ भी वेदानुगामियों के अनुसार ही शत वर्ष तक जीवित रहने की इच्छुक हैं। उनके हृदय में आज भी कृष्ण मिलन की आशा निर्मूल नहीं हुई यद्यपि वे यह समझती हैं—

'आशा फूल, निराशा फल है।'

गुप्तजी की गोपियाँ यशोदा की भांति ही उदार एवं सहृदय हैं। पूर्ववर्ती भ्रमरगीतों की गोपियों ने कुब्जा को लेकर कृष्ण पर बहुत व्यंग्य किए। कुब्जा का विकृतांग उनके उपहास का मूल आधार था किन्तु द्वापर की गोपियाँ कुब्जा को सपत्नी रूप में नहीं देखतीं। उन्हें कुब्जा पर अटल विश्वास है अतः कृष्ण की देख-रेख करने का सन्देश वे कुब्जा को भिजवा देती हैं। आधुनिक काल में सामाजिक मर्यादा को बनाए रखने के लिए कुब्जा प्रसंग में भी परिवर्तन किया गया है।

अधुनिक कवियों ने गोपियों को सुसंस्कृत दिखाने का विशेष प्रयत्न किया है। वे सामाजिक मर्यादाओं का पालन करने वाली हैं। गुप्तजी की गोपियाँ भी इस बात के लिए सचेष्ट हैं कि कहीं प्रियतम के सखा उद्धव का अपमान न हो जाय। अतएव नम्रता प्रदर्शन के लिए वे अनजान में कहे गए अपशब्दों के लिए क्षमा याचना भी कर लेती हैं—

> कृपया वचन न मन में रखना,
> अन्यान्य हमारे। द्वा० १७२

क्योंकि विवशों का मन वाणी को विकल कर देता है, संयम का बाँध टूट जाता है किन्तु महान व्यक्ति इस आक्रोश को भी सह लेते हैं।

भ्रमर प्रसंग

गुप्तजी ने भ्रमर का उल्लेख राधा के व्यक्तित्व प्रकाशन के अवसर पर ही किया है। किन्तु यह परम्परागत भ्रमर के स्थान पर नहीं हुआ है। गुप्तजी ने भ्रमर के स्थान पर ऊँची उड़ान लेने वाले विहंग का प्रवेश करा कर नवीनता का परिचय दिया है। यह विहंग भी उद्धव का ही प्रतिरूप है। विहंग व्याज से गोपियाँ उद्धव को उपालम्भ देती हुई शून्य साधना पर व्यंग्य करती हैं—

> अरे विहंग, लौट आ तेरा
> नीड़ रहा इस बन में।
> छोड़ उच्च पद की उड़ान वह,
> क्या है शून्य गगन में? द्वा० १८३

राधा

यद्यपि हरिऔध की राधा की भाँति ही गुप्त जी की राधा विश्व प्रेम के पथ की पथिक नहीं बन सकी किन्तु आधुनिक भावनाओं और विचारों का आदर्श उनमें भी है। वह स्वयं कृष्णमय हो गई किन्तु कृष्ण राधामय न बन सके। जगत् की पीड़ा से ही वे व्रज-क्रीड़ा भूल गए। कृष्ण विश्व-कार्य में लगे हैं राधा को इसका दुख नहीं उसे तो दुख इसी बात का है कि इस कठिन क्षण में वह प्रिय का साथ न दे सकी—

सुख की ही संगिनी रही हैं,
अपने उस प्रियतम की।
व्यथा-विश्व-विषयक न तनिक भी
बटा सकी निर्मम की।
उलटा अपना दुख लोक को
मैंने दिया सदा को
उस भावुक का रस जितना था,
जूठा किया सदा को। द्वा० १६२

गुप्तजी ने राधा का प्रवेश भी नाटकीय ढंग से किया है। उद्धव राधा के दर्शन करना चाहते हैं उसी क्षण कृष्णमय राधा दिखाई पड़ती है—

एक मूर्ति, आधे में राधा
आधे में हरि पूरे॥ द्वा० १६३

अन्य भ्रमरगीत में गोपियाँ अपनी विरह-व्यथा का स्वतः वर्णन करती हैं। राधा प्रायः अदृश्य रहती हैं। गोपियों के विरह वर्णन से ही राधा के दुख की व्यंजना होती है। द्वापर की गोपियाँ निरन्तर राधा की व्यथा को ही कहती हैं। उनके दुख का स्पष्ट उल्लेख नहीं है वह ध्वनि रूप में ही व्यंजित है।

भाषा शैली की दृष्टि से भी द्वापर इस परम्परा की नवीन रचना है। जिस खड़ी बोली में प्रियप्रवास की रचना हुई है द्वापर की भाषा उससे भिन्न है। द्वापर में खड़ी बोली का सरल एवं साधारण रूप ही ग्रहण किया गया है, अतः भाषा की बोधगम्यता और भाव-प्रवाह [illegible] प्रकार की बाधा नहीं उत्पन्न हुई।

द्वापर की रचना भी प्रियप्रवास की भाँति ही किन्तु उससे अधिक मौलिक भ्रमरगीत परम्परा में नवीन एवं सफल प्रयोग है।

मुकुन्दीलाल–मुकुन्द-विलास

मुकुन्द-विलास में कृष्ण चरित का वर्णन – बाल वर्णन, संयोग शृंगार प्रकरण के अन्तर्गत किया है। यह पद, सोरठा घनाक्षरी और सवैया आदि छन्दों में लिखी है। भ्रमरगीत प्रसंग इसमें दो रूपों में हुआ है (१) पृष्ठभूमि में (२) प्रत्यक्ष वर्णन अर्थात् उद्धव गोपी संवाद। पृष्ठभूमि में गोपिका विरह का वर्णन—कृष्ण-विरह की अवधि समाप्ति पर चिन्ता एवं प्रेम के इस परिणाम को न जानने के कारण खेद का प्रदर्शन है। उन्हें कुब्जा प्रणय का संदेश भी मिल चुका है अतः सपत्नी के प्रति ईर्ष्या की भावना भी इसमें दिखाई पड़ती है। कृष्ण की निश्चित अवधि बीत जाने पर गोपियाँ कहती हैं—

ढाढस बंधाय उर लाय समुझाय गये
अवधि विहात दिन जात हित जूटिबो।
आवत न धावत पठावत न पाती लिखि
याते जानि जाती बात नेह नात टूटिबो।
परबस परे व्रज भूलि के मुकुन्दलाल
रंचक रह्यौ न ख्यात गोपी ग्वाल छूटिबो।
सखी अपनाम प्रेम वागुर फनाय हाय
कैसे सहि जाय री सवति रस लूटिबो॥
मु० वि० ६

मथुरा नगरी को जाते हुये किसी पथिक को देखकर सूर की गोपियों की भाँति मुकुन्दीलाल की गोपियाँ भी संदेश ले जाने का आग्रह करती हैं—

ये हो भैया पथिक ठहरि नेक लीजै सुनि
जात ओहि गाँव तो सनेस लेत जाइये। मु० वि० ६३

उनका संदेश भी बड़ा ही सरल एवं स्वाभाविक है। कृष्ण के वियोग में उनकी बुरी दशा है। अन्न जल कुछ अच्छा नहीं लगता दिन भर द्वार खोले वे प्रतीक्षा ही करती रहती हैं, किन्तु कृष्ण के इस

कठोर व्यवहार ने अब प्रीति का विश्वास भी नष्ट कर दिया है। यही वह संदेश है जिसे वे भेज रही हैं—

निसि नींद न भूख लगै दिन में नित जोहत बाट कपाट उघारे।
अब प्रीत प्रतीत गई जगतें अनरीत भई बादि आँधि बिसारे॥
मु० वि० ६४

कृष्ण विरह में दुखी गोपियाँ अनेक विचारों में निमग्न हैं। कवि ने यहाँ चिन्ता संचारी भाव की सुन्दर व्यंजना की है—

निज पानि सिंगार संवारि हहा कहि प्रान प्रिया कब अंक भरेंगे,
हँसि चंद मुखी कहि मेलि भुजा कब कुंज गली सुख सों विहरेंगे।
रचि रास विलास हुलास हिये गति ताथइ ताथइ नाचि थरेंगे,
व्रज की गति को लखि लाल मुकुन्द कृपा करिकैं कब फेरि ढरेंगे।
मु० वि० ६७

सूर की भाँति ही मुकुन्दीलाल ने भी शकुन चर्चा को महत्व दिया है। कृष्ण की कृपादृष्टि होते ही व्रज में शुभ शकुन होने लगे। व्रजबालाओं के वाम अंग फड़कने लगे। वे शुभ सन्देश की मधुर कल्पना को जाग्रत करने वाले कौए से बोलीं—

देहों दधि भात अरु अंचल की पाग काग,
लागत बसंत व्रजराज आज आवतो। मु० वि० ६८

सूर की गोपियाँ भी इसी प्रकार कहती हैं—

तौ तू उड़ि न जाइ रे काग।
जौ गुपाल गोकुल कौं आवैं, तौ ह्वै तैं बड़ भाग,

दधि ओदन भरि दोनों देहौं अरु अंचल की पाग।
खिलि हों हृदय सिराइ स्रवन सुनि, मेटि विरह को दाग।
सूर० ४०७४

समस्त शुभशकुनों का फल उद्धव दर्शन रूप में प्रकट हुआ। मुकुन्दीलाल ने उद्धव को देखकर गोपियों की क्या दशा हुई, वे किस प्रकार हतबुद्धि और अवाक् रह गईं, उनकी निराशा और व्यथा किसी भी बात का उल्लेख नहीं किया। ज्ञानपाती को पढ़कर यही कहती हैं

कि कृष्ण ने यह योग-संदेश भेजा है चलो इसी बहाने हमारा ध्यान तो उन्हें हुआ किन्तु इस संदेश का मानना हमारे लिये अत्य-धिक कठिन ही नहीं वरन् अनुचित है। यदि वे स्वयं भी हमारे ही सदृश्य विरह ज्वाला में जलते होते तो कोई बात न थी हम भी संयम, ध्यान, नियम आदि सभी का पालन करतीं उन्होंने इस संदेश को भेजकर हमारे साथ कितना अन्याय किया है। कुब्जा को वे संयोग-सुख दे रहे हैं और हमसे योगसाधना की कामना करते हैं। अन्य भ्रमरगीतों की गोपियाँ किसी भी मूल्य पर योग को ग्रहण नहीं करना चाहती हैं' किन्तु मुकुन्दीलाल की गोपियाँ ज्ञान-ग्रहण में न्याय और अन्याय की चर्चा करती हैं—

रसिक कन्हाई ज्ञान पत्रिका पठाई लिखि,
ब्रज की लुगाई भला बाहु मिसि चेते हैं।
प्राणायाम धारना समाधि तप नेम व्रत,
आसन विधान उपचार विधि जेते हैं॥
संजयादि ध्यान ब्रह्म साधन मुकुन्दलाल,
जोग षट कर्म धारि तसि मान लेते हैं।
किन्तु यामें न्याव कौन कुब्जा संजोग योग,
हमें जोग साधिवे को उपदेश देते हैं। मु० वि० ११३

इस सवैया में 'रसिक' शब्द का प्रयोग भी दर्शनीय है। यह संदेश रसिक कृष्ण का है जो रस का आस्वादन कर चुके हैं। वे ही इस प्रकार का नीरस संदेश देते हैं। संदेश के विरोध में गोपियों का यह तर्क बुद्धि पर आधारित है। एक अन्य छन्द में गोपियां इसी आधार पर इसका तिरस्कार कर देती हैं क्योंकि इसके द्वारा श्याम मिलन की समस्या नहीं सुलझ पाती है। वे उद्धव से कहती हैं—

त्यागि वर बसन बिभूषन विलास भोग
लोग प्रिय तात मात नात किमि तोड़ौं।
जटा को बढ़ाय पट गेरुवा रंगाय हाय
भभूती रमाय गेह काके नेह छोड़ौं।
अलख अगोचर मुकुन्द अनवद्य अज
साधि के समाधि ध्यान कीने गुन जोड़ौं।
श्याम मिलिवें कौ काउ जुगती न यामें
ऊधौ जोग के प्रसंगन पै ताते मन मोड़ौं। मु० वि० ११४

इसी भाव को रत्नाकर की गोपियों ने भिन्न रूप से कहा है। वे योग साधन से मुख नहीं मोड़तीं किन्तु यदि उद्धव इसके द्वारा कृष्ण मिलन का विश्वास दिलाएँ तो वे सब कुछ करने और सहने को तैयार हैं—

नेम व्रत संजन के आसन अखंड लाइ
सांसनि कों घूटि हैं जहाँ लों गिलि जाइगौ।
कहै रतनाकर धरैंगी मृगछाला अरु,
धूरि हूँ दरैंगी जऊ अंग छिलि जाइगौ।
पाँच आँचि हूँ की भार लैलि हैं निहारि जाहि,
रावरी हू कठिन करेजौ हिलि जाइगौ।
सहि हैं तिहारे कहैं सांसति सबै पैं बस,
एती कहि देहु कै कन्हैया मिलि जाइगौ।
र० श० ६१

यद्यपि योग को वे सर्व प्रकार हीन और व्यर्थ समझती हैं किन्तु प्रिय मिलन के लिये वे सभी कुछ प्रिय-अप्रिय सरल अथवा कठिन कार्य करने को तत्पर हैं। किन्तु वे यह भी सोचती हैं कि यह योग संदेश कुब्जा की ही चाल है। वे उद्धव से स्पष्ट कह देती हैं—

आग ही से आय तन चन्दन लगाय हाय,
जात ही फनाय लीन्हीं नाम प्रेम फन्द को।
मानि के सकोच तासु कहीं कैन कहौ पर,
जानि परै ज्ञान यह कुब्जा छछन्द को। मु०वि० ११६

'छछन्द' करने वाली यह कुब्जा की ही करतूत है। इसे उद्धव स्वीकार करें या न करें किन्तु गोपियाँ इस विषय में एक मत हैं। योग-संदेश और कुब्जा के इस सम्बन्ध को प्रायः सभी कवियों ने स्वीकार किया है। रत्नाकर की गोपियाँ भी इसी भाव को प्रकट करती हुई कहती हैं—

आए हौ पठाए वा छतीसे छलिया के इते।
बीस बिसे ऊधौ बीर बावन कलाँच है॥ उ० श० ७८

मुकुन्दीलाल की गोपियां भी इसी भाव को व्यक्त करती हुई उद्धव पर भी व्यंग्य कर देती हैं—

ज्ञान के विधान सुनि कान न अभात अब,
मेरे जान पग यह कूबरी पठायौ री।
जैसी छल साधना में परम सयानी वह,
मन भायौ तैसौई बसीठ धूर्त पायौरी।
कंस मिस प्रथम बुलावन पठाई एक,
करि के अनेक जुक्ति हरि अपनायौ री।
अलख अगोचर मुकुन्द कहि बार बार,
गोपी मन बंचक मलिन्द दूजौ आयौरी। मु० वि० ११७

उद्धव के इस ज्ञान का उन पर तनिक भी प्रभाव न पड़ा। वे तो रूप रस की प्यासी गोप कन्यायें योग विधि की चर्चा भी नहीं सुनती हैं। उनका अनन्य और अनन्त प्रेम प्रतीक्षा का उल्लेख कर कवि ने यह प्रसंग समाप्त किया है—

कहि ज्ञान विधान थके समुझावत प्रेम के भार झोंकति हैं।
नहि मानत एक अनेक कहै सब बातन बात में रोकति हैं।
इहि सोति विरोध सरोस भरी कुबुजा सिर औगुन ठोंकति हैं
गहि राउर राह मुकुन्द लला अबला अबलों अवलोकति हैं।
मु० वि० ११६

उद्धव-गोपी संवाद के अतिरिक्त मुकुन्दीलाल ने गपियों की विरह व्यथा प्रसंग में षट-ऋतु-वर्णन भी किया है। यह ऋतु-वर्णन उद्दीपन रूप में ही हुआ है। विभिन्न ऋतु में उन्हें कृष्ण की निष्ठुरता और निर्ममता को ही स्मरण कराती हैं। कभी वे कृष्ण के न आने तक बसंत से अपना प्रभाव न डालने का आग्रह करती हैं।

मुकुन्दीलाल की गोपियों के हृदय में ईर्ष्यागत विरह-ज्वाला ही अधिक तीव्र है। प्रेम की इस एकांगिता से वे अत्यन्त दुखी हैं। कवि ने बार बार इस बात का उल्लेख किया है। तथापि विरह वर्णन में विलासिता का अंश नहीं आ सका है।

मुकुन्दीलाल को यह रचना मुक्तक शैली में लिखी गई है किन्तु इसमें प्रबन्धात्मकता का भी सुन्दर निर्वाह है। समस्त छन्द प्रसंगवत् धारा प्रवाह रूप में लिखे जान पड़ते हैं। भाषा एवं भाव सौंदर्य के लिए कवि ने अनुप्रास और उपमा आदि का अल्प प्रयोग किया है। घनाक्षरी और सवैया छन्द में लिखी इस रचना में पर्याप्त सरसता है।

जगन्नाथसहाय—कृष्ण सागर

दोहे, सोरठे और चौपाई छन्दों में लिखी हुई बृहत् रचना है। कृष्णसागर भागवत् दशम स्कंध के आधार पर लिखा गया है। प्रबन्ध काव्य होने के कारण इसमें कथा प्रवाह के साथ ही वर्णनात्मकता की भी प्रधानता है। किसी भी मनोभावों को विभिन्न एवं विशद् व्याख्या द्वारा व्यक्त करने की प्रवृत्ति कवि में नहीं दिखाई पड़ती। वह कृष्ण-जीवन की कथा कह रहा है। कथा का प्रारम्भ भागवत के सदृश ही होता है—

जब आये निज गेह प्रभु मन में कीन्ह विचार।
होइ हैं विरहाकुल सखिन पठइय बुझवन हार।
कृ० सा० १२८

उद्धव के व्रज भेजने का यह एक निश्चित एवं स्पष्ट कारण था किन्तु अहंकारी उद्धव का ज्ञान-गर्व चूर्ण करना भी भगवान् कृष्ण का लक्ष्य था जिसका संकेतमात्र मिलता है। उद्धव, कृष्ण तथा बसुदेव आदि का समाचार लेकर व्रज आते हैं। वहाँ वे नंद यशोदा को उनका संदेश सुना देते हैं। नंद यशोदा और गोपियों के संदेश भिन्न-भिन्न हैं। गोपियाँ उद्धव को देखकर कृष्ण को उपालम्भ देती हैं—

मातु पिता के धीरज कारन, पठौ दीन तोहि असुर संधारन।
हम विरहिन की का सुधि लेहैं, राज छांड़ि किमि गाय चरेहैं।
कृ० सा० १३१

इसी प्रसंग में वे कृष्ण की भ्रमर से तुलना करती हुई उन्हें रसलोलुप एवं स्वार्थी बताती हैं। कान्ह पर छींटें कसने के पश्चात् भी उनके हृदय में एक आकांक्षा है। वे कृष्ण के विषय में जानना चाहती हैं अतः वे पूछ ही बैठती हैं—

'कह ऊधौ कब अइहैं कान्हर ?'

गोपियों के इस प्रश्न ने उन्हें योग कथा कहने का सुन्दर अवसर ला दिया, किन्तु गोपियाँ इस अटपटे संदेश पर कैसे विश्वास करें। वे बोली—'हरि नहीं कहा योग की बानी।' अन्य भ्रमरगीतकारों की भांति जगन्नाथ ने भी गोपियों से यह कहलाया—

'यह सब है कुब्जा की करनी, पाती में जो ऊधौ बरनी।'

कृष्ण चाहे कुब्जा को कितना ही मान दें किन्तु संसार में गोपियों ने जो यश प्राप्त किया है, जो महान पद उन्हें मिल चुका है, उसे कुब्जा कभी न पा सकेगी। वे बड़े आत्म विश्वास से कहती हैं—

'दासी को हरि कीन्हीं रानी, भजि है ताही न कोई ज्ञानी।
राधा कृष्ण नाम जग होई, कुब्जा कृष्ण कहत नहिं कोई।
हम न नारि वृन्दावन वासी सगुण रूप गोपाल उपासी।'
कृ० सा० १३१

गोपियों के प्रेम को देखकर उद्धव का ज्ञान-अभिमान लुप्त होगया। वे ६ मास तक वृन्दावन में रह कर फिर मथुरा लौट आए। अब उद्धव प्रेम-रंग में रंग चुके थे। मथुरा जाकर उन्होंने कृष्ण से कहा—

'अहो महा तुम निठुर कन्हाई, छांड़ि दियौ गोपिन पितु माई।'

कृष्णसागर के इस प्रसंग के अध्ययन से यह कहा जा सकता है कि कवि ने कृष्णसागर अति सरल भाषा में जनसाधारण में प्रचलित होने के लिए ही रचा है। कृष्ण सागर की कथा में कोई नवीनता अथवा भाव गाम्भीर्य भी नहीं मिलता है। भ्रमरगीत सम्बन्धी रचनाओं में भ्रमरगीत कारों का ध्यान भाव व्यंजना की ओर अधिक रहा है किन्तु कृष्णसागर में इस ओर भी विशेष ध्यान नहीं दिया गया। कृष्ण का चरित्र-गान कवि का मूल लक्ष्य है। भ्रमर-गीत प्रसंग में ज्ञान के ऊपर भक्ति की ओर निर्गुण के ऊपर सगुण की महत्ता दिखाई गई है अतः जगन्नाथ सहाय ने भी अपनी रचना का उपसंहार इसी रूप में किया है। वस्तुतः भाव-विचार एवं काव्य-कला की दृष्टि से कृष्णसागर का यह अंश साधारण कोटि की कविता में ही स्थान पा सकेगा।

कवीन्द्र 'माहौर'—अश्रु माल

अश्रुमाल कवि की विभिन्न कविताओं का संकलन है। इसका विभाजन काल क्रमानुसार हुआ है। द्वापर युग के भक्तों में गोपियों और द्रौपदी के आँसुओं का वर्णन है। यह अश्रु-वर्णन मुक्तक छन्दों में है। इनमें किसी प्रकार का पूर्वापर सम्बन्ध नहीं है। वियोग वर्णन में अश्रु की प्रधानता है। प्रसंग वश कुछ विषयों तथा प्रसंगों का

उल्लेख अवश्य कर किया गया है। समस्त छन्द घनश्याम वियोग पर ही आधारित हैं। किन्तु कवि ने वियोग का इस रूप में वर्णन किया है कि अन्त में भाव अश्रु पर ही आकर समाप्त होता है—

> जबतें कुबरी-संग नेह कियौ,
> तब तें सब देह भई दुबरी।
> सुख रीत गयौ अब जीवन कौ,
> तित बीतत है पल एक घरी।
> घनस्याम वियोग दसा में घनी,
> असुंआन की लोल लरी लहरी।
> ब्रज-गोपिन के जनु नैनन के,
> विरहा ने धरोहर आन धरी। अ० मा० २५

कुब्जा प्रेम की कथा सुन श्याम वियोग में दुखी गोपियों का जर्जर शरीर और भी क्षीण हो गया है अतः जीवन रक्षा के लिए उन्हें विशेष सतर्क रहना पड़ता है। इसी विचार को कवि ने इस रूप में व्यक्त किया है—

> स्याम-वियोग में प्रान की हानि
> न होय कहूँ तब जान हिये अस
> जीवन राखिवै कौं अखियाँ
> असुंआन ही में भर लाई सुधा रस ॥ अ० मा० २६

उद्धव की योग-कथा का उल्लेख भी हंस की 'नीर क्षीर' प्रवृत्ति के आधार पर किया गया है। गोपियों का मानस हंस योग के छीर को बिना स्पर्श किए ही कृष्ण—छवि छीर का ही पान करता है। आगे चलकर इसी भाव को कवि ने इन पंक्तियों द्वारा पूर्ण किया है—

> अश्रु के बुन्द भये मुकता
> दृग गोपिन के भए मान सरोवर। अ० मा० २७

कृष्ण प्रेम की योग से तुलना करती हुई गोपियाँ अनेक उपमानों द्वारा अपने प्रेम की महानता बताती हैं। ये नेह सिंधु में हिलोरें लेने वाली हैं। इन्हें जल-पोखरी-योग में कैसे आनन्द आ सकता है। इतना ही नहीं वे आगे कहती हैं—

> 'असुंआ मुकतान चुनें अखियाँ ये
> मराल की मंजु किसोरनी हैं।' अ० मा० २८

निर्गुण ब्रह्म तथा योग के प्रसंग में कवि ने अपनी बहुज्ञता प्रदर्शन का भी प्रयत्न किया है। योग-संदेश लेकर उद्धव ब्रज गये हैं। यहाँ कवि ने युद्ध स्थल का रूपक बाँधा है।

योग के संग में युद्ध के काज
सनेह के अश्रु कौ व्यूह सजायौ।
औ' जित ग्यान के बान चले
भये बंचक रंचक तौर न पायौ।
प्रेम प्रभाव बिलोक ससोक
रनांगन-त्याग के नेम परायौ।
कृष्ण के मित्र श्री उद्धव सों
ब्रज गोपिन जीति कौ पत्र लिखाओ। अ० मा० ३१

युद्ध स्थल में चक्रव्यूह रचना द्वारा किस प्रकार विपक्षी को परास्त किया जाता है और विपन्न अवस्था में उससे संधि पत्र लिखा लिया जाता है इसी को लेकर यह रूपक चला है। उद्धव योग को लेकर युद्धस्थल में आगये किन्तु गोपियों के स्नेह-व्यूह में फँस कर निकल सकना कठिन ही नहीं असम्भव था अतः कृष्ण सखा उद्धव अन्त में गोपियों की विजय पर हस्ताक्षर कर देते हैं।

एक अन्य छन्द में कवि ने शतरंज की चालों का ज्ञान प्रदर्शित किया है। शतरंज में सीधी चाल से चलता हुआ 'पैदल' भी कभी कभी राजा को मात दे देता है। शतरंज का खेल भी राजा, मंत्री, हाथी, ऊँट, घोड़ा पैदल आदि से युक्त होता है। मानो एक राजा अपनी चतुरंगिणी सेना लेकर दूसरे पर चढ़ाई कर देता है। यहाँ पर गोपियाँ पैदल-अश्रु की सेना लेकर ही ज्ञान-शिरोमणि के बादशाह को मात दे देती है—

नेम औ' प्रेम को बाजी रची
दुहुँ ओर अनीं चतुरंगिनी लीनी।
उद्धव निर्गुन चाल की चाल—
चली भई चाल की चाल मलीनी।
गोपिका नेह विधान के नेह के
पैदल-अश्रु की किस्त जो दीनी।

ग्यान-सिरोमनि बादशाह के
करामात की मात भली विधि कीनी।
अ० मा० ३१

उद्धव की इस पराजय को चमत्कृत रूप देने के लिये कवि ने उद्धव की चित्त पुस्तिका में प्रति पत्र में प्रेम-कथा लिख देने की कल्पना की है—

अक्षर रूप भये असुआं
अंसुआन में एक विचित्रता कीनीं।
उद्धव की चित्त पुस्तिका के
प्रति पत्र में प्रेम कथा लिख दीनी। अ० मा० ३

कवीन्द्र माहौर की इन युक्तियों में अलंकार योजना तथा उक्ति चमत्कार के दर्शन अधिक होते हैं। काव्य में हृदय को छूने की शक्ति अपेक्षाकृत कम है। इनके अतिरिक्त कुछ पद और भी ऐसे हैं जिनमें गोपी विरह व्यंजना का सुन्दर वर्णन हुआ है। योग पालन की असमर्थता में गोपियों ने जो कुछ कहा है वह पूर्व पदों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली है—

बन वासनी कैसे बनैगीं कहौं
जु निवासिनी या ब्रज धाम की हैं।
तुम ऊधौ न घात की बातें करौं
हम चातकी तौ घनस्याम की हैं
तन-काम की भस्मि रमायें रहैं
यहाँ रस्म न योग के काम की हैं।
अखियाँ रचिकैं अंसुआन की माल
जपैं घनस्याम के नाम की हैं। अ० मा० २८

गोपियों निरन्तर अश्रु की माला लिए कृष्ण का नाम जपती रहती हैं। वे कृष्ण चन्द्र की चकोरिनी हैं तो योग की साधना किस प्रकार कर सकेंगी। योग को न स्वीकार करने का एक और भी कारण है—वह है कृष्ण प्रेम की अनुभूति। योग कथा के अरुचिकर लगने के लिए गोपियों ने जिन बातों का उल्लेख किया है वह उनके हृदय की स्थिति का चित्रण करने में सफल हो सकी हैं। कवीन्द्र माहौर का यह छन्द अन्य छन्दों की अपेक्षा अधिक मधुर एवं मार्मिक है—

प्रेम कौ भोग जो भोगतीं ना
यह लागती योग-कथा नहिं थोती।
जीवन जोति बुझाती यहाँ,
हिय में जगती जो न प्रीति की जोती।
आह न आनन सों कढ़ती
चित मांहि जु होती न चाह निसौती।
नैनन में घनस्याम बसे
यदि होते न तो बरसात न होती।
अ० माल २८

किन्तु इस प्रकार के पदों की संख्या कम ही है। कवीन्द्र माहौर ने अश्रमाल में अलंकारों का विशेष आश्रय लिया है। अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक आदि के प्रयोग से भी रचना अधिक ऊँची न उठ सकी। कवि का ध्यान चमत्कार एवं उक्ति वैचित्र्य की ओर ही अधिक रहा जिससे भावोत्कर्ष न हो सका। विरह वर्णन के लिए जिस प्रतिभा एवं सहृदयता की आवश्यकता है वह अलंकृत रचना एवं कौशल प्रदर्शन के मोह में शीघ्र ही लुप्त हो जाती है। अश्रुमाल के अधिकांश पदों में यही दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि अश्रुमाल साहित्यिक दृष्टि से एक साधारण रचना ही कही जा सकेगी।

(दीवानबहादुर कैप्टेन) चन्द्रभानु 'रज'—नेह-निकुंज

चन्द्रभानु कृत नेह-निकुंज में कवित्त, सवैया, छप्पय आदि छन्दों में लिखी हुई रचना है। कवि ने प्रेम प्रसंग की विविध रचना के अन्तर्गत भ्रमरगीत सम्बन्धी कुछ पद भी लिखे हैं। चन्द्रभानु ने भ्रमरगीत सम्बन्धी पदों में भक्ति महिमा एवं सन्देश पत्र का विस्तृत विवेचन किया है। नेह-निकुंज मुक्तक शैली में लिखा गया है अतः पदों का क्रमानुसार चयन भी नहीं हुआ। किन्तु कवि ने कृष्ण हृदय के उद्घाटन का प्रयत्न किया है। कृष्ण उद्धव के व्रजागमन के पश्चात् बारम्बर व्रज कथा सुनाने का आग्रह ही नहीं करते हैं वरन् स्वयं व्रजस्मृति में लीन हो उसका गुण गान करते नहीं थकते। उद्धव से व्रज चर्चा करते हुए कृष्ण कहते हैं—

ऊधौ व्रज मुहिं अधिक पियारौ।
इतनी कहत स्याम दृग छलके, पुन इमि वचन उचारौ।

नंद बाबा को लाड़ लड़ैबो, जसुमति लेन बलैया।
गोपी ग्वाल संग नित, चढ़िवो दाऊ कंधैया। ने० नि० ३२

ब्रजबालाओं की स्मृति करते हुये राधा-प्रेम-प्रसंग की चर्चा के सम्बन्ध में उन्होंने कहा—

'प्रेम राज की राजी राधे, प्रीति प्रेम रस जाने।
जिनके चरन पलोटन हित हम बहुतक करें बहाने॥'
ने० नि० वही

ब्रज की एक एक वस्तु, कदम्ब कालिन्दी गोप, गऊ सभी ने कृष्ण हृदय को अभिभूत कर लिया है। वे उसे भुला नहीं सकते। ब्रज का प्रेम उनकी रग रग में समाया है—

जहँ ते प्रेम भरयौ मम हिय में कैसे ताहि बिसारौं।
त्रिभुवन सहित और निज वैभव, निज कर ब्रज पर वारौं।
कहं लौं करौं बड़ाई ब्रज की, कैसे जाय बताई।
जान लेव बस, जहँ की हमने रुचि रुचि माटी खाई।
ने० नि० वही

इन पदों द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि इस भ्रमरगीतकार ने कृष्ण-हृदय के मधुर पक्ष को भी ध्यान में रखा है। कृष्ण केवल कुब्जा से प्रेम कर योग संदेश भेजने वाले निष्ठुर प्रेमी ही नहीं हैं बल्कि ब्रज एवं ब्रजवासियों की प्रेम भरी स्मृति उन्हें भी व्याकुल कर देती है। उनका मानव हृदय ब्रज के बन कुँजों में विहार करने के लिये मचल उठता है।

चन्द्रभानु ने गोपियों द्वारा प्रेषित पवन दूत का भी उल्लेख किया है। इनके पूर्व भ्रमरगीत कारों ने भी पवन दूत की कल्पना की है। किन्तु प्रत्येक कवि ने इसका वर्णन अपनी विशिष्ट प्रतिभानुकूल ही किया है। चन्द्रभानु की गोपियाँ पवन को संदेश लेकर भेजते हुये कहती हैं—

यह संदेश पवन लै जैयौ।
जहँ कहुँ होय प्रानप्रिय मोरे तिनकेर जाय सुनैयौ। ने० नि० ६०

हरिऔध की राधा की भाँति चन्द्रभानु की गोपी भी पवन को सीधे मार्ग पर जाने का आग्रह करती हैं और अन्त में पवन के अनुकूल ही वे कहती हैं—

'देकर दरस परस हिल मिल पुन रज के नैन जुड़ेयौ ॥'

ने० नि० वही

चन्द्रभानु के भ्रमरगीत प्रसंग की प्रमुख विशेषता-गोपियों का विस्तृत लिखित संदेश है। वे १०६ पंक्तियों की विरह व्यथा पूर्ण पाती कृष्ण के पास भेज देती हैं। आरम्भिक शिष्टाचार के पश्चात् वे ब्रज का कुशल समाचार भी लिखती हैं—

'इतकी कुशल जानिये, तुव चरनन सों लागी।
करत रहत गुन गान तिहारे, जोवत बाट तिहारी।
राखत खबर सदा व दिन की गहि जब बाहें हमारी।'

ने० नि० ६१

कृष्ण के इस पत्र में गोपियों ने अपनी समस्त अभिलाषा, उपालम्भ, व्यंग्य, चिन्ता आदि का वर्णन किया है। उन्हें कृष्ण की एक एक बात स्मरण है, वे सभी का उल्लेख कर कृष्ण को पूर्व प्रेम की स्मृति कराना चाहती हैं। प्रकृति के मादक एवं उद्दीपन रूप का वर्णन करना भी वे नहीं भूली। कृष्ण के ब्रह्म स्वरूप का विस्तृत विवेचन भी पत्र में किया गया है। वे कृष्ण के सर्वशक्तिमान और सर्वान्तर्यामी स्वरूप से भी अभिज्ञ हैं—

हो अनन्त अनवध्य, अगोचर, अकल-अनीह-अरूप।
यौ मन कौ मन मोहन तेरौ, प्यारौ स्याम स्वरूप॥

वे यह जानती हैं कि यद्यपि कृष्ण के स्वरूप का विभिन्न प्रकार से वर्णन किया गया है परन्तु उनमें उनका रस रूप ही सर्वश्रेष्ठ है।

यद्यपि है बहु भाँति भेद युत नाना यतन रची।
पै तुम्हारि रस व्यापकता की, सब में धूम मची॥ ने० नि० ६१-६७

क्योंकि—

बिन मूरति मूरति जो व्यापी, अखिल विश्व के माँही।
सोई पूरन अलखि ब्रह्म तुम, ब्रज बिच बसत सदा ही॥
ने० नि० ६८

कृष्ण के इस संदेश से गोपियों के ब्रह्मज्ञान का भी परिचय मिल जाता है। वे गाँव की भोली भाली अहीर बालिकायें ही नहीं हैं परन्तु ब्रह्म के निर्गुण सगुण रूप का विवेचन करने वाली विदुषी नारी हैं। ज्ञान का यह अक्षय भाण्डार प्रेम के द्वारा ही प्राप्त हुआ है। इसी कारण वे उद्धव से कहती हैं—

केवल प्रेम सार जग माहीं।
ऊधौ जोग प्रपंच भ्रांति मय, काहे गहे वृथा ही।
जोगी जोग युक्ति में भूल्यौ, डूबत थाह न पाई।
शिव समान को सिद्ध जगत में, तिनहूँ अगम गिनाई।
है एक प्रेम अधार विश्व में, लेहु सत्य यह जानी।
भरयौ अगाध स्याम वारिध इक, प्रेम बीचि लहरानी।
अनहद लहर विन्दु रस जो कोउ विमल प्रेम युत पावै।
सोई बने प्रेम को प्रेमी, हिय प्रीति सरसावै।
ने० नि० ३५-३६

× × × ×

जोगी जती मुनी देखहु प्रेमहि महिमा गाँही।
देख लेहु करि के 'रज' कोऊ प्रेम सदृश कुछ नाँही।
ने० नि० ३५

गोपियों के इन सार युत बचनों को सुनकर भी उद्धव संतुष्ट न हुए। तब गोपियों ने उनके योग-संदेश की व्यर्थता सिद्ध करते हुए अपनी वियोगावस्था और योगियों की स्थिति का तुलनात्मक विवेचन किया है। प्रेम वियोगिनी और योगिनी के तुलनात्मक रूप का वर्णन अन्य भ्रमरगीत कारों ने भी किया है। चन्द्रभानु की गोपियाँ भी उसी प्राचीन विषय की चर्चा अपने ढंग से करती हुई कहती हैं उद्धव तुम किसको शिक्षा दे रहे हो! योगी योग द्वारा जिस आनन्द

रस की प्राप्ति करते हैं हम अनुरक्ति द्वारा उसी का आस्वादन करती हैं। हम में उनमें थोड़ा ही अन्तर है—

वे तो जोग-यज्ञ-तप करके परम गती को चानें।
हम वियोगिनी प्रेम रीति से, विरह जु गात तमावें।
बनी वियोगिनी सरस प्रीतिमय, हरि ही के हित जानौ।
तुम्हरों निगुन सगुन भयौ है हमरे काज ही मानौ।
लहि सायोज्य अभिन्न होत वे हम गलबाँही देकें।
फिर अभिन्न कहत क्यों, सीखो कछु दिन रेकें।
वे तो जोग अग्नि तन जारहि, हम विरहानल मँही।
वे नीरस हम रसिक वियोगिनी, नित रस में अवगाँही।
आसन लगा जोग की वे तो नट लीला दिखरावै।
मोहन हित हम विविध केलि की, रचना रुचिर बनावें।
वे तो अपडर डरहिं, विघ्न सों व्याकुल चित्र लखावें।
हम हरषें हरि को हरषावें, सुमन नेह बरसावें।
बने प्रेम के मरमी प्रेमी, प्रेमहि को गुन गावत।
स्यामा स्याम चरन की 'रज' अब सह सनेह हिय लावत।
ने० नि० ३६

कवि ने पदों के अतिरिक्त इस प्रसंग पर कुछ सवैया भी लिखे हैं किन्तु भाव विचार एवं भाषा की दृष्टि से वे अधिक महत्वपूर्ण नहीं कहे जा सकते। उदाहरण स्वरूप कुब्जा प्रसंग को लेकर लिखी गया एक सवैया उद्धृत किया जा रहा है—

कुबजा नारि बनी उनकी, वहि कंस की खास रनवासिनयाँ,
कहुँ रानी फरासिनि होतु सुनी उनने जु करी वसवासिनियाँ।
हम ऊधव ही सहवासिनियाँ मन मोहन मोह मवासिनियाँ,
अब तो हम हैं ब्रज वासिनियाँ, सिगरी 'रज' प्रेम उपासिनिया।
ने० नि० पृ० ३६

इन सवैयों की अपेक्षा कवि की पद-रचना अधिक मधुर एवं सुन्दर है। सवैया की प्रयुक्त भाषा ही रुचिपूर्ण नहीं है न इनमें विचारों का संगुफन ही मिलता है। चन्द्रभानु के समस्त पदों के अध्ययन के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि इसमें बौद्धिक विवेचन अपेक्षाकृत अधिक है। कवि ने गोपियों ने मनोभावों का अधिक

विशद एवं गम्भीर विवेचन नहीं किया है यद्यपि कवि में ऐसा करने की प्रतिभा थी। परन्तु ब्रह्म स्वरूप निरूपण के कारण कवि उस ओर पर्याप्त ध्यान न दे सका।

प्रदुम्न दुगा – कृष्ण चरितमानस

प्रदुम्न कृत श्रीकृष्ण चरित मानस रामचरित मानस की शैली पर अवधी में लिखी हुई एक प्रबन्ध रचना है। इसमें सात काण्ड हैं। चतुर्थ काण्ड में भ्रमरगीत प्रसंग का संक्षिप्त उल्लेख है। मथुरा में दुष्टों के दमन के पश्चात् अवकाश मिलने पर कृष्ण ब्रज संदेश लाने के लिए उद्धव को ब्रज भेजते हैं। इस पर उद्धव ने उन्हें स्वयं ही ब्रज जाने का परामर्श दिया। किन्तु कृष्ण स्वयं नहीं गए, उन्होंने उद्धव से कहा—'मेरे वहां जाने से गोपियों का प्रेम प्रवाह निर्बन्ध हो जावेगा इससे मर्यादा और नियम का अतिक्रमण होगा। विरह के कारण अभी उनका प्रेम मर्यादित हो गया है अतः तुम स्वयं ही वहाँ जाकर उन्हें आत्मज्ञान सिखाओ जिससे उनका मोह-भ्रम और बाह्य रूप तृष्णा शान्त हो जाय।'

कृष्ण के इस संदेश को लेकर उद्धव वृन्दावन आए। वहां नंद यशोदा को कृष्ण का प्रिय संदेश सुनाकर उन्हें प्रसन्न किया। उद्धव के मुख से कृष्ण-संदेश में निहित प्रेम भावना एवं पुनर्मिलन की आशा से यशोदा के नेत्रों में प्रेमाश्रु उमड़ आए। वे उद्धव से उनकी बाल लीलाओं का वर्णन करने लगीं। उद्धव स्वयं कृष्ण-चरित्र सुनने के इच्छुक थे अतः वे बार-बार इस प्रसंग की चर्चा करते थे।

उद्धव को नन्द-गृह में देखकर गोपियाँ स्वयं ही उनसे कृष्ण का हाल पूछती हैं। उनके मन में कृष्ण कुब्जा प्रणय के प्रति एक जिज्ञासा है। यह परम्परागत भाव ही है। कृष्ण को वे लोभी भ्रमर रूप में ही स्मरण करती हैं। गोपियों के वचनों को सुनकर उद्धव कृष्ण के सरल स्वभाव का उल्लेख करते हैं कि यह बिना हेतु के ही सबसे प्रेम करने वाले हैं। वे निर्विकार, निरुपम और सुखदाता हैं। उनके विनय, नम्रता, शील आदि गुण बिना ज्ञान के समझ में नहीं आते। वे हर्ष विषाद, सुख-दुख वेष-कुवेष में समशील और विकार रहित हैं। जिस प्रकार मन इन्द्रियों पर शासन करता हुआ

भी अदृश्य है उसी प्रकार वह ब्रह्म भी घट-घट में स्वयं प्रकाशित है। उसके स्वरूप को गूढ़ तत्व ज्ञानी ही समझ सकता है।

अनाशक्ति योग

उद्धव संदेश की विशेषता उनके अनासक्ति योग का उपदेश है। पूर्ववर्ती भ्रमरगीतों में इस प्रकार के उपदेश का कहीं भी उल्लेख नहीं है। कृष्ण चरित मानस में ब्रह्मज्ञान के साथ ही उद्धव अनाशक्ति योग का भी उपदेश देते हैं—

> नहिं कछु मोर तोर नहिं कछुहू। बिन आशक्ति भोग सब करहू॥
> करहु भोग बस आपने, नहिं तुम बस हो भोग।
> वस्तुन पर अधिकार है, केवल ही उपयोग॥
> ईश देह जग वस्तु घनेरी। सुख सो करहु भोग निज फेरी।
> नहीं अपन पन कबहुँ लगावहु। आनन्द परम सदा तुम पावहुँ।
> धूप वायु जल युत सब जानहु। अधिक नेह नहिं कछु मन मानहुँ
> यहि प्रकार नहिं आपना, कछु भी महिं संसार।
> सम्बन्धी भी पथिक हैं, साथी दिन के चार।
> श्री० कृ० मा० १४६

गोपियाँ उद्धव के इस अनाशक्ति योग द्वारा ही अपना हेतु सिद्ध करना चाहती हैं। वे स्वयं इसमें विश्वास नहीं करती हैं। उनके विचार से यह सब सत्य, असत्य ब्रह्म और माया ज्ञानियों के मस्तिष्क की कल्पना मात्र ही हैं। किन्तु यदि उद्धव इसमें विश्वास करते हैं कि संसार के समस्त सम्बन्ध झूठे हैं तो वे कृष्ण को यहाँ भेज दें क्योंकि—

> यदुकुल नाता झूठ है, तहाँ न उन कर काम।
> प्रीति हमारी सत्य है, भेजहु हमरे धाम। श्रीकृ० मा० १५०

यदुकुल इस झूठे सम्बन्ध से हमारा प्रेम का सम्बन्ध ही सत्य है अतः उस व्यर्थ के नाते को मानकर वे मथुरा में क्यों रहते हैं, उनका वहाँ काम ही क्या है।

लोक-व्यवहार-जाति धर्म—

गोपियों के इस तर्क ने उद्धव को निरुत्तर कर दिया। अतएव स्वकार्य सिद्धि के लिए वे आध्यात्मिक स्तर से उतर कर लौकिक स्तर

पर सांसारिक रीति परम्परा के अनुसार गोपियों को कृष्ण से दूर रहने का उपदेश देते हैं। उद्धव ने कहा संसार में जाति धर्म का बन्धन अति भारी है और संसार में जाति धर्म के नियम पालन में ही भलाई है। हमें अपने सम्बन्ध में समता का विचार रखना चाहिए अन्यथा हमारा जीवन सुखी नहीं रह सकता तुम्हारा कृष्ण सम्बन्ध इस विचार से उचित नहीं है। वे यदुवंशी और अवतार स्वरूप हैं अतएव तुम्हारा कल्याण कृष्ण के दूर रहने में ही है।'

कृष्ण प्रेम की अनन्य उपासिका इस तर्क को कैसे मानतीं। उन्होंने कहा, 'हे श्याम सखा ! तुम प्रेम के मर्म को न समझ कर ही इस नीरस ज्ञान की चर्चा कर रहे हो। प्रेमी कभी अपने कल्याण की चिन्ता नहीं करता। उसका प्रेम पतंग के सदृश त्याग और कष्ट सहन में ही विश्वास करता है। प्रेमी को यश, अपयश, धर्म, की चिन्ता नहीं, प्रेम के सम्मुख ये सब तुच्छ हैं।

गोपियों की प्रेम प्रखरता से प्रभावित होकर उद्धव ने मन ही मन सोचा इन्हें किस भाँति अपने अनुकूल बनाया जाय। उनके सभी अस्त्र व्यर्थ ही सिद्ध हो रहे। इसी समय उन्हें ध्यान आ गया। उन्होंने गोपियों से कहा 'तुमने जो कुछ कहा है उसका विश्वास तभी हो सकता है जब तुम कृष्ण की भलाई और उन्नति के लिए अपने सुख को त्याग कर उन्हें लोक उपकारक और यदुकुल मणि होने का अवसर दो। इस त्याग से तुम्हें भी यश प्राप्त होगा।

उद्धव के इस व्यंग्य वाक्य ने मर्म पर आघात किया। राधा अपने प्रेम की गम्भीरता पर उद्धव का यह आक्षेप न सह सकी। उसने इस कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए कृष्ण के दैहिक त्याग का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। यद्यपि मानसिक साहचर्य को छोड़ने में वे तत्पर न हो सकीं और न उनके ब्रह्मज्ञान, अनासक्ति योग अथवा लोक व्यवहार तथा जाति धर्म की बातों को ही उन्होंने स्वीकार किया। निराश प्रेमिका की भाँति वे कृष्ण के पास यह संदेश भेजती हैं, 'हमारा इस जन्म का सम्बन्ध टूट गया किन्तु प्रेम का स्रोत अब भी प्रवाहित है। हमारा मूक प्रेम सदैव ही तुम्हारे साथ है।'

गोपियों का यह प्रेम और त्याग देखकर उद्धव बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने गोपियों से क्षमा मांगी और कहा इसमें—इस प्रकार

कृष्ण के छुड़ाने में—मेरा कोई दोष नहीं है। यह भाग्य की प्रबलता है। पुनः गोपियों की प्रशंसा करते हुये उन्होंने कहा—'मैंने तुम्हारे अन्दर शुद्ध प्रेम का दर्शन पाया। भगवान् कृष्ण की तुम माया हो यह भी समझ गया।' तत्पश्चात व्रज से विदा होकर वे कृष्ण को राधा का यह संदेश सुनाते हैं, जिसे सुनकर गोपीवल्लभ कृष्ण भी क्षण भर के लिए अधीर हो गए।

श्रीकृष्ण-चरित-मानस का कथानक वर्णनात्मक है। उद्धव के उपदेश में कवि ने कुछ नवीनता दिखाई है। उद्धव केवल ब्रह्मज्ञान का ही उपदेश देने नहीं आए हैं। वे किसी भी मूल्य पर कृष्ण को गोपियों के बंधन से मुक्त कराना चाहते हैं। इसके लिए वे ब्रह्मज्ञान, अनासक्ति, योग, लोक-व्यवहार और प्रेम की कसौटी त्याग सभी का सहारा लेते हैं।

कवि यहाँ पर सब कुछ जल्दी-जल्दी कह जाना चाहता है। इसमें गोपियों अथवा कृष्ण के मानसिक विकास का अवसर ही नहीं है। सभी रंग मंच के अभिनेताओं के पूर्व निश्चित अभिनय के सदृश ही अपने भावों एवं विचारों को सुना देते हैं। उद्धव का भी इसमें कोई दृढ़ व्यक्तित्व नहीं है। अपनी बात को स्वीकार कराने के लिये वे सभी प्रकार के प्रयत्न करते हैं। इस व्यवहार से ज्ञानी उद्धव का रूप ही अदृश्य हो जाता है।

कृष्ण-चरित-मानस की रचना दोहे चौपाई में हुई। इसकी भाषा-अवधी अत्यन्त सरल है। इसका कला-पक्ष तो नगण्य ही है। इस सरलता का कारण कवि का इसको जन-साधारण के निकटतम लाने का प्रयास है।

साहित्यिक दृष्टिकोण—भाव और कला—के विचार से श्रीकृष्ण चरित-मानस साधारण कोटि की रचना है।

डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'—उद्धव-शतक

डा० रसाल व्रजभाषा-काव्यधारा के सफल कवि हैं। आपने 'उद्धव शतक' की रचना कर भ्रमरगीत परम्परा को आगे बढ़ाने का

पर सांसारिक रीति परम्परा के अनुसार गोपियों को कृष्ण से दूर रहने का उपदेश देते हैं। उद्धव ने कहा संसार में जाति धर्म का बन्धन अति भारी है और संसार में जाति धर्म के नियम पालन में ही भलाई है। हमें अपने सम्बन्ध में समता का विचार रखना चाहिए अन्यथा हमारा जीवन सुखी नहीं रह सकता तुम्हारा कृष्ण सम्बन्ध इस विचार से उचित नहीं है। वे यदुवंशी और अवतार स्वरूप हैं अतएव तुम्हारा कल्याण कृष्ण के दूर रहने में ही है।'

कृष्ण प्रेम की अनन्य उपासिका इस तर्क को कैसे मानतीं। उन्होंने कहा, 'हे श्याम सखा! तुम प्रेम के मर्म को न समझ कर ही इस नीरस ज्ञान की चर्चा कर रहे हो। प्रेमी कभी अपने कल्याण की चिन्ता नहीं करता। उसका प्रेम पतंग के सदृश त्याग और कष्ट सहन में ही विश्वास करता है। प्रेमी को यश, अपयश, धर्म, की चिन्ता नहीं, प्रेम के सम्मुख ये सब तुच्छ हैं।

गोपियों की प्रेम प्रखरता से प्रभावित होकर उद्धव ने मन ही मन सोचा इन्हें किस भाँति अपने अनुकूल बनाया जाय। उनके सभी अस्त्र व्यर्थ ही सिद्ध हो रहे। इसी समय उन्हें ध्यान आ गया। उन्होंने गोपियों से कहा 'तुमने जो कुछ कहा है उसका विश्वास तभी हो सकता है जब तुम कृष्ण की भलाई और उन्नति के लिए अपने सुख को त्याग कर उन्हें लोक उपकारक और यदुकुल मणि होने का अवसर दो। इस त्याग से तुम्हें भी यश प्राप्त होगा।

उद्धव के इस व्यंग्य वाक्य ने मर्म पर आघात किया। राधा अपने प्रेम की गम्भीरता पर उद्धव का यह आक्षेप न सह सकी। उसने इस कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए कृष्ण के दैहिक त्याग का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। यद्यपि मानसिक साहचर्य को छोड़ने में वे तत्पर न हो सकीं और न उनके ब्रह्मज्ञान, अनासक्ति योग अथवा लोक व्यवहार तथा जाति धर्म की बातों को ही उन्होंने स्वीकार किया। निराश प्रेमिका की भाँति वे कृष्ण के पास यह संदेश भेजती हैं, 'हमारा इस जन्म का सम्बन्ध टूट गया किन्तु प्रेम का स्रोत अब भी प्रवाहित है। हमारा मूक प्रेम सदैव ही तुम्हारे साथ है।'

गोपियों का यह प्रेम और त्याग देखकर उद्धव बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने गोपियों से क्षमा मांगी और कहा इसमें—इस प्रकार

कृष्ण के छुड़ाने में—मेरा कोई दोष नहीं है। यह भाग्य की प्रबलता है। पुनः गोपियों की प्रशंसा करते हुये उन्होंने कहा—'मैंने तुम्हारे अन्दर शुद्ध प्रेम का दर्शन पाया। भगवान् कृष्ण की तुम माया हो यह भी समझ गया।' तत्पश्चात व्रज से विदा होकर वे कृष्ण को राधा का यह संदेश सुनाते हैं, जिसे सुनकर गोपीवल्लभ कृष्ण भी क्षण भर के लिए अधीर हो गए।

श्रीकृष्ण-चरित-मानस का कथानक वर्णनात्मक है। उद्धव के उपदेश में कवि ने कुछ नवीनता दिखाई है। उद्धव केवल ब्रह्मज्ञान का ही उपदेश देने नहीं आए हैं। वे किसी भी मूल्य पर कृष्ण को गोपियों के बंधन से मुक्त कराना चाहते हैं। इसके लिए वे ब्रह्मज्ञान, अनासक्ति, योग, लोक-व्यवहार और प्रेम की कसौटी त्याग सभी का सहारा लेते हैं।

कवि यहाँ पर सब कुछ जल्दी-जल्दी कह जाना चाहता है। इसमें गोपियों अथवा कृष्ण के मानसिक विकास का अवसर ही नहीं है। सभी रंग मंच के अभिनेताओं के पूर्व निश्चित अभिनय के सदृश ही अपने भावों एवं विचारों को सुना देते हैं। उद्धव का भी इसमें कोई दृढ़ व्यक्तित्व नहीं है। अपनी बात को स्वीकार कराने के लिये वे सभी प्रकार के प्रयत्न करते हैं। इस व्यवहार से ज्ञानी उद्धव का रूप ही अदृश्य हो जाता है।

कृष्ण-चरित-मानस की रचना दोहे चौपाई में हुई। इसकी भाषा-अवधी अत्यन्त सरल है। इसका कला-पक्ष तो नगण्य ही है। इस सरलता का कारण कवि का इसको जन-साधारण के निकटतम लाने का प्रयास है।

साहित्यिक दृष्टिकोण—भाव और कला—के विचार से श्रीकृष्ण चरित-मानस साधारण कोटि की रचना है।

डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'—उद्धव-शतक

डा० रसाल व्रजभाषा-काव्यधारा के सफल कवि हैं। आपने 'उद्धव शतक' की रचना कर भ्रमरगीत परम्परा को आगे बढ़ाने का

स्तुत्य प्रयत्न किया है। उद्धव शतक अप्रकाशित रचना है। इसके कुछ पद, 'उद्धव-गोपी-संवाद' नाम से 'ब्रजभाषा-काव्य' में संगृहीत हैं। रसाल जी अलंकार प्रिय एवं बुद्धिवादी कवि हैं। आपके उद्धव शतक में भाव के साथ ही कला पक्ष की भी प्रधानता है। साथ ही आपका विचार है कि योगिराज कृष्ण के सम्पर्क में रहने वाली गोपियाँ गाँव की गँवारिन अहीरिनें नहीं हो सकतीं। गीता के उपदेशक की संगिनी ब्रह्मज्ञान से अनभिज्ञ कैसे हो सकती हैं। अतएव वे उन्हें षट् दर्शन-ज्ञाता और शास्त्रों की पंडिता मानते हैं। उनमें ज्ञान और प्रेम का सुन्दर समन्वय है। अतः उद्धव के ब्रह्मज्ञान को वे वाक् चातुर्य और तर्क-शास्त्र से ही काटती हैं। ज्ञानवान होने के कारण वे संयत एवं संयमशील हैं। उनका उपालम्भ, व्यंग्य और परिहास सभी कुछ संयत है। उच्छृङ्खलता एवं स्वच्छन्दता का उनमें अभाव है। किन्तु अपने मत प्रकाशन में वे पूर्ण स्वतंत्र हैं। उनमें आत्मविश्वास की अपूर्व ज्योति प्रज्वलित है। यही उद्धव शतक की विशेषता है।

रसाल जी ने उद्धव गोपी संवाद के प्राचीन प्रसंग में कोई परिवर्तन नहीं किया है। प्रत्युत उसे नवीन सिद्धान्तानुकूल प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उद्धव शतक के विषय में स्वयं रसाल जी ने लिखा है, 'प्रसंग तो वही है—इसमें विशेषता मैंने यह रखी है कि गोपियाँ पूरे तर्क के साथ ब्रह्मवाद को अन्यथा सिद्ध करती हैं और अपनी भक्ति और प्रेम को सिद्ध करती हैं। छन्दों में मौलिकता का पूरा विचार रखा गया है—कोई भाव कहीं से लिया या परिष्कृत नहीं किया गया। साथ ही कलापक्ष पर भी पूरा ध्यान रखा गया है। केवल प्रेम में ही गोपियों को नहीं बहाया गया—वे ज्ञान-सिन्धु कृष्ण की उपासिका हैं अतएव ज्ञान से वंचित क्यों रहें। साथ ही रसरूप रसिकराज की प्रिय गोपियाँ हैं अतएव रससिक्त भी हैं। श्लेष मुद्रादि अलंकारों के द्वारा उद्धव की ही उक्तियों पर अन्यार्थारोप का प्रयास है। ज्ञान-पंथ की दुरूहता तथा कठिनता और प्रेम-पंथ की सरलता एवं सुगमता का चित्र रखा गया है। उक्ति वैचित्र्य तथा कथन कौशल को ही विशेषता दी गई है। गोपियाँ भोली भाली अहीरिनें ही नहीं रखी गईं न उन्हें वियोग वेदना से विकल ही पूर्णतया दिखाया गया है। सिद्धान्त और तर्क का प्राधान्य है।'

'रत्नाकर ने कला तो रखी है किन्तु प्रायः भाव पक्ष को ही विशेष बल दिया। अपने छन्दों में भाव के साथ ही कला को भी कुछ उन्नत किया है और अलंकार योजना की विशेषता होते हुए कथन कौशल के साथ भाव पक्ष में सिद्धान्त तथा तर्क को उठाया है। इस प्रकार छन्दों को कुछ विशेष साहित्यिक, अध्ययनोचित और उत्कृष्ट बनाने का प्रयास किया है। भाव को प्रसंगोचित रखते हुए व्यक्त करने का विचार प्रधान है यही काव्य की विशेषता है।'[१]

गोपियों को इस रूप में रखने का भी एक कारण है। रसाल जी का विचार है कि नारी केवल भावना में बहने वाली नहीं। वह भी बुद्धिमती, ज्ञान-युक्त और शास्त्रज्ञ है। अतएव उन्होंने इसी आधार पर कृष्ण की प्रिय गोपियों का चित्रण किया है।' स्त्रियों के पक्ष को मैंने उन्नत किया है—केवल उन्हें हृदय प्रधान भोली भाली भावना-प्रवाह में ही बहने वाली न रखकर बुद्धिमती, वाक् चातुरी से चतुर तथा दार्शनिक सिद्धान्तों को समझने और उन पर विचार कर अपने निर्णय देने में क्षम भी रखा है। वे प्रेम में विकल होकर सामान्य स्त्रियों सी ही नहीं फिरतीं—वरन ज्ञान के क्षेत्र में भी प्रवेश रखती हैं और अपनी दुर्बलता को ही नहीं प्रकट करतीं।[२]

यह पूर्व ही कहा जा चुका है कि रसालजी अलंकार प्रिय कवि हैं। किसी भी बात को वे सीधे साधे शब्दों में व्यक्त करने के पक्ष में नहीं हैं। उनके मतानुसार काव्य में भाव पक्ष से भी अधिक महत्व उसके कला पक्ष का है। इस प्रकार की रचना का रसास्वादन जन साधारण नहीं कर सकता। वह केवल काव्य मर्मज्ञ तथा पंडित वर्ग के लिए ही होती है। यही कारण उद्धव-शतक के दुरूह होने पर उन्होंने लिखा है इसकी रचना सामान्य जनों के लिए नहीं है वरन् कलामर्मज्ञों के लिए हुई है। पारखी इसे परखें और इसकी विशेषता ढूँढ़ें।

रसाल जी के उक्त विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी प्रवृत्ति बुद्धिवादी है। उद्धव-शतक का बुद्धि-वैचित्र्य भ्रमरगीत की अति भावुकता की प्रतिक्रिया है। उनकी गोपियाँ उद्धव द्वारा

१—डा० रसाल के पत्र से उद्धृत।
२—वही

मान्य अद्वैतवादियों के 'अहम ब्रह्मास्मि' और 'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' के सिद्धान्त को स्वीकार करती हुई उद्धव के अद्वैतवाद का का उपहास करती हैं। पंडिता होने के कारण उनका यह उपहास सुसंस्कृत एवं व्यंग्यात्मक है। नंददास की गोपियों की भांति खंडनात्मक नहीं है।[1]

रसालजी के प्राप्त पदों में भ्रमर का उल्लेख नहीं है। अन्य भ्रमरगीतों में भ्रमर का प्रवेश गोपियों को तर्क से भावात्मक रूप तक ले जाने में सहायक हुआ है। इस प्रकार उनमें प्रबंधात्मकता का आभास होता है। रसालजी के काव्य में मानसिक स्थिति के इस परिवर्तन को लाने के लिये भ्रमर की आवश्यकता नहीं पड़ी। यदि इसमें भ्रमर प्रवेश सम्बन्धी कोई पद होता तो गोपियों की मानसिक स्थिति का परिवर्तन मनोवैज्ञानिक एवं तारतम्यपूर्ण हो जाता।

कुछ ऐसे पद जिनमें गोपियों का विरह विशेष रूप से प्रस्फुटित हुआ है, व्यंग्य एवं वाक् चातुर्य पर आधारित है। अपनी और उद्धव की—कृष्ण वियोग-स्थिति की तुलना करती हुई यमक द्वारा अपनी विरह व्यथा प्रकट करती हैं—

मोहन-विथा की कथा आपहू सुनावें ऊधौ।
मोहन-विथा की कथा हमहूँ सुनावैं हैं,
हम ब्रज-चन्द बिना हैं परी महातम में,
आपने महातम में आप अकुलावें हैं,
हम-तुम दोऊ एक देखो टुक टारि टेक,
अन्तर जौ नेक सो विवेक के बतावें हैं,

१—मगन दिखात ऊधो, मगन दिखात ऊधो,
मगन दिखात कीन्हें आपु ही में आप को,
मानो औ' प्रमानो और, जानो-अनुमानो और,
और ही बखानो न ठिकानो कछू आप को,
ब्रह्म सबै जो यैं, तो 'रसाल' भेदभाव कैसो,
कैसें हमें गोपी लखो ऊधो आपु आपु को ?
बोधौ आपु स्याम को प्रबोधौ किध्यों गोपिन को,
ब्रह्म को प्रबोध्य के प्रबोधो आप आपु को। अ० अ० का० १२०

हम गुन गावें निगुनी ह्वै सुगुनी के नीके,
आप गुनी ह्वै के निगुनी के गुन गावें हैं।
अ० ब्र० का० १३४

इसके अतिरिक्त रसाल जी ने कुछ ऐसे पद भी लिखे हैं जिनमें गोपियों का प्रेम शुद्ध, सरल और स्वाभाविक रूप में प्रकट हुआ है। इनमें अलंकारिक जटिलता एवं दुरूहता का पूर्ण अभाव है। इस प्रकार के गोपी विरह सम्बन्धी पद अधिक सरस और मर्मस्पर्शी हैं। समय का विस्तार और उद्धव का उपदेश गोपियों के प्रेम को किसी भी भांति कम नहीं कर पाता। आज भी उनका मानस कृष्ण-प्रेम से उद्वेलित है। वे कहती हैं—

बीति गये दिन प्रेम के वे सजनी अब वे रजनी हूँ सिरानी,
और कथा भई ऊधव जू! अब ह्वै गई औरे रसाल कहानी,
नेह जर्‌यौ विरहानल में, परतीति रही अपनी न बिरानी,
बात रही न रह्यौ रस हूँ, तऊ मानस की लहरें न थिरानी।
अ० ब्र० का० १३५

भ्रमरगीत की एक मुख्य विशेषता है कि तर्क का आश्रय लेकर भी गोपियाँ अन्त में उसकी निरर्थकता जान जाती हैं और अन्त में उनकी विरह व्यंजना भावात्मक हो जाती है। रसालजी भी इसका अपवाद नहीं हैं। उनकी गोपियाँ भी अन्त में उद्धव से कह देती हैं—

यह अवसर स्याम कथा कौ मिलो, सो गयो रसना की रलारली में,
कहिबे-सुनिबे की न रही सो रही इन बातन ही की बला वली हैं,
मन-मीन मलीन मरे से परे, महि ज्ञान की कोरी दलादली में,
मन-भावती हू कहि जाते कछू अब ऊधव ऐसी चलाचली में।

बिवाद में समय नष्ट हो जाने का उन्हें पश्चात्ताप हो रहा है। गमन की इस बेला में भी प्रिय की मनभावती सुनने के लिए उनका हृदय विकल और श्रवण आतुर हैं।

नन्ददास और रसाल की तर्क पद्धति

नन्ददास की तर्कपद्धति प्रबन्धात्मक है। उद्धव जो बात कहते हैं गोपियाँ उसी को अपने तर्क से काटकर स्वमत की स्थापना करती

हैं। इनका वाद-विवाद शास्त्रार्थ पद्धति का है। रसाल जी की गोपियाँ इससे सर्वथा भिन्न पद्धति को ग्रहण करती हैं। उद्धव एक बार संदेश कहकर मौन हो जाते हैं। नंददास के उद्धव की भाँति वे गोपियों को निरन्तर उत्तर प्रत्युत्तर देकर अपने मत की पुष्टि नहीं करते। ये अपनी तर्क पद्धति में रत्नाकर की गोपियों के निकट हैं।

किसी भी धर्म अथवा मत की स्थापना के लिए ब्रह्म, जीव, जगत और माया की दार्शनिक विवेचना आवश्यक है। सभी सम्प्रदायों का अन्तर इन चारों के दार्शनिक स्वरूप पर आधारित है। निर्गुण और सगुण मत में भी मूलतः अन्तर न होते हुये भी इसका प्रकट अन्तर जीव की इन वस्तुओं के प्रति प्रतिक्रिया रूप में है।

नंददास ने सगुण मत की स्थापना दर्शन के सभी अंगों पर अपना मत प्रकट करके ही की है। गोपियाँ अपनी अभिव्यक्ति में दार्शनिक आचार्यों की भाँति शास्त्रार्थ करती प्रतीत होती हैं। ऐसे अवसर पर उनका हृदय पक्ष गौण ही नहीं वरन् पूर्णतः लुप्त हो जाता है। वे शुष्क, तार्किक और बुद्धिवादी ही रह जाती हैं। किन्तु उनका हृदय पक्ष का उद्घाटन अन्य स्थल पर होता है। जहाँ वे तर्क का अवलम्ब पूर्णतः छोड़कर भाव विभोर हो जाती हैं। अतएव नंददास की गोपियों में मस्तिष्क और हृदय का समन्वय एक ही स्थल पर नहीं दिखाई पड़ता। नंददास की गोपियाँ द्विव्यक्तित्वमयी हैं। दार्शनिक विवेचन के अवसर पर उनका आचार्य रूप प्रकट होता है तो अन्य स्थल पर वे पूर्णतः प्रेममयी एवं कृष्ण-विरह में विकल प्रेमिका स्वरूप हैं जहाँ उनका हृदय पक्ष ही प्रबल है।

रसाल जी के कथानुसार उनकी गोपियाँ दर्शन की पंडिता हैं। किन्तु उनका स्वरूप नंददास की गोपियों से सर्वथा भिन्न है। दर्शन वाक् चातुर्य और हृदय पक्ष (भावुकता) तीनों का इनमें सुन्दर समन्वय है। इनकी गोपियों का व्यक्तित्व नंददास की गोपियों की भाँति अलग-अलग प्रस्फुटित नहीं हुआ है। वे एक साथ ही दर्शन तथा प्रेम की चर्चा करती हैं और उक्ति वैचित्र्य द्वारा उद्धव के तर्कों की व्याख्या स्वपक्ष में कर लेती हैं।

रत्नाकर और रसाल

काव्य की दृष्टि से रसाल जी रत्नाकर की परम्परा में हैं। रत्नाकर का उद्धव शतक मुक्तक शैली में होते हुये भी प्रबन्धात्मक है।

उन्होंने कथा-प्रसंग में भी कुछ परिवर्तन किया है। रत्नाकर में भक्ति और रीति कालीन प्रवृत्तियों का समन्वय है। रसाल जी का उद्धव गोपी संवाद भाव-पक्ष और कला-पक्ष दोनों ही दृष्टिकोणों से रत्नाकर के अनुरूप है। इन्होंने भी कवित्त सवैया की रीतिकालीन मुक्तक शैली को अपनाया है। किन्तु रसाल जी का काव्य पक्ष रीतिकालीन होते हुए भी आधुनिकता से प्रभावित है।

डा० रसाल एक सचेष्ट कलाकार हैं। इन्हीं के कथनानुसार उन्होंने गोपी-उद्धव संवाद में पूर्ण मौलिक रहने का प्रयत्न किया है। अतः पूर्ववर्ती कवियों द्वारा व्यक्त भावों का इनकी रचना में मिलना कठिन है। किन्तु प्रसंगों की एकता के कारण उद्धव-गोपी-संवाद के मूलस्रोत में कोई विशेष मौलिकता-प्रदर्शन का स्थान नहीं है। थोड़े बहुत परिवर्तन से प्रसंग में कोई अन्तर नहीं आया है अतः उनकी मौलिकता उक्ति वैचित्र्य एवं कलापक्ष में ही निहित है जिसमें वे पूर्ण सफल हुए हैं।

कला पक्ष

डा० रसाल के काव्य कला की आलोचना करते हुए शुकदेव विहारी मिश्र ने लिखा है, 'रसाल जी ब्रजभाषा-साहित्य के मर्मज्ञ विशेषज्ञ हैं और साथ ही कुशल कवि भी हैं। आपका काव्य, कला कौशल युक्त, गूढ़ तथा गम्भीर रहता है। वाक्य-विन्यास भाव प्रभावपूर्ण, संयत और वैचित्र्यमय होता है। आपके शब्द-संगुफन में वर्ण-मैत्री और शब्द मैत्री का अच्छा रूप आता है। आपकी रचनाओं में वाग्वैचित्र्य के साथ चमत्कार की प्रधानता है।'

उद्धव-गोपी संवाद में अलंकारों की प्रचुरता है। रसालजी ने अनुप्रास, यमक, श्लेष वक्रोक्ति आदि शब्दालंकारों के अतिरिक्त, रूपक, मुद्रा, विरोधाभास, देहरी दीपक आदि अर्थालंकारों का भी सफल प्रयोग किया है। आपके एक-एक छन्द में अनेक अलंकार गुथे रहते हैं। गोपियाँ मीन (मछली) के रूपक द्वारा अपनी बिरह व्यथा एवं उद्धव के प्रतिकूल उपदेश का वर्णन करती हैं—

करत कलोल लोल जीवन-तरंगिनी की,
उमंगी उमंगनि तरंगनि की माल में

दे-दे चाव-चारो यों बिमोहौं के न चारो चल्यो,
बहुत बिचारो तऊ ऐसो पर्यो चाल में,
बेधि बेधि बंसी सों 'रसाल' जिन्हें बंसीधर,
निज गुन खैंचि गए गेरि नेह-ताल में,
ऊधो ! दुखी-दीनन कों उन मन मीनन कों,
आये फाँसिबे कों तुम बेगुन के जाल में।

अ० ब्र० का० १३२

इस एक छन्द में छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास, श्लेष, यमक और विरोधाभास की सम्मिलित छटा है।

द्वारिकाप्रसाद मिश्र–कृष्णायन

कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन को लेकर लिखे गये ग्रन्थों में कृष्णायन महत्वपूर्ण रचना है। इसके पूर्व श्रीकृष्ण चरित्र मानस आदि जो रचनायें उपलब्ध हैं उनमें कृष्ण-जीवन की सम्पूर्ण घटनाओं का इतना सुन्दर यथाक्रम और काव्यात्मक वर्णन नहीं मिलता। कृष्णायन रामचरित-मानस के अनुरूप लिखा गया एक बृहत् प्रबन्धकाव्य है, इसकी रचना सात काण्डों में हुई है। कृष्ण के शक्ति, शील और सौंदर्य तीनों रूप का वर्णन कृष्णायन में यथानुसार हुआ है। वृन्दावन के रासबिहारी, मथुरा के कंसारि और महाभारत के योगिराज कृष्ण का एक साथ दर्शन कृष्णायन में होता है।

मथुरा काण्ड में कृष्ण के गोपीवल्लभ और शत्रुदमन स्वरूप का वर्णन है। इसी काण्ड में भ्रमरगीत का उद्धव-गोपी संवाद-प्रसंग का भी उल्लेख है। कवि ने इस परम्परागत प्रसंग में भी नवीनता उत्पन्न की है।

कथा

कृष्ण मगध नरेश जरासंध के आक्रमण से बचने के लिए जब मथुरा छोड़ कर द्वारिका जाने लगते हैं उस समय उन्हें ब्रजवासियों का ध्यान हुआ। इसका कारण था मथुरा में रहते समय तो मिलन की यथेष्ट सम्भावना थी। किन्तु द्वारिका जाते समय स्थान की दूरी के कारण पुनर्मिलन की कठिनता का अनुभव किए बिना वे न

रह सके। अतएव शत्रु आक्रमण की विकट परिस्थिति में भी वे उद्धव को ब्रज-संदेश लेने के लिये भेज देते हैं। ब्रज जाते समय वे उद्धव से 'जाहु अबहिं ब्रज' केवल ये ही तीन शब्द कहते हैं और उद्धव उनके प्रेम-संदेश को लेकर चले जाते हैं। यहाँ कवि ने कृष्ण के विस्तृत संदेश का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। अतएव ब्रज जाकर उद्धव को अपनी बुद्धि के अनुसार व्यवहार करने का पूरा अवसर भी मिल जाता है।

उद्धव ने ब्रजागमन के अवसर पर कृष्ण-वियोग में श्रीहीन वृन्दावन को देखा। जब वे नन्द-द्वार पर पहुँचे तो कृष्ण-रथ के शब्द को सुनकर कृष्ण-मिलन की लालसा से नन्द बाहर आए। यहाँ उद्धव को देखकर उनका हृदय बैठ गया किन्तु लोक-व्यवहार-कुशल नंद ने हृदयगत भाव, अपनी निपट निराशा को छिपा कर उद्धव का स्वागत किया। उद्धव को आया जान कृष्ण-वियोग में दीन-क्षीण यशोदा भी उनके निकट आ बैठी। यशोदा को देखकर उद्धव का हृदय श्रद्धा से अभिभूत हो गया। उन्होंने झुककर यशोदा की पद वंदना की और कृष्ण का सुखद संदेश सुनाया। उद्धव का संदेश कृष्ण की सफलताओं यशोदा के प्रेम की स्मृति तथा अपनी वस्तुओं के प्रति बाल सुलभ ममत्व से युक्त है।

कृष्ण को सुखो सुनकर यशोदा ने संतोष की श्वास ली। उद्धव के द्वारा उन्होंने सूर की यशोदा की भाँति ही देवकी के पास संदेश भेजा है जिसमें देवकी के पुत्र, उनके प्राणाधार कृष्ण की धाय के नाते ही दर्शन कराने की प्रार्थना की है। कृष्ण के प्रति यशोदा का संदेश पश्चात्ताप और ग्लानि से पूर्ण है। बचपन में कृष्ण को जो ताड़नाएँ दी थीं उन्हीं को स्मरण कर वे दुखी हैं। वे कहती हैं कृष्ण से यहाँ आने के लिए कह देना और बता देना अब उनकी इच्छाओं पर किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं रहेगा।

उद्धव-गोपी-संवाद

उद्धव-गोपी-मिलन प्रसंग परम्परागत है। गोपियां नन्द-द्वार पर खड़े रथ को देखकर कृष्ण दर्शन की सुखद कल्पना से प्रसन्न होती हुई यशोदा के घर पहुँचती हैं। वहाँ आशा के विपरीति उद्धव

को देखकर वे ठगी-सी रह गई। इस अवसर पर उद्धव ही ने कृष्ण बलराम का संदेश सुनाकर मौन तोड़ा। इसी बीच गोपियाँ सँभल चुकी थीं। उन्होंने उद्धव से पूछा-हमारे साथ प्रेम रीति का व्यवहार करने वाले कृष्ण किस अपराध का दंड दे रहे हैं जो एक बार मथुरा जाकर इस प्रकार भूल बैठे।

गोपियों की बात सुनकर हँसमुख उद्धव परम्परागत विचार-धारा के विपरीति नवीन ढंग से विषय को उठाते हैं। उनके वचन में हास और उल्लास है। वे गोपियों से बोले—कृष्ण केवल तुम्हारे ही नहीं हमारे भी तो हैं। यदुवंशी कृष्ण जितने दिन व्रज में रहे उतने ही दिन यदि मथुरा में रहें तो भी अपराधी नहीं कहे जा सकते। वे कंस को मार कर अभी दो ही दिनों से तो अपने गृह में रहने लगे हैं इसमें कौन सी अनरीति है।

उद्धव के शब्द सुनकर गोपियाँ खीज उठीं। अब वैभवशाली कृष्ण से सम्बन्ध जोड़ने वाले अवसरवादी यदुवंशियों का उपहास करती हुई बोलीं—जब कृष्ण गोपाल रूप से वृन्दावन में रहते थे उस समय यदुवंशी कहाँ थे। कंस निमंत्रण पर अक्रूर के साथ जब वे मथुरा गए उस समय कोई भी सम्बन्धी न दिखाई पड़ा और उन्हें वृक्ष के नीचे ठहरना पड़ा। मल्ल-युद्ध के अवसर पर भी रक्षा करने के लिए कोई बंधु सामने न आया। किन्तु आज जब यशोदा के अशीर्वाद से वे विजयी होकर मथुरा के स्वामी बने तो सभी यदुवंशी उनसे सम्बन्ध जोड़ने लगे।

गोपियों की वाक् चातुरी से 'मति-धाम' उद्धव भी चकित हो गए उन्होंने पूछा--तुमने यह चतुरता कहाँ से सीखी। तुम्हारे वाक-चातुर्य में ही कृष्ण सब कुछ भूले हुए थे। उद्धव की इस बात को सुन कर वे पुनः तमक कर बोलीं—उद्धव तुम बड़े नीति ज्ञानी, पंडित और शठता में पारंगत हो शायद इसी भय से कृष्ण को अपने साथ नहीं लाए कि कहीं अपनी बातों में हम उन्हें पुनः न रमा लें। तुम यहाँ आकर झूठी बातें करते हो और वहाँ जाकर भी झूठ ही कहोगे। यशोदा की भाँति ही गोपी-संदेश में भी कृष्ण के पुनः आगमन का आग्रह है साथ ही इस बार उन्हें मनमाने ढँग से कार्य करने की भी स्वतंत्रता है। मथुरा के अशान्ति पूर्ण वातावरण की अपेक्षा व्रज के

सुख और शान्तिमय राज्य में सरलता से जीवन व्यतीत करने का भी संकेत है। सम्भवतः नगर में रहने के कारण जब उन्हें ग्राम-वास रुचिकर न हो ऐसी परिस्थिति में वे मथुरा ही में रहें किन्तु कभी-कभी दर्शन देने की कृपा करें। यदि वे गोपियों के पूर्व स्नेह सम्बन्ध को भुला चुके हैं तो भी मथुरावासियों के तुल्य व्रजवासी भी उनकी प्रजा हैं। प्रजा पर उपकार करना राजा का धर्म है अतः इस नाते ही वे कभी दर्शन देने का कष्ट करें। उद्धव स्वयं उनके सचिव हैं जो गोपियों की दशा को स्वतः ही देख रहे हैं। मंत्री राजकाज में राजा को परामर्श देता है। उद्धव भी उनके दुख को दूर करने के लिए कृष्ण को समझा बुझा कर व्रज ले आएं।

गोपियों की आर्त दशा देखकर उद्धव का धैर्य भी जाता रहा। उनके नेत्र सजल हो गए। गोपियाँ घनश्याम का नाम स्मरण करती हुई विदा हुईं।' इधर उद्धव की सम्पूर्ण रात्रि विकलतापूर्वक हरि नाम का जाप करते ही बीती।

राधा-दर्शन

उद्धव राधा-भेंट का प्रसंग भी कवि ने नवीन रूप से सजाया है। रात्रि भर जगने के बाद ब्रह्म मुहूर्त में ही उद्धव यमुना स्नान के लिए जाते हैं। मार्ग में उन्हें एक सुन्दर दृश्य दिखाई पड़ता है। चन्द्र अपनी समस्त किरणों से पृथवी पर अमृत-वर्षा कर रहा है—वनप्रान्त वसन्त-श्री से पूर्ण है, मधुर खगरव और मुरली की मादक तान मन को मोहित कर रही है, सामने वट-वृक्ष के पास मनमोहन मुरली बजा रहे हैं और एक गोपिका उनके पदतल पर पुष्पांजलि अर्पित कर रही है।' क्षण भर पश्चात् ही सब कुछ अदृश्य हो जाता है। विस्मित उद्धव शीघ्र ही यमुना स्नान कर लौट आये। गृह आकर उन्होंने देखा यशोदा के पास वही गोपी है जिसका अभी उन्हें दर्शन हुआ था। वे आश्चर्य चकित हो गए, इसी समय यशोदा ने उद्धव से उसका परिचय कराया कि यह श्याम सखी राधा है जिसके मुरली चुरा लेने का हरि को सदैव भय रहता है।

इस अलौकिक रूप से राधा का परिचय पाकर उद्धव शीघ्र ही मथुरा जाने के लिए प्रस्तुत हुए। उन्होंने अवसर देखकर मथुरा

गमन की आज्ञा माँगी और चलते समय कृष्ण के निर्गुण ब्रह्म स्वरूप का उल्लेख भी कर दिया—

कृष्ण, अनादि, अरूप, अकारण,
नारायण, अच्युत, जग-तारण,
व्यापक ब्रह्म सदा सब मांही,
विरह-प्रसंग तहाँ कछु नाहीं।
अस मन गुनि हरि-पद सुखदायी
सुमिरहु दोउ तित शोक बिहायी॥ कृष्णायन २२६

मथुरा पहुँच कर उद्धव ने ब्रज-चर्चा करते समय जब वंशी-वट प्रसंग का उल्लेख किया तो विकल उद्धव को समझाते हुए कृष्ण ने कहा—

एकहि मैं अरु राधिका, द्वैत-भाव भव भ्रान्ति।
ब्रज जन समुझि रहस्य यह, लहिहैं पुनि सुख शान्ति॥
कृष्णायन २२७

विशेषता

कृष्णायन में वर्णित भ्रमरगीत प्रसंग कई बातों में मौलिक है। भ्रमर का इसमें पूर्ण अभाव है। उद्धव का संदेश भी परम्परागत निर्गुण ब्रह्म तथा योग मार्ग के शुष्क एवं नीरस संदेश से भिन्न हैं। यह भिन्नता उद्धव गोपी संवाद के रूप में प्रकट है। उद्धव ने मथुरा जाते समय कृष्ण के ब्रह्म स्वरूप का यशोदा से संकेत मात्र किया है।

राधा कृष्ण के नित्य रास के आधार पर ही उद्धव राधा परिचय एवं राधा-कृष्ण-स्वरूप की एकात्मकता का अनुभव कवि की मौलिक दैन है।

कला पक्ष

भाषा शैली—आधुनिक काल की रचना होते हुए भी कृष्णायन की भाषा साहित्यिक अवधी है। रामचरित मानस की अपेक्षा इसकी भाषा अधिक संस्कृत गर्भित है। भाषा के तद्भव शब्दों की अपेक्षा तत्सम शब्दों की प्रचुरता से यह कुछ दुरूह एवं जटिल हो

गई है। कृष्णायन की भाषा पर विचार करते हुए डा० धीरेन्द्र वर्मा ने वर्तमान अवधी तथा कृष्णायन में प्रयुक्त भाषा पर प्रकाश डाला है[१]।

कृष्णायन मानस की दोहा चौपाई शैली में लिखा गया है। इसमें आठ चौपाइयों के पश्चात् एक दोहे का क्रम है। तुलसीदास ने मानस में दोहा चौपाई के अतिरिक्त कवित्त, छप्पय आदि छन्दों का भी यथा स्थान प्रयोग किया है। किन्तु मिश्र जी ने अपने को केवल दोहा, सोरठा, चौपाई में ही सीमित रखा है।

अलंकारों का विशेष प्रयोग कृष्णायन में नहीं मिलता। भ्रमरगीत प्रसंग में उत्प्रेक्षा; वक्रोक्ति आदि कुछ ही अलंकारों का प्रयोग है।

मिश्रजी ने सरल एवं अनुकूल शब्द-योजना द्वारा ही भाव-व्यंजना की है। गोपियों की मानसिक स्थिति का चित्र भी अनुभव वर्णन द्वारा किया है।

वर्तमान काल में जबकि काव्य क्षेत्र से ब्रज और अवधी निरन्तर हट रही है। अवधी में कृष्ण चरित्र-लिखने का साहस कर कवि ने हिन्दी साहित्य भांडार के एक अभाव को दूर कर दिया। भाव और कला की दृष्टि से कृष्णायन का हिन्दी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है।

लाला हरदेवप्रसाद–ऊधौपचीसी

ऊधौ पचीसी लाला हरदेवप्रसाद कृत भजनों का संग्रह है। इसमें २५ भजन तथा एक बारह मासा है। प्रत्येक भजन में गोपियाँ उद्धव के योग संदेश की कथा का वर्णन करती हुई कभी पत्र की अनुपयुक्तता, कभी कुब्जा प्रणय की विडम्बना और कभी भाग्य दोष का उल्लेख करती हैं। समस्त भजन गोपी कथन रूप में ही है। सर्व प्रथम वे उद्धव से पूछती हैं—तुम कौन हो और किस देश से पत्र लाए हो ? किसने यह पत्र लिखा है और किसके पास भेजा है ? इसी पद में उद्धव ने उनको उत्तर दे दिया।

१—पृष्ठ १३ भूमिका—संवत् २०१२

दूसरे भजन में गोपियाँ कृष्ण-मिलन की उत्सुकता का वर्णन करती हुई कहती हैं कि हम तो कृष्ण दर्शन को तड़प रही हैं उनका यह पत्र हमारी इच्छा तो पूर्ण नहीं कर सकता क्योंकि इससे तो 'आधो मिलन भयो मेरे ऊधो' इस समय उन्हें कुब्जा का ध्यान हो आता है। कृष्ण कुब्जा प्रणय के कारण ही ब्रज नहीं आते किन्तु गोपियाँ कुब्जा को दोष न देकर कृष्ण को ही बुरा भला कहती हैं—

'अपनो दाम होय जो खोटो लाग कहा परखा की।'

अन्य समस्त पदों में गोपी-विरह-वर्णन ही वर्णित है। गोपी पचीसी की मुख्य विशेषता यह है कि लालाजी ने योग-संदेश तथा निर्गुण ब्रह्म-ज्ञान चर्चा के प्रसंग को स्पर्श ही नहीं किया है। इसका मुख्य वर्ण-विषय कृष्ण निष्ठुरता, गोपी विवशता एवं कुब्जा भाग्य वर्णन है।

ऊधौपचीसी साधारण श्रेणी की रचना है। कला की दृष्टि से इसे विशेष स्थान नहीं दिया जा सकता। लोकगीतों में अवश्य यह स्थान पा सकती है। ऊधौपचीसी की रचना ही साधारण जनसमाज में प्रचारात्मक विचार से की गई जान पड़ती है। काव्य की अपेक्षा यह लोकगीत की श्रेणी में ही रखी जा सकती है।

श्यामसुन्दरलाल दीक्षित—श्याम संदेश

भ्रमरगीत की तीन सरणियाँ हैं—कृष्ण-संदेश, उद्धव-उपदेश तथा ब्रज-विरह। भ्रमरगीतकारों ने प्रायः अन्तिम को ही काव्य के लिए चुना है। कृष्ण-संदेश उनकी विकलता और विह्वलता तथा उद्धव-उपदेश और उनके मानसिक भावों के यथेष्ट वर्णन की ओर कवियों का ध्यान ही नहीं गया। यद्यपि रत्नाकर और द्वारिका-प्रसाद मिश्र आदि कुछ कवियों ने कृष्ण और उद्धव के चरित्र पर प्रकाश डाला है। किन्तु कृष्ण का विशद-विरह-वर्णन कहीं उपलब्ध नहीं है। जो कृष्ण ब्रज-संदेश लेने के लिए प्रिय सखा उद्धव को भेजते हैं उनके हृदय में भी अपार पीड़ा होगी। गोपियों के सदृश वे भी विरह-दुख से पीड़ित होंगे। कृष्ण के प्रति कवियों की इस उपेक्षा के कलंक को दूर करने के लिए भी दीक्षित जी ने 'श्याम-संदेश' की रचना की है।

श्याम-संदेश की रचना तीन सर्गों में हुई है। प्रथम मधुपुरी सर्ग में—मथुरा नगरी के वैभव का विशद वर्णन। द्वितीय सर्ग-स्वतंत्रता दिवस में कंस के अत्याचार से मुक्त जनता का उत्साह और उल्लास वर्णित है। कृष्ण-राज्य में कवि की रामराज्य की कल्पना का रूप दिखाई पड़ता हैं। आधुनिक काल में स्वतंत्रता दिवस पर होने वाले ध्वजारोहण, भाषण, उत्सवों के आयोजन आदि का होना उस काल में भी दिखाया गया है।

व्रज-स्मृति को जाग्रत करने के लिए कवि ने कृष्ण के व्रज-जीवन के अभिनय का प्रसंग रखा है। स्वतंत्रता-दिवस के उपलक्ष में नवमहाराज कृष्ण की लीलाओं का अभिनय होता है। मथुरा-वासियों के साथ कृष्ण भी रंगभूमि में उसे देखने के लिए जाते हैं। यवनिका उठते ही राधा सखियों से श्याम के निकट चलने का प्रस्ताव रखती दिखाई पड़ती है। रासलीला का दृश्य दिखाया गया। कृष्ण के अन्तर्धान होने पर गोपियों और राधा के विरह अभिनय को देखकर सभी रो पड़े। कृष्ण भी अपने धैर्य को न रख सके। बड़ी कठिनता से रोके हुए अश्रु बलात् नयनों की कोर से बहने लगे। उनके हृदय में व्रजस्मृति जाग उठी। व्रजवासियों की सुधि आते ही उनका प्रफुल्लित मुख कमल मुर्झा गया और वे अचेत हो गए।

कृष्ण की ऐसी दशा देखकर चारों ओर कोलाहल होने लगा। शीघ्र ही कृष्ण-सखा उद्धव उनके उपचार में लग गये। कुछ समय पश्चात् चेत होने पर वे राधा का नाम लेकर विलाप करने लगे। तब उद्धव उन्हें सेवा-कुंज ले आए। कृष्ण की इस प्रेम-विकलता को देखकर उद्धव ब्रह्मज्ञान द्वारा उन्हें सान्त्वना देने का प्रयत्न करते हैं किन्तु असफल रहे। इसी स्थान से श्याम-संदेश की कथा प्रारम्भ होती है।

तृतीय सर्ग—'श्याम-संदेश' में कृष्ण के संदेश का विशद वर्णन है। यशोदा और गोपियों के पास उद्धव को भेजते समय कृष्ण ने अपने हृदय को खोलकर रख दिया है। इनका संदेश परम्परागत निर्गुण ब्रह्म अथवा योग की चर्चा से दूर केवल हृदयगत भावों को ही लेकर चला है। कृष्ण के इस संदेश में उनका मानव हृदय विरही पुत्र तथा प्रेमी-का उद्घाटन है। वे परब्रह्म नहीं साधारण मनुष्य हैं।

माता-पिता, सखा सम्बन्धी तथा स्वजनों से दूर रहकर उन्हें जननी जन्मभूमि की याद आती है। उनके हृदय में भी मिलन की इच्छा और आतुरता है। किन्तु कर्तव्य की पुकार उन्हें सब कुछ सहने को विवश कर देती है।

यशोदा के प्रति सन्देश

यशोदा के संदेश में उनकी आकुलता और व्रज-प्रेम का वर्णन है। वे कहते हैं—यद्यपि मथुरा में मुझे सभी सुख और अधिकार प्राप्त हैं फिर भी सन्तोष नहीं। सखा सखियों का अभाव प्रतिक्षण बना ही रहता है। यहाँ का आदर भय मिश्रित है। उसमें सच्चे प्रेम का अभाव है। यहाँ न तो तुम्हारी भाँति कोई प्रतीक्षा करता है और न प्रेम भरे उपालम्भ ही सुनाई पड़ते हैं। तुम्हारी ममतामयी ताड़ना, क्रुद्ध होना और फिर प्रेम से हृदय लगा लेना जब याद आता है तो हृदय मचल उठता है। तुम्हारी प्रेम-भरी वाणी सुनने के लिए श्रवण व्याकुल हैं। तुमसे मिलने को हम आतुर हैं, तुम हमें भूलना नहीं।

गोपियों के प्रति संदेश

गोपियों के संदेश में कृष्ण के विरह का ही वर्णन है। अपनी शारीरिक व्यथा का वर्णन करते हुए कृष्ण कहते हैं—हमारे नेत्र गोपियों के दर्शन के लिए तड़प रहे हैं। गम्भीर नेह-नदी में चतुर केवट के बिना वे डूब रहे हैं। उनका चित्त पतंग की भाँति भ्रमित है, विरह समीर उसे झकझोर रहा है, कोमल शैया पर भी चैन नहीं। मैं इस दुख-कथा को किससे कहूँ, संसार में सभी उपहास करने वाले हैं। निराशा की नदी में जीवन मरण के बीच झोंके खा रहा हूँ। फिर भी साहस नहीं छूटा, प्रेम की टेक निबाहने के लिए—

आसा-गुन सौं बाँधि, लपिट बिसवास-पिछौरी।
विरह-सिला धरि सीस, हिये भरि ठसकि-ठगौरी॥
साहस सौं अति मेल करि, गही प्रनय की टेक।
नेह सिन्धु मैं डूबि गौ, प्रेम भरो मन एक॥

श्मा० सं० ५२

गोपी विरह के सदृश कृष्ण भी प्रकृति के रम्य दृश्यों को देख कर व्यथित हो जाते हैं। कोकिला की मधुरतान, भ्रमर की गुंजार और चन्द की शीतल चन्द्रिका उन्हें नहीं सुहाती। होली का पर्व भी अब भिन्न ही रूप से मनाया जाता है—

विरह अंगार संजोय, हियैं होरी-सी खेलत।
हौरा लौं अभिलाख लाख तामैं लै मेलत॥
तन ईंधन जायें धरयौ, नेह-कपूर जराय।
सुधि-गुलाल छिरकत फिरौं, धीर-अबीर उड़ाय॥
चोप-चांचरि रचौं॥ श्या० सं ६८

विरह की इस विषम व्यथा को भी कृष्ण लोक-कल्याण हित ही सह रहे हैं। कर्तव्य की पुकार उन्हें मथुरा में रहने को बाध्य कर रही है। इस कठिन परिस्थिति में राधा की स्मृति ही सहायक है। वह ही इस पथ का संबल है। राधा-कृष्ण का अनन्य प्रेम है। वे चन्द्र चंद्रिकावत एक ही है।

कृष्ण वियोग की कथा सुनते-सुनते उद्धव का जी ऊब गया किन्तु कृष्ण बार-बार उन्हें रोक लेते। अन्त में वे उठ कर खड़े हो गए कृष्ण भी उन्हें रथ तक पहुँचाने आये तो दूर तक साथ चले गए। बड़ी कठिनता से उद्धव ने उन्हें समझाकर लौटाया। जब तक रथ की ध्वजा दिखाई देती रही वे एकटक उसी ओर देखते रहे। जब केवल धूलि ही शेष रह गई तो दुखी चित्त से लौट आये। उनका हृदय तो रथ पर ही चला और केवल शरीर ही भवन में लौट सका। संक्षेप में यह 'श्याम संदेश' की कथा है।

निर्गुणब्रह्म तथा योग-संदेश—

श्याम-संदेश में निर्गुण ब्रह्म का उल्लेख गोपी संदेश के रूप में नहीं हुआ है। यहाँ उद्धव कृष्ण को ही अद्वैतवाद का उपदेश देते हैं। वस्तुतः श्याम-संदेश में परिस्थिति ही भिन्न दिखाई गयी है। यहाँ कृष्ण ही गोपियों के सदृश विकल हैं। उनको सांत्वना देने के लिये ही उद्धव अपने ज्ञान का बखान करते हैं। कृष्ण की इस प्रेम विकलता को देखकर वे कहते हैं—योगी होकर तुम उलटी चाल क्यों चल रहे हो। जब ब्रह्म तुम में, मुझ में और गोप-गोपियों में समान

रूप से व्याप्त हैं तब वियोग की बात ही क्या। लौकिकता को छोड़कर तुम अमंद ब्रह्मानंद के अलौकिक हार को पहन कर पूर्ण पुरुष बन जाओ। इस असार संसार में माया के कारण ही भेदभाव दिखाई पड़ता है अतएव मुक्त जन सदृश उस अलक्ष्य ब्रह्म का दर्शन कर परमानंद को प्राप्त करो।

उद्धव की यहाँ भी हार होती है। जिस प्रकार गोपियाँ उनके उपदेश को व्यर्थ समझती हैं उसी प्रकार कृष्ण भी उनके ब्रह्मज्ञान को हेय मानते हैं। प्रेम की महिमा का वर्णन करते हुए वे उद्धव से कहते हैं—

प्रेम नैम की छैम कहा ऊधौ तुम जानौ।
ताप सिरावन सुधा-सरित सौ विष-मय मानौ॥

श्या० सं० ६६

और राधा तो ब्रह्मस्वरूप है उसे देखते ही दृष्टि चकित और मति शिथिल हो जाती है।

किन्तु उद्धव उसी परम्परागत रूप से बार-बार कृष्ण को समझाते हैं तो अन्त में कृष्ण यही कहते हैं—

तुम गोपिन ढिग जाय आपुनो ग्यान बतावौ।
फेरि तहां तैं लौटि हमैं परिनाम जनावौ।
पीर-पुरे-हिय में तनिक, धीरज नेह लगाय।
गोपिनु, राधा, ग्वाल कौं, यहि आवौ समुझाय।
भजौ तुम ब्रह्म कौं। श्या० सं० ७२

रत्नाकर के उद्धव-शतक के कृष्ण ने इसी प्रकार उद्धव से कहा—

प्रेम-नेम निफल निवारि उर-अंतर तैं,
ब्रह्म-ज्ञान आनन्द-निधान भरि लै हैं हम।
कहै रत्नाकर सुधाकर मुखीन-ध्यान,
आंसुनि सौं धोइ जोति जोइ जरि लै हैं हम।
आवो एक बार धारि गोकुल-गली की धूरि,
तब इहिं नीति की प्रतीति धरि लैहैं हम।
मन सौं, करेजे सौं, स्रुवन-सिर आंखिनि सौं,
ऊधव तिहारी सीख भीख करि लैहैं हम॥ उ० श० १८

रत्नाकर के इस पद में जितनी विकलता, उमड़ और टीस है उतनी प्रथम पद में नहीं मिलती। रत्नाकर ने कृष्ण की विरह विकल मानसिक स्थिति का मार्मिक वर्णन किया है। उनके हृदय में जितना प्रेम और व्यथा है, जितनो टीस और पीड़ा है उसका वर्णन रत्नाकर ने जितना सुन्दर किया है उतना श्याम संदेश में नहीं मिलता।

भाषा-शैली

ब्रजभाषा की यह रचना नंददास की भवरगीत शैली पर लिखी गई है। नंददास की यह शैली सत्यनारायण द्वारा आधुनिक युग में ग्रहण की गई थी और दीक्षित जी ने इसे वर्तमान काव्य के उपयुक्त स्वीकार किया है।

श्याम-संदेश की ब्रजभाषा सरल एवं प्रवाहपूर्ण है। मुहावरों का प्रयोग भी स्थान-स्थान पर मिलता है। रचना प्रसाद एवं माधुर्य गुण-युक्त है।

काव्य-सौन्दर्य के लिए कवि ने अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक आदि अलंकारों का प्रयोग किया है। ये अलंकार स्वाभाविक रूप से आए हैं। कृष्ण अपनी विरह-व्यथा का वर्णन रूपक अलंकार द्वारा करते हैं—

तन तरुवर सौं झरें पात आसा के निसि-दिन।
नहिं संजोग-जल मिलै, फलै, फूलै क्यों ता बिन।
अभिलाषा पंछी उड़े, बहै वियोग-बयारि।
माधौ-मन-उपवन सदा, बस्यौ रहै पतझारि।
प्रकृति राधे बिना। श्या० सं० ६१

संतदास—संत रसिक

कृत भवरगीत का उल्लेख खोज रिपोर्ट सन् १९४४-४६ में मिलता है। भँवरगीत का प्रारम्भ-कवि ने गणेश वंदना से किया है।

गनपति गन मुष सुषसार
आनन्द करन जग विघन हरन पुन रिधि-सिधि दातार।
कलिजुग कवि जन कलप-लता कवि 'संत' विनायक चार।
अहिपुर, नरपुर सुरपुर अज हरि हर-पुर सुभ करतार॥ आरम्भ

तत्पश्चात् भँवरगीत रचना का उल्लेख किया है—

इति हरि उत वृषभानजा जुग पद सिर नाइ।
ध्यान आन मन भावते जुग आयुस पाई॥
भँवरगीत जुग प्रति हित रुचि गीत बनाई।
'संत रसिक' बरनैं विमल संतन सुखदाई॥ मध्य [1]

भ्रमरगीत की कथा कृष्ण-व्रज-स्मृति से आरम्भ होती है। एक दिन अचानक कृष्ण को व्रजस्मृति हो आई और उन्होंने उद्धव को व्रज जा कर समाचार लाने का आदेश दे दिया—

येक दिना प्रभु बैठि सुषासन गोपिन की सुधि आन कही है।
हे घ्रुग कवा प्रभुता सिगरी जोलौं व्रज की सुधि नाहि लही है।
ऊधौ बेगि हकाए कही व्रज जाव सखा मम काज सही है।
गोपिन के धन जीवन प्रान अधार रहे हम ही हैं।
जादिन हौं व्रज त्यागि कियौ उन मेरलि मग रोकि रही हैं।
नंद समेत सबै व्रज लोग जिया विरहानल ताप दही है।
ज्ञान विहीन दुषी कवि संतस्वईश्वर से पहिचान नहीं है।

कृष्ण उद्धव संदेश में कृष्ण की मानसिक स्थिति का भी कवि ने चलते ढंग से वर्णन कर दिया है। इतने दिनों तक व्रज सुधि न लेने के कारण कृष्ण को स्वयं दुख है। उनके हृदय में ग्लानि हो रही है। आज व्रजवासियों की दुखित अवस्था की कल्पना ने उनके हृदय को झकझोर दिया है। अतीत की स्मृतियों से प्रशान्त-हृदय उद्वेलित हो उठा। वे सोचने लगे मैं ही उनका जीवन-प्राण था किन्तु आज मुझे अपने बीच न पाकर वे कितनी दुखी होंगे। गोपियों के दुख की कल्पना के साथ ही उन्हें मथुरा का राज-वैभव भी तुच्छ और व्यर्थ जान पड़ने लगा अतः विरही व्रजवासियों का कुशल समाचार लाने के लिए उद्धव को व्रज भेज दिया और कहा स्वईश्वर की पहचान न होने के कारण ही व्रजवासी दुखी हो रहे हैं।

संत रसिक का सम्पूर्ण भ्रमरगीत अप्राप्त होने के कारण इसकी विस्तृत आलोचना सम्भव नहीं किन्तु उपलब्ध पंक्तियों के आधार पर यह जा सकता है कि रचना कला की दृष्टि से अत्यन्त साधारण कोटि की है।

१—खोज रिपोर्ट १९४४-४६

राजराजेश्वरीप्रसादसिंह—'प्यारे'

राजराजेश्वरीप्रसादसिंह शृंगार रस के प्रेमी कवि, सौन्दर्य प्रिय तथा कृष्ण भक्त थे। आपने भ्रमरगीत प्रसंग पर अनेक सवैयों की रचना की है। स्फुट रचना होने के कारण इसमें कथा का तारतम्य ढूँढना उचित नहीं है। कवि ने कुछ प्रसंगों, गोपी-विरह-व्यथा, पाती-प्रसंग, कुब्जा-प्रणय, योग-संदेश आदि पर मुक्तक रचना की है।

कृष्ण वियोग में दुखी गोपियों के हृदय में कृष्ण का प्रेम पत्र पाने की तीव्र उत्कण्ठा है। पत्र पाकर उनकी अवस्था कितनी बदल सकेगी—दुख कितना कम हो जायेगा इसका उल्लेख करती हुई एक सखी कहती हैं—

हिय लेती लगाय सुधीरज को करि देती बिना दुख की छतियाँ।
विकसाती कली मन की मुकुली, रसती रसना रस की बतियाँ॥
तन पीरौ करि देती हरो, जगती न बितातो सबैं रतियाँ।
हियारों को हरा हँसि देतीं अभी सखि पाती जुपै हरि की पतियाँ॥
रा० रा० ३८

इसी लालसा से उन्होंने कृष्ण को अनेक पत्र भेजे किन्तु प्रतीक्षा में दिन और मास बीतते ही गए। एक दिन जीवन से निराश हो, एक गोपी ने पवन को दूत बनाकर अपने प्रियतम के पास दो शब्दों का यह संदेश कहला भेजा—

घूमो करो बिन रोक के टोक के, चारौ दिसान करौ नित फेरी।
ऐ एसौ नहीं जग ठोर कहूँ, कोउ होत न प्यारे जहाँ गति तेरी।
पाँव परौ कर जोर कहौं, अहै तेरि ही आस दसौ दिसि हेरी।
पौन जो गौन करौ मथुरा कहि दीजिये लाल सौं पालगी मेरी॥
रा० प्र० पद २८

पवन दूत की यह कल्पना राजेश्वरी की मौलिक सूझ है। हरिऔध की राधा ने पवन द्वारा जो विस्तृत संदेश भेजा है उसकी प्रेरणा सम्भवतः इनसे ही प्राप्त हुई हो। गोपी का 'पालगी' का संदेश ही आगे चलकर रत्नाकर द्वारा तनिक परिवर्तन द्वारा अधिक मार्मिक बन गया है।

कृष्ण संदेश-उत्सुक गोपियां अनन्त प्रतीक्षा के पश्चात् एक दिन प्रियतम का पत्र पाती है किन्तु उनकी अपनी कल्पना के अनुसार वे अपने पीले शरीर को हरा न बना सकी। कृष्ण के इस लिखित संदेश का उनके लिए महत्व भी क्या था। वे उद्धव से बोली—

बातैं बनवाते आवते ना, केहि आस पै धीर हिये धरि हौं।
औध कितेक न बीत गए, दिन द्वैक में बीस बिसे मरिहौं॥
आइ है 'प्यारे' न काम कछू यह पाती लै हाथ कहा करिहौं।
कागद की भला नाव सों का या वियोग के सागर को तरिहौं॥
रा० प्र० सवैया ३४

यहाँ तो मिलन ही उपचार है तो पत्र से क्या बन सकता है। कागज की नाव की कल्पना द्वारा जहाँ एक ओर गोपियों के योग संदेश की निरर्थकता की ओर संकेत किया वहीं विरह सागर में डूबती अपनी विकट परिस्थिति की ओर भी उद्धव का ध्यान आकृष्ट किया है। कृष्ण ब्रज क्यों नहीं आते और पत्र क्यों नहीं भेजते इसका कारण भी उन्हें ज्ञात हो गया है। कुब्जा-संयोग सुख में ही वे गोपियों को भुला बैठे हैं। कुब्जा का ध्यान आते ही उनके हृदय में ईर्षावश घृणा और निराकार की भावना उत्पन्न होती है सपत्नी भाव के कारण वे कुब्जा पर व्यंग्य करती हैं, उसका उपहास करती हैं—

पाती पठाय कै हारि गईं, वह बात हू आवन की न चलावै।
कूबर देखि लट्टू भये लालन, जोग पठाय कै धीर धरावै॥
चाहती जो कवि प्यारे मिलैं, यह सीख हमारी सुनौ जो बतावै।
या तजि और उपाय नहीं, हमहू सखि कूबर रूप बनावैं॥
रा० प्र० सवैया ४०

गोपियों के इस कथन में कुब्जा के विकृतांग के अतिरिक्त कृष्ण की कुरुचि पर भी छींटे कसे गये हैं। कुब्जा की प्रणय-गाथा उनके हृदय में कांटे की भांति खटकती हैं। उन्हें अतीत के वे दिवस और चाँदनी रातें स्मरण हो आईं जब वे कृष्ण प्रेम में आत्मविभोर हो मुरली की एक धुनि पर अपना तन-मन न्यौछावर कर चुकी थीं। उन्हें न लोक लाज का भय था न कुल कलंक की चिन्ता। किन्तु इस त्याग इस आत्म-समर्पण का उन्हें क्या फल मिला आज यही विचार उनके हृदय में बार-बार घूम रहा है—

डौड़ी फिरी हमरी जग प्रीति की, लौड़ी तऊ पटरानी भई।
राο ग्रο सवैया ४२

उद्धव के योग संदेश को सुनकर गोपियों ने बड़ी सरलता से कहा—हम तो कृष्ण की आज्ञाकारिणी दासी हैं वे जो कुछ आज्ञा देंगे उन्हें बिना तर्क के स्वीकार कर लेंगी किन्तु तुम्हारे इस योग संदेश को हम कैसे ग्रहण करें हमारा मन तो कहना ही नहीं मानता। तुम कहते हो कृष्ण अन्तर्यामी हैं घट-घट में निवास करते हैं तो वे क्यों नहीं प्रकट होकर इसे समझा देते—

चेरी अहौं तेरी काहू भाँति न उजुर मोहि,
करहौ अवसि जौन हुकुम लगाय दे।
विनती अहै पै एक सुनि के सु 'प्यारे,'
ताहि अबला अजानि नीकै बुझाय दे।
कैसे गहौ जोग केहि भाँति के सनेह तजौं,
एकहु उपाय तो सहाय ह्वै बताय दे।
मन ही न मानै हाय मन ही ते होत सब,
मन में बसत तू ही मन को मनायदे।
राο ग्रο सवैया ८

गोपियों की इस विवशता तथा हृदय की उद्दंडता का उल्लेख अनेक पूर्ववर्ती कवियों ने किया है। यहाँ गोपियों ने अपने भोलेपन में जिस परवशता का वर्णन किया है उसके द्वारा उनके प्रेम की दृढ़ता के साथ ही निर्गुण ब्रह्म की सर्वव्यापकता पर भी आक्षेप किया है। वे घट-घट वासी पर ब्रह्म में विश्वास नहीं करती है।

पूर्ववर्ती भ्रमरगीत कारों की भाँति राजेश्वरीप्रसाद ने भी योग की अपेक्षा विरह को अधिक महत्व दिया है। सूर की गोपियों के सदृश इनकी गोपियाँ भी वियोगावस्था की योगियों से तुलना कर प्रेम विरहिणियों की श्रेष्ठता प्रतिपादित करती हैं। गोपियों की विरह-साधना योग साधना से किसी भी प्रकार हेय नहीं है—

बिन मृगछाला बैठि प्रेम के दृढ़ासन पै,
आसु जप-माल गिनि गुन गन गानौ है।
विरह-खबारि हिय दहिबौ दबारि बिनु,
सीतल उसास मिस अंगन कपानौ है।

रहिबो मगन निसिद्योस धरि प्यारे ध्यान,
विघन चवाव भीति चित न डिगानो है।
संग रहि सुनो ऊधो घर ही वनैवो बन,
जोगिन ते कठिन वियोगिनी को बानो है।
रा० प्र० कवित्त १०

गोपियाँ प्रेम के दृढ़ासन पर आँसुओं की माला लेकर कृष्ण के गुणगान का जाप करती हुई विरहाग्नि में तप्त हो रही हैं। शीतल उसास के व्याज से उनके अंग काँप रहे हैं। कृष्ण को तल्लीन कर देने वाली स्मृति ही समाधि अवस्था है। लोकापवाद का सहन करना ही चित्त की दृढ़ता है इस प्रकार गोपियों ने घर के अन्दर ही योगियों से भी कठिन प्रेम वियोगिनी का वेश धारण किया है।

योग की विषम चर्चा के पश्चात् गोपियाँ उद्धव से कहती हैं तुम कृष्ण से कहो यहाँ आकर हमें दर्शन दें। यदि वे अब हमारे प्रियतम नहीं बनना चाहते हैं तो गुरु बन कर ही आ जावें—

जिनके हित गोकुल गांव तज्यो, तिनको जरा जोग सिखलाइये तो।
तब जान परेगी अभोग की नाही, हमारी कही अजमाइये तो।
हम छोटी हैं छोटी हू बुद्धि अहै, इत आइ के रीति बताइये तो।
बनि के पिय जो नहिं आइ सको, गुरु बनि के मिलि जाइये तो।
रा० प्र० सवैया ३३

इस व्यंग्य-उपालम्भ और हास-परिहास के पश्चात् एक दिन उद्धव मथुरा के लिए तैयार हो गए—गोपियाँ इस अवसर पर पत्र भेजने का मोह संवरण न कर सकी। उन्होंने अपने दुख-पूर्ण उद्‌गारों को भाषा का रूप प्रदान किया। किन्तु जब उद्धव चलने लगे उनके हृदय में अनेक प्रकार के मिश्र भाव जागृत हो गए। उन्होंने सोचा कहीं हमारी वियोग व्यथा सुन कर कृष्ण बिना कार्य किये ही न लौट आंए अतः कर्तव्य की बलिवेदी पर वे अपने प्रणय को न्यौछावर कर देती हैं। उनका प्रेम प्रियतम के कर्तव्य-पथ का व्यवधान न बन जाय अतः वे उद्धव से निवेदन करती हैं—

चूक भइ हमसों छमिया यह पाती कृपा करि दो हमें फेरी।
यामें लिखी है वियोग कथा निशि द्यौस जो बीतत मेरे सिरेरी।

'प्यारे' जू ह्वै हैं दुखी सुनि कै चले आइ हैं वे बिनु काज करेरी।
हाल न मेरी कछू कहियौ, कहि दीजियौ लाल सौं पालगी मेरी।
रा० सवैया ४१

कर्तव्य-पालन की इस भावना का चरम-उत्कर्ष हरिऔध की राधा में दिखाई पड़ता है जो प्रियपथ की अनुगामिनी बनने के लिए चिर-कौमार्य और लोक-सेवा का व्रत लेती हैं।

कृष्ण को पत्र न भेजने का दूसरा कारण गोपियों के प्रेम का वह आदर्श है जिसमें प्रेम की विरहाग्नि में स्वतः दग्ध होता हुआ प्राणी प्रेम-पात्र को दुखी नहीं करना चाहता है। अतः वे उद्धव से कहती हैं—

हौं तौ नहीं अनबूझ कछू, तुम ही कहौ काह तुम्हें समझावैं।
हाल हमारी छिपी है नहीं, जग जाहिर जौन सो काह जतावैं॥
और हू ह्वै हैं दुखी सुनि के, किहि काज वियोग कहानी सुनावैं।
देखत जौन हौ सौ कहियौ, सुकहा हम उत्तर ऊधौ बतावैं॥
रा० प्र० सवैया ३५

रत्नाकर की गोपियों ने भी कुछ इसी प्रकार का संदेश भेजा है—

नंद जसुदा औ' गाय गोप गोपिका की कछू,
बात वृषभान-भौनहू की जनि कीजियौ।
कहै रत्नाकर कहति सब हा हा खाइ,
ह्यां के परपंचनि सौं रंच न पसीजियौ।
आंसु भरि ऐहै औ' उदास मुख ह्वै है लय,
व्रज-दुख-त्रास की न तातैं सांस लीजियौ।
नाम कौ बताइ औ' जताइ गाम ऊधौ बस,
स्याम सौं हमारी राम राम कहि दीजियौ। उ० श० ६५

इन दो कारणों के अतिरिक्त पत्र न भेजने का एक अन्य कारण भी है—वह है मान। कृष्ण जब स्वयं गोपियों की दशा से परिचित होकर भी ध्यान नहीं देते तो फिर वे उन्हें क्यों अपने कष्टों की कथा सुनावें। कृष्ण तो उसी व्यक्ति के सदृश हैं जो जाग कर निद्रित होने का बहाना कर रहा है। भला इस प्रकार के व्यक्ति को कैसे जगाया

जा सकता है। इस विचार के कारण वे उद्धव से कह देती हैं हम तुम्हें क्या उत्तर दें तुमने जो कुछ देखा है उसी का वर्णन कर देना। गोपियों के इस कथन में व्यंग्य के साथ ही उनके पीड़ित हृदय की व्यंजना है—

जानै हमारी दसा न कहा, अनजान जो होय तो ताहि जनावैं।
सोवते को तो जगावैं सबै, पर जागत को नहिं 'प्यारे' जगावैं।
हाल हमारी छिपी ही नहीं, तुमहू भलै जानत काह बुझावैं।
देखत जौन हो सो कहियौ, हम कौन सो उत्तर ऊधौ बतावैं।
रा० प्र० सवैया ३६

गोपियों के इन विभिन्न मनोभावों के चित्रण में कवि ने मनोविज्ञान का पूर्ण आश्रय लेकर उक्ति-स्वाभाविकता का भली प्रकार निर्वाह किया है। विरहावस्था में इस प्रकार के उद्‌गारों का उठना अस्वाभाविक नहीं है। प्रायः हमारा एक कार्य अनेक मिश्र भावनाओं का परिणाम होता है। उद्धव से कृष्ण प्रेषित पत्र लौटा लेने में भी विरहिणी के विभिन्न भावों का मिश्रण हैं।

राजराजेश्वरी प्रसाद की इस मुक्तक रचना के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि में मौलिक उद्‌भावनाओं की अपूर्व प्रतिभा है। पवन-दूत तथा संदेश-कल्पना जो प्रियप्रवास तथा उद्धव शतक में मिलती है उसका मूल रूप राजेश्वरी प्रसाद की रचना में वर्तमान है। शृंगारिक कवि होते हुए भी, इनकी रचना में विलासजन्य ऐन्द्रिय-प्रेम के स्थान पर पवित्र प्रेम की छाप है।

कवि ने रीतिकालीन कवित्त सवैयों की मुक्तक शैली में अपनी रचना की है। भाषा में भी कवि ने चयन-सिद्धान्त का पालन किया है। आपने प्रचलित शब्दों का प्रयोग कर भाव को हृदयग्राह्य बनाने का प्रयत्न किया है। कवि ने काव्य-सौन्दर्य के निमित्त अलंकार साधना नहीं की है किन्तु इनके रचना में स्वतः प्रयुक्त शब्दालंकार एवं अर्थालंकारों का पूर्ण अभाव भी नहीं है। राजराजेश्वरी प्रसाद यदि अभाग्यवश इतनी शीघ्र कालकवलित न हुए होते तो निश्चय ही उनकी प्रतिभा का और भी अधिक विकास होता और सम्भवतः तब भ्रमरगीत पर और अधिक छन्द उपलब्ध हो सकते।

————

नवम् अध्याय

भ्रमरगीत परम्परा का विकास-सूत्र एवं मूल्यांकन

१—(क) घटना विकास
- १—उद्धव-ब्रजागमन-कारण
- २—पाती-प्रसंग
- ३—भ्रमर-प्रवेश
- ४—मूलभाव का विकास

२—मूल्यांकन
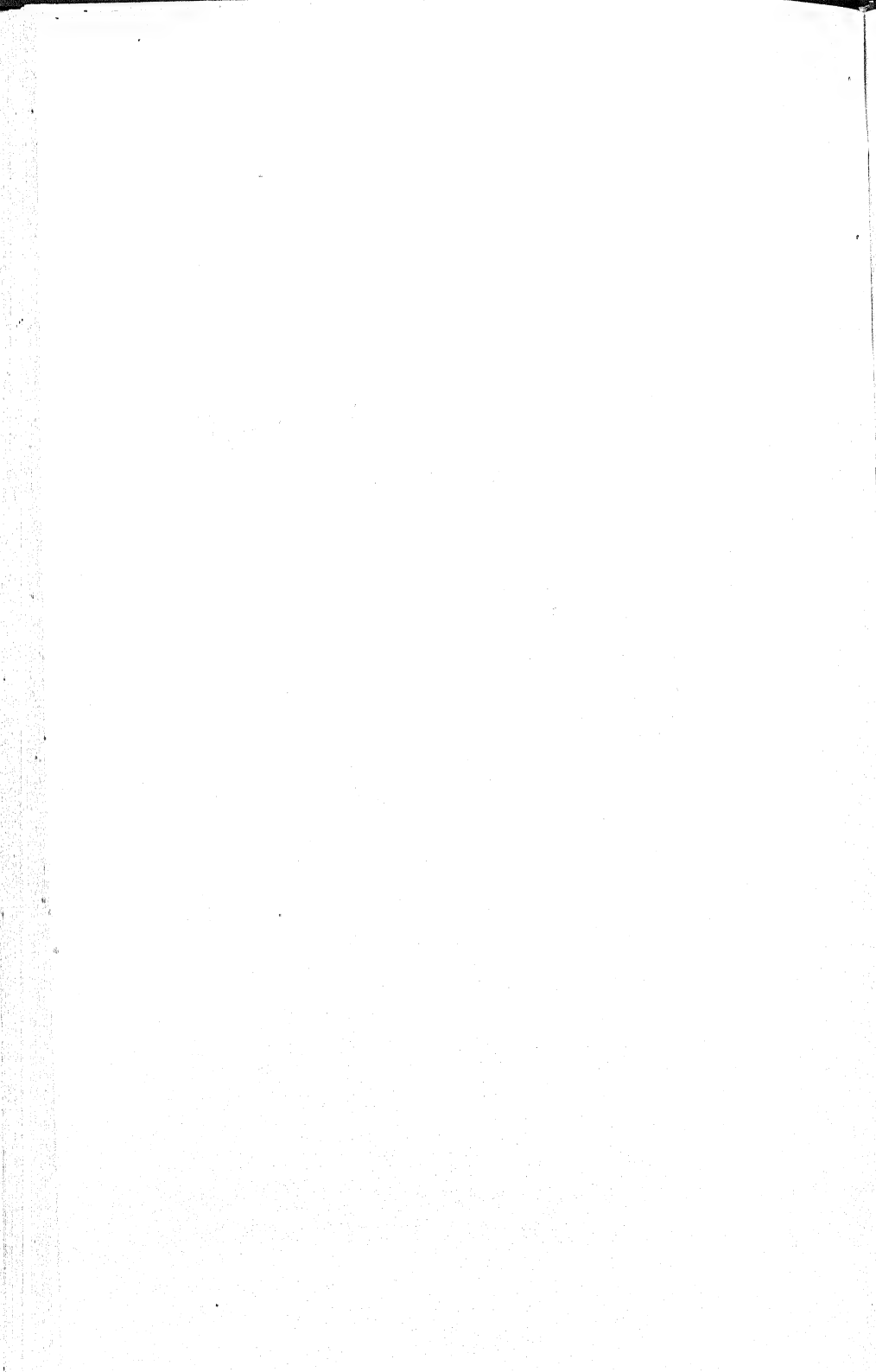
भ्रमरगीत-परम्परा का विकास-सूत्र

पिछले पृष्ठों में भ्रमरगीत परम्परा सम्बन्धी समस्त उपलब्ध काव्य के विवेचन एवं विश्लेषण का प्रयत्न किया गया है। इस अध्याय में भ्रमरगीत-परम्परा के विकास-सूत्र पर विचार किया जायेगा अर्थात् यह परम्परा किस मुख्य सूत्र को लेकर चलती और भविष्य में उसका विकास किस रूप में हुआ है। यह तो पूर्व ही लिखा जा चुका है कि हिन्दी साहित्य में भ्रमरगीत परम्परा का सूत्रपात भागवत के आधार पर हुआ है। भागवत में यह कथा दो अध्यायों में वर्णित है। कथा का सार यह है कि एक बार कंस के निमंत्रण पर कृष्ण नंद तथा बलराम के साथ मथुरा जाते हैं वहाँ वे कंस का बध कर अपने माता-पिता देवकी और बसुदेव को बन्धन मुक्त कर वहीं रहने लगते हैं। इधर प्रतिक्षण उनकी प्रतीक्षा करती हुई यशोदा और गोपियाँ जब नंद को अकेला आता देखती हैं तो उनकी दशा बड़ी ही दयनीय हो जाती है फिर भी अवधि आशा में बंधी वे उनका मार्ग देखती ही रहती हैं। धीरे-धीरे दिन, मास और वर्ष व्यतीत हो गये किन्तु न कृष्ण आए, न कोई संदेश ही आया। दूसरी ओर मथुरा में कृष्ण गुरु-गृह चले गये थे। वहाँ से लौटते ही उन्हें ब्रज की स्मृति हो आई और उन्होंने अपने प्रिय सखा उद्धव को संदेश देकर भेज दिया। उद्धव ने गोपियों को कृष्ण का संदेश सुनाया। इसी बीच एक गुंजार करते हुए भ्रमर को लक्ष्य कर गोपियों ने अन्योक्ति द्वारा कृष्ण के निष्ठुर स्वरूप पर खूब व्यंग्य किए और प्रेम-भरे उपालम्भ दिए। उद्धव ने गोपियों को कृष्ण के ब्रह्मस्वरूप का उपदेश देते हुए छः मास वहीं बिता दिए और एक दिन वे सबको सांत्वना देकर मथुरा लौट गए। गोपियाँ भी इस उपदेश से परम सन्तुष्ट हुईं।

हिन्दी साहित्य में भागवत की यह संक्षिप्त कथा विभिन्न एवं विशद रूपों में मिलती है। कथा का यह विकास कवि की प्रतिभा एवं परिस्थिति के अनुकूल होता गया है हिन्दी साहित्य के प्रथम भ्रमर

गीतकार सूरदास ने ही इस कथा को अनेक रूपों में अति विकसित एवं विस्तृत रूप प्रदान किया है। यह विकास दो रूपों में दिखाई पड़ता है—प्रथम घटना विकास और दूसरा मूल भाव का विकास।

घटना-विकास

भ्रमरगीत की घटना अत्यन्त साधारण और संक्षिप्त है। इसमें विशेष उलट-फेर करने का स्थान नहीं है किन्तु जैसे महाकवि तुलसीदास ने राम-कथा के मूल भाव की रक्षा करते हुए भी रामचरित-मानस में अनेक प्रसंगों का वर्णन पूर्व कवियों की रचनाओं से भिन्न रूप में प्रस्तुत किया है उसी प्रकार भ्रमरगीत सदृश लघु प्रसंग में भी सूरदास ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। सूरदास ने भ्रमरगीत की आत्मा की रक्षा करते हुए इसके स्वरूप का विकास किया है जो अधिक स्वाभाविक एवं आकर्षक है। सूर के पश्चात् परवर्ती कवियों ने भी इस छोटे से प्रसंग में अनेक मौलिक उद्भावनाएँ की हैं। कृष्ण-हृदय में व्रजस्मृति की जागृति एवं उद्धव के मथुरा भेजने की कथा भी अनेक रूपों में वर्णित है। भागवत में गुरु-गृह से आकर कृष्ण को व्रज-स्मृति हो आती है। किन्तु सूर के कृष्ण प्रतिक्षण व्रज की ही बातें सोचते हैं। उद्धव की ज्ञान-चर्चा उनकी स्मृति को और भी तीव्र कर देती है। नीरस मित्र का सम्पर्क उनके मधुमय जीवन को कटु बना देता है अतः उद्धव को प्रेमाभक्ति में रंग जाने के उद्देश्य से ही वे उद्धव को व्रज भेजते हैं किन्तु इस रहस्य को वे उद्धव के सम्मुख प्रकट नहीं करते। इस प्रकार ज्ञान पर भक्ति और निराकार निर्गुण के स्थान पर साकार-सगुण ब्रह्म की महत्ता प्रदर्शन करना समस्त भ्रमरगीतों का मूलाधार एवं प्राथमिक उद्देश्य रहा है। किन्तु कालान्तर में परि-स्थिति की भिन्नता के कारण अनेक कवियों ने इस प्रसंग में कुछ परि-वर्तन कर दिये हैं। फलस्वरूप व्रज-स्मृति का कारण मथुरा के व्यस्त जीवन से व्रज न आ सकना ही है। कृष्ण मथुरा की राजनीति में इस प्रकार उलझ गए हैं कि वे इच्छा रहते हुए भी व्रज नहीं जा सकते। इस विवश स्थिति में वे व्रजजनों की सांत्वना के निमित्त अपने परम ज्ञानी मित्र उद्धव को व्रज भेज देते हैं। इस प्रकार के घटना विकास में आधुनिक राष्ट्रीय-भावना का आग्रह है साथ ही कृष्ण के दिव्य स्वरूप की अपेक्षा उनके लोकनायक रूप का उद्घाटन भी।

रत्नाकर ने ब्रजस्मृति के इसी प्रसंग का विकास और भी नवीन ढंग से किया है। प्रायः हम अपने व्यस्त जीवन में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि पूर्व जीवन पर विचार करने का अवसर ही नहीं मिलता किन्तु कभी कोई वस्तु अथवा घटना हमें झकझोर कर उसका स्मरण करा देती है। उस समय मनुष्य की स्थिति उस शान्त सरोवर की भाँति होती है जिसे कोई कंकड़ फेंक कर तरंगित कर देता है। जगन्नाथदास रत्नाकर ने उद्धव-शतक में ब्रजस्मृति-प्रसंग को इसी प्रकार चित्रित किया है। कृष्ण के व्यस्त जीवन में ब्रजस्मृति जाग्रत करने के लिए रत्नाकर ने यमुना स्नान और कालिंदी में बहते कमल की कल्पना की है। एक बार कृष्ण उद्धव के साथ यमुना स्नान के लिए गए। वहाँ जल में बहते एक मुरझाए कमल को ज्योंही वे नासिका के पास लाए उन्हें अपने विरह में तड़पती म्लान मुखी राधा का स्मरण हो आया। इस प्रेमावेग में बह कर कृष्ण अपनी चेतना भी खो बैठे। कृष्ण की ऐसी दशा देखकर उद्धव ने अनेक उपचार किए किन्तु सभी असफल रहे। अकस्मात एक कीर के मुख से राधा का नाम श्रवण कर वे पुनः चेतनावस्था को प्राप्त हुए। रत्नाकर की यह कल्पना मौलिक होने के साथ ही अति मधुर, प्रभावपूर्ण एवं नाटकीय तत्व से युक्त है—

न्हात जमुना में जलजात एक देख्यौ जात,
जाकौ अध-अरध अधिक मुरझायौ है।
कहै रत्नाकर उमहि गहि स्याम ताहि,
बास-बासना सौं नैंकु नासिका लगायौ है॥
त्यों हीं कछु घूमि घूमि भूमि बेसुध भए के हाय,
पाय परे उखरि अभाय मुख छायौ है।
पाए घरी द्वैक में जगाइ ल्याइ ऊधौ तीर,
राधा-नाम कीर जब औचक सुनायौ है॥
उ० श० १

डा० श्यामसुन्दरलाल दीक्षित ने इस स्मृति-जागरण-प्रसंग को पूर्णतः नवीन रूप में रखा है। श्याम-संदेश के अनुसार असुरों के विनाश के पश्चात् मथुरा में स्वतन्त्रता दिवस मनाने का आयोजन किया गया है। इस पुण्य अवसर पर कृष्ण के बाल जीवन को नाट्य रूप में प्रस्तुत करने का भी आयोजन है। रंगभूमि में सभी व्यक्ति कृष्ण के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं और ज्योंही वे रंगभूमि में

पहुँचते हैं रासलीला का दृश्य आरम्भ होता है। रास के सुमधुर अवसर पर गोपी गर्व मर्दन के लिए कृष्ण अदृश्य हो जाते हैं और गोपियाँ विकल होकर विलाप करने लगती हैं। रंगमंच पर विलाप करती गोपियों को देखकर उन्हें अतीत के साथ ही वर्तमान की घटना भी स्मरण हो आई। उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि आज भी ब्रज बालाएँ उनके वियोग में इसी भांति तड़प रही हैं—यह अभिनय नहीं जीवन का कटुसत्य है। इस एक दृश्य से कृष्ण की विचित्र दशा हो गई—

करुन-कथा की विथा उठी उर में अति पीरें।
माधव-मन-अभिराम विरह की चिनगीं घीरें।
ऊरध-लेत उसांस लों, झुकि झूमत मुरझात।
धँसकति धीर-धरा सबै, चेतनता चलि जात॥

श्याम व्याकुल भये। श्याम संदेश

प्रायः अधिकांश कवियों ने—जिन्होंने भ्रमरगीत प्रसंग को उद्धव-गोपी-संवाद रूप में लिखा है—ब्रज-स्मृति प्रसंग को छोड़ दिया है। ब्रज-स्मृति प्रसंग के पश्चात् उद्धव मथुरा गमन एवं गोपी-उद्धव-मिलन का प्रसंग आता है जिसका वर्णन भी विविधरूपों में मिलता है। सूरदास ने इस एक प्रसंग का अनेक रूपों में वर्णन किया है। एक स्थल पर भागवत के अनुसार यमुना-स्नान से लौटते समय वे उद्धव के दर्शन करती हैं—

देखौ नंद-द्वार रथ ठाढ़ौ।
बहुरि सखी सुफलक सुत आयौ, पर्यौ संदेह जिह गाढ़ौ॥
प्रान हमारे तबहिं लै गयौ, अब किहिं कारन आयौ।
मैं जानी यह बात सुनत प्रभु, कृपा करन उठि धायौ।
इतने अन्तर आइ उपंग सुत, तेहि छन दरसन दीन्हौ।

सूरदास। ४०६६

किन्तु एक अन्य स्थल पर गोपी उद्धव-मिलन भिन्न परिस्थिति में होता है। प्रतिदिन कृष्ण का मार्ग देखने वाली गोपियों को एक दिवस दूर से एक रथ आता दिखाई पड़ा। यह देखकर राधा सखियों को रथ दिखाती हुई बोली—

है कोउ वैसी ही अनुहारि।
मधुबन तन तैं आवत सखि री, देखो नैन निहारि।
वैसोइ मुकुट मनोहर कुण्डल, पीत बसन रुचिकारि।
वैसहिं बात कहत सारथि सौं ब्रज तन बाँह पसारि। सूर० ४०७७

मिलन की तीव्र उत्कण्ठा से आतुर राधा और गोपियाँ अपनी आशा के विपरीत देखती हैं कि यह उनके मनरंजन कृष्ण नहीं वरन् उद्धव हैं तो वे खड़ी न रह सकीं और मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ीं।

संक्षिप्त भ्रमरगीत में उद्धव-गोपी मिलन का वर्णन उद्धव संदेश द्वारा किया गया है। उद्धव की वाणी सुनकर उन्हें मनभावन कृष्ण का भ्रम हो गया। इसका वर्णन सूरदास ने निम्न पंक्तियों में किया है—

ऊधौ कौ उपदेस सुनौ किन कान दै।
हरि निर्गुन संदेस पठायौ आन दै।
कोउ आवत उहिं ओर जहाँ नंद-सुवन पधारे।
वहै बेनु-धुनि होइ, मनौ आए ब्रज प्यारे।
धाईं सब गलगाजि कै, ऊधौ देखे जाइ।
लै आईं ब्रजराज गृह, आनँद उर न समाइ। सूरसागर ४७१३

सूर के परवर्ती कवियों ने इन्हीं में से किसी प्रसंग के अनुकूल उद्धव-गोपी मिलन का वर्णन किया है। 'हरिऔध' ने उद्धव-राधा-मिलन प्रसंग को नाटकीय रूप प्रदान किया है। उद्धव प्रातःकाल यमुना स्नान करने जाते हैं तो मार्ग में उन्हें रासलीला का अपूर्व दृश्य दिखाई पड़ता है—रासलीला हो रही है—कृष्ण के चरणों के निकट एक नारी बैठी है। जब वे स्नान कर यशोदा के पास आए तो उन्होंने देखा कि यशोदा के पास वही नारी बैठी है जिसका उन्होंने मार्ग में दर्शन किया था। इसी समय यशोदा ने राधा का उद्धव से परिचय कराया। इस प्रकार कवि ने उद्धव-राधा-मिलन प्रसग में अपूर्वता लाने का सफल प्रयास किया है।

प्रायः कवियों ने इस प्रसंग को छोड़ दिया है उनका भ्रमरगीत उद्धव-गोपी संवाद रूप में ही आरम्भ होता है। मिलन का यह रूप भी सूरदास के संक्षिप्त भ्रमरगीत में वर्तमान है।

पाती प्रसंग

पाती-प्रसंग सूरदास की मौलिक कल्पना है। भागवत में मौखिक संदेश का ही उल्लेख है। सूरदास ने गोपियों द्वारा प्रेषित पत्र का उल्लेख दो बार किया है—एक तो उद्धव के पूर्व, दूसरा उद्धव के आने के पश्चात्। उद्धव के आने के पूर्व गोपियाँ पथिकों से केवल मौखिक संदेश ही नहीं भेजती थीं। वहाँ तो यह दशा थी कि—

संदेसनि मधुवन कूप भरे। सूरसागर।

गोपियों के इन पत्रों का उत्तर कृष्ण ने भी दिया। सूरदास ने यहाँ कृष्ण के पत्र के अतिरिक्त अन्य पत्रों का वर्णन कर इस प्रसंग को अति विशद् बना दिया है। कृष्ण नंद-यशोदा और गोपियों के पास संदेश भेजते हैं। वसुदेव-देवकी और बलराम भी नंद-यशोदा को पत्र लिखते हैं। उद्धव के व्रजागमन को सुनकर कुब्जा भी गोपियों के नाम पत्र भेज देती है। इन पत्रों का विषय प्रायः एकसा है। कृष्ण माता-पिता को सांत्वना के निमित्त संदेश भेजते हैं। गोपियों को विरह-सागर से पार होने के निमित्त योग-साधना द्वारा निर्गुण ब्रह्म-उपासना का मृत्यु तुल्य संदेश भेजा गया है। पत्रोत्तर में उद्धव के मथुरा जाते समय गोपियाँ तथा यशोदा अनेक मौखिक एवं लिखित संदेश भेजती हैं। बगसी हंसराज तथा चन्द्रभानुसिंह 'रज' आदि की गोपियाँ तो बहुत ही लम्बे-लम्बे पत्र भेजती हैं।

दूत

पाती-प्रसंग के साथ ही दूत की कल्पना भी की गई है। भागवत में तो भ्रमर श्रीकृष्ण के दूत का प्रतीक है। नंददास ने भी इस प्रतीक का उल्लेख किया है। अन्य कवियों ने पवन-दूत की भी कल्पना की है। बगसी हंसराज तथा हरिऔध की गोपियाँ पवन द्वारा संदेश भेजती हैं। प्रकृति का यह मानवीकरण भ्रमरदूत के पूर्व संस्कृत साहित्य में दिखाई पड़ता है। महाकवि कालीदास ने भी मेघदूत की कल्पना की थी। पवनदूत की यह कल्पना प्रियप्रवास में अत्यधिक मर्यादित रूप में व्यक्त की गई है।

भ्रमर-प्रसंग

उद्धव-गोपी-संवाद के मध्य भ्रमर प्रवेश का उल्लेख भागवत में भी हुआ है। सूरदास ने इसी रूप में उसका वर्णन किया है—

इहिं अन्तर मधुकर इक आयौ।
निज स्वभाव अनुसार निकट ह्वै, सुन्दर सब्द सुनायौ॥
पूछन लागीं ताहिं गोपिका, कुबिजा तोहिं पठायौ।
कीधौं सूर-स्याम सुन्दर कौं, हमें संदेसौ लायौ॥

सूरसागर। ४११५

नंददास ने भ्रमर-प्रवेश का वर्णन उसी रूप में किया है किन्तु उनकी भ्रमर कल्पना सूर से भिन्न है। नंददास के अनुसार उद्धव का मन ही मधुकर बन गया है। जो गोपियों की प्रेमाभक्ति से प्रभावित हो उनके चरण स्पर्श करना चाहता है—

मनु मधुकर ऊधव भयौ, प्रथमहिं प्रगट्यौ आनि।
मधुप को भेस धरि। भँ० गी० नंददास

हरिऔध ने प्रियप्रवास में भ्रमर-प्रसंग का उल्लेख किया है किन्तु वहाँ पर उसका वर्णन भ्रमरगीत—भावना के अनुरूप नहीं हैं—वह उस प्रतीक रूप में नहीं प्रयुक्त हुआ जिस रूप में भ्रमर का प्रयोग भ्रमर-गीत में होता है।

सत्यनारायण कविरत्न ने भ्रमरदूत में भ्रमर-प्रवेश के अवसर पर पूर्व-वर्ती कवियों से भिन्न कल्पना की है। यहाँ भ्रमर कृष्ण का दूत नहीं वरन् स्वयं कृष्ण ही है जो माता के संदेश को सुनने के लिए आ गए हैं—

बिलपति कलपति अति जबै, लखि जननी निज स्याम।
भगत-भगत आये तबै, भाये मन अभिराम
भ्रमर के रूप में॥

भ्रमरदूत

अन्य कवियों ने उद्धव-गोपी-मिलन प्रसंग की भाँति भ्रमर-प्रवेश-प्रसंग का भी उल्लेख नहीं किया है। ऐसा प्रायः उन्होंने किया है जिन्होंने भ्रमरगीत पर मुक्तक रचनायें की हैं। मुक्तक रूप में लिखी इन रचनाओं के अतिरिक्त कृष्ण-चरित्र प्रबन्ध रूप में भी लिखा गया। अतः उन भ्रमरगीतों में जो कृष्ण चरित के अंश रूप में उपलब्ध हैं भ्रमर-प्रवेश का वर्णन मिलता है।

भ्रमरगीत के इस विकास पर विचार करते समय यह स्पष्ट हो जाता है कि भ्रमरगीत में घटना-विकास के लिए अधिक स्थान नहीं था। किसी महान घटना के अवसर पर छोटी-छोटी घटनाओं का भी अनेक रूप में वर्णन किया जा सकता है परन्तु भ्रमरगीत की संक्षिप्त घटना में विकास के लिए स्थान नहीं है। किन्तु भ्रमरगीत की मुख्य कथा 'गोपी-उद्धव वार्तालाप एवं कृष्ण-संदेश' की रक्षा करते हुए भी भ्रमरगीत के गौण प्रसंगों में जितना परिवर्धन किया गया है उससे अधिक की संभावना भी नहीं थी। भ्रमरगीत का यह घटना जन्य विकास शताब्दियों का प्रयास है जिसके मूल में सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का बहुत हाथ है।

मूल भाव का विकास

घटना के अतिरिक्त भ्रमरगीत की भावधारा में भी महत्वपूर्ण विकास हुआ है। भागवत में प्राप्त भ्रमरगीत के अन्तर्गत केवल एक ही भाव है। इसमें विरह तथा ईर्ष्या का सुन्दर समन्वय है। गोपियों के दुख का कारण कृष्ण का मथुरावास एवं कुब्जा प्रणय है। वे कृष्ण के मधुर मुरली मनोहरण स्वरूप की उपासिका हैं किन्तु ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप का भी उन्हें पूर्ण ज्ञान है। वे उद्धव के ज्ञानपूर्ण उपदेश को सुनकर विकल एवं रुष्ट नहीं होतीं वरन् संतुष्ट ही होती हैं। यहाँ उद्धव में न तो ज्ञान-गर्व है और न वे सगुण का उपहास उड़ाने वाले शुष्क निराकार उपासक ही हैं। यही कारण है कि भागवत में ज्ञान एवं निर्गुण ब्रह्म की चर्चा करने पर किसी प्रकार की विरोधी भावना नहीं उत्पन्न होती। भागवत में न तो उद्धव-ज्ञान-गर्व-खंडन प्रसङ्ग को स्पर्श किया गया और न उद्धव की ओर से मत प्रतिपादन का आग्रह ही दिखाई पड़ता है। अतएव भागवत की कथा बड़ी सरलता से बढ़ती जाती है। भ्रमर-आगमन के अवसर पर गोपियों की भावधारा में ज्वार आ जाता है और वे कृष्ण पर व्यंग्य करती हुई उन्हें उपालम्भ भी देती हैं। किन्तु उनका यह व्यंग्य एवं उपालम्भ कृष्ण एवं भ्रमर तक ही सीमित है।

भागवत रचना के शताब्दियों पश्चात् हिन्दी साहित्य में यह प्रसंग पुनः ग्रहण किया गया। इस समय तक परिस्थितियाँ बदल चुकी थीं। समाज में धर्म के नाम पर अनेक मतवाद एवं साधनों का

प्रचार किया जा रहा था। समाज में ब्रह्मस्वरूप के कारण दो वर्ग
बन गए थे। एक तो वे जो ब्रह्म को निर्गुण निराकार मानकर ज्ञान-
योग आदि द्वारा उसे प्राप्त करने का उपदेश देते और दूसरे ब्रह्म के
सगुण साकार स्वरूप में ही आस्था रखते थे और भक्ति तथा भजन-
पूजन द्वारा उसकी प्राप्ति में विश्वास करते थे। समाज का यह धार्मिक
रूप इतना प्रभावशाली था कि तत्कालीन साहित्य भी इसके प्रभाव
से अछूता न रह सका। कवियों ने इस विचारधारा की आलोचना
परोक्ष रूप में की। उन्होंने भ्रमरगीत को अपनी विचाराभिव्यक्ति का
साधन बनाया। अतएव भक्तिकाल में भ्रमरगीत के अन्तर्गत भागवत
की विरह एवं ईर्ष्या-जन्य भावना के अतिरिक्त इस परिस्थितिवश
उत्पन्न द्वितीय विचारधारा का भी समावेश हुआ। इस प्रकार भ्रमर-
गीत उपालम्भ के साथ ही व्यंग्य-प्रधान बन गया। सर्वप्रथम सूरदास
ने उद्धव को अहंकारी ज्ञानी एवं योग आदि साधनाओं में विश्वास
करने वाले, निर्गुण ब्रह्म उपासक के रूप में चित्रित किया। सूरदास के
भ्रमरगीत प्रसंग में निराकार निर्गुण के ऊपर सगुण साकार तथा
ज्ञान के ऊपर भक्ति की महत्ता स्थापित करने का सफल प्रयत्न है।
किन्तु इसके साथ ही सूरदास ने पूर्व भावधारा का भी पूर्ण निर्वाह
किया है। कृष्ण-वियोग में तड़पने वाली यशोदा तथा गोपियों के
मानसिक जगत् का उद्घाटन भी भ्रमरगीत में हुआ है।

भक्तिकाल की समस्त रचनाओं की भावधारा इसी दिशा में
प्रभावित होती रही। रीतिकाल में विरह और उपालम्भ के स्थान पर
निर्गुण सगुण एवं ज्ञान-भक्ति का विचार ही अधिक महत्वपूर्ण बन
गया। रीतिकाल में निर्गुण-सगुण विवाद प्रायः शान्त हो गया और
भ्रमरगीत प्रसंग खण्डिता तथा विप्रलब्धा नायिकाओं के चित्रण का
आधार बन गया। गोपी और राधा खण्डिता अथवा विप्रलब्धा
नायिकाओं की प्रतीक बनीं और कृष्ण कहीं धृष्ट नायक के कहीं
खलनायक के। भ्रमरगीत की भक्तिभावना का स्थान लौकिक ईर्ष्या-
भाव ने ले लिया। किन्तु धीरे-धीरे कवियों की विचार धारा में
परिवर्तन हुआ। अब वे भ्रमरगीत पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी
विचार करने लगे। अतः विरह में तड़पती गोपियों की विरह-व्यंजना
के साथ ही कृष्ण के मौन विरह का भी चित्रण प्रारम्भ हुआ। साथ
ही प्रसंग को अधिक स्वाभाविक बनाने के लिए कृष्ण के मथुरा

निवास के विषय में नवीन कल्पना की गई। कृष्ण के हृदय में भी प्रेम का अंकुर पल्लवित एवं पुष्पित होते दिखाया गया। माता-पिता एवं प्रिय गोपियों से बिछुड़ कर कृष्ण का मानव हृदय भी विकल और व्यथित है किन्तु वे समय के चक्र में इस प्रकार जकड़ गए हैं कि इच्छा रहते हुए भी वे ब्रज नहीं जा पाते। मथुरा की राजनीतिक समस्याओं ने उन्हें बुरी तरह उलझा रखा है। इस विवशता के साथ ही उनमें कर्तव्य-भावना का उदय भी होता है। यदि वे इस विषम परिस्थिति में मथुरा छोड़ कर चले जायें तो मथुरा पुनः आततायियों का लक्ष्य बन जायेगी। इन्हीं कारणों से कृष्ण समस्त व्यथा को सहन करते हुए भी मथुरा में ही निवास करते हैं और उद्धव को ब्रज भेज देते हैं। कृष्ण के इस कर्तव्य-परायण स्वरूप का वर्णन सर्वप्रथम बगसी हंसराज ने विरह-विलास में किया है। आगे चलकर वर्तमान युग में हरिऔध तथा मैथिलीशरण गुप्त ने भी इस भाव को अपनाया है।

भक्ति एवं रीति युग के पश्चात् कृष्ण के साथ ही उद्धव के मनोभाव में भी परिवर्तन किया गया। पूर्व युग में उद्धव का प्रवेश साधन रूप में किया गया था किन्तु आधुनिक युग में उद्धव के मानव स्वरूप का मनोवैज्ञानिक आधार पर चित्रण प्रस्तुत किया गया। वे भी मानव के सदृश दया सहानुभूति आदि भावों से युक्त हैं। गोपियों की दशा देखकर उनके हृदय में भी पीड़ा होती है। यह पीड़ा गोपियों के अज्ञान के कारण नहीं है वरन मानव सहानुभूति के आधार पर ही उत्पन्न हुई है।

आधुनिक वैज्ञानिक विचारधारा के अनुरूप भ्रमरगीत में मानव-तत्व के साथ ही राष्ट्रीय जागरण का भाव भी निहित है। फलस्वरूप आधुनिक युग के भ्रमरगीतों में आध्यात्मिक पक्ष के स्थान पर लौकिक एवं कल्याणकारी पक्ष ही प्रधान हो गया है। इस युग की रचनाओं में कृष्ण परब्रह्म नहीं हैं और न राधा ब्रह्म की आदि शक्ति ही है। वे भगवान् न होकर मानव हैं। एक महापुरुष हैं जिनमें समाज को ऊँचा उठाने का भाव है और साथ ही अदम्य उत्साह भी। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन ही देश-कल्याण के निमित्त लगा दिया है। लोककल्याण की यह भावना केवल कृष्ण में ही नहीं है वरन राधा भी उसी रंग में

रंगी है। वह मानवी से बढ़कर देवी पद पर पहुँची है। इस प्रकार भ्रमर गीतों में मानव को ऊँचा उठा कर देवता बनाने का भाव है। अर्थात् मानव ही अपने श्रेष्ठ कर्मों, त्याग, उदारता के द्वारा देवता बन सकता है—इस तथ्य का भी परोक्ष रूप में उद्घाटन किया गया है।

सत्यनारायण कविरत्न ने तो भ्रमरदूत को राष्ट्रीयभावाभिव्यक्ति का साधन बनाया है। उनके भ्रमरदूत की यशोदा के विरह वर्णन में दुखी भारत माँ का करुण-क्रन्दन ही ध्वनित होता है। इस प्रकार आधुनिक युग में भ्रमरगीत को लौकिक स्तर पर ही रखने का प्रयास किया गया है।

शताब्दियों से प्रवाहमान भ्रमरगीत में विरह, उपालम्भ और व्यंग्य के साथ धीरे-धीरे लोक-कल्याण एवं राष्ट्र-कल्याण की भावना का भी विकास हुआ है। जिस प्रकार गंगोत्री से निकली हुई गंगा अनेक स्थलों की विशेषताओं को ग्रहण करती हुई निरंतर बढ़ती ही जाती है उसी प्रकार भ्रमरगीत की यह धारा भी प्रतियुग की धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक भाव-धाराओं से युक्त होकर विकास-पथ पर अग्रसर है। भविष्य में भी यह परम्परा नवीन भावाभिव्यक्ति का साध न बनकर निरंतर गतिशील रहेगी। किन्तु विकसित अवस्था में भी इसका मूलसूत्र उद्धव-गोपी-संवाद अक्षुण्ण है।

भ्रमरगीत का मूल्यांकन

भाववहन की शक्ति

पिछले पृष्ठों में भ्रमरगीत-परम्परा के विकास-सूत्र पर विचार किया गया है। यह विकास भ्रमरगीत-प्रसंग के अक्षुण्ण आकर्षण का परिणाम है। वस्तुतः साहित्य में धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के आग्रहवश अनेक भाव-धाराएँ जन्म लेती हैं और युग तुष्ट के साथ ही विलीन हो जाती हैं। उनका जीवन प्रातःकालीन ओसकणिकाओं के सदृश क्षणिक होता है। साहित्य की अनेक परम्परा तथा वाद इसके प्रमाण हैं। किन्तु भ्रमरगीत-परम्परा इस विषय में एक अपवाद है। पिछली पाँच शताब्दियों से यह निरन्तर अबाध गति से प्रवाहित है। इसके अजस्र प्रवाह का

कारण इसकी भाव-वहन-शक्ति ही है। भ्रमरगीत-धारा युग भावना को वहन करने में पूर्णतः समर्थ रही है। भाव-वहन की यह शक्ति ही उसे जीवित एवं गतिशील बनाए है। अपने जन्म से ही भ्रमरगीत-धारा ने भावव्यंजना के इस उत्तरदायित्व को सफलतापूर्वक निभाया है। भक्तियुग के कवियों ने भ्रमरगीत द्वारा भगवान् की आराधना के साथ ही अपने सिद्धान्तों को भी प्रकट किया। उन्होंने इसके माध्यम से निर्गुण ब्रह्म की अपेक्षा सगुण ब्रह्म की ओर ज्ञान तथा योग की अपेक्षा भक्ति की महत्ता-स्थापित की। विप्रलम्भ-शृंगार की मर्मस्पर्शी व्यंजना भी भ्रमरगीत द्वारा अति सफलता से हो सकी है। प्रेम की विकलता, तीव्रता और तन्मयता का जितना सुन्दर और सरस वर्णन भ्रमरगीतों में मिलता है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। विरहावस्था में मन की एक एक दशा का सूक्ष्म एवं मनोवैज्ञानिक चित्रण भ्रमरगीतों में उपलब्ध है। यह परम्परा एक ओर तो भक्ति-भावना से पूर्ण है तो दूसरी ओर रीति युग की शृंगार-भावना को भी इसमें पर्याप्त अवकाश मिला है। प्रेम के अन्तर्गत ईर्ष्या, मान, उपालम्भ और व्यंग्य के लिए भ्रमरगीत सहज आधार रहा है। भाषा-शृंगार, वाक्चातुर्य और उक्ति-वैचित्र्य रीतियुग की विशेषता है और भ्रमरगीत में इस सबके लिए विस्तृत क्षेत्र है। यही कारण है कि रीतियुग में उद्धवगोपी संवाद रूप में यह परम्परा अविरल गति से प्रवाहित रही। आधुनिक युग में परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं। आज का कवि अपने को अनेक सामाजिक राजनीतिक एवं वैयक्तिक समस्याओं में उलझा हुआ पाता है। इस वैज्ञानिक युग के मानव में श्रद्धा और विश्वास का अभाव है। ईश्वर को वह मानव-मस्तिष्क की थोथी कल्पना समझता है। दूसरी ओर रीतिकालीन अति शृंगारिकता और अतिरंजित वर्णन से भी उसे अरुचि हो गई है। वह मनुष्य की, उसकी दुर्बलताओं और इच्छाओं की कहानी सुनना चाहता है देवता की नहीं। आधुनिक कवि ने इस सबके लिए भ्रमरगीत प्रसंग को चुना। अब कृष्ण भगवान् नहीं बल्कि मानव हैं जिनके हृदय में भी ब्रज-वृन्दावन के लिए प्रेम है। किन्तु देश कल्याण के लिए वे अपनी इच्छाओं को कुचल देते हैं। अपने चरित्र द्वारा वे निस्वार्थ प्रेम, देश-सेवा और कर्तव्य परायणता का आदर्श उपस्थित करते। राष्ट्रीयता की नवीन भावना भी भ्रमरगीत में मिलती है। इस प्रकार भ्रमरगीत में द्विवेदी युग के

कवि को नैतिक द्वन्द्व—अर्थात् कर्तव्य और प्रेम के द्वन्द्व के लिए क्षेत्र मिला और उसने राष्ट्रीय भावना के त्याग और बलिदान के चित्र प्रस्तुत किये, और अधुनातन युग के कवि ने मानव-मन के विश्लेषण के लिए एक उर्वर भूमिका प्राप्त की। कहने का अभिप्राय यह है कि भ्रमरगीत प्रसंग में युग की प्रवृत्ति के अनुकूल भाव-वहन की अद्भुत क्षमता मिलती है। इस भांति भ्रमरगीत द्वारा निरन्तर युग-भावना की अभिव्यक्ति हुई है।

भ्रमरगीत और कवि समाज

भ्रमरगीत-परम्परा की लोकप्रियता का अन्य प्रमाण भ्रमर-गीतकारों की संख्या है। भ्रमरगीत प्रसंग का आकर्षण युग विशेष तक ही सीमित नहीं रहा अपितु सभी युगों में भ्रमरगीत प्रसंग पर अनेक कवियों ने रचना की। इतना ही नहीं प्रत्येक युग के प्रसिद्ध कवि भी इस प्रसंग को ग्रहण करने का लोभ संवरण न कर सके। भक्ति युग के सूरदास, परमानंददास, तुलसीदास, नंददास, हरि-दास आदि, रीतियुग के आलम, वृंदावनदास, ग्वाल आदि और आधुनिक युग के भारतेन्दु, सत्यनारायण कविरत्न, हरिऔध, रत्नाकर और गुप्तजी जैसे समर्थ कवियों द्वारा पोषित इस प्रसंग का महत्त्व अक्षय है।

भ्रमरगीत का काव्यत्व

परिमाण के अतिरिक्त यह काव्य साहित्यिक गुण की दृष्टि से भी उत्कृष्ट है। यह कहना अनुचित न होगा कि अधिकांश कवियों की भ्रमरगीत रचनाएँ ही उनकी सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ हैं। सूरदास के समस्त काव्य में भ्रमरगीत सम्बन्धी पद ही सर्वोत्कृष्ट हैं। नंददास की रचनाओं में 'भँवरगीत' का स्थान मूर्धन्य है। 'कविरत्न' की कृतियों में भी 'भ्रमरदूत' प्रमुख है। हरिऔध की कीर्ति का मूल आधार प्रियप्रवास है और रत्नाकर का कीर्तिस्तम्भ 'उद्धव शतक' ही है। प्रकाशित रचनाओं के अतिरिक्त अप्रकाशित रचनाएँ भी अत्यन्त उच्चकोटि की हैं। वृन्दावनदास का 'भँवरगीत' और रसीले का 'ब्रजागमन चरित' आदि रचनाएँ रस के विचार से अत्यन्त सरस एवं सुन्दर हैं। विप्रलम्भ शृंगार की ये रचनाएँ मधुर उपा-लम्भ एवं मार्मिक व्यंग्य तथा प्रसाद और माधुर्य गुण से ओत-प्रोत

हैं। वस्तुतः रसव्यंजना के लिए भ्रमरगीत से अधिक उपयुक्त प्रसंग हिन्दी काव्य में दुर्लभ है।

भ्रमरगीत की विभिन्न शैलियाँ

भ्रमरगीत रचनायें अनेक रूपों में मिलती हैं। सूरसागर, कृष्ण सागर, व्रजविलास आदि में कृष्ण-चरित्र के साथ ही प्रसंगवश भ्रमरगीत का वर्णन है। अन्य कवियों ने भ्रमरगीत पर स्वतंत्र रूप से रचनायें की हैं। नंददास तथा वृंदावनदास आदि के 'भँवरगीत' इसी श्रेणी के हैं। अधिकांश कवियों ने 'उद्धव-गोपी-संवाद' रूप में इस प्रसंग को अपनाया है, यद्यपि 'भ्रमरगीतों की संख्या भी कम नहीं है। उधर मतिराम आदि रीति-कवियों ने अलंकारों के उदाहरण-स्वरूप भी भ्रमरगीत सम्बन्धी छन्द लिखे हैं।

प्रबन्धप्रवाह की दृष्टि से समस्त भ्रमरगीत-रचना प्रबन्ध और मुक्तक के अन्तर्गत रखी जा सकती है। विरह-विलास व्रजविलास, प्रियप्रवास, कृष्णायन आदि प्रबन्ध काव्य हैं। मुक्तक के अन्तर्गत दो शैलियाँ विशेष रूप से दिखाई पड़ती हैं—'शतक शैली' और 'पचीसी' शैली। 'शतक' शैली पर लिखी रचनाओं में सौ से कुछ अधिक पद होते हैं जैसे 'उद्धवशतक' में ११७ पद हैं। 'पचीसी' शैली पर लिखो रचनाओं में भी प्रायः छंद संख्या २५ से अधिक होतो है। प्रथम शैली में रचनायें अपेक्षाकृत कम है। 'पचीसी' शैली के अन्तर्गत 'ऊधो पचीसी', 'मलूकपचीसी', 'ग्वाल पचीसी' आदि रचनायें उल्लेखनीय हैं। मुक्तक शैली में लिखी कुछ रचनाओं में कथा प्रवाह भी मिल जाता है, यद्यपि अधिकांश में कथा की पृष्ठभूमि मात्र ही ग्रहण की गयी है।

भाषा और छन्द

भ्रमरगीत की प्रतिनिधि भाषा व्रज है किन्तु अवधी और खड़ी बोली में भी भ्रमरगीत रचना हुई है। छंद विचार की दृष्टि से भ्रमरगीत में विविधता के दर्शन होते हैं। भक्तियुग के भ्रमरगीत पद रूप में मिलते हैं। नंददास ने दोहा और रोला के मिश्रण से एक नवीन शैली को जन्म दिया। जिसमें सत्यनारायण 'कविरत्न' ने भ्रमरदूत की रचना की है। प्रबन्धात्मक कृष्णचरित्र प्रायः दोहा

चौपाई में ही लिखे गए हैं। ब्रजविलास, कृष्णचरित मानस और कृष्णायन आदि की रचना दोहा चौपाई में हुई है। मुक्तक भ्रमरगीत रचनायें कवित्त सवैया में हुई हैं। रहीम की रचना वरवा छन्द में उपलब्ध है।

इस प्रकार काव्यगुण तथा परिमाण दोनों की दृष्टि से ही भ्रमरगीत का वैभव अपूर्व है।

———
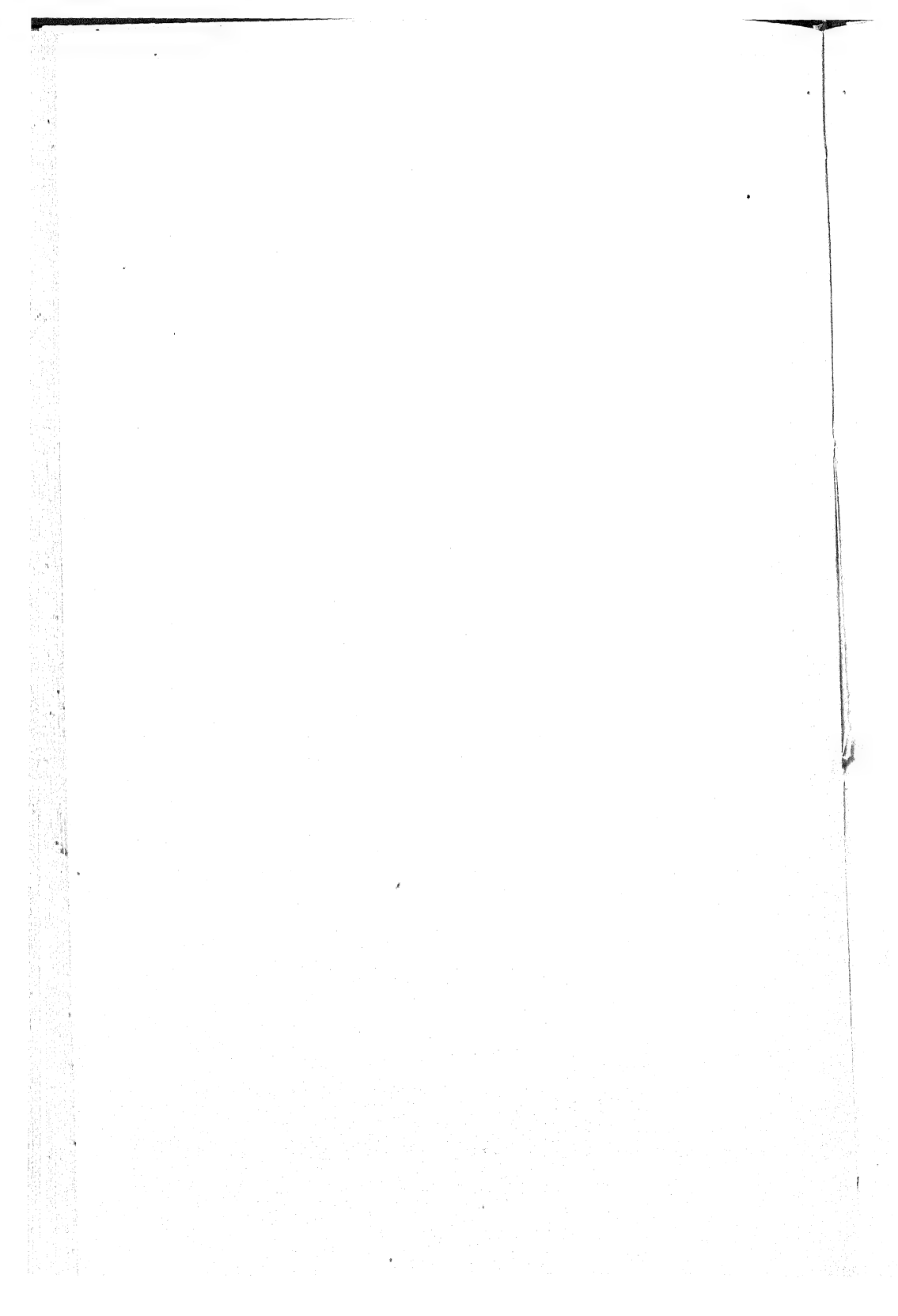
परिशिष्ट—१

लोकगीत

१—लोकगीतों की व्यापकता
२—लोकगीतों का काल निर्णय
३—लोकगीतों में भ्रमरगीत
४—बारहमासा
५—मल्हार
६—बटगमनी
७—तिरहुति
८—झूमर
९—भजन
१०—गज़ल
११—जोग-जंतसार तथा पिढ़िया के गीत।

परिशिष्ट १
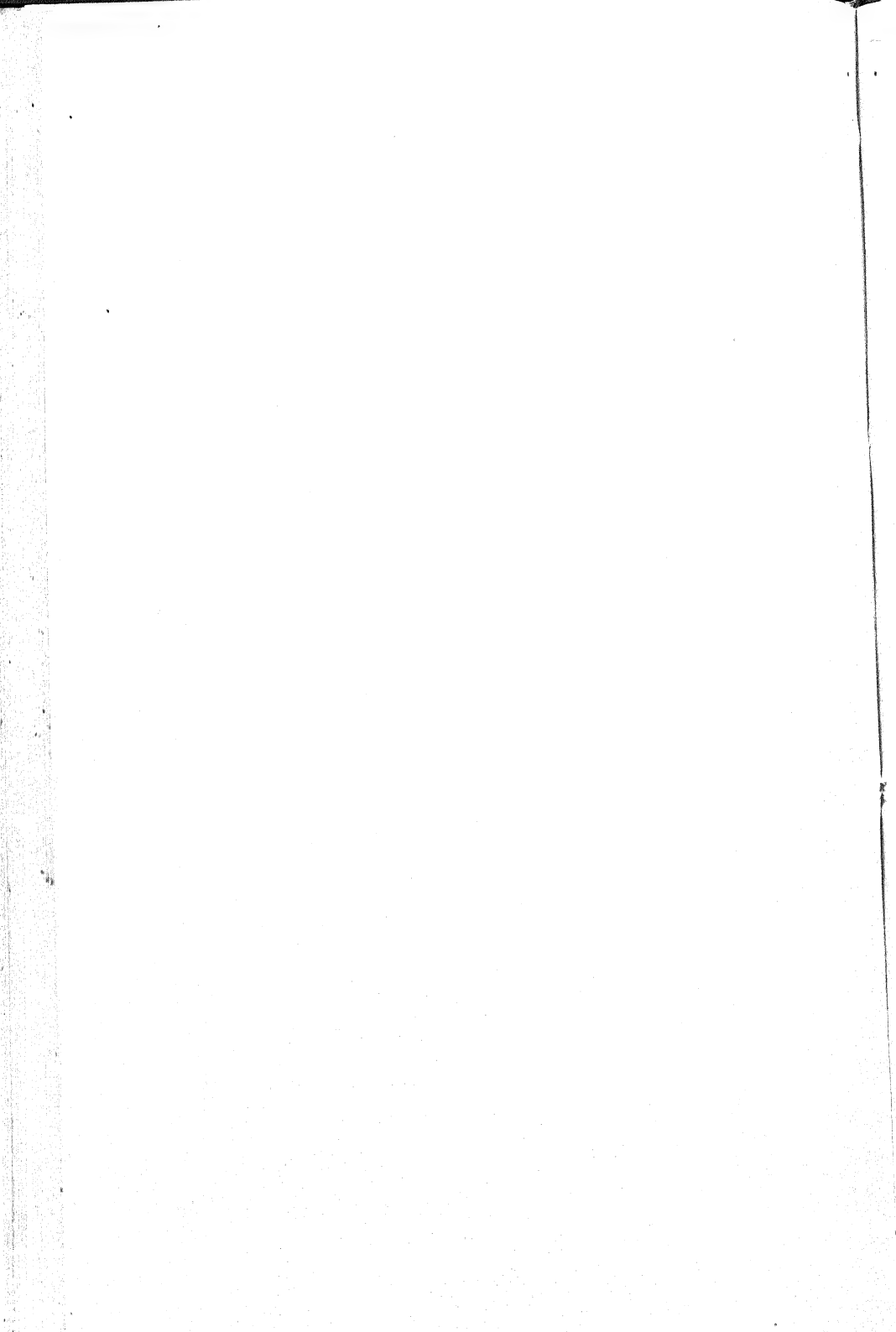
लोकगीत

मानव और गीतों का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है। जब संसार में बुद्धि का इतना प्रसार भी न हुआ होगा, उस समय अपनी रागात्मिका वृत्ति के कारण मनुष्य गीतों में अपने भावों को व्यक्त करता होगा। किन्तु ज्ञान-विज्ञान के प्रसार के साथ ही वह अपनी इस रागात्मिका वृत्ति पर पूर्ण आधिपत्य स्थापित करने की ओर प्रयत्नशील है। आज वह भाव से बिचार, हृदय से मस्तिष्क और कविता से गद्य की ओर अग्रसर हो रहा है, परन्तु इस युग में भी क्या वह गीतों से सम्बन्ध विच्छेद करने में सफल हो सका है? आज भी ग्रामों में जहाँ ज्ञान-विज्ञान की चकाचौंध नहीं पहुँच सकी, वहाँ अभी भी गीतों का पूर्ण साम्राज्य है। प्रातःकाल चक्की पीसती नारी, खेत जोतता किसान, दूर से आता हुआ थका हुआ यात्री, छत पीटती मजदूरिनें तथा पति प्रतीक्षा में नयन बिछाये नारी सभी गीतों में अपने श्रम, थकान और अवसाद को उँडेल कर रसयुक्त कर देना चाहते हैं।

लोकगीतों की व्यापकता

गीतों की इस व्यापकता और लोकप्रियता का उल्लेख साहित्य में अनेक स्थानों पर मिलता है किन्तु इनकी ऐतिहासिकता का विवेचन कठिन ही नहीं असम्भव है। साहित्यिक गीतों के विषय में कुछ कहा भी जा सकता है किन्तु लोकगीतों का काल निर्णय करना दुष्कर कार्य है। साहित्य में निरन्तर गीतों के गाने का उल्लेख मिलता है। आदि कवि वाल्मीकि ने राम-जन्म पर गंधर्वों के गान का उल्लेख किया है। कृष्ण-जन्म के उपलक्ष्य में मधुर गीत गाती गोपियों का वर्णन करना भागवतकार भूले नहीं हैं। आधुनिक युग के साहित्यकारों ने भी अपनी कथाओं में गीतों का वर्णन किया है। नाट्य साहित्य में तो गीतों का प्रमुख स्थान है। आज के चलचित्र गीतों के कारण ही

लोकप्रिय हो पाते हैं। वाल्मीकि तथा भागवतकार आदि किसी कवि ने गीतों का विवेचन अथवा विश्लेषण नहीं किया। वे गीत किस प्रकार के थे, इसका कुछ पता नहीं चलता। निश्चय ही वे आज के लोकगीतों की परम्परा से सम्बन्धित होंगे।

लोकगीत देशकाल की सीमा से मुक्त सार्वभौम तथा सार्वजनीन हैं। ये अलंकार, छन्द और लय से मुक्त रस रूप हैं।

भावाकुल मानव का हृदय-द्रवण ही गीत बन जाता है। हृदय के अधिक निकट होने के कारण गीतों में एक ओर तो बौद्धिकता का अभाव मिलता है और दूसरी ओर सरलता तथा स्वाभाविकता का अपूर्व मिश्रण। विभिन्न देश तथा भाषाओं में गीतों का बाह्य रूप चाहे बदलता हुआ दिखाई पड़े किन्तु उनकी आत्मा एक ही होती है।

लोकगीतों का काल-निर्णय

लोकगीतों की रचना कब किसने की, यह भी एक रहस्य है। इतना तो निश्चित ही है कि बड़े-बड़े कवियों ने ग्रामीण जनता के लिए गीतों की रचना नहीं की। गीत उनके उद्‌गारों का स्वतः प्रवाहित रूप है। प्रकृति से स्वाभाविक प्रेम के कारण जब वह प्रकृति में एक संगीत देखता—पक्षियों का कलरव, सरिताओं की कल-कल और पवन की सनसन तो प्रकृति के स्वर में स्वर मिलाकर गाने की उत्कट अभिलाषा का जागरण स्वाभाविक था। संतुष्ट प्राणी प्रकृति के मादक स्वरूप को देखकर आत्म-विभोर हो गा उठा। उसका आनन्द और उल्लास गीतों में फूट पड़ा किन्तु जीवन में अनेक अभावों को अनुभव करते दुखी प्राणी की पीड़ा हृदय में न समा पाती तो व्यथा-भार को लघु करने के निमित्त वह भी रो उठता। उसकी आह ही गीत बन जाती। इसी तथ्य की अनुभूति में ही कवि ने लिखा है—'आह से उपजा होगा गान' यह लोकगीत एक ओर तो हर्ष और उल्लास को द्विगुणित करता है और दूसरी ओर दुख-भार को हल्का करने में भी समर्थ है। शिशु-जन्म का उल्लास गीतों की लय के साथ ही माँ के हृदय को तरंगित करता है। रोते मुन्ना को जब माँ लोरी गा गा कर सुलाती तब उसका मातृ-हृदय अगाध आनन्द सागर में निमग्न हो जाता है। जीवन के प्रत्येक क्षण में भावुक हृदय गीतों का

अवलम्ब लेकर ही जीवन को सरस बनाता है। सुख के सदृश ही दुख के क्षणों में भी गीत उसकी विरह-व्यंजना के साधन बनते हैं।

लोकगीतों में भ्रमरगीत

विरह गीतों में शृंगार का प्रमुख स्थान है। साहित्य के अनुरूप ही लोकगीतों में विरह-व्यंजना की प्रचुरता है। भ्रमरगीत का सम्बन्ध विरह-भावना से ही है। साहित्य में सोलहवीं शताब्दी से निरन्तर प्रवाहित भ्रमरगीत धारा का उल्लेख विगत पृष्ठों में किया जा चुका है। इस समय लोकगीतों में उपलब्ध भ्रमरगीत प्रसंग की चर्चा की जायेगी। यह प्रसंग साहित्य ही में नहीं लोकगीतों में भी विशेष रूप से ग्रहण किया गया है। यह जीवन में इतना व्याप्त है कि उसमें केवल गोपियों की विरह-व्यंजना ही नहीं किन्तु विरहणी नारी मात्र की आकुलता की अभिव्यक्ति है। कृष्ण का लीला रूप उनके हृदय-प्राण में इस प्रकार समा गया है कि शिशु-जन्म पर सब कुछ भूल कर वे गा उठती हैं—'गोकुल बजत बधैया नंद घर सोहर'। उसी प्रकार प्रिय वियोग में दुखी नारी गोपी बन करुण स्वर से गाती हैं—'श्याम नहिं आए कैसे कटें दिन रतियाँ।' यहाँ 'श्याम' परदेसी प्रिय के लिए आया है। विरह की इस अवस्था में नारी स्वतः गोपी पीड़ा का अनुभव करती है। स्थूल शारीरिक बन्धन से उठकर यहाँ आत्मा का सम्मिलन होता है। संवेदना की यह भावना ही लोकगीतों में भ्रमरगीत रचना का कारण हो सकता है। समस्त, उत्तर भारत के लोकगीतों में भ्रमरगीत सम्बन्धी गीत अवश्य प्राप्त हो सकते हैं। भोजपुरी तथा मैथिली के लोकगीतों के संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इन संग्रह-ग्रन्थों में उक्त प्रसंग से सम्बन्धित गीत मिलते हैं। लोकगीतों में भ्रमरगीत के अन्तर में निहित विरह-व्यंजना को ही विशेष रूप से ग्रहण किया है। कुब्जा-प्रणय, योग तथा निर्गुण ब्रह्म संदेश आदि प्रसंगों का संकेत मात्र मिलता है। कथानक का मोह किसी भी गीत में नहीं दिखाई पड़ता। इस प्रकार ये गीत विरह-व्यंजना प्रधान हैं। इनका मूल उद्देश्य गोपी व्याज से नारी की विरह-व्यथा की अभिव्यक्ति ही जान पड़ता है।

बारहमासा

लोकगीत की विषयगत अनेक शैलियाँ हैं। विरहगीतों की एक प्रमुख शैली 'बारहमासा' है। इसके अन्तर्गत बारह महीनों का

क्रम से वर्णन, उसमें प्रिय-मिलन की लालसा तथा प्रिय के अभाव में इन मासों की अप्रियता का उल्लेख रहता है। प्रति मास प्रकृति के उद्दीपनकारी रूप को देखकर अभाव और भी तीव्र हो उठता है। प्रिय विहीन जीवन की विडम्बना बताती हुई वह उसमें शीघ्र आने का आग्रह करती है। इस आग्रह के साथ ही ईर्ष्या, उपालम्भ, मान तथा दैन्य आदि की व्यंजना भी मिलती है।

प्रस्तुत प्रसंग सम्बन्धी अनेक बारहमासों का उल्लेख नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टों में मिलता है। सभा के याज्ञिक संग्रह में कई बारहमासे उपलब्ध भी हैं। इन बारहमासियों के रचयिता तथा रचनाकाल के लिए विशेष भटकना नहीं पड़ता। प्रायः सभी रचनाएँ संवत १६१८ से १६८३ के मध्य की हैं। साथ ही इनके रचयिताओं का भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है। बारहमासियों की रचना में प्रायः कवि एक टेक के अनुसार गीत प्रारम्भ करता है। बरेली निवासी लालदास कृत बारहमासी की टेक—'श्री राधा गोपी त्याग करी घरबारी कुब्जा सी' में कुब्जा-प्रणय के साथ उपहास तथा व्यंग्य की प्रधानता है। कृष्ण की निर्ममता और कुटिलता को भी वे भुला नहीं पातीं। सावन की रिमझिम में कृष्ण की स्मृति तीव्र हो जाती है—

> सावन में मन भावन के हर के दामन सी लागी,
> जब तो तिल तिल प्रीति बढ़ाई अब कैसे त्यागी।
> सुनो हो तुम ऊधो मेरी सों लाज सरम गई छूट,
> प्रीति जब कीनी चेरी सों नहीं रे मोहि आवत हाँसी।
> श्री राधा गोपी त्याग करी घर बारी कुब्जा सी।

कुब्जा के संयोग को सुन उन्हें हँसी नहीं आती। ईर्ष्या और क्रोध का मिश्रित भाव हास को पास आने ही नहीं देता। क्वार में कनागत आने पर तो उनकी विकलता बढ़ जाती है। धर्म कर्म कर यह पक्ष कृष्ण-ध्यान में ही बीत जाता है। वे कहती हैं—

> क्वार कनागत लागे सजनी सब कोई धरम करें,
> हम तो धरम जब ही करिहैं पीतम नजर परें,
> मिलावै है कोई ऐसा॥
> ले कर चले मथुरा को वा दिन के वै

बुद्धि जाकि अब कैसी नासी।
श्री राधा गोपी त्याग करी घरबारी कुब्जा सी॥

बैनी माधव की बारहमासी में क्वार मास का उल्लेख अधिक मार्मिक हुआ है—

क्वार मास निरमल भये चन्दा गोरी तो सोवे अपने आँगन में रे,
सूरदास स्वामी आनि मिलावो राधा खुसी होय मन में रे,
हमको छाड़ि चले बैनी माधों राधा सोच करै मन में रे॥

क्वार मास का निर्मल आकाश, स्वच्छ चंद्रिका और सखियों की सुख निद्रा राधा के मन में एक वेदना उत्पन्न करती है। प्रकृति का यह उद्दीपन रूप राधा को विकल बना रहा है। वह बारबार यह सोचती हुई कि कृष्ण ने उसे त्याग दिया है, दुखी हो रही है।

सूरदास कृत बारहमासी में सावनमास का उल्लेख करती हुई एक गोपी उद्धव से कहती है—

सावन में सषी खेलें है हिंडोरा झूला झूले वृज बालन मेरे,
स्याम सनेह री कुब्जा संग राजे बिलम रहे माधौं बन मेरे।
छाड़ चले हर वारी सी उमर में ऊधौ रही मन की मन मेरे॥

इस 'बाला वियोगिनी' ने न जाने कितनी मधुर कल्पनायें की होंगी? उसे क्या पता था कि उसके सुख स्वप्नों का संसार इतने शीघ्र नष्ट हो जायगा। सावन में सभी झूला झूलतीं, आनन्द मनाती हैं किन्तु उसका प्रिय तो कुब्जा के साथ बिलम रहा है। वह कैसे आनन्द मनाये। 'बिलम' शब्द में गोपी विस्मृत की कितनी उपालम्भ पूर्ण व्यंजना है। अन्तिम टेक तो उसके भग्न हृदय का चित्र उपस्थित कर देती है। इस 'बारी' आयु में जबकि जीवन का वह कुछ आनन्द भी न उठा पाई कृष्ण समस्त कामनाओं को हृदय में ही दबे रहने के लिए छोड़ कर चले गये। उसे दुख इसी बात का है कि जीवन की कोई भी साध पूरी न हो सकी।

सभा संग्रह में संवत १९२० की लिखी एक बारहमासी में उद्धव के योग संदेश पर सुन्दर उक्ति मिलती है—

क्रम से वर्णन, उसमें प्रिय-मिलन की लालसा तथा प्रिय के अभाव में इन मासों की अप्रियता का उल्लेख रहता है। प्रति मास प्रकृति के उद्दीपनकारी रूप को देखकर अभाव और भी तीव्र हो उठता है। प्रिय विहीन जीवन की विडम्बना बताती हुई वह उसमें शीघ्र आने का आग्रह करती है। इस आग्रह के साथ ही ईर्ष्या, उपालम्भ, मान तथा दैन्य आदि की व्यंजना भी मिलती है।

प्रस्तुत प्रसंग सम्बन्धी अनेक बारहमासों का उल्लेख नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टों में मिलता है। सभा के याज्ञिक संग्रह में कई बारहमासे उपलब्ध भी हैं। इन बारहमासियों के रचयिता तथा रचनाकाल के लिए विशेष भटकना नहीं पड़ता। प्रायः सभी रचनाएँ संवत् १६१८ से १६२३ के मध्य की हैं। साथ ही इनके रचयिताओं का भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है। बारहमासियों की रचना में प्रायः कवि एक टेक के अनुसार गीत प्रारम्भ करता है। बरेली निवासी लालदास कृत बारहमासी की टेक—'श्री राधा गोपी त्याग करी घरबारी कुब्जा सी' में कुब्जा-प्रणय के साथ उपहास तथा व्यंग्य की प्रधानता है। कृष्ण की निर्ममता और कुटिलता को भी वे भुला नहीं पातीं। सावन की रिमझिम में कृष्ण की स्मृति तीव्र हो जाती है—

सावन में मन भावन के हर के दामन सी लागी,
जब तो तिल तिल प्रीति बढ़ाई अब कैसे त्यागी।
सुनो हो तुम ऊधो मेरी सों लाज सरम गई छूट,
प्रीति जब कीनी चेरी सों नहीं रे मोहि आवत हाँसी।
श्री राधा गोपी त्याग करी घर बारी कुब्जा सी।

कुब्जा के संयोग को सुन उन्हें हँसी नहीं आती। ईर्ष्या और क्रोध का मिश्रित भाव हास को पास आने ही नहीं देता। क्वार में कनागत आने पर तो उनकी विकलता बढ़ जाती है। धर्म कर्म कर यह पक्ष कृष्ण-ध्यान में ही बीत जाता है। वे कहती हैं—

क्वार कनागत लागे सजनी सब कोई धरम करै,
हम तो धरम जब ही करिहैं पीतम नजर परै,
मिलावै है कोई ऐसा॥
ले कर चले मथुरा को वा दिन के बै

बुद्धि जाकि अब कैसी नासी ।
श्री राधा गोपी त्याग करी घरबारी कुब्जा सी ॥

बैनी माधव की बारहमासी में क्वार मास का उल्लेख अधिक मार्मिक हुआ है—

क्वार मास निरमल भये चन्दा गोरी तो सोवे अपने आँगन में रे,
सूरदास स्वामी आनि मिलावो राधा खुसी होय मन में रे,
हमको छाड़ि चले बैनी माधौं राधा सोच करै मन में रे ॥

क्वार मास का निर्मल आकाश, स्वच्छ चंद्रिका और सखियों की सुख निद्रा राधा के मन में एक वेदना उत्पन्न करती है। प्रकृति का यह उद्दीपन रूप राधा को विकल बना रहा है। वह बारबार यह सोचती हुई कि कृष्ण ने उसे त्याग दिया है, दुखी हो रही है।

सूरदास कृत बारहमासी में सावनमास का उल्लेख करती हुई एक गोपी उद्धव से कहती है—

सावन में सषी खेलें है हिंडोरा झूला झूले वृज बालन मेरे,
स्याम सनेह री कुब्जा संग राजे बिलम रहे माधौं बन मेरे।
छाड़ चले हर वारी सी उमर में ऊधौ रही मन की मन मेरे ॥

इस 'बाला वियोगिनी' ने न जाने कितनी मधुर कल्पनायें की होंगी ? उसे क्या पता था कि उसके सुख स्वप्नों का संसार इतने शीघ्र नष्ट हो जायगा। सावन में सभी झूला झूलतीं, आनन्द मनाती हैं किन्तु उसका प्रिय तो कुब्जा के साथ बिलम रहा है। वह कैसे आनन्द मनाये। 'बिलम' शब्द में गोपी विस्मृत की कितनी उपालम्भ पूर्ण व्यंजना है। अन्तिम टेक तो उसके भग्न हृदय का चित्र उपस्थित कर देती है। इस 'बारी' आयु में जबकि जीवन का वह कुछ आनन्द भी न उठा पाई कृष्ण समस्त कामनाओं को हृदय में ही दबे रहने के लिए छोड़ कर चले गये। उसे दुख इसी बात का है कि जीवन की कोई भी साध पूरी न हो सकी।

सभा संग्रह में संवत १६२० की लिखी एक बारहमासी में उद्धव के योग संदेश पर सुन्दर उक्ति मिलती है—

प्रथम चैत ऋतु आई। कुछ समाप को आगि मुझा सौ।
फूले फूल गुलाए ज्यों जोग पहिरि घर आए।
हौं कैसो जीजो ऊधौ ज्ञानी, जादौनाथ मिलाओ आनी॥
इस बारहमासी के लेखक का नाम अज्ञात है।

बुन्देलखण्ड वासी पजन कुँवरि ने अपनी बारहमासी में कथा भाग को अपेक्षाकृत विस्तार से अपनाया है। सभा-संग्रह के अतिरिक्त कविता कौमुदी ग्राम-गीत में भी कुछ बारहमासी संग्रहीत हैं। इनके रचयिता तथा रचना-काल का किसी को पता नहीं। समय से चली आती हुई लोकप्रियता ही इसके स्थायित्व का मुख्य प्रमाण है। लिखित तथा प्रचलित गीतों में कुछ अन्तर हो ही जाता है। वह इस बारहमासे से स्पष्ट हो जायेगा। सम्पूर्ण बारहमासे के उद्धरण का लोभ न संवरण कर सकने के कारण ही इस गीत को पूरा ही उद्धृत कर रही हूँ—

कन्हैया नहीं आये, कन्हैया कैसी आई।
सीतल चंदन अंग लगावत, कामिनि करत सिंगार।
जा दिन ते मन मोहन बिछुड़े, सुन के मास असार॥
कन्हैया नहीं० ॥१॥
एक त गोरिया अंगवा क पातरि, दुसरे पिया परदेश।
तिसरे मेह झमाझम बरसे सावन अधिक अंदेस॥
कन्हैया नहीं० ॥ २ ॥
भादों रैनि भयावनि ऊधो, गरजै अरु घहराय।
लबका लबकै ठनका ठनकै, छतिया दरद उठि जाय॥
कन्हैया नहीं० ॥ ३ ॥
क्वारे कामिनी आस लगावै, जोहै पिया की बाट।
अबकी बार जो हरि मोर अइहैं, हियरा क खुलिहै कपाट॥
कन्हैया नहीं० ॥ ४ ॥
कातिक के पुरन मासी ऊधो, सब सखी गंगा नहाय।
हम अस अबला परम सुनरिया, काके गोहनवां जायं॥
कन्हैया नहीं० ॥ ५ ॥
आहन ठाढ़ि अंगनवा ऊधो, चहुँदिसि उपजा धान।
पिया बिनु करके मोर करेजवा, बन से निकरत प्रान॥
कन्हैया नहीं० ॥ ६ ॥

पूसहिं फुहवा परिगै ऊधौ, भीजि गई तन चीर।
चकई चकवा बोली करतु हैं वहि जमुना के तीर।।
कन्हैया नहीं० ॥ ७ ॥

माघ कड़ाका जाड़ा ऊधौ, सब सखी सइभा भराय।
हमरा बलमु परदेश रहतु हैं, पिया बिना जाड़ न जाय ॥
कन्हैया नहीं० ॥ ८ ॥

फागुन फगुवा बीति गये ऊधौ, हरि नहीं आये मोर।
अबकी जों हरि मोर ऐहैं, रङ्ग खेलब झकझोर ॥
कन्हैया नहीं० ॥ ९ ॥

चैत फुले बन टेसुल ऊधौ, भँवरा पइठि रस लेइ।
कै भँवरा तू लोटा पोटा, काहे दरद मोहि देइ ॥
कन्हैया नहीं० ॥ १० ॥

बैसाख बाँस कटौतिउँ ऊधौ रचि रचि अटा छवाय।
तेहि चढ़ सोवतें कृष्ण कन्हैया, अंचरन करतिउ बाय ॥
कन्हैया नहीं० ॥११॥

जेठ तपै मृग डहिया ऊधौ, बन के पवन हहराय।
आये पिया हिल मिल के प्यारी जिय की जरनि बुताय ॥
कन्हैया नहीं० ॥१२॥

उपर्युक्त बारहमासा पहाड़ी नदी के सदृश वेगवान है। भावनाओं का इतना आवेग पिछली अन्य बारहमासियों में दुर्लभ है। भावों की सरलता, भाषा की सुकुमारता, वर्णन की स्वाभाविकता तथा सांकेतिक विरह-व्यंजना इसका प्राण है। यह निरालंकारिक भावाभि-व्यक्ति अपनी मर्म स्पर्शिता में किसी भी रचना से होड़ कर सकती है। काव्यगत चमत्कार चाहे इसमें न मिले, किन्तु इसकी सहज स्वाभा-विकता का अपूर्व आकर्षण है। श्रृंगारिक होते हुए भी कहीं भी अश्लीलता नहीं आ पाई है। समस्त बारहमासा विरहणी की विरह व्यथा का उद्घोष करती है। भ्रमरगीत सम्बन्धी सभी प्रसंगों को छोड़ दिया है। गोपियाँ उद्धव को देख इतनी वेदनामय हो गईं कि अपनी विरह-व्यंजना के सम्मुख उन्हें कुब्जा, योग-संदेश अथवा निर्गुण ब्रह्म की सुधि ही न रही। वे तो अपनी व्यथा में इतनी लीन थीं कि अन्य बातों के लिए न तो उपयुक्त समय था न परिस्थिति। कृष्ण को गए बहुत दिन बीत गए। असाढ़ मास के आते ही गोपी-

कृष्ण मिलन की सुखद कल्पना कर नव उल्लास के साथ शृंगार कर प्रिय मिलन की प्रतीक्षा करने लगीं किन्तु इस सुहावने मास में भी कृष्ण न आए। सावन के मेघ झमाझम बरसने पड़े। बेचारी नवेली, प्रियप्रवास में दुखी गोपी ऐसी परिस्थिति में क्या करे, प्राणों को किस भाँति तन में रोक रखे? अपनी व्यथा का उल्लेख करते हुए गोपी ने अन्तिम दशा का सांकेतिक वर्णन बड़ा ही व्यंजनापूर्ण किया है। भादों की भयानक रात्रि मेघों की गर्जन और बिजली की कौंध गोपी के हृदय में एक कसक उत्पन्न कर देती है। इस विषम परिस्थिति में कृष्ण अभाव और भी तीव्र हो जाता है। कार्तिक मास में पूर्णमासी के पुण्य पर्व पर सभी गंगा नहाने जाती हैं किन्तु गोपियाँ जैसी अबला और परम सुन्दरी किस के साथ जाय। भाग्य की विडम्बना कि वे इस पुण्य पर्व में गंगा भी न नहा सकीं। इसमें गोपियों की विवशता के साथ ही 'अबल' और परम सुनरिया' शब्दों का प्रयोग देखने योग्य है। पौष मास में यमुना के किनारे केलि क्रीड़ा में रत चकई चकवा उनके हृदय में अनेक स्मृतियाँ जाग्रत कर देते हैं। फाल्गुन का मादक मास सभी के हृदय में मादकता की एक लहर उत्पन्न कर देता है। गोपी भी कृष्ण को रंग देने की कल्पना करती है किन्तु तन मन को रंजित कर देने वाला यह पावन पर्व भी बीत गया और कृष्ण न आए। चैत मास में फूलों का रस लेता भंवरा रसिक श्याम की याद दिलाकर गोपियों को सताता है। बैसाख याद करती हुई गोपी कहती है—हे उद्धव बैसाख की गर्मी में हरे बाँस की अटारी में सोते कृष्ण पर अंचल से हवा करने की कामना भी पूरी न हो सकी। यहाँ आकर नारी का सात्विक रूप प्रकट हो जाता है जहाँ वह प्रिय के सुख साधनों को जुटाकर स्वयं एक प्रकार के सुख संतोष का अनुभव करती है।

भोजपुरी ग्राम-गीत द्वितीय भाग में ऊधो को संबोधित कर लिखे गए कई बारहमासे संग्रहीत हैं। एक बारहमासे में बिरहणी गोपी कभी उद्धव और कभी सखी को सम्बोधित कर अपनी बिरह व्यथा का वर्णन करती है। कृष्ण-मिलन की आशा ही उसको जीवित रखे है। इसी का उल्लेख करती हुई गोपी उद्धव से आग्रहपूर्वक पूछती है—

आसिन मास अनदेस ऊधो, कवन बात बिरजा भरी।
हम मरीं बिख खाई ऊधो, जो मोहन नहिं आवही॥

हे उद्धव ! क्वार के महीने में बड़ी आशंका बनी हुई है। मैं किस बात का अवलम्बन कर धैर्य धारण करूँ। यदि कृष्ण इस महीने में घर नहीं आवेंगे तो मैं विष खाकर मर जाऊँगी। साथ ही उन्हें उनका ध्यान आ रहा है। आज वे कितनी सौभाग्यशालिनी हैं, जो माघ मास में प्रिय आलिंगन का सुख उठाती हुई रात्रि बिता देती हैं—

माघ में धन भाग उनका, जे पिया के साथ ही।
अंग में अंग मिलाइ ऊधौ, बांह धरी सिरहान ही॥

फाल्गुन में होली की रंग-लीला आदि सभी कुछ व्यथा बढ़ाने वाला ही है। भाग्य की बात है ऊधौ चैत में मन चंचल हो जाता है। उस समय बड़े सौभाग्य से ही प्रियतम मिलता है। आज वे अपने कर्मों को छोड़, दोष भी किसे दें।

एक अन्य बारहमासा में कुब्जा का भी उल्लेख किया गया है।
कुआर लालन, कुआर लालन, कहाँ गइले नन्द लाल हो।
किया राम धूमेले कदली के बनवा, किया कुबरी के साथ हो॥

विरह की दश स्थितियों में से अरुचि का वर्णन भी बारहमासा में किया गया है—

पूस में सखि ओस परत वा, ओरो भीजेला लामी केस हो।
सीर सेंदुर नयन काजर, उहो तोहरा साथ हो॥

विरहिणी को शृंगार से स्वाभाविक अरुचि हो जाती है। यही दशा गोपी की है। उसने काजल और सेंदुर लगाना तक छोड़ दिया है। बैसाख में सोते हुए पति पर 'बैंनिया डुलाने' की भावना पिछली बारहमासा के सदृश ही है।

भोजपुरी के सभी बारहमासों में जेठ मास में कृष्ण-मिलन का उल्लेख कर इस दुखान्त घटना को सुखान्त बना दिया है। जीवन के प्रति हमारा एक आकर्षक और सुखकर भाव जो है उसकी रक्षा इन गीतों में की गई है।

भोजपुरी के सदृश ही मैथिल लोकगीतों में भी बारहमासा का प्रमुख स्थान है। राम इकबाल सिंह 'राकेश' ने 'मैथिली लोकगीत'

नाम से एक संग्रह प्रकाशित किया है। इन्हें देखने से यह स्पष्ट होता है कि अन्य लोकगीतों के सदृश मैथिली में भी भ्रमरगीत प्रसंग विरह व्यंजना का साधन बना। गोपियाँ योग संदेश की पाती पढ़ उद्धव से कहती हैं—

पूस ऊधौ जी आए पास
पत्रिका दिन्ह गोपि राधिक हाथ
बांचत पाती झहरत नीर
खाय हलाहल तेजब शरीर
जिअब हम कइसे ॥

कृष्ण के योग-संदेश पर व्यंग्य करती हुई वे कहती हैं—

माघ ऊधव नहिं आए कंत
केहि संग खेलब रीति बसंत।
अब बनि बइसब साधु गंभीर
योग लिख पठवैं
आली रे घनश्याम बिना।

कृष्ण को इस भाँति उपालम्भ देती हुई गोपी के हृदय में कुब्जा के प्रति ईर्ष्या जाग्रत हो जाती है। वह सोचती है—

फागुन सखि सब घोरत रंग
चोआ चन्दन चढ़ाएब अंग,
हम अबला सोचत ब्रज नारी
कुबरी साठतिनिया संग खेलत मुरारी,
त्याग मोहि कहथे।

एक अन्य बारहमासा में उद्धव के इस योग-संदेश के विषय पर गोपी कहती है—

कातिक कामिनी रटत पिउ
निशि अकेली हम खड़ी,
हम जिउब कौन हेत ऊधो,
जोग बस ज्वानी गई।

युवावस्था आनन्द और उपभोग के लिए है। योग, संन्यास का समय जीवन के पिछले पहर में ही आता है किन्तु उद्धव तो गोपियों के तरुणावस्था में ही जोग का संदेश दे उनके सरल जीवन-पथ को दुर्गम बनाए दे रहे हैं। अतः वे उद्धव से मथुरा जाकर कृष्ण से उनकी दशा निवेदन करने का आग्रह करती हैं —

बइसाख ऊधौ जाहु मधुपुर
हरि सं विपति जनाइय।
हम न अबला दुखित हरि बिनु
हरि के आनि मिलाइय॥

सभी बारहमासों में गोपियों के विरह का वर्णन है। कहीं सावन की रिमझिम, भादों की भयानक रात्रि उन्हें पीड़ा देती है तो कहीं माघ की ठिठुरती ठंड में वे कृष्ण बिना विकल होती हैं। चैत मास में फूलों पर झूमते भ्रमर देख वे स्वयं कह उठती हैं—

चैत हे सखि फूलल वेली,
मञोरा लिहल निज बास है।
तेजि मोहन गेला मधुपुर,
हमर कौन अपराध रे।

समय तीव्र गति से दौड़ता जा रहा है। असाढ़ आते आते गोपी का धैर्य छूट जाता है। वह उद्धव से पूछ बैठती हैं—

बइसेक रहनि गँवाऊँ है ऊधौ
नहिं आयल घनस्याम हरी।
आय अषाढ़ उमड़ि गेल बदरा
बरिसत बूँद सघन घहरी।

भोजपुरी और मैथिल लोकगीतों में भावनाओं का अपूर्व साम्य मिलता है। भावों की एकता हफी जुल्लह खां द्वारा संग्रहीत नवीन संग्रह में उपलब्ध 'बारहमासा' में भी देखने योग्य है। मासों का उद्दीपन रूप गोपियों को उसी भाँति विकल करता है, क्षण युग सम बीतते हैं। उद्धव से वह एक ही प्रश्न करती हैं—

ऊधौ जी कब ऐहैं मुरारी ?

नाम से एक संग्रह प्रकाशित किया है। इन्हें देखने से यह स्पष्ट होता है कि अन्य लोकगीतों के सदृश मैथिली में भी भ्रमरगीत प्रसंग विरह व्यंजना का साधन बना। गोपियाँ योग संदेश की पाती पढ़ उद्धव से कहती हैं—

पूस ऊधौ जी आए पास
पत्रिका दिन्ह गोपि राधिक हाथ
बांचत पाती झहरत नीर
खाय हलाहल तेजब शरीर
जिअब हम कइसे ॥

कृष्ण के योग-संदेश पर व्यंग्य करती हुई वे कहती हैं—

माघ ऊधव नहिं आए कंत
केहि संग खेलब रीति बसंत।
अब बनि बइसब साधु गंभीर
योग लिख पठवै
आली रे घनश्याम बिना।

कृष्ण को इस भाँति उपालम्भ देती हुई गोपी के हृदय में कुब्जा के प्रति ईर्ष्या जाग्रत हो जाती है। वह सोचती है—

फागुन सखि सब घोरत रंग
चोआ चन्दन चढ़ाएब अंग,
हम अबला सोचत ब्रज नारी
कुबरी साठसिनिया संग खेलत मुरारी,
त्याग मोहि कहुं।

एक अन्य बारहमासा में उद्धव के इस योग-संदेश के विषय पर गोपी कहती है—

कातिक कामिनी रटत पिउ
निशि अकेली हम खड़ी,
हम जिउब कौन हेत ऊधी,
जोग बस ज्वानी गई।

युवावस्था आनन्द और उपभोग के लिए है। योग, संन्यास का समय जीवन के पिछले पहर में ही आता है किन्तु उद्धव तो गोपियों के तरुणावस्था में ही जोग का संदेश दे उनके सरल जीवन-पथ को दुर्गम बनाए दे रहे हैं। अतः वे उद्धव से मथुरा जाकर कृष्ण से उनकी दशा निवेदन करने का आग्रह करती हैं —

बइसाख ऊधौ जाहु मधुपुर
हरि सं विपति जनाइय।
हम न अबला दुखित हरि बिनु
हरि के आनि मिलाइय॥

सभी बारहमासों में गोपियों के विरह का वर्णन है। कहीं सावन की रिमझिम, भादों की भयानक रात्रि उन्हें पीड़ा देती है तो कहीं माघ की ठिठुरती ठंड में वे कृष्ण बिना विकल होती हैं। चैत मास में फूलों पर झूमते भ्रमर देख वे स्वयं कह उठती हैं—

चैत हे सखि फूलल वेली,
मञोरा लिहल निज बास है।
तजि मोहन गेला मधुपुर,
हमर कौन अपराध रे।

समय तीव्र गति से दौड़ता जा रहा है। असाढ़ आते आते गोपी का धैर्य छूट जाता है। वह उद्धव से पूछ बैठती हैं—

बइसेक रइनि गँवाऊँ हे ऊधौ
नहिं आयल घनस्याम हरी।
आय अषाढ़ उमड़ि गेल बदरा
बरिसत बूँद सघन घहरी।

भोजपुरी और मैथिल लोकगीतों में भावनाओं का अपूर्व साम्य मिलता है। भावों की एकता हफी जुल्लह खां द्वारा संग्रहीत नवीन संग्रह में उपलब्ध 'बारहमासा' में भी देखने योग्य है। मासों का उद्दीपन रूप गोपियों को उसी भाँति विकल करता है, क्षण युग सम बीतते हैं। उद्धव से वह एक ही प्रश्न करती हैं—

ऊधौ जी कब ऐहें मुरारी?

बिना कृष्ण-दर्शन के उन्हें चैन नहीं। भादों में दादुर, मोर, पपीहा के शब्द उसे क्षण भर भी सोने नहीं देते। यह मादक मास कामाग्नि को प्रज्वलित कर उनके शरीर दग्ध करने में लगा है। ऐसे समय उन्हें कुब्जा की स्मृति हो आती है। वे उसके सौभाग्य से ईर्षा करती हैं और उसकी कुरूपता का उपहास करती हैं—

> कुवार मास कुबिजा ने चन्दन जादू करि अरु डारी।
> रूप स्वरूप कहाँ लग बरणों कूबर की बलिहारी॥
> ताहि लखि मोहे मुरारी।
> ऊधो जी कब ऐहें मुरारी ?

कुब्जा के इस जादू का प्रभाव ब्रज पर इतना पड़ा कि वहाँ दीपमालिका ही न मनाई जा सकी। तन मन के इस अन्धकार से घबड़ाकर गोपी सोचने लगी –

> कातिक मास जब लागे सखी री, दीपक बरे देवारी।
> हमरी देवारी लई कुबरी ने ब्रज मां पड़ी अँधियारी॥
> मोहे उहाँ कुंज बिहारी।
> ऊधो जी कब ऐहें मुरारी ?

वियोग दुःख से दुखी गोपी कृष्ण-मिलन की आस से ही जी रही हैं। फिर प्रियतम के रहते वह योग साधना कर ही किस प्रकार सकती हैं—

> उनको आश रही जीवन की ऐहैं फेरि हरी।
> ऊधो न उचित प्राणपति जीवत अब कैसे योग करी॥

पति से बिछुड़ कर विरहिणी नारी को संसार के समस्त सुख साधन दुखकर ही प्रतीत होते हैं। वर्ष का प्रत्येक मास उसके हृदय में पीड़ा उत्पन्न करता है किन्तु इन बारहमासों में से भी कुछ ऐसे हैं जो अपने आगमन पर विरही को अति विकल बना देते हैं। बसन्त तथा वर्षा की बहार वियुक्ता नारी के चिर-संचित धैर्य की परीक्षा लेती है। फाल्गुन में बसन्त बहार तथा होली के मदमस्त कर देने वाले पर्व और सावन के रस को लेकर होली और मल्हार जैसे गानों की रचना हुई है। वियोग-शृंगार में विरह व्यंजना के निमित्त बारहमासा के पश्चात् इन्हीं का स्थान है। होली और मल्हार दाम्पत्य

जीवन के दोनों पक्षों से कम्बन्धित हैं। यहाँ पर विरह से सम्बन्धित होली और मल्हार पर ही विचार किया जायेगा।

फाग होली के सम्बन्धित गीत हैं। इसमें अधिक गति देने के लिए कभी-कभी बीच में दोहे सोरठों का भी प्रयोग किया जाता है। यहाँ उद्धव के योग-संदेश से सम्बन्धित एक फाग का कुछ अंश दिया जाता है—

(फाग श्री कृष्ण की)

किइ राधा समझाइ कै। कहियो मनमोहन कौ जाके।

दोहा

मोहन से जाके कहौ ऊधौ हमरौ हाल।
जब से हर मथुरा गए ब्रज हो गयौ विहाल॥
हमसे निठुर भये मनमोहन सोत कूबरी पाके॥

दोहा

रानी कीनी कूबरी आप भए सिरताज।
हम सब कै तज दयो आवत नेक न लाज॥

उद्धव के योग-पत्र का उल्लेख करती हुई वे आगे कहती हैं—

ऊधौ तुम नाहक लै आए हम कै जोग लिखा कै॥

दोहा

हम कै जोग लिखाइ कै लै आए का जान।
ब्रज वासिन की लखि दशा भूल गयौ सब ज्ञान॥

सोरठा

भूल गयौ सब ज्ञान गर्व गुमान रहौ नहीं।
लेउ संत कर भान गर्व अहारी स्याम रे॥

मल्हार

भ्रमरगीत सम्बन्धी मलहार मैथिली लोकगीतों में अपेक्षाकृत अधिक मिलते हैं। मल्हार के विषय में संग्रहकर्त्ता ने लिखा है, 'मलहार का अन्तरङ्ग विल्लौरी काँच की तरह रंगीन है। इनमें हमें जीवन के प्यार, मिलन, आकर्षण, उसके मधुमय स्वप्न और सुनहरे रङ्ग के आभास दृष्टिगोचर होते हैं। इसके तरानों में मानव-हृदय का

प्रेम-कवि अनुभूति की आग में तप कर कुन्दन बन गया है।' 'राकेश' जी का यह कथन 'मल्हार, गीतों के अध्ययन में और भी स्पष्ट हो जाता है। उद्धव की योग-पाती का वर्णन 'मल्हार' के अन्तर्गत देखिये—

लिखि आएल योग क पाती हे मधुकर।
जब सों श्याम गेल मधुपुर में।
निसिदिन कढ़िकये छाती गे मधुकर।
निशिदिन नहिं चैन भवन नहिं भावत।
करवन देखत भरि आँखी हे मधुकर।
कुवरि हरल हरि माती हे मधुकर।

मल्हार वर्षा काल का गीत है। वर्षा के साथ ही विरह-वर्णन इसकी विशेषता है। निम्न गीत में वर्षा के साथ ही गोपी मान और उपालम्भ का मिश्रित वर्णन मिलता है—

श्याम निकट नै जाएव हे ऊधो,
बरषा बादरि बुंद चुआइय।
जमुन जाय नै नहाएव हे ऊधो!
नीसिक तेल फुलेल बन इम।
से नहिं अंग लगाएव हे ऊधो!
मधुपुर जाएव कमल मंगाएव।
नल सं पत्र लिखाएव हे ऊधो!
हरि मधुपुर डोल कुवरिक बस भेल
हम सखि भसम लगाएव हे ऊधो!
'सुकवि दास' प्रभु तोहार दरश कैं
हरिक चरण चित लाएव हे ऊधो!

बटगमनी

बटगमनी मैथिल गीतों का एक भेद है। "बटगमनी का अर्थ है"—पथ पर चलने वाली। इसकी कल्पना बैसाख सन्ध्या-सी शीतल और भाषा मिश्री की डली की तरह मीठी है। इसके कहने का ढंग साधारण होते हुये भी इसमें एक बाँकापन है, जो 'अहले दर्द-के दिलों में भी दर्द पैदा करता है।' बटगमनी की सरसता और मधुरता गोपी

बिरह व्यञ्जना में बड़ी सहायक है। बटगमनी की भाव-व्यञ्जना इस गीत में दिखाई पड़ती है—

आज सपन हम देखल सजनि गे
पहु आमल थिक मोर।
देखि के नयन जुरायल सजनि गे
पुलकित अछि तन मोर।
काशी पाँति पठाएब सजनि गे
पहु कै लिखब बुझावि।
मोहा माल ने लाएब जगनि गे
दरशन प्रिय दिअ आवि।
भँवरा रस मोर पावैं सजनि गे
वइसब पंख पसारि।
आवि वचाविच रस यहौ सजनि गे
हम बइसल छिअ हारि।
चानन बादि हम सेवल सजनि गे
भय गैल सीमर गाछि।
आब कतैक मनाएब सजनि गे
पहुभैल कुब्जा के दास ॥

कृष्ण कुब्जा के दास हो गये हैं। अतः उनको अब कितना ही मनाया जाय, सब व्यर्थ है।

तिरहुति

तिरहुति नामक गीतों के विषय में राकेश जी का विचार है—"स्वाभाविकता, सरलता प्रेमपरता का सामंजस्य और उच्च भावों का स्पष्टीकरण ये 'तिरहुति' की विशेषताएँ हैं। इसकी नव विकसित सलज्जकातर-यौवन शोभा के आगे सारंगी का संगीत और छलकती हुई शीराजी सुवर्ण मदिरा के मादक उफान भी फीके पड़ जाते हैं। इसकी रचना पद्धति मुक्तक काव्य की तरह भावों की उन्मुक्त पृष्ठभूमि पर मर्यादित है।' गोपियों की मानसिक स्थिति का सफल वर्णन 'तिरहुति' में मिलता है। 'तिरहुति' का विशेष परिचय देने में यह गीत सम्भव है समर्थ हो सके—

सादर शयन नरि हो पथ हेरउ मुरारी,
हरि बिन झाँझरि भेलहु हो सामर भैल भारी।
फूजल केश के बान्हत हो के देत सम्हारी,
नयन ही काजर दहायल हो औवन भेल भारी।
जाहू ऊधौ मधुपुर हो हुनकहि परचारी,
चन्द्र कला नहि जावत हो बध लागत भारी।

झूमर

प्रत्येक ऋतु में गाया जाने वाला गीत है। मैथिली तथा भोजपुरी दोनों ही लोकगीतों में झूमर का अपना स्थान है। झूमर का विशेष परिचय 'राकेश' जी ने 'मैथिली लोकगीत संग्रह' में दिया है। झूमर गीत प्रेम कथानकों से पूर्ण रहते हैं। गोपी-कृष्ण-प्रेम संयोग तथा वियोग का वर्णन इन गीतों के अन्दर प्रचुरता से मिलता है। कृष्ण वियोग से दुखी एक गोपी का विरह वर्णन झूमर गीत के अन्तर्गत इस प्रकार किया गया है—

कब हो रहें दरसनवा हो, मोरा साम सुनर के।
सपना में लखी भवनवा हो, अपना साम सुनर के ॥१॥
कुबजा से नेहिया लगवले हो, हमरा के छोड़ि के।
ना जानी कवनै करनवा हो, हमरा के तेजि के ॥२॥
आधि राति बोलेला पपिहरा हो, जियरा में बेधि के।
नयना से झरेला नीरवा हो, सुमिरि साम सुनर के ॥३॥
लिखियो न भेजेला सनेसवा हो, आपन साम सुनर के।
गुनि गुनि जागेला मदनवा हो, आपन साम सुनर के ॥४॥
कब होइहै दरसनवा हो, मोरा साम सुनर के ॥५॥

कृष्ण दर्शन की अभिलाषा करती हुई गोपी स्वप्न में कृष्ण-भवन को देखती है किन्तु वहाँ कुब्जा से अनुरक्त कृष्ण को देख उसका विरह और तीव्र हो जाता है। वह कृष्ण के त्याग देने का कारण भी नहीं सोच पाती है। इसी प्रकार सोचती हुई गोपी जब पपीहे की पिउ-पिउ सुनती है तो बरबस ही उसके नयन झर पड़ते हैं। कृष्ण की निष्ठुरता उस समय और भी दिखाई पड़ती है जब वियोग के इस दीर्घकाल में पत्र न भेजकर केवल मौन धारण कर लेते हैं। कृष्ण की स्मृति ही गोपी-हृदय में काम को जगाने के लिए पर्याप्त है।

भजन

प्रभु गुणगान रूप में जो गीत गाए जाते हैं वे भजन के अन्तर्गत आते हैं। ईश्वर से सम्बन्धित होने कारण ईश्वर विष्णु के अनेक अवतार तथा लीलाओं का वर्णन भी भजनों में मिलता है। भजन अति लोकप्रिय तथा प्रचलित शैली है। भजन में भावों की सात्विकता तथा भक्ति-भावना का सामंजस्य मिलता है। कृष्ण की अन्य लीलाओं के सदृश विरह-लीला सम्बन्धी अनेक भजन लोक-जीवन में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। ये भजन भ्रमरगीत प्रसंग के सभी अंगों पर मिलते हैं। उद्धव को ब्रज भेजने का प्रसंग एक भजन में मिलता है—

उद्धव तैं मोरे बाल संघाती,
तू लेकर जा वृज पाती।

कृष्ण की योग-संदेश युक्त पाती जब गोपियों ने पढ़ी तो उन पर वज्रपात हो गया। वे उद्धव से कहने लगीं—

उद्धव का करि हैं लै पाती ?
कैसे मिलिहैं नन्द के लाला।
विरह सतावत छाती॥
श्याम जाय मथुरा में छाये।
कुबरी जन्म संघाती।
सूर श्याम दर्शन की आशा।
चरण कमल बलि जाती॥

यद्यपि इस पद में सूर की छाप है किन्तु भाषा तथा भाव-व्यंजना की दृष्टि से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह अष्टछापी सूर की रचना नहीं है।

गोपियाँ कृष्ण के योग-संदेश का मूल कारण भी समझ गईं। निश्चय ही यह कुब्जा का प्रभाव है। उद्धव के मथुरा चलते समय वे कृष्ण के नाम यही संदेश भेजती हैं—

तुम कहियो हरि से जाय सुरतिया ना विसरैं।
× × × ×

सादर शयन नहि हो पथ हेरउ मुरारी,
हरि बिन झाँझरि भेलहु हो सामर भेल भारी।
फूजल केश के बान्हत हो के देत सम्हारी,
नयन ही काजर दहायल हो जीवन भेल भारी।
जाहू ऊधौ मधुपुर हो हुनकहि परचारी,
चन्द्र कला नहि जावत हो बध लागत भारी।

झूमर

प्रत्येक ऋतु में गाया जाने वाला गीत है। मैथिली तथा भोज-पुरी दोनों ही लोकगीतों में झूमर का अपना स्थान है। झूमर का विशेष परिचय 'राकेश' जी ने 'मैथिली लोकगीत संग्रह' में दिया है। झूमर गीत प्रेम कथानकों से पूर्ण रहते हैं। गोपी-कृष्ण-प्रेम संयोग तथा वियोग का वर्णन इन गीतों के अन्दर प्रचुरता से मिलता है। कृष्ण वियोग से दुखी एक गोपी का विरह वर्णन झूमर गीत के अन्तर्गत इस प्रकार किया गया है—

कब हो रहें दरसनवा हो, मोरा साम सुनर के।
सपना में लखी भवनवा हो, अपना साम सुनर के ॥१॥
कुबजा से नेहिया लगवले हो, हमरा के छोड़ि के।
ना जानी कवने करनवा हो, हमरा के तेजि के ॥२॥
आधि राति बोलेला पपिहरा हो, जियरा में बेधि के।
नयना से झरेला नीरवा हो, सुमिरि साम सुनर के ॥३॥
लिखियो न भेजेला सनेसवा हो, आपन साम सुनर के।
गुनि गुनि जागेला मदनवा हो, आपन साम सुनर के ॥४॥
कब होइहै दरसनवा हो, मोरा साम सुनर के ॥५॥

कृष्ण दर्शन की अभिलाषा करती हुई गोपी स्वप्न में कृष्ण-भवन को देखती है किन्तु वहाँ कुब्जा से अनुरक्त कृष्ण को देख उसका विरह और तीव्र हो जाता है। वह कृष्ण के त्याज देने का कारण भी नहीं सोच पाती है। इसी प्रकार सोचती हुई गोपी जब पपीहे की पिउ-पिउ सुनती है तो बरबस ही उसके नयन झर पड़ते हैं। कृष्ण की निष्ठुरता उस समय और भी दिखाई पड़ती है जब वियोग के इस दीर्घकाल में पत्र न भेजकर केवल मौन धारण कर लेते हैं। कृष्ण की स्मृति ही गोपी-हृदय में काम को जगाने के लिए पर्याप्त है।

भजन

प्रभु गुणगान रूप में जो गीत गाए जाते हैं वे भजन के अन्तर्गत आते हैं। ईश्वर से सम्बन्धित होने कारण ईश्वर विष्णु के अनेक अवतार तथा लीलाओं का वर्णन भी भजनों में मिलता है। भजन अति लोकप्रिय तथा प्रचलित शैली है। भजन में भावों की सात्विकता तथा भक्ति-भावना का सामंजस्य मिलता है। कृष्ण की अन्य लीलाओं के सदृश विरह-लीला सम्बन्धी अनेक भजन लोक-जीवन में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। ये भजन भ्रमरगीत प्रसंग के सभी अंगों पर मिलते हैं। उद्धव को व्रज भेजने का प्रसंग एक भजन में मिलता है—

उद्धव तैं मोरे बाल संघाती,
तू लेकर जा वृज पाती।

कृष्ण की योग-संदेश युक्त पाती जब गोपियों ने पढ़ी तो उन पर वज्रपात हो गया। वे उद्धव से कहने लगीं—

उद्धव का करि हैं लै पाती?
कैसे मिलिहैं नन्द के लाला।
विरह सतावत छाती॥
श्याम जाय मथुरा में छाये।
कुबरी जन्म संघाती।
सूर श्याम दर्शन की आशा।
चरण कमल बलि जाती॥

यद्यपि इस पद में सूर की छाप है किन्तु भाषा तथा भाव-व्यंजना की दृष्टि से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह अष्टछापी सूर की रचना नहीं है।

गोपियाँ कृष्ण के योग-संदेश का मूल कारण भी समझ गईं। निश्चय ही यह कुब्जा का प्रभाव है। उद्धव के मथुरा चलते समय वे कृष्ण के नाम यही संदेश भेजती हैं—

तुम कहियौ हरि से जाय सुरतिया ना विसरैं।
× × × ×

जब से ब्रज को त्यागे मोहन मथुरा जाय सिधारे
बिन दीपक ज्यों भवन लगत है हमको ब्रज अँधियारी ॥
वही ग्वाल वही बाल ऊधव जी वहि जल जमुना नीर ।
एक श्याम बिन सब फीको लगे, कहि न जाय दुख पीर ।
सुरतिया ना बिसरै । तुम कहियो० ॥

हफीजुल्लहखाँ ने ६३, ५७ पंक्तियों के (भ्रमरगीत प्रसंग से सम्बन्धित) वृहत भजन लिखे हैं। भजन की स्थायी है—

हरि सों जाय कहो यह कोई, तलफति हों दरसन कब होई ।

प्रेम-पथ की पीड़ा का उल्लेख करती हुई गोपी कृष्ण के कुब्जा अनुराग को लक्ष्य कर कहती है—

कुबिजा अति प्यारी भई, भई गोपी जंजाल ।
उनके रंग मों जा रमे, हमें छाँड़ि बेहाल ॥
हाफिज़ ऐसी करे नहिं कोई ॥

कभी वह ऊद्धव से पूछ बैठतीं—

ऊधौ कब ऐहैं बनवारी, दर्शन को तलफै ब्रजनारी ।
ऐसी तुमको चाहिये, कहो तो गोपीनाथ
जैसी तुम हम सों करी, छाँड़ि हमारो साथ ।
कुबिजा भई तुम्हें अब प्यारी ॥

इस वृहत् गीत में एक स्थान पर गोपी-कथन पर्याप्त मार्मिक हो उठा है। कृष्ण मिलन की आशा टूटती देख एक गोपी कहती है—

ऊधौ अब ऐहैं नहीं, जानि पड़ी बिरह रोग ।
मिलिबौ उनको लखि पड़ै नदी-नाव संयोग ॥

'नदी-नाव संयोग' के मुहावरे ने इस वर्णन में प्राण डाल दिये हैं। कृष्ण-मिलन तो अब भाग्य ही बलवान हो तो हो सकता है।

ग़ज़ल

ग़ज़ल उर्दू गीतों का एक रूप है जो अपनी गतिशीलता के कारण हिन्दी के गीतों में प्रयुक्त होता है। भजन का सम्बन्ध जहाँ ईश्वर से है वहाँ ग़ज़ल में लौकिक शृङ्गार की ही प्रधानता है किन्तु गोपी-बिरह में भजन और ग़ज़ल दोनों को ही ग्रहण किया गया है। राधा का

विरह अनेक ग़ज़लों में मिलता है। राधा रो-रो कर कृष्ण से कहती हैं—

तेरे विरहा के समुन्दर में डूबती राधा,
वंशी वाले तू आय विरह मिटा दे मेरी।
नंद के लाला तू लीजे खबरिया मेरी॥

उद्धव के आगमन पर ब्रज के दुखी ब्रजवासियों को कुछ आशा हुई किन्तु उद्धव लेकर आए थे योग का संदेश। गोपियों की आशा सदैव के लिए क्षीण हो गई। उद्धव के इस संदेश को सुन वे बोलीं—

आये उद्धव जी महाराज हमको योग बताने वाले।
लाये मन मोहन की पाती, वाचत जलै विरह से छाती।
लिख लिख भेजत योग की पाती, हमको पड़े जान के लाले॥

गोपियों का एक एक शब्द व्यंग्य तथा उपहास से भरा है। उद्धव महाराज का यह योग संदेश उन्हें तनिक भी रुचिकर नहीं। उद्धव के योग निर्गुण ब्रह्म का उल्लेख प्रायः गीतों में मिलता है। उद्धव के योग और निर्गुण ब्रह्म पर ब्रह्मानंद ने एक ग़ज़ल लिखी है जो उपर्युक्त ग़ज़ल से अधिक गतिवान है—

बिना कृष्ण के दर्शन के शान्ती नहीं है।
ऊधौ ज्ञान-चरचा सुहाती नहीं है॥
क्या तुम सुनाते हो निर्गुण कहानी।
हमारी समझ बीच आती नहीं है॥
बसी दिल के अन्दर में मोहन की मूरत।
घड़ी पल कभी दूर जाती नहीं है॥
नहीं जोग साधन की हमको जरूरत।
बिना प्रेम की बात भाती नहीं है॥
जपें नाम माधव का हम तो निरन्तर।
ब्रह्मानंद दिल को भुलाती नहीं है॥

जोग—जंतसार तथा पिढ़िया के गीत

लोकगीतों के प्रचलित विभिन्न रूपों में से जोग, जंतसार तथा

पिढ़िया के गीतों में भी भ्रमरगीत का वर्णन मिलता है। भोजपुरी जोग के गीत में एक विरहिणी गोपी उद्धव से कह रही है—

बसहर घरवा ए ऊधों, रामा झिलि मिलि बाती
पिया ले मैं सुतली ऊधों, रामा अचरा डसाई ॥
जौ हम जनिति ए ऊधों, रामा पिया जइहैं चोरी
रेसम के डोरिया ए ऊधों, रामा घोंचि बांध बधिती ॥

यहाँ गोपी ने कृष्ण से बिछुड़ने का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। वह तो अपने बांस के घर में झिलमिलाते दीप के प्रकाश में आंचल फैला कर पति के साथ सो गई थी। उसे क्या पता था कि आज उसका पति चोरी चला जायगा. चोरी जाने की कल्पना भी कितनी मधुर है। कुब्जा ने कृष्ण को चुरा ही तो लिया है। यदि उसे पता होता वह रेशम की डोरी से बांध रखती। इस असफल प्रयास से भी यदि कार्य सिद्ध न होता तो वह कृष्ण को वचन बद्ध कर लेती। इसी प्रकार वह अपने मनोभावों को व्यक्त करती हुई दुखी होती है।

पिढ़िया के गीत में कुब्जा के प्रति एक तीखा व्यंग्य छिपा है। कुरूप कुब्जा का उपहास करती हुई गोपी कहती है—

कूबरी क नकवा बेसरि या सोभेला रे।
किसुन जी का सोभेला गरवा में हरवा रे ॥
भले भले कूबरी मचवले तू कजरी रे ॥ टेक
कूबरी का गरवा हसुलिया सोभेला रे।
किसुन जी का माथे सोभे मोर के मुकुटवा रे
भले भले कूबरी मचवले तू कजरी रे ॥ टेक

आभूषणों से सजी हुई कृष्ण पार्श्व में बैठी कुब्जा का ध्यान ईर्ष्यापूर्ण तथा उपहासजन्य है। उक्त गीत में गोपियों की सपत्नी भावना का अच्छा वर्णन है।

जंतसार के एक गीत में भ्रमरगीत कथानक को इच्छानुसार बदल लिया है। राधिका जी कहती हैं जब मैं कृष्ण को भोजन परोस रही थी उसी समय कुब्जा का पत्र आया देख कृष्ण मथुरा जाने की

तैयारी करने लगे किन्तु जब उन्होंने मुझे रुष्ट देखा तो मेरी इच्छा-पूर्ति के निमित्त उनका आगे बढ़ा पैर पीछे लौट आया और वे मेरी बाँह पकड़ कर मुझे मनाने लगे। उस समय मान करते हुए राधा ने उत्तर दिया—मेरी भुजा छोड़ दो। मैं अपराधिनी हूँ तभी आप मुझे छोड़कर जा रहे हैं किन्तु आपके वियोग में मैं जीवित न रह सकूंगी। मथुरा नगर में संदेश भेजने के लिए मैं साधन कहाँ से जुटाऊगी। उसी समय उसे ध्यान हो आया और वह कहने लगी—"मैं अपना आंचल फाड़कर कागज बनाऊँगी और आँखों के काजल की स्याही कर लूंगी।" कृष्ण के चले जाने पर वह घर के पीछे रहने वाले कायस्थ बालक से पत्र लिखवाकर मथुरा भेज देती है। उसके पत्र को पाकर कृष्ण मथुरा से व्रज चले आए और राधा पुनः सुखी हो गई।

लोकगीतों का यह सुखांत रूप बारहमासा में भी दिखाई देता है। विरह-व्यथा का इतना मार्मिक वर्णन करने के पश्चात् भी क्या कारण है कि लोकगीतिकार कृष्ण कथा से परिचित होते हुए भी कथा को उसी रूप में न रख सके? सम्भवतः इसके दो कारण हो सकते हैं। प्रथम—मनुष्य कल्पना प्रधान व्यक्ति है अतः इन कथाओं में भी कल्पना द्वारा छोटे मोटे परिवर्तन करने में उसने कोई बुराई न समझी होगी। दूसरा कारण यह हो सकता है कि लोकगीतों की गाने वाली नारियाँ जहाँ तक विरह का सम्बन्ध है गोपियों की पीड़ा में अपने हृदय की ही छाया देखती हैं किन्तु उनके जीवन में यह चिर विरह नहीं। अतः गोपी का चिर विरह वे स्वीकार नहीं कर पातीं। यही कारण है कि अन्त में वे प्रिय मिलन के अपूर्व सुख का अनुभव करती हुई ईश्वर को धन्यवाद देती हैं। पीड़ा अपने में मधुर है किन्तु यदि वह सर्वकालीन हो जाय तो जीवन का सभी रस नष्ट हो जाय। जीवन में सुख की—मिलन की तीव्र अनुभूति के लिए दुख अथवा वियोग की आवश्यकता है—किसी ने कहा भी है—

दुख बराबर सुख नहीं जो थोड़े दिन को होय।

ग्रामीण नारी इस थोड़े दिन के दुख को ही हृदय से लगाये हैं। सच बात तो यह है कि ये ग्राम-गीत कृष्ण गोपी को लेकर लिखे गए

गीत नहीं हैं वरन् कृष्ण-गोपी माध्यम में जन-जीवन का चित्र ही इसमें मिलता है।

समाज में भ्रमरगीत का प्रसंग इतना घुलमिल गया है कि उसे निकालकर अलग रख देना अत्यधिक कठिन है। यह प्रसंग लोक-जीवन में विरह-काव्य का ही पर्याय बन गया है। आज भी भ्रमरगीत इसी अर्थ में ग्रहण किया जा रहा है।

परिशिष्ट २

भक्ति काल

१—रसखान
२—मलूकदास
३—सेनापति
४—मुकुन्ददास
५—घासीराम

इन कवियों का विवरण पृ० ३१६ से ३२६ तक दिया गया है।

परिशिष्ट ३

रीति काल

१—भिखारीदास
२—बेनी प्रवीण

परिशिष्ट ३

रीति काल

भिखारीदास

भिखारीदास ने स्वतन्त्र रूप से भ्रमरगीत प्रसंग पर रचना नहीं की है। इन्होंने उदाहरणस्वरूप एक दो छन्द लिख दिये हैं जिनमें उद्धव-गोपी-संवाद के गोपी-कथन का ही वर्णन है। गोपियाँ कूबड़ी कुब्जा एवं उद्धव पर व्यंग्य करती हैं—

ऊधौ तहाँइ चलौ लै हमें जहँ कूबर कान्ह बसै इक ठौरी।
देखिये 'दास' अघाइ अघाइ तिहारे प्रसाद मनोहर जोरी॥
कूबरी सों कुछ पाइये मंत्र लगाइये कान्ह सों प्रेम की डोरी।
कूबर भक्ति बढ़ाइये वृंद चढ़ाइये बंदन चंदन रोरी॥

भिखारीदास का कूबड़ी-कूबड़ पर आधारित यह व्यंग्य परम्परागत होते हुए भी नवीन है। गोपियों की ईर्षा के अतिरिक्त उनकी शिष्ट व्यंग्यात्मक प्रवृत्ति का भी दर्शन होता है। एक अन्य छन्द में उद्धव पर व्यंग्य किया गया है—

कंठ कठीलिका बागन में क्यों 'दास' गुलावन दूरि कै दीजै।
आजु ते सेज अंगारन की करौ फूलन को दुख दानि गनीजै॥
ऊधौ अहीरिनि के गुरु ह्वौ उनकौ शिरि आयुरु मानिहिं लीजै।
गुंज के गंज गहे तजि लालनि डारि सुधा विषय संग्रह कीजै॥

बेनीप्रवीण

बेनी प्रवीण की रचनाओं में भी भ्रमरगीत सम्बन्धी एक छन्द प्राप्त हुआ है। इसमें गोपियाँ कृष्ण के पास वर्षा आगमन का ध्वन्यात्मक संदेश भेजती हैं—

जोग की न कहियौ वियोग की न कहियौ;
　　　और भोग की न कहियौं न सोग सरसाइयौ।
हित की न कहियौ अहित की न कहियौ,
　　　और इतकी न कहियौं न चित की जताइयौ।
बूझै जो प्रवीन बेनी रसिक रसाल लाल।
　　　बालन को हाल व बिहाल हू न गाइयो।
ऊधौ मन भावन को सहज सुभावन कौ,
　　　सावन सोहावन कौ आवन सुनाइयौ।

परिशिष्ट ४

आधुनिक काल

१—पंडित युगलकिशोर मिश्र ब्रजराज
२—नंदराम
३—रंगपाल
४—लाला भगवानदीन
५—गौरीशंकर चौबे
६—उपाध्याय पं० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'
७—मातादीन शुक्ल
८—विनोद—श्री द्विजदेवनारायण शर्मा 'विधु'

परिशिष्ट---४

आधुनिक काल

पंडित युगलकिशोर मिश्र-ब्रजराज

मिश्र जी ने ब्रज विरह का वर्णन किया है जिसमें उद्धव के योग-संदेश को सुनकर व्यथित गोपियों का चित्रण है। उद्धव जब मथुरा लौट कर जाते हैं तब वे कृष्ण से ब्रज दशा का वर्णन करते हैं—

वा ब्रज को लखि बावरो हाल दुसाल हिये न सँभारत ही बन्यौ।
आह कराह की दारुन सों चुप ह्वै रहिनौ व्रत धारत ही बन्यौ॥
तेरो संदेस कहैं को सुनै ब्रजराज कछू न विचारत ही बन्यौ।
जारत ही बन्यौ जोग को जाल वियोग को हाल निहारत ही बन्यौ।

नन्दराम कृत

उद्धव गोपी प्रसंग का एक कवित्त सूक्ति सरोवर में संग्रहीत है। वसंत का वर्णन करती हुई गोपियाँ उद्धव से अपनी विरहावस्था का उल्लेख करती हुई कृष्ण को संदेश भेजती हैं। नन्दराम के इस उर्दू शब्दावली की प्रचुरता तथा अनुप्रास की छटा भी दर्शनीय है—

जालिम जुलुमदार जहान जौन।
डगर डगर विष बगर बगरिगौ
कहै 'नन्दराम' ब्रज गाँव की गरीबिन न
रावरे की चेरिन नवेरिन को मारिगौ।
ऊधौ जी हवाल कहि दीजौ नन्दलाल जू सों।
गोकुल की गैल गैल गजब गुजारिगौ
फूलै न पलास ये पलफ के बसंत बाज।
काढ़ि के करेजौ डार डारन पर डारिगौ॥

नन्दराम की यह बसंत बाज की कल्पना मौलिक होते हुए भी सुरुचि पूर्ण नहीं है। कवि सूफी वर्णन से प्रभावित जान पड़ता है।

प्रेम प्रसंग में कलेजों का डालों पर लटकना शृंगार की अपेक्षा जुगुप्सा भाव को ही उत्पन्न करता है। उर्दू शब्द योजना की कवि पर मुस्लिम प्रभाव को ही व्यंजित करती है।

रंगपाल

नन्दराम की भाँति ही रंगपाल ने बसंत-बाग की कल्पना की है—

अधम यहाँ कों जाय तिन सों गुनै ये बलि।
चीठी लिखि जोग की बसीठी जिन भेजे ये।
आम्बन के बेर ये न जानने कमनैत काम
बिरचे सुपंजर दुधारि तीर नेजे ये।
'रंगपाल' किंसुक अनार कचनार कहा
सुमन समूह जुत हैजें ये।
डारन पै डार्यो है बसंत बजमारों याज
ऊधौ बिरहिन के करेजन के रेजे ये।

कृष्ण वियोग के कारण व्रज में सभी ओर दुख की काली घटायें घिर आई हैं। कवि ने इस विषय में शोक-जन्मोत्सव की सुन्दर कल्पना की है—

समझहू सकारे झनकारे होत नदी नारे
पावस के माझ-झांझ झिल्ली न तजत।
दामिनी मसाल को दिखावें ताल दादुर दै
मोर चहुँ ओर नाचि नाटकी सजत ये।
तुरवा मृदंगन की घोर धुधकार ठाने
राते नैन माते कलिगान को भजत ये।
शोक को जनम व्रज ओक में भयो है ऊधौ
साँवरे विरह ते बधावरे बजत ये॥

कवि ने वर्षा ऋतु में शोक जन्मोत्सव का रूपक द्वारा वर्णन किया है। कोई गोपी उद्धव से कहती है यह वर्षा ऋतु नहीं बल्कि व्रज में कृष्ण विरह से जो शोक उत्पन्न हुआ है उसके स्वागत में बधाई बज रही है। नदी नालों का तुमुल नाद ही बधाई का दूर तक सुनाई पड़ने वाला मंगल गान है। झिल्ली की झंकार ही झाँझ का

मधुर स्वर है। बिजली मशाल बन कर सर्वत्र प्रकाश फैला रही है। दादुर के ताल पर मयूर नृत्य कर रहे हैं। जलद की गम्भीर गर्जन ही मृदंग का सुमधुर शब्द है। इस प्रकार रात्रि भर जग कर शोक के जन्मोत्सव को मना रहे हैं।

लाला भगवानदीन

लाला भगवानदीन की रचनाओं में भी भ्रमरगीत सम्बन्धी एक कवित्त प्राप्त हुआ है जो अपनी विचार परम्परा तथा शैली में रीतिकालीन है—

ऊधव हमारो घाव होय कूबरी को,
बड़ी छतियाँ घरी घरी ये करकि करकि उठैं।
दीन हीन बैठी हैं बियोग ब्रज राज जू के,
आँसू के संयोग आंगी गरकि गरकि उठैं।
बोलती न काहू तें न खोलती हिये के हाल,
अखियाँ दरस लगि खरकि खरकि उठैं।
पीत पट वारे पी के प्रीति पीजरे में,
प्राण फाँसि के पखेरू सम फरकि फरकि उठैं।

लाला भगवान दीन ब्रज भाषा के मर्मज्ञ एवं कुशल कवि हैं। उनकी गोपियों का यह कथन वीप्सा द्वारा अत्यधिक प्रभावशाली बन गया है। विरह-विकला गोपियों की दीनदशा की एक झलक इस सवैया में मिल ही जाती है।

गौरीशंकर चौबे

गौरीशंकर कृत 'उद्धव लीला' का उल्लेख नागरी प्रचारणी सभा की सन् १६१२ की खोज रिपोर्ट में हुआ। उद्धव लीला भ्रमरगीत सम्बन्धी रचना है। रचना का प्रारम्भ कवि ने गणेश वन्दना द्वारा किया। सर्वप्रथम गणेश स्तुति द्वारा कृपा की आकांक्षा की है—

हाथ जोर अस्तुत करौं बिनै सनौ गनेस
चरनन सीस नवाऊ मैं दीजै ज्ञान हमेस।
दीजै ज्ञान हमेस गवरि सुत जो हरि के गुन गाऊँ मैं।
कीजै कृपा दास अपने पै सभा बीच सिर नाऊँ मैं।

उद्धव लीला में नंद तथा यशोदा के विरह का भी वर्णन है। नन्द यशोदा दुखी होकर उद्धव से कहते हैं—

इतनी कहि जसुधा भई विकल बिना घनश्याम।
बिलखत बोले नन्द यों मोहि भयो विधि बाम॥
मोहि भयो विधि बाम कि ऊधौ कबहु दर्श दिखावें जो।
चलती बार गए कहि हमसों एक बार ब्रज आवें जो॥

उद्धव लीला की हस्तलिखित अथवा मुद्रित प्रति अप्राप्त होने के कारण इस पर पूर्ण रूप से विचार नहीं किया जा सकता। परन्तु खोज-रिपोर्ट में जो अंश उद्धृत है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि काव्य की दृष्टि से रचना साधारण कोटि की मानी जा सकती है—

उपाध्याय पं० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'

भारतेन्दु मंडल के सदस्य 'प्रेमघन' जी का गद्य साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है, यह तो सर्वविदित है। गद्यकार के अतिरिक्त आप सुकवि भी थे। आपके स्फुट छन्दों में भ्रमरगीत सम्बन्धी कुछ छन्द भी मिलते हैं।

प्रेमघन ने भ्रमरगीत प्रसंग को 'उद्धव-गोपी-संवाद' के रूप में ही व्यक्त किया है। भारतेन्दु की भांति इन्होंने विषय को अधिक गम्भीरता और सहृदयता से नहीं अपनाया है किन्तु जो कुछ पद इस विषय पर उन्होंने लिखे हैं उनमें विरह की तीव्रता, मिलन की आकांक्षा तथा योग ग्रहण की असमर्थता का सुन्दर वर्णन है। अनुप्रास प्रिय होने के कारण उद्धव-गोपी-संवाद के पदों में भी अनुप्रास का कलात्मक प्रयोग हुआ है। कथन का अनूठापन उनकी अपनी विशेषता है। उद्धव कृष्ण का संदेश सुना रहे हैं किन्तु राधा एक बार उसे सुनकर न तो तृप्त होती है और न उसे उद्धव के इस संदेश का विश्वास ही होता है। वह उद्धव से आग्रह करती है—

ऊधौ कहा कही उन कैसें ?
हा ! हा ! फेरि समुझि समुझावो रहि अहाँ जित जैसें।
जेहि विधि जो जाके हित भाख्यो उतनी ही यस बैसें।
बरसावत बतियन को रस ज्यों वे बरसावहु कैसें।
भरी प्रेम घन श्याम प्रेमघन रटत राधिका ऐसें। प्रे० स० ४२४

राधा के इस कथन में वृत्यानुप्रास की सुन्दर छटा के साथ राधा के तीव्र विरह की व्यंजना भी है। सरल सुबोध शब्दों में राधा के अंतरतम की लालसा झलक उठी है। वह केवल कृष्ण का साधारण संदेश ही नहीं जानना चाहती वरन् वह कृष्ण के मनोभावों को भी परखने की चेष्टा कर रही है। राधा कहती हैं, "हे उद्धव ! उन्होंने तुम से क्या और किस प्रकार कहा है वह तुम फिर से समझ कर समझाओ। उन्होंने जिसके लिये जो-जो कहा हो बस उतना ही बता दो। जिस प्रकार वे मधुर बातों द्वारा रसवर्षा करते थे तुम भी किसी प्रकार वैसा ही रस प्रवाह बहादो।"—राधा कृष्ण की छोटी से छोटी बात जानने के लिए ही उत्सुक है। वह जानती है कि राधा ही कृष्ण की सर्वप्रिय गोपी थी अतः कृष्ण ने उसके लिए निश्चय ही कुछ विशेष संदेश भेजा हो—उस विशेष को सुनने के लिए ही उसके श्रवण आतुर हैं। राधा की यह जिज्ञासा कृष्ण के पूर्व-प्रेम सम्बन्ध पर ही आधारित है। हमारे प्रतिदिन के जीवन का यह अनुभूत सत्य है कि हम जिससे जितना अधिक प्रेम करते हैं उतने अधिक की आकांक्षा भी होती है। राधा की भी यही स्थिति है। उसका हृदय यह विश्वास करने को तैयार नहीं कि वे ही कृष्ण जिन पर उसने तन-मन न्यौछावर कर दिया था और जो राधा बिना विकल हो जाते थे उसके लिए साधारण गोपिकाओं सदृश ही संदेश भेज देंगे।

उद्धव के ज्ञान-उपदेश को सुनकर प्रेमघन की गोपियाँ यह समझ जाती हैं कि यह ज्ञान का उपदेश उद्धव की अपनी कल्पना है अतः बड़े अनूठे ढंग से वे कृष्ण-संदेश ही सुनाने का आग्रह करती हैं—

> ऊधौ बात करौ कछु नीकी।
> सुन्दर श्याम मदन मन मोहन माधव प्यारे पी की।
> सानि सानि जनि ज्ञान मिलावहु भासौ उनके जी की।
> हम प्रेमिन तजि प्रेम नेम नहिं भावत बतियाँ फीकी।
> बरसाओ रस प्रेम—प्रेमघन और लगै सब फीकी।[1]

गोपियों ने उद्धव के संदेश की व्यंजना भी सुन्दर की है। उन्हें विश्वास है कि मनमोहन कृष्ण ऐसा विषम संदेश कभी नहीं भेज

१—पृ० ४५४ प्रेमघन सर्वस्व

सकते अतः वे उद्धव से कहती हैं—"उद्धव कृष्ण के हृदय की ही बात कहो तुम उसमें सान सान कर (बलात्) ज्ञान मत मिलाओ।" यहाँ ध्वनि रूप में उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि ज्ञान का उपदेश तुम्हारी अपनी वस्तु है जिसे कृष्ण संदेश के व्याज से हमारे गले उतारने का प्रयत्न कर रहे हैं। परन्तु हमें तुम्हारी समस्त चर्चा फीकी ही लग रही है; अतएव तुम कृष्ण-संदेश को सुनकर प्रेम-रस वर्षा कर हमारे तप्त हृदय को शान्त करो।

पंडित मातादीन शुक्ल

इन्होंने वियोग शृंगार के अन्तर्गत 'उद्धव गोपी-संवाद' का भी वर्णन किया है। उद्धव द्वारा योग-संदेश सुनकर गोपियाँ अपनी विवशता का उल्लेख करती हुई कहती हैं—"जिन्हें हम तन मन समर्पण कर चुकीं वे ही हमें त्याग रहे हैं। हमारे परिवार परिजन तो पहले ही छूट गये थे किन्तु कृष्ण ने तो हमें दोनों ही ओर से निराश कर दिया। हे उद्धव ! तुम तो संदेश लाए हो इसमें तुम्हारा क्या दोष ! कृष्ण जब स्वयं ही हमें अनाथ बनाना चाहते हैं तो किसी का क्या वश। उनका यह योग-सन्देश तो हमारी व्यथा को दूर करने की अपेक्षा बढ़ाता ही है।"

पल एक अनेकन्ह कल्प सों जात बिना हरि सो नहि आवत हैं।
दीन मलीन को तू न लखै तऊ दीनदयाल कहावत हैं।
कुबिजा कहं भोग वियोग हमें लिख ता पर जोग पठावत हैं।
बे गुना हक नाहक काहु कही जो जरे पर लोन लगावत हैं।

ना० न० ३५

जिनके वियोग में हमारा एक क्षण कल्प के समान बीत रहा है वे ही हरि यहाँ नहीं आते। वे दीन दयालु कहलाते हैं किन्तु हम दीनों पर दया क्यों नहीं करते ? एक तो उन्होंने कुब्जा को संयोग सुख प्रदान कर हमें यों ही वियोग-व्यथा में जलने को छोड़ दिया। उस पर यह योग का संदेश क्यों भेज रहे हैं। यह तो जले पर नमक का ही काम कर रहा है आखिर हमने ऐसी कौन सी बात कही है जिसका इतना कठोर दंड दिया जा रहा है।

योग के संतप्त करने वाले संदेश की अपेक्षा वे कुछ सरस सुखद और मधुर बात सुनना चाहती हैं। वे कहती हैं—

उनकी कछु ऊधव सूधव बात कहो न तुनै हम मांगत हैं।
बिन भोग वियोग के रोग जिन्हें कहि योग तिन्हें सुख पागत हैं।
मति टेढ़ी भई कुब्जा संग मों कहि दीन अचंभव लागत हैं।
अब बैद भये घनश्याम नये तब रचाय कहौ कहां दागत हैं।
ना० न० ३६

हे उद्धव कृष्ण की कुछ सरल बातें (अर्थात् इस छल कपट भरे संदेश से अलग) सुनाओ हम तुम्हारा उपदेश नहीं मांगती। यहाँ जिन्हें बिना भोग के वियोग का रोग हो रहा है उनसे योग की चर्चा कर प्रसन्न होना कहां तक उचित है। हमें तो ऐसा जान पड़ता है कि कुब्जा संसर्ग से उनकी मति कुटिल हो गई तभी तो अब वे नये वैद्य (अनाड़ी) के सदृश हमारे रोग का न जाने कैसा विपरीत उपचार सोचते हैं।

श्री द्विजदेव नारायण शर्मा 'विधु'—विनोद

इन्होंने कुब्जा-प्रसंग एवं योग-संदेश पर कुछ छन्द लिखे हैं। ऐसा जान पड़ता है मन की तरंग में आकर कवि ने इस प्रसंग को छू दिया है। कथा रूप में अथवा विशद रचना रूप में इस प्रसंग को अपनाने का उसका विचार न था यही कारण है कि ये छन्द एक स्थान पर न लिखे जाकर विभिन्न स्थानों पर संगृहीत हैं। गोपियाँ कृष्ण की उदासीनता को देखकर कुब्जा को ही दोष देती हैं, वे कहती हैं, कृष्ण ने ब्रज का निवास ही नहीं छोड़ दिया वरन् हमारी सुधि भी भुला दी और मथुरा में जाकर उस कूबड़ी कुब्जा का वरण किया। कृष्ण की इस विचित्र बुद्धि को क्या कहें ? हमें तो इसमें कृष्ण का कुछ दोष नहीं जान पड़ता। सभी अनर्थों का मूल तो दुष्ट कुब्जा ही है। जिसके कारण आज परिस्थिति ही भिन्न हो गई है–

ब्रज बाल रतै विलपै कलपै उत कूबरि को हरखावत हैं।
इति फूलि पलास महा दुख देत उतै सुख को सरसावत हैं।
इत मन्मथ बानन बेधत है उत केलि की धूम मचावत है।
'विधु' स्याम उतै मथुरा में बसै इतै देखिबे को तरसावत है।
विनोद—२६

कृष्ण के इस विरोधात्मक व्यवहार का कारण भी कुछ नवीन नहीं है सभी कवियों ने उसकी कल्पना की है।

मोहन जाय बसे मथुरा महँ कूबरि के संग प्रीति पागें ।
बैरिन के कहे भेज्यो संदेश सबै ब्रज बालन योग को मागें ।
वि० ३५

किन्तु गोपियाँ यह कैसे स्वीकार कर सकती थीं। कृष्ण ने तो कुब्जा के कहने में आकर यह संदेश भेज दिया परन्तु गोपियों का उन्हें तनिक भी ध्यान न आया। अनन्त प्रतीक्षा के पश्चात् उन्हें जब संदेश मिला तो योग की इस चर्चा से उनका हृदय हाहाकार कर उठा। नेत्रों से अजस्र जलधार बह चली जिसे रोकने में वे पूर्णतः असमर्थ थीं —

सो सुनि आंसु चल्यो असनीन ते कैसे रहै जल जाल के बांधे ॥
वि० ३५

मुख्य सहायक ग्रन्थों की सूची

ग्रन्थ	लेखक
१—अपभ्रंश दर्पण	जगन्नाथ शर्मा
२—अभिज्ञान शाकुन्तलम्	अनुवादक—श्री नारायण शास्त्री
३—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय	डा० दीनदयाल गुप्त
४—अष्टछाप परिचय	प्रभुदयाल मीतल
५—आलम केलि	लाला भगवानदीन
६—उद्धव शतक	डा० रमाशंकर शुक्ल रसाल(भू०लेखक)
७—उद्धव शतक परिशीलन	अशोककुमार विद्यालंकार
८—उद्धव शतक मीमांसा	श्री कृष्णचन्द्र वर्मा
९—कविता कौमुदी भाग २, ५	श्री रामनरेश त्रिपाठी
१०—कवित्त रत्नाकर	श्री उमाशंकर शुक्ल
११—कबीर ग्रन्थावली	नागरी प्रचारणी सभा
१२—कबीर बचनावली	बाबू श्यामसुन्दर दास
१३—काव्य दर्पण	पं० रामदहिन मिश्र
१४—काव्य प्रकाश	मम्मट
१५—काव्यानुशासन	हेमचन्द्र
१६—कृष्ण काव्य में भ्रमरगीत	डा० श्यामसुन्दरलाल दीक्षित
१७—कृष्ण काव्य में भ्रमरगीत की परम्परा	— श्री केशवदेव सिंह
१८—गाथा सप्तशती	
१९—गोपी-विरह और भंवरगीत	प्रेमनारायण टंडन
२०—ग्वाल रत्नावली	कवि किंकर
२१—घन आनन्द और आनन्दघन	विश्वनाथप्रसाद मिश्र
२२—तसव्वुफ और सूफीमत	श्री चन्द्रबली पाँडे
२३—नटनागर विनोद	पं० कृष्णबिहारी मिश्र
४—नवधा भक्ति	श्री जयदयाल गोयन्द
२५—नाथ सम्प्रदाय	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
२६—पद्माकर पंचामृत	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

ग्रन्थ	लेखक
२७—प्रेम प्रकाश	सरकार [illegible] गांधी
२८—प्राकृत अपभ्रंश साहित्य और हिन्दी पर उसका प्रभाव	डा० रामसिंह तोमर
२९—प्रेम दर्शन भक्तिसूत्र	हनुमान प्रसाद पोद्दार
३०—प्रेम दीपिका	रायबहादुर लाला सीताराम
३१—प्रेमीभक्त उद्धव	शान्तनु बिहारी द्विवेदी
३२—प्रेम योग	वियोगी हरि
३३—बुद्ध और बौद्ध धर्म	आचार्य चतुरसेन शास्त्री
३४—बुद्धवाणी	वियोगी हरि
३५—ब्रजनिधि ग्रन्थावली	—
३६—ब्रजभाषा का नायिका भेद	प्रभुदयाल मीतल
३७—भँवरगीत	विश्वम्भरनाथ मेहरोत्रा
३८—भँवरगीत	डा० सुधीन्द्र
३९—भँवरगीत और रासपंचाध्यायी	डा० उदयनारायण तिवारी
४०—भ्रमरगीतसार	पं० रामचन्द्र शुक्ल
४१—भ्रमरगीत विवेचना	श्री नारायणदेव 'बीतराग'
४२—भारतीय दर्शन	श्री बलदेव उपाध्याय
४३—भारतीय दर्शन	चटर्जीदत्त हिन्दी रूपकार झा और मिश्र
४४—भारतीय साधना और सूर-साहित्य	डा० मुंशीराम शर्मा
४५—भारतवर्ष का इतिहास भाग २	डा० ईश्वरी प्रसाद
४६—भारतेन्दु	डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
४७—भोजपुरी ग्रामगीत	श्री कृष्णदेव उपाध्याय
४८—मतिराम ग्रन्थावली	श्रीकृष्ण बिहारी मिश्र
४९—महाकवि विद्यापति	स्व० पं० शिवनन्दन ठाकुर
५०—मिश्रबन्धु विनोद	मिश्रबन्धु
५१—मैथिल कोकिल विद्यापति	डा० उमेश मिश्र
५२—मैथिली लोकगीत	रामइकबालसिंह राकेश
५३—मैथिली-विद्यापति-विशुद्ध पदावली	स्व० पं० शिवनन्दन ठाकुर
५४—योग प्रदीप	—

ग्रन्थ	लेखक
५५—रसकलश	श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय
५६—रस गंगाधर	पण्डितराज जगन्नाथ
५७—रसमंजरी	श्री कन्हैयालाल पोद्दार
५८—राजराजेश्वरी ग्रन्थावली	—
५९—राधाकृष्ण तत्व	रामनाथ शास्त्री
६०—राम कथा	फादर कामिल बुल्के
६१—रीतिकाल की भूमिका	डा० नगेन्द्र
६२—विद्यापति	प्रो० जनार्दन मिश्र
६३—विद्यापति	श्री नगेन्द्रनाथ गुप्त
६४—विद्यापति की पदावली	श्री रामवृक्ष बेनीपुरी
६५—विद्यापति ठाकुर	डा० उमेश मिश्र
६६—समीक्षायण	प्रो० कन्हैयालाल सहल
६७—संचारिणी	श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी
६८—साहित्य दर्पण	विश्वनाथ प्रसाद
६९—सूर और उनका साहित्य	डा० हरवंशलाल शर्मा
७०—सूर काव्य की आलोचना	डा० हरवंशलाल शर्मा
७१—सूरदास	श्री नलिनी मोहन सान्याल
७२—सूरदास	श्री ब्रजेश्वर वर्मा
७३—सूर निर्णय	श्री प्रभुदयाल मीतल और द्वारिकानाथ पारिख
७४—सूर संदर्भ	श्री नन्ददुलारे वाजपेयी
७५—सूरसाहित्य	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
७६—सूर साहित्य की भूमिका	श्री रामरतन भटनागर और वाचस्पति पाठक
७७—सूर सौरभ	डा० मुंशीराम शर्मा
७८—श्रीकृष्ण गीतावली	श्री वामदेव शर्मा
७९—श्री मद्भागवत	भागवतांक, १ कल्याण, गीता प्रेस,
८०—श्री माध्वगोडीय सुभाषित रत्न भण्डार	—
८१—शृङ्गारप्रकाश	भोजराज
८२—हरिऔध और उनका प्रियप्रवास	श्री कृष्णकुमार सिन्हा

ग्रन्थ	लेखक
२७—प्रेम प्रकाश	[illegible] शर्मा
२८—प्राकृत अपभ्रंश साहित्य और हिन्दी पर उसका प्रभाव	डा० रामसिंह तोमर
२९—प्रेम दर्शन भक्तिसूत्र	हनुमान प्रसाद पोद्दार
३०—प्रेम दीपिका	रायबहादुर लाला सीताराम
३१—प्रेमीभक्त उद्धव	शान्तनु बिहारी द्विवेदी
३२—प्रेम योग	वियोगी हरि
३३—बुद्ध और बौद्ध धर्म	आचार्य चतुरसेन शास्त्री
३४—बुद्धवाणी	वियोगी हरि
३५—ब्रजनिधि ग्रन्थावली	—
३६—ब्रजभाषा का नायिका भेद	प्रभुदयाल मीतल
३७—भँवरगीत	विश्वम्भरनाथ मेहरोत्रा
३८—भँवरगीत	डा० सुधीन्द्र
३९—भँवरगीत और रासपंचाध्यायी	डा० उदयनारायण तिवारी
४०—भ्रमरगीतसार	पं० रामचन्द्र शुक्ल
४१—भ्रमरगीत विवेचना	श्री नारायणदेव 'वीतराग'
४२—भारतीय दर्शन	श्री बलदेव उपाध्याय
४३—भारतीय दर्शन	[illegible] हिन्दी रूपकार झा और मिश्र
४४—भारतीय साधना और सूर-साहित्य	डा० मुंशीराम शर्मा
४५—भारतवर्ष का इतिहास भाग २	डा० ईश्वरी प्रसाद
४६—भारतेन्दु	डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
४७—भोजपुरी ग्रामगीत	श्री कृष्णदेव उपाध्याय
४८—मतिराम ग्रन्थावली	श्रीकृष्ण बिहारी मिश्र
४९—महाकवि विद्यापति	स्व० पं० शिवनन्दन ठाकुर
५०—मिश्रबन्धु विनोद	मिश्रबन्धु
५१—मैथिल कोकिल विद्यापति	डा० उमेश मिश्र
५२—मैथिली लोकगीत	रामइकबालसिंह राकेश
५३—मैथिली-विद्यापति-विशुद्ध पदावली	स्व० पं० शिवनन्दन ठाकुर
५४—योग प्रदीप	—

ग्रन्थ	लेखक
५५—रसकलश	श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय
५६—रस गंगाधर	पण्डितराज जगन्नाथ
५७—रसमंजरी	श्री कन्हैयालाल पोद्दार
५८—राजराजेश्वरी ग्रन्थावली	—
५९—राधाकृष्ण तत्व	रामनाथ शास्त्री
६०—राम कथा	फादर कामिल बुल्के
६१—रीतिकाल की भूमिका	डा० नगेन्द्र
६२—विद्यापति	प्रो० जनार्दन मिश्र
६३—विद्यापति	श्री नगेन्द्रनाथ गुप्त
६४—विद्यापति की पदावली	श्री रामवृक्ष बेनीपुरी
६५—विद्यापति ठाकुर	डा० उमेश मिश्र
६६—समीक्षायण	प्रो० कन्हैयालाल सहल
६७—संचारिणी	श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी
६८—साहित्य दर्पण	विश्वनाथ प्रसाद
६९—सूर और उनका साहित्य	डा० हरवंशलाल शर्मा
७०—सूर काव्य की आलोचना	डा० हरवंशलाल शर्मा
७१—सूरदास	श्री नलिनी मोहन सान्याल
७२—सूरदास	श्री ब्रजेश्वर वर्मा
७३—सूर निर्णय	श्री प्रभुदयाल मीतल और द्वारिकानाथ पारिख
७४—सूर संदभ	श्री नन्ददुलारे वाजपेयी
७५—सूरसाहित्य	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
७६—सूर साहित्य की भूमिका	श्री रामरतन भटनागर और वाचस्पति पाठक
७७—सूर सौरभ	डा० मुंशीराम शर्मा
७८—श्रीकृष्ण गीतावली	श्री वामदेव शर्मा
७९—श्री मद्भागवत	भागवतांक, १ कल्याण, गीता प्रेस,
८०—श्री माध्वगोडीय सुभाषित रत्न भण्डार	—
८१—शृङ्गारप्रकाश	भोजराज
८२—हरिऔध और उनका प्रियप्रवास	श्री कृष्णकुमार सिन्हा

ग्रन्थ	लेखक
८३—हृदय तरंग	श्री अयोध्याप्रसाद पाठक
८४—हिन्दी काव्य विमर्श	बाबू गुलाबराय जी
८५—हिन्दी नवरत्न	मिश्रबन्धु
८६—हिन्दी भाषा और साहित्य	श्री चतुरसेन शास्त्री
८७—हिन्दी साहित्य	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
८८—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	डा० रामकुमार वर्मा
८९—हिन्दी साहित्य का इतिहास	पं० रामचन्द्र शुक्ल
९०—हिन्दी साहित्य में भ्रमरगीत की परम्परा	सुश्री सरला शुक्ल

खोज रिपोर्ट—प्रकाशित तथा अप्रकाशित नागरी प्रचारिणी सभा काशी
साहित्य संदेश—की प्रतियाँ
ब्रजभारती—की प्रतियाँ
अदिति

अंगरेजी-ग्रन्थ

1. **Every Day Psycholo-Analysis** by G. S. Bose.
2. **An Outline of Psycho-Analysis.**
   by Sigmund Freud Authorized translation by James Strachey. London.
3. **A General Introduction to Psycho-Analysis.**
   by Sigmund Freud. Authorised translation of revised Edition by Joan Riviers, New York 1938.
4. **Understanding Human Nature**
   by Alfred Adler, translated by Welter Beran Wolfe. New York.
5. **Symbolism and Belief-Bevan.**
6. **The Encyclopedia of Psychology.**